भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में

[जैनदर्शन का सर्वांगीण तुलनात्मक विवेचन]

लेखक

राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी प्रसिद्धवक्ता परम श्रद्धेय

श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के सुशिष्य

देवेन्द्र मुनि, शास्त्री

प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राज०)

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का उनचालीसवाँ पुष्प

○ पुस्तक
जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेपण

○ आशीर्वचन
राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनि जी म०

○ लेखक
देवेन्द्र मुनि, शास्त्री 'साहित्यरत्न'

○ पृष्ठ ६५२

○ प्रथम प्रवेश
सितम्बर १९७५ (पर्युषणपर्व)
२५वाँ महावीर निर्वाण शताब्दी वप

○ मूल्य
तीस रुपये

○ प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल उदयपुर (राज०)

○ मुद्रण व्यवस्था
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

समर्पण

त्याग और वैराग्य की
अध्यात्म और साधना की
धर्म और दर्शन की
साहित्य और संस्कृति की
जो जीती जागती प्रतिमूर्ति है,
उन्हीं परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य
श्री पुष्कर मुनि जी महाराज
के कर कमलों में
असीम श्रद्धा के साथ

—देवेन्द्र मुनि

आशीर्वचन

मानव मस्तिष्क जिज्ञासाओ का महासागर है। उसमे प्रतिपल-प्रतिक्षण विचार तरगें तरगित होती रहती हैं। जीवन और जगत्, चित् और अचित्, सत्ता और परम सत्ता के सम्बन्ध मे विविध प्रश्नावलियाँ उद्‌बुद्ध होती रहती है। उनका तर्क, बुद्धि और अन्तर्दृष्टि से समाधान करना दर्शन है। दर्शन का अर्थ दिव्यदृष्टि है।

दर्शन की अनेक धाराएँ हैं। उनका वर्गीकरण भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के रूप मे किया जा सकता है। जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। भारतीय दर्शनो मे जैनदर्शन का अपना एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है। आचार मे अहिंसा, विचार मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्‌वाद और समाज मे अपरिग्रह---ये चार महान स्तम्भ हैं---जिन पर जैनदर्शन का भव्य-भवन खडा है। जैनदर्शन जीवन दर्शन है। यह केवल कमनीय कल्पना के अनन्त गगन मे विहरण नही करता किन्तु उन विमल विचारो को जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे ढालता है।

मेरी हार्दिक इच्छा थी कि श्रमण भगवान महावीर की निर्वाण शताब्दी के सुनहरे अवसर पर हिन्दी भाषा मे 'जैनदर्शन' पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा जाये, जिसकी भाषा सरल, सरस व शैली मनमोहक हो, मैंने अपने हृदय की बात अपने प्रिय शिष्य देवेन्द्र मुनि से कही। उसने अत्यन्त परिश्रम व लगन से प्रस्तुत ग्रन्थ को तैयार किया है। जैनदर्शन के सभी मूलभूत तत्त्व इसमे आ गये है। प्रमाण, प्रमेय, नय, सप्तभगी, कर्म जैसे गम्भीर विषयो पर भी विस्तार के साथ रोचक शैली मे लिखा गया है। ग्रन्थ मुझे पसन्द आया है। मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि प्रत्येक जिज्ञासु जो जैनदर्शन को जानना चाहता है उसके लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं चाहता हूँ कि देवेन्द्र मुनि अपनी चिन्तनशील प्रज्ञा, एव प्रवाहपूर्ण लेखनी द्वारा नित्य नूतन सत्साहित्य सृजन कर सरस्वती के मन्दिर मे श्रद्धा के सुन्दर सुमन समर्पित करता रहे और साहित्य के क्षेत्र मे नया कीर्तिमान स्थापित करे। सदा स्वस्थ रहकर जैनधर्म की विजय वैजयन्ती फहराये---यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

सादडी-सदन, पूना
१५-८-७५

---पुष्कर मुनि

प्रकाशकी

'जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेपण' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्न को अपने प्रबुद्ध प्रिय पाठको के करकमलो मे समर्पित करते हुए हम अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करते हैं। लेखक ने जैनदर्शन के सम्पूर्ण मौलिक तत्त्वो पर तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। जैनदशन का ऐसा कोई मौलिक तत्त्व अछूता नही रह गया है जिस पर लेखक ने प्रकाश न डाला हो। लेखक ने जान-बूझकर ऐसी बातें अवश्य छोड दी है जिनका केवल मान्यता की दृष्टि से महत्त्व है पर दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नही है। लेखक की भाषा मे प्रवाह है, विचारो मे गभीरता है और शैली मे चित्ता-कपकता है। ग्रन्थ सरल भी, सरस भी और गम्भीर भी है। सवजन-भोग्य भी है और विद्वज्जन-भोग्य भी। जैन आचार और साधना पर लेखक एक स्वतन्त्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तैयार कर रहा है। अत प्रस्तुत ग्रन्थ मे उस विषय पर प्रकाश नही डाला गया है। जैन-परम्परा के इतिहास पर भी इसीलिए प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्रकाश नही डाला गया है कि उस पर लेखक ने 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ मे चिन्तन किया है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न का प्रकाशन ऐसे परम पवित्र स्वर्णावसर के उपलक्ष में हो रहा है जो समग्र विश्व के लिए गौरवपूर्ण अवसर है। भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी मनाने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। विविध प्रकार का साहित्य भी प्रकाशित हुआ है। श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय अपने विशुद्ध सास्कृतिक परम्परा की दृष्टि से श्रेष्ठ प्रकाशन सदा से करता रहा है। इस पुनीत अवसर पर वह अधिक जागरूक रहा। उसने 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' जैसा शोध-प्रधान ग्रन्थ प्रदान किया, जिसकी मूर्धन्य मनीषियो ने मुक्त कठ से प्रशसा करते हुए लिखा कि निर्वाण शताब्दी का यह सर्वश्रेष्ठ महावीर जीवन विषयक प्रकाशन है। इसके अतिरिक्त 'भगवान महावीर की सूक्तियाँ, महावीर जीवन दर्शन, दिव्य पुरुष, स्वाध्याय-सुधा' आदि अनेक श्रद्धास्निग्ध उपहार दिये। उसी लडी की कडी मे ही प्रस्तुत ग्रन्थराज भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक जैन जगत् के उदीयमान समर्थ साहित्यकार देवेन्द्र मुनि शास्त्री हैं, जो अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी महाराज के सुशिष्य हैं। श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री की सतत सेवा मे रहकर लेखन, चिन्तन, मनन करना आपको प्रिय रहा है। आज तक वे पचास ग्रन्थो का लेखन व सम्पादन कर चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे जिन उदार महानुभावो ने हमे आर्थिक सहयोग प्रदान किया है तदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। भविष्य मे भी हमे सहयोग मिलता रहेगा जिससे हम नित्य नूतन साहित्य समर्पित करते रहेगे।

मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर व शुद्ध वनाने का श्रेय हमारे परम-स्नेही प्रज्ञामूर्ति श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' को है, अत हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

—मन्त्री

श्रीतारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

□□

लेखक की कलम से

दशन मानव का दिव्य चक्षु है। मानव अपने चरम चक्षु से जिसे नही देख सकता है, उसे वह दर्शन चक्षु से देखता है। दर्शन का अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार या उपलब्धि।

विश्व के स्वरूप का विवेचन करना, विश्व मे चित् और अचित् सत्ता का क्या स्वरूप है, उन सत्ताओ का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पडना है ? उन सभी प्रश्नो का गहराई से सही अनुसधान करना दर्शनशास्त्र का एक मात्र लक्ष्य रहा है।

दशन की धारा अत्यधिक प्राचीन है। विश्व के इतिहास मे भारत और यूनान ये दो देश दर्शन के आविष्कारक रहे हैं। विश्व के सभी दशन भारत और यूनान से प्रभावित रहे है। पूर्व के जितने भी दर्शन है, उनको भारत ने प्रभावित किया है और पश्चिम के सभी दर्शन यूनान से प्रभावित हुए हैं।

भारत के सभी दर्शनो का मुख्य ध्येय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना है। चेतन और परम चेतन के स्वरूप को जिस समग्रता और व्यग्रता के साथ भारतीय चिन्तको ने समझने का प्रयास किया है, उतना यूनान के दार्शनिको ने नही। यह सत्य है कि यूनान के दार्शनिको ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उनकी प्रतिपादन शैली सुन्दर है किन्तु वे उतना विशद और स्पष्ट वणन नही कर सके है। यूरोप का दर्शन आत्मा का दर्शन न होकर जड प्रकृति का दशन है। भारतीय चिन्तको ने प्रकृति के स्वरूप का विश्लेषण किया है किन्तु उनका अधिक झुकाव आत्मा की ओर है। प्रकृति का जो सूक्ष्म विश्लेषण है, वह भी आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए है। भारतीय दर्शन का आत्मा की ओर लगाव होने पर भी उसने कभी भी जीवन और जगत् की उपेक्षा नही की है।

दर्शन विचार और तक पर आधृत है। दशन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है और फिर वह उसकी यथार्थता पर आस्था रखने के लिए उत्प्रेरित करता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन मे श्रद्धा और तर्क का मधुर समन्वय है किन्तु पश्चिमी दर्शन मे बौद्धिक और सैद्धान्तिक दर्शन की ही प्रमुखता है। पश्चिमी दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन पर आधृत है, वह आप्त प्रमाण की उपेक्षा करता है। भारतीय दर्शन चेतन और परम चेतन स्वरूप की अन्वेपणा करता है, उसका एकमात्र लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन की यदि कोई ऐसी विशेषता है जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है तो वह मोक्ष चिन्तन है।

पाश्चात्य दार्शनिको के अनुसार दर्शन का उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना है। मानव प्रकृति की विभिन्न घटनाओ और परिवर्तनो को देखकर आश्चर्यान्वित होता है। वह उसका कारण ढूँढना चाहता है। इस प्रकार का मानसिक व्यायाम दर्शन है, किन्तु भारतीय दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति दुःख से मानते है। जीवन के दुःखो को दूर करना ही दर्शन का उद्देश्य है। भारत के दर्शन का मूल्य इसलिए नही है कि वह हमारे दृश्य जगत् का ज्ञान बढाता है किन्तु इसलिए है कि वह हमारे जीवन के परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने मे परम सहायक है। दार्शनिक चिन्तन का मुख्य लक्ष्य जीवन के दुःखो को नष्ट करना है। तत्त्व के स्वरूप पर इसीलिए विचार किया जाता है कि उसके ज्ञान से दुःख दूर होते हैं। भारतीय दर्शन केवल विचार-प्रणाली नही, जीवन-प्रणाली है। जीवन और विश्व के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण है। भारतीय दर्शन केवल विचारो का एक विज्ञान नही किन्तु जीवन की कला है। भारतीय दार्शनिको के अनुसार केवल सत्य की खोज और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही पर्याप्त नही है अपितु जीवन मे उसे उतारना और उसके अनुरूप जीवन जीना भी आवश्यक है। यही कारण है कि भारत मे दर्शन और धर्म सहचर और सहगामी रहे है। धर्म और दर्शन मे यहाँ पर किसी भी प्रकार का विरोध नही रहा है और न उन्हे एक दूसरे से पृथक् रखने का प्रयास ही किया गया है। दर्शन सत्ता की मीमासा करता है और उसके स्वरूप को तर्क और विचार से ग्रहण करता है जिससे कि मोक्ष की उपलब्धि हो। धर्म अध्यात्म सत्य को अधिगत करने का एक व्यावहारिक उपाय है। दर्शन हमे आदर्श लक्ष्य बताता है, धर्म उसको प्राप्त करने का रास्ता है।

दर्शन के द्वारा तत्त्व प्रतिपादित होते है। धर्म उनकी क्रियान्विति करता है, हेय को छोडता और उपादेय को अनुशीलन करता है। दर्शन और धर्म ये दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय दर्शन मे विचार के साथ आचार की भी महिमा व गरिमा रही हुई है।

भारतीय दर्शनो मे जैनदर्शन एक प्रमुख और प्रभावशाली दर्शन रहा है। इस दर्शन की अनूठी और अपूर्व विशेषताओ पर मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ मे सविस्तार प्रकाश डाला है। जैनदर्शन पर संस्कृत, प्राकृत व अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे विपुल साहित्य लिखा गया। वह साहित्य सरल और जटिल दोनो प्रकार का है। परम आह्लाद का विषय है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा मे भी जैन साहित्य विविध विधाओ मे प्रकाशित हो रहा है। जैनदर्शन पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश मे आए है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी दिशा मे एक प्रयास है। इस प्रयास मे मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय तो विज्ञ-वृन्द ही करेंगे, पर यह सच है कि धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, पुराण, आगम आदि मेरे प्रिय विषय रहे हैं। इन पर लिखते समय मुझे अपार आनन्द की अनुभूति हुई है इसलिए मुझे आत्मविश्वास है कि प्रबुद्ध पाठको को भी पढते समय आनन्द की अनुभूति होगी।

परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने मुझे आदेश प्रदान किया कि "श्रमण भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी पर अन्य ग्रन्थो के साथ तुझे जैनदर्शन पर भी एक सुन्दर ग्रन्थ लिखना है।" पूज्य गुरुदेव श्री की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है, गुरुदेव श्री के निर्देश से मैंने सन् १९७१ मे वम्बई कादावाडी चातुर्मास मे लिखना प्रारम्भ किया। जब भी समय मिला अध्ययन के साथ लिखता रहा। सन् १९७२-१९७३ मे जोधपुर और अजमेर वर्षावास मे 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ के लेखन मे अत्यधिक व्यस्त होने से इस ग्रन्थ का लेखन स्थगित रहा। सन् १९७४ के अहमदाबाद वर्षावास मे प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रथम पूर्ण करने का सकल्प किया गया और वह सकल्प अब पूर्ण होने जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है। उनकी अपार कृपादृष्टि और आशीर्वाद से मेरा पथ सदा आलोकित रहा है, ग्रन्थ मे जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की ही कृपा का प्रतिफल है।

परमादरणीया प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी म व ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी को भी मैं विस्मृत नही कर सकता जिनकी सतत प्रेरणा और हार्दिक शुभाशीर्वाद से मैं ग्रन्थ को पूर्ण कर सका हूँ।

सेवामूर्ति श्री रमेश मुनि शास्त्री, राजेन्द्र मुनि शास्त्री और दिनेश मुनि जी की निरन्तर सेवा सहयोग के कारण मैं अपनी गति मे प्रगति कर सका हूँ, अत उसका अकन भी अस्थान न होगा।

जैन जगत् के यशस्वी लेखक प प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक सशोधन किया तदथ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ, जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान दलसुखभाई मालवणिया ने आवश्यक सुझाव दिये है। अत उनके स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार को भी मैं नही भूल सकता। साथ ही स्नेह सौजन्यमूर्ति श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को भी विस्मृत नही किया जा सकता जिन्होने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर वनाने का प्रयास और गहराईपूर्वक प्रूफ सशोधन कर मेरे श्रम को कम किया।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे परम विदुषी महासती केसरदेवी जी की सुशिष्या साध्वी मजुश्री जी एव विजयश्री जी ने पूर्ण सहयोग दिया है। मैं उनका स्नेह सहकार विस्मृत नही कर सकता।

मैंने ग्रन्थ मे अनेक लेखको के ग्रन्थो का उपयोग किया है उन सभी ग्रन्थ और ग्रन्थकारो का मैं ऋणी हूँ।

आशा है मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

सादडी सदन
पूना (महाराष्ट्र)
दि १५ अगस्त १९७५

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड · दर्शन का स्वरूप और दार्शनिक साहित्य १-३६

द्वितीय खण्ड प्रमेय चर्चा ३७-२२८

परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने मुझे आदेश प्रदान किया कि "श्रमण भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी पर अन्य ग्रन्थों के साथ तुझे जैनदर्शन पर भी एक सुन्दर ग्रन्थ लिखना है।" पूज्य गुरुदेव श्री की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है, गुरुदेव श्री के निर्देश से मैंने सन १९७१ में बम्बई कादावाडी चातुर्मास मे लिखना प्रारम्भ किया। जब भी समय मिला अध्ययन के साथ लिखता रहा। सन् १९७२-१९७३ में जोधपुर और अजमेर वर्षावास मे 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ के लेखन मे अत्यधिक व्यस्त होने से इस ग्रन्थ का लेखन स्थगित रहा। सन् १९७४ के अहमदाबाद वर्षावास मे प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रथम पूर्ण करने का सकल्प किया गया और वह सकल्प अब पूर्ण होने जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है। उनकी अपार कृपादृष्टि और आशीर्वाद से मेरा पथ सदा आलोकित रहा है, ग्रन्थ मे जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की ही कृपा का प्रतिफल है।

परमादरणीया प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी म व ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी को भी मैं विस्मृत नही कर सकता जिनकी सतत प्रेरणा और हार्दिक शुभाशीर्वाद से मैं ग्रन्थ को पूर्ण कर सका हूँ।

सेवामूर्ति श्री रमेश मुनि शास्त्री, राजेन्द्र मुनि शास्त्री और दिनेश मुनि जी की निरन्तर सेवा सहयोग के कारण मैं अपनी गति मे प्रगति कर सका हूँ, अत उसका अकन भी अस्थान न होगा।

जैन जगत् के यशस्वी लेखक प प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक सशोधन किया तदर्थ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ, जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान दलसुखभाई मालवणिया ने आवश्यक सुझाव दिये हैं। अत उनके स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार को भी मैं नही भूल सकता। साथ ही स्नेह सौजन्यमूर्ति श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को भी विस्मृत नही किया जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास और गहराईपूर्वक प्रूफ सशोधन कर मेरे श्रम को कम किया।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे परम विदुषी महासती केसरदेवी जी की सुशिष्या साध्वी मजुश्री जी एव विजयश्री जी ने पूर्ण सहयोग दिया है। मैं उनका स्नेह सहकार विस्मृत नही कर सकता।

मैंने ग्रन्थ मे अनेक लेखको के ग्रन्थो का उपयोग किया है उन सभी ग्रन्थ और ग्रन्थकारो का मैं ऋणी हूँ।

आशा है मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

सादडी सदन
पूना (महाराष्ट्र)
दि १५ अगस्त १९७५

—देवेन्द्र मुनि

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड दर्शन का स्वरूप और दार्शनिक साहित्य १-३६

द्वितीय खण्ड प्रमेय चर्चा ३७-२२८

परम श्रद्धेय अध्यात्मयोगी राजस्थानकेसरी प्रसिद्धवक्ता सद्गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने मुझे आदेश प्रदान किया कि "श्रमण भगवान महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी पर अन्य ग्रन्थो के साथ तुम्हे जैनदर्शन पर भी एक सुन्दर ग्रन्थ लिखना है।" पूज्य गुरुदेव श्री की आज्ञा का पालन करना मेरा कर्तव्य है, गुरुदेव श्री के निर्देश से मैंने सन् १९७१ मे बम्बई कांदावाडी चातुर्मास मे लिखना प्रारम्भ किया। जब भी समय मिला अध्ययन के साथ लिखता रहा। सन् १९७२-१९७३ मे जोधपुर और अजमेर वर्षावास म 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' ग्रन्थ के लेखन मे अत्यधिक व्यस्त होने से इस ग्रन्थ का लेखन स्थगित रहा। सन् १९७४ के अहमदाबाद वर्षावास मे प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रथम पूर्ण करने का सकल्प किया गया और वह सकल्प अब पूर्ण होने जा रहा है यह प्रसन्नता की बात है। उनकी अपार कृपादृष्टि और आशीर्वाद से मेरा पथ सदा आलोकित रहा है, ग्रन्थ म जो कुछ भी श्रेष्ठता है वह श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की ही कृपा का प्रतिफल है।

परमादरणीया प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी म व ज्येष्ठ भगिनी परम विदुषी साध्वी रत्न श्री पुष्पवती जी को भी म विस्मृत नही कर सकता जिनकी सतत प्रेरणा और हार्दिक शुभाशीर्वाद से मैं ग्रन्थ को पूर्ण कर सका हूँ।

सेवामूर्ति श्री रमेश मुनि शास्त्री, राजेन्द्र मुनि शास्त्री और दिनेश मुनि जी की निरन्तर सेवा सहयोग के कारण म अपनी गति मे प्रगति कर सका हूँ, अत उसका अकन भी अस्थान न होगा।

जैन जगत् के यशस्वी लेखक प्रवर शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखकर आवश्यक सशोधन किया तदर्थ मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ, जैनदर्शन के ममज्ञ विद्वान दलसुखभाई मालवणिया ने आवश्यक सुझाव दिये हैं। अत उनके स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार को भी मैं नही भूल सकता। साथ ही स्नेह सौजन्यमूर्ति श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को भी विस्मृत नही किया जा सकता जिन्होंने ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने का प्रयास और गहराईपूर्वक प्रूफ सशोधन कर मेरे श्रम को कम किया।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे परम विदुषी महासती केसरदेवी जी की सुशिष्या साध्वी मजुश्री जी एव विजयश्री जी ने पूर्ण सहयोग दिया है। मैं उनका स्नेह सहकार विस्मृत नही कर सकता।

मैंने ग्रन्थ मे अनेक लेखको के ग्रन्थो का उपयोग किया है उन सभी ग्रन्थ और ग्रन्थकारो का मैं ऋणी हूँ।

आशा है मेरा यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा।

सादडी सदन
पूना (महाराष्ट्र)
दि १५ अगस्त १९७५

—देवेन्द्र मुनि

अ नु क्र म णि का

प्रथम खण्ड दर्शन का स्वरूप और दार्शनिक साहित्य १-३६

द्वितीय खण्ड . प्रमेय चर्चा ३७-२२८

तृतीय खण्ड प्रमाण चर्चा २२६-४०६

चतुर्थ खण्ड कर्मवाद ४०७-५०१

पचम खड जैनदर्शन और विश्वदर्शन ५०३-५४४

परिशिष्ट ५४५-६३५

□ □

खप

[दर्शन का म्वरूप और दार्शनिक साहित्य]

- दर्शन एक समीक्षात्मक अध्ययन
- जैन दार्शनिक साहित्य का ि

दर्शन . एक समीक्षात्मक अध्ययन

- दर्शन
- दर्शन की उत्पत्ति
- दर्शन और फिलोसोफी मे अन्तर
- दर्शन और विज्ञान
- दर्शन और धर्म
- दर्शन और जीवन
- दर्शन और जगत
- भारतीय दर्शन की विशेषता

दर्शन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

दर्शन

दर्शन मानव मस्तिष्क की एक बौद्धिक उपलब्धि है। दर्शन शब्द की निष्पत्ति दृश् धातु से हुई है। दृश् का अर्थ देखना है। 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'' जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन है। नेत्र देखने के स्थूल साधन हैं। उनके द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को चाक्षुष दर्शन कहते है। दर्शन का वास्तविक सम्बन्ध अन्तर्दृष्टि से है। जिस दृष्टि विशेष से आत्म-दर्शन होता है, वह दर्शन है। सूक्ष्म दृष्टि, प्रज्ञाचक्षु, ज्ञानचक्षु एव दिव्य दृष्टि से ही आत्म-दर्शन सभव है। आत्म-ज्ञान के अभाव मे आत्म-स्वरूप जाना नही जा सकता। भारतीय चिन्तन के अनुसार बाह्य पदार्थों का जो भी ज्ञान है वह भौतिक ज्ञान है। दर्शन का विषय केवल प्रकृति ही नही, प्रकृति से परे परम तत्त्व आत्मा और परमात्मा को भी जानना है। जीवन और जगत के गभीर रहस्य को समझना दर्शन की अपनी विशेषता है। एक दार्शनिक, वैज्ञानिक और कवि की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखता है, चूंकि वैज्ञानिक के अनुसधान का विषय जडात्मक जगत है, कवि के काव्य का विषय सृष्टि का अनन्त सौन्दर्य है किन्तु दार्शनिक के दर्शन का विषय चेतन और अचेतन सृष्टि का शुभत्व और अशुभत्व दोनो है। प्लेटो के शब्दो मे कहा जाय तो 'दार्शनिक सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण सत्ता का द्रष्टा है।'[1] उसका दृष्टिकोण अत्यधिक विशाल और विस्तृत होता है उसके अन्दर सभी कुछ समा सकते है। उसकी अन्वेषणा का उत्स कहाँ है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है किन्तु उसका अन्त कहाँ है, यह समझना अत्यन्त कठिन है। उसकी सीमा किसी सीमा विशेष से आबद्ध नही है। प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि दर्शन का क्षेत्र ज्ञान की अन्य सभी धाराओ से विशाल है। मानव-बुद्धि का जितना भी चिन्तन है वह सभी दर्शन के अन्तर्गत आ जाता है।

---

1 "The spectator of all time and existence"

दर्शन की उत्पत्ति

मानव चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन मानव का आदि स्वभाव है। वह प्रत्येक वस्तु पर गहन चिन्तन-मनन करता है। जब से मानव ने चिन्तन-मनन प्रारम्भ किया तब से दर्शन का प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत नियम के अनुसार दर्शन उतना ही पुरातन है जितना मानव स्वय। तथापि दर्शन की उद्भूति के सम्बन्ध मे दार्शनिक विद्वानो मे विभिन्न मत रहे हैं। जिनको जैसी परिस्थिति या वातावरण मिला उसके अनुरूप उन्होने दर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे चिन्तन किया। किसी ने तर्क को प्रधानता दी, तो किसी ने आश्चर्य को, किसी ने सन्देह को, तो किसी ने बुद्धि-प्रेम को, किसी ने बाह्य जगत को तो किसी ने आत्म तत्त्व को। इस मत-भिन्नता के मूल मे बाह्य परिस्थितियाँ भी कार्य करती रही है।

तर्क

कितने ही दार्शनिको का यह अभिमत है कि दर्शन का उद्‌गम स्थान तर्क है। 'किं तत्त्वम्' इस तर्क से ही दर्शन का प्रारम्भ होता है। दर्शन से पूर्व श्रद्धा का युग था। श्रद्धा युग मे आप्त पुरुषो की वाणी को मात्र श्रद्धा की दृष्टि से माना जाता था। श्रद्धाशील लोग यह समझते थे कि यह हमारे आराध्य देव के मुँह से उच्चरित है अत इसे हमे बिना सकोच के मानना चाहिए। यह महावीर की वाणी है, यह बुद्ध का उपदेश है। यह मनु की शिक्षा है। जिसकी जिसके प्रति श्रद्धा थी उसके वचन उसके लिए शास्त्र बन गये।

युग परिवर्तनशील है। युग ने करवट बदली। मानव मस्तिष्क की उर्वरा भूमि पर श्रद्धा के स्थान पर तर्क के अकुर प्रस्फुटित होने लगे। मानव के विचारो का मन्थन चला और तर्क ने अपना बल पकड लिया। यह अमुक व्यक्ति ने कहा है एतदर्थ ही हम सत्य माने, ऐसा क्यो ? सत्य का मानदण्ड तर्क, युक्ति और प्रमाण होना चाहिए, बस यही से दर्शन का उद्‌गम होता है।

आश्चर्य

कितने ही दार्शनिक मानते हैं कि दर्शन का मूल आश्चर्य है। जब मानव ने प्रकृति नटी की सौन्दर्य-सुषमा को निहारा, हँसते और मुस्कराते हुए फूलो को देखा, सनसनाते पवन, चिलचिलाती धूप, कल-कल छल-छल

बहती हुई सरिता, जगमगाते तारे, गम्भीर गर्जन करता हुआ समुद्र का ज्वार देखा तो उसके अन्तर-मानस मे आश्चर्य का पार न रहा। वह चिन्तन करने लगा। यह क्या है ? क्या इस लीला के पीछे किसी विशिष्ट शक्ति का हाथ है ? इस प्रकार आश्चर्य से समुत्पन्न विचारधारा आगे बढी और विविध प्रकार की कमनीय कल्पनाओ से उन विचारधाराओ को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया गया। यही प्रयास दर्शन-शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया। ग्रीस के महान दार्शनिक प्लेटो ने कहा—दर्शन का उद्भव आश्चर्य से होता है—"Philosophy begins in wonder"

सन्देह

यूनान के प्राचीन दार्शनिक भी दर्शन का मूल आश्चर्य को ही मानते रहे हैं। अन्य कितने ही दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से नही अपितु सन्देह से मानते है। बाह्य जगत या अपनी सत्ता के सम्बन्ध मे, जब चिन्तन-प्रधान मानव के अन्तर-मानस मे सन्देह उद्बुद्ध होता है, तब उसकी विचार-शक्ति जिस मार्ग का अनुसरण करती है, वही मार्ग दर्शन की सज्ञा धारण करता है। पश्चिम मे अर्वाचीन दर्शन का श्रीगणेश सन्देह से ही हुआ है। इस श्रीगणेश का श्रेय बैकन को है, जिसने विज्ञान और दर्शन के परिष्कार के लिए धार्मिक उपदेशो (Teachings of the Church) को सन्देह की दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया था। बैकन ने विज्ञान और दर्शन मे समन्वय स्थापित करने की भव्य-भावना से अपने दर्शन का प्रारम्भ सन्देह से किया और वही दर्शन आगे चलकर अनुभव की सुदृढ नीव पर खडा हुआ। देकार्त ने भी दर्शन का प्रारम्भ सन्देह से माना है पर, उसने सन्देह को दार्शनिक चिन्तन का साधन माना है, साध्य नही। सुप्रसिद्ध दार्शनिक कॉण्ट ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को ह्यूम के सन्देहवाद और लाइब्निज के बुद्धिवाद की समालोचना से प्रारम्भ किया। प्रस्तुत आधार पर कॉण्ट के दर्शन को समालोचनात्मक दर्शन (Critical Philosophy) कह सकते है। साराश यह है कि पाश्चात्य दार्शनिको ने जिस दर्शनशास्त्र का विकास सन्देह से माना है उसका विकास भारतीय दार्शनिको ने सहज जिज्ञासा से माना है। भारतीय दार्शनिको की दृष्टि से जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह सत्य है कि सन्देह और शङ्का को भारतीय चिन्तको ने जिज्ञासा का जनक माना है, तथापि भारतीय चिन्तक जिज्ञासा पर ही अधिक बल देते रहे

है। किसी भी भारतीय दार्शनिक ने आश्चर्य मे दर्शन की उत्पत्ति नही मानी है।

व्यावहारिकता

कितने ही दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति का कारण व्यावहारिकता को मानते हैं। उनका अभिमत है कि जीवन मे व्यवहार पक्ष की सिद्धि के लिए ही दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। दर्शन की प्रस्तुत विचारधारा व्यावहारिकतावाद के नाम से विश्रुत है, वस्तुत यह विचारधारा दर्शन की अपेक्षा विज्ञान के अधिक सन्निकट है। इसका दृष्टिकोण भौतिकता-प्रधान है। भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन का आधार व्यावहारिकतावाद ही था।

मानवतावादी दर्शन मानवता का अध्ययन मानव और उसकी आवश्यकताओ एव सम्पूर्ण बौद्धिक, व्यावहारिक और धार्मिक क्रियाओ को अपनी सीमा के अन्तर्गत मानता है। वह मानव के व्यावहारिक एव लाभ-दायक परिणामो पर चिन्तन करता है। उसके अनुसार मानव-जीवन और उसकी समस्याएँ ही दर्शन-शास्त्र का मूलाधार हैं। मानवतावादी दर्शन का यह स्पष्ट आघोप है कि दर्शन ही नही, कला, साहित्य, विज्ञान, सगीत, अध्यात्म-शास्त्र एव ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे जितना भी विकास हुआ है उसका मूल आधार मानव की बुद्धि है। मानव चाहे किसी भी क्षेत्र मे रहा हो, उसके चिन्तन का ढग प्राय एक सदृश ही है। मानव स्वय अपने सम्वन्ध मे भी सोचता है और अपने से भिन्न अन्य चेतन प्राणियो के सम्वन्ध मे भी विचार करता है। जड और चेतन, स्व और पर सभी पर मानव-प्रज्ञा ने गम्भीर चिन्तन किया है और वह आज भी चिन्तन कर रही है। मानव का प्रस्तुत चिन्तन ही दर्शन का मूल आधार रहा है। एक पाश्चात्य दार्शनिक के मतानुसार बुद्धि-प्रेम (Love of Wisdom) ही दर्शन का आधार है। ग्रीस के महान् दार्शनिक सुकरात ने आत्म-ज्ञान को दर्शन का आधार माना है। यही आत्म-ज्ञान की समस्या भारत मे वेद और उपनिषदो मे, जैन आगमो मे और बौद्ध-त्रिपिटक मे अध्यात्मवाद के रूप मे दृष्टिगोचर होती है। दर्शन की उत्पत्ति चाहे बुद्धि-प्रेम से हो या आत्म-ज्ञान से किन्तु उसने मानव-जाति के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसने मानव-मन को दिव्य और भव्य बनाया है।

दर्शन अपने आप मे परिपूर्ण है, उसका अन्य कोई साध्य नही होना। वह स्वय ही अपना साधन है और स्वय ही अपना साध्य है। अग्रेजी शब्द (Philosophy), जो कि दर्शन का पर्याय है, वह ग्रीक भाषा के दो शब्दो मे मिलकर बना है—Philos और Sophia Philos का अर्थ होता है प्रेम (Love) और Sophia का अर्थ होता है बुद्धि (Wisdom)। ग्रीक भाषा का शब्द Philos 'प्रेम' अर्थ की अभिव्यक्ति करता है जबकि Sophia मनुष्य की 'बुद्धि' की ओर सकेत करता है। दोनो शब्दो का सयुक्त अर्थ होता है 'बुद्धि का प्रेम' (Love of wisdom)। यहाँ पर बुद्धि शब्द से सामान्य विचार-शक्ति (Rationality) या प्राकृतिक बुद्धि (Intellect) नही समझकर विवेकयुक्त बुद्धि समझना चाहिए।

जब मानव की बुद्धि को विवेक का सस्पर्श हो जाता है, तब उसका चिन्तन-मनन उच्च श्रेणी का हो जाता है जो 'दर्शन' कहा जाता है। कितने ही दार्शनिक दर्शन को बुद्धि का खेल नही समझते। उनका मतव्य है कि मानव के अन्दर रही हुई आध्यात्मिक शक्ति से ही दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। जब मानव के सन्निकट या विश्व मे रही हुई भौतिक शक्ति से उसे यथार्थ शान्ति का अनुभव नही होता, तब उसकी जिज्ञासा असली शान्ति की अन्वेषणा मे आगे बढती है, तब दर्शन का जन्म होता है।

भारत के दार्शनिक दर्शन को केवल मनोरजन का साधन नही मानते, अपितु वे दर्शन-शास्त्र को सदेह एव अविश्वास को दूर करने का साधन मानते है। दूसरी बात भारतीय दार्शनिक पाश्चात्य दार्शनिको के समान दर्शन को मानव की व्यावहारिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन नही मानते किन्तु दर्शन को मानव की आध्यात्मिक देन मानते है। क्योकि भारत के दार्शनिको का कथन है कि जीवन दु खो का आगार है, चारो ओर अभाव की काली-कजरारी निशा मडरा रही है। उसमे मानव को मुक्त कर दर्शन जीवन मे शान्ति और सन्तोष का निर्मल-प्रकाश प्रदान करता है। भारत के दर्शन ने जीवन मे सुख और शान्ति का सचार करने हेतु आत्म-ज्ञान और आत्म-शुद्धि इन दो तत्त्वो पर बल दिया है। वस्तुत भारतीय दर्शन दु ख की ओर इसलिए सकेत करता है कि मानव दु ख का अन्त कर सुख को प्राप्त करे। वर्तमान से असतोष और भविष्य की उज्जवलता का दर्शन यही आध्यात्मिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत है। भारतीय

दर्शन ने जो यह रूप हमारे सामने रक्खा है, वह अन्यत्र कही भी उपलब्ध नही होता।

दर्शन और फिलोसोफी मे अन्तर

दर्शन और फिलोसोफी (Philosophy) यद्यपि ये दोनो शब्द एक-दूसरे के पर्याय माने जाते है किन्तु दोनो शब्दो के अर्थ मे बहुत अन्तर है। 'दर्शन' शब्द आत्म-ज्ञान की ओर सकेत करता है, तो 'फिलोसोफी' शब्द कुशल कल्पनाशील विज्ञो के मनोरजन की ओर सकेत करता है, चूँकि विश्व की विचित्रता को निहार कर समुत्पन्न होने वाली आश्चर्य भावना को शान्त करने हेतु 'फिलोसोफी' का उद्भव हुआ है। किन्तु दर्शन दैहिक, दैविक और भौतिक दु खो से चिन्तित होकर उसके मूल के उच्छेदन हेतु चिन्तन करता है और अपने लक्ष्य तक पहुँचने का सही मार्ग खोजता है। यही कारण है कि 'दर्शन' शब्द अधिक गम्भीरता और विशालता को लिए हुए है। पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा भारतीय दर्शन लोक-व्यवस्था और लोक-व्यवहार तक ही सीमित न रहकर अध्ययन के भव्य-भावो तक पहुँचने का प्रतिपल-प्रतिक्षण प्रयास करता रहा है। उसका यह प्रयास साधना या जीवनोन्नति का साधन कहा गया है। किन्तु 'फिलोसोफी' शब्द इतने विराट भाव और उदात्त भावना को अभिव्यक्त नही कर पाता।

दर्शन और विज्ञान

भौतिकतावाद के चकाचौध मे पनपने वाले व्यक्तियो की आस्था आज दर्शन के प्रति जितनी है, उससे कही अधिक विज्ञान के प्रति है। इसका मूल कारण यह है कि सामान्यत मानव का आकर्षण सदा बाह्य जगत् की ओर रहा है, आध्यात्मिकता की ओर बहुत कम। दर्शन और विज्ञान ये दोनो सत्य तक पहुँचने के मार्ग हैं। दर्शन ज्ञान शक्ति के द्वारा उस सत्य-तथ्य तक पहुँचना चाहता है, तो विज्ञान प्रयोग शक्ति के आधार पर। दर्शन चिन्तन प्रधान मस्तिष्क की उपज है। वह अनन्त सत्य को स्थूल रूप से जन-मानस के सम्मुख रखने मे सक्षम नही है, क्योकि वह ज्ञान की वस्तु होने से स्थूल रूप से रखा नही जा सकता। किन्तु विज्ञान का कार्य उन तथ्यो को सही-सही प्रयोग द्वारा स्थूल-रूप से दिखलाना है। वह उन तथ्यो को गोपनीय न रखकर दर्पण के समान जन-जन के सामने स्पष्ट रूप से रख देता है।

दर्शन आत्मतत्त्व प्रधान है और विज्ञान भौतिक शक्ति प्रधान है। दर्शन आत्मा, परमात्मा और जगत पर गभीर चिन्तन प्रदान करता है तो विज्ञान वाह्य तत्त्वो पर अपने मौलिक विचार अभिव्यक्त करता है। दर्शन विश्व को एक सम्पूर्ण तत्त्व समझकर उसका परिज्ञान कराता है और विज्ञान जगत् के पृथक्-पृथक् पहलुओ का भिन्न-भिन्न दिग्दर्शन कराता है। इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र विज्ञान की अपेक्षा वहुत ही विस्तृत और व्यापक है। दर्शन ज्ञान के अन्तिम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करता है किन्तु विज्ञान की दौड दृश्य जगत तक सीमित है। दर्शन मुक्ति और अनुभव को महत्त्व देता है तो विज्ञान युक्ति को ठुकरा कर केवल अनुभव को ही प्रधानता देता है। दूसरा विज्ञान और दर्शन मे मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञान का निर्णय हमेशा अपूर्ण रहता है जब कि दर्शन अपने विपय का सर्वांगीण स्पष्टीकरण करता है। कारण यह है कि विज्ञान सत्य के एक अंश को ही ग्रहण करता है जिसका आधार दृश्य जगत है।

दर्शन चिन्तन प्रधान है और विज्ञान कार्य प्रधान है। दर्शन वस्तु विश्लेषक है तो विज्ञान उसे प्रत्यक्ष कर दिखाने की क्षमता रखता है। दर्शन की अनेक शाखाएँ केवल धर्म और अध्यात्म तक सीमित है पर विज्ञान की शक्ति मानव जीवन के सम्पूर्ण वाह्य अगो को स्पर्श करती है। दर्शन तर्क और अनुमानो पर आधारित है तो विज्ञान प्रत्यक्ष व्यवहार पर। विज्ञान का आधार दर्शन होते हुए भी आधुनिक आविष्कारो ने विज्ञान को ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया है कि वह अपने आप मे जैसे कोई स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान तथ्य हो।

हम वता चुके हैं कि दर्शन का सीधा और सरल अर्थ दृष्टि है। इस दृष्टि को अग्रेजी मे विजन (vision) कहते हैं। जिस व्यक्ति के नेत्र है वह व्यक्ति देखता ही है, पर दर्शन अर्थ मे जिस दृष्टि का प्रयोग हुआ है वह साधारण दृष्टि नही, अपितु एक विशिष्ट दृष्टि है। उस दृष्टि का उत्पत्ति स्थान नेत्र न होकर वुद्धि और विवेक है। साधारण दृष्टि जहाँ वाह्य चक्षुओ को अपना कारण वनाती है वहाँ दार्शनिक दृष्टि आन्तरिक अवलोकन से कार्य लेती है। विवेक, विचार और चिन्तन इसी आन्तरिक चक्षु के पर्याय है। दर्शन-शास्त्र जीवन और जगत को समझने का एक सुन्दर प्रयास है। वह जीवन और जगत को खण्ड रूप से न देखकर अखण्ड रूप से देखता

है। प्रकृति के साथ आत्मा और परमात्मा को भी जानता है। एक भी वस्तु दर्शन की सीमा के बाहर नही रह सकती। ज्ञान-विज्ञान की एव बुद्धि की जितनी भी शाखाएँ है वे सभी दर्शन के अन्तर्गत आ जाती है।

वर्तमान युग के महान् चिन्तक बर्ट्रैण्ड रसेल लिखते हैं—"विज्ञान के दो प्रयोजन है—एक तो यह कि अपने क्षेत्र मे जितना जाना जा सके उतना जान लिया जाये और दूसरा यह कि जो कुछ जान लिया गया है उसे कम से कम सामान्य नियमो मे गूथ लिया जाय।" रसेल के प्रस्तुत कथन मे विज्ञान की सीमा को दो भागो से विभक्त किया गया है—प्रथम विभाग मे विज्ञान के अध्ययन की सामग्री की ओर सकेत किया गया है और दूसरे विभाग मे बुद्धि जन्य अन्य व्यवस्था की ओर।

यह बहुत ही स्पष्ट है कि विज्ञान जितनी भी सामग्री एकत्रित करता है उसका आधार अवलोकन है। अवलोकन के अभाव मे वह सामग्री को एकत्रित नही कर सकता। दर्शन के समान केवल चिन्तन से विज्ञान का कार्य नही हो सकता। वह प्रत्येक प्रयोग को अवलोकन के परीक्षण-प्रस्तर पर कसता है। यदि अन्य शब्दो मे कहे तो विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव को महत्त्व देता है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह वस्तु, विज्ञान की दृष्टि से सत्य है। मानव इन्द्रियो की सहायता से जितना अनुभव करता है, वही विज्ञान का विषय बनता है। वह आत्म-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रत्यक्षीकरण मे विश्वास नही रखता। विज्ञान का यही प्रयास है कि अनुभव के आधार पर जितना ज्ञान प्राप्त हो जाय, उसे वह प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह अपने अभीष्ट विषय को लक्ष्य मे रखकर इद्रिय एव भौतिक साधनो के सहयोग से जितना ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह विज्ञान की प्रथम भूमिका है। दूसरी भूमिका मे बुद्धिजन्य व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। इस भूमिका मे जो सामग्री प्राप्त की जाती है, उसके आधार पर वह निर्णय लेता है। यही से प्रयोग प्रारम्भ होता है। प्रयोग का अर्थ नियन्त्रित अवलोकन है। प्रयोग मे यत्किंचित् न्यूनता ज्ञात होती है, तो यह समझ लिया जाता है कि साधारणीकरण मे कही पर त्रुटि रह गई है। इस प्रकार विज्ञान के नियमो के लिए प्रयोगशाला (Laboratory) कसौटी स्थल है।

प्रयोगशाला जिन नियमो को प्रमाणित कर देती है वे नियम पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिये जाते हैं। ये नियम सार्वत्रिक नियम कहे जाते हैं। इन्ही नियमो के आधार पर ही विज्ञान आगे बढता है।

उपर्युक्त पक्तियो मे हमने दर्शन और विज्ञान की सीमा के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए यह पाया कि वे दोनो विभिन्न क्षेत्रो मे कार्य करते हैं। दर्शन इस विराट विश्व को एक पूर्ण तत्त्व समझकर उसका परिज्ञान कराता है और विज्ञान दृश्य जगत के विभिन्न अगो का पृथक्-पृथक् अध्ययन करता है। इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। विज्ञान केवल दृश्य जगत तक ही सीमित है। विज्ञान का कार्य पदार्थो का एकत्रीकरण, व्यवस्था और वर्गीकरण का है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विज्ञान ने विश्व को तीन भागो मे विभक्त किया है। भौतिक (Physical), प्राण सम्बन्धी (Biological) और मानसिक (Mental)। इन तीनो शाखाओ का ज्ञान ही आधुनिक विज्ञान का क्षेत्र है। इससे स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। क्षेत्र ही नही किन्तु विधि मे भी विभिन्नता है। विज्ञान की विधि सदा-सर्वदा आनुभविक (Imperical) है किन्तु दर्शन की विधि केवल अनुभव नही अपितु युक्ति और अनुभव से समिश्रित है।

दर्शन और विज्ञान मे दूसरा मुख्य भेद यह है कि विज्ञान अपने निर्णय का प्रदर्शन अपूर्ण रूप से करता है जबकि दर्शन अपने विषय का स्पष्टीकरण पूर्ण रूप से करता है। दर्शन और विज्ञान मे अन्तर होने पर भी दोनो का लक्ष्य एक है और वह है मानव-ज्ञान की सीमाओ को अधिक विस्तृत, अधिक व्यापक बनाना।

दर्शन और धर्म

दर्शन और धर्म मानव जीवन के लिए आवश्यक ही नही किन्तु अनिवार्य है, जिनके अभाव मे मानव पशु-तुल्य हो जाता है। कुछ लोग धर्म और दर्शन को यथार्थवादी मानते है, तो कुछ परस्पर विरोधी, दो पृथक् बिन्दु, पर वस्तुस्थिति इन दोनो से भिन्न है। जब मानव विचारो के अन्त स्तल मे प्रवेश करता है तब दर्शन जन्म लेता है और जब विचार को आचार के रूप मे परिणत करता है तब धर्म का जन्म होता है। धर्म और दर्शन परस्पर पूरक हैं, एक के बिना दूसरा एकाङ्गी और अपूर्ण है। कोई व्यक्ति चिन्तन के आधार पर यह ज्ञान प्राप्त करता है कि 'सत्य' जीवन के

लिए श्रेयस्कर है, वह प्रतिपल-प्रतिक्षण इस विचार पर मन्थन भी करता है और नारे भी लगाता है कि सदा सत्य बोलना चाहिए किन्तु व्यवहार मे उसे प्रश्रय नही देता है तो क्या उस दर्शन का मूल्य हो सकता है ? जब तक दर्शन धर्म मे परिणत नही होगा तब तक वह व्यर्थ है। कितना भी विमल विचार क्यो न हो, जब तक उसके अनुरूप आचरण नही होगा, उस विचार की क्या उपयोगिता है ? बिना धर्म के दर्शन केवल शब्दो का इन्द्रजाल है। धर्म का सम्बल प्राप्त करके ही दर्शन मे दिव्यता आती है।

दर्शन रहित धर्म भी पाखण्ड है। जिस आचरण के मूल मे विवेक की जगमगाती ज्योति नही है वह आचार अनाचार है। आचार का मूल विचार है। विचार की सुदृढ नीव पर ही आचार का भव्य भवन खडा हो सकता है। बिना विचार का आचार केवल अन्धानुकरण है। उसे यह ज्ञात नही कि प्रस्तुत क्रिया की जीवन मे क्या उपयोगिता है ? उसका क्या लक्ष्य है ? इस प्रकार धर्म को दर्शन की और दर्शन को धर्म की सदा आवश्यकता रही है। धर्म और दर्शन परस्परापेक्षी तत्त्व है। मानव-जीवन की सरिता का एक तट दर्शन है तो दूसरा तट धर्म है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व व्यर्थ है। दर्शन ज्ञान की प्रक्रिया है तो धर्म क्रिया की। क्रियाहीन-ज्ञान अथवा ज्ञानहीन-क्रिया दोनो ही जीवन के लिए भयावह हैं, अत दोनो का मधुर समन्वय ही जीवन मे यथार्थ दृष्टि प्रदान कर सकता है।

दर्शन और जीवन

दर्शन का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह एक प्रश्न है। उत्तर मे निवेदन है कि मानव चिन्तनशील प्राणी है। वह निरन्तर चिन्तन करता रहता है। चिन्तन मानव का विशिष्ट गुण है, जिससे मानव दार्शनिक बनता है। जीवन और दर्शन का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। मानव जब तक चिंतन करता रहेगा तब तक मानव-जीवन मे दर्शन का अस्तित्व बना रहेगा। यह कभी सभव नही कि मानव के जीवन से चिन्तन दूर हो जाय। जहाँ पर चिन्तन है, वहाँ पर दर्शन अवश्य ही रहेगा। साराश यह है कि दर्शन के अभाव मे मानव का अस्तित्व कदापि सम्भव नही है। जब हम दार्शनिक इतिहास का पर्यवेक्षण करते है तो सहज ही ज्ञात होता है कि मानव-चिन्तन शक्ति का मुख्य केन्द्र उसका जीवन है। मानव ने सर्वप्रथम अपने जीवन पर

सोचा, उसके पश्चात् अपने सन्निकट की वस्तुओ पर। यही है मानव-जीवन मे दर्शन के जन्म की कहानी। प्रथम 'स्व' पर चिन्तन चला, तत्पश्चात् 'पर' पर चिन्तन किया गया। यह 'स्व' और 'पर' का चिन्तन ही वस्तुत सही दर्शन-शास्त्र है। जीवन के सर्वांगीण चिन्तन एव विकास के लिए यह अत्यन्त अनिवार्य था कि चेतन से सम्बन्धित जगत के अन्य तत्त्वो का भी अनुशीलन एव परिशीलन किया जाय। जीवन के इन मूलभूत तत्त्वो पर चिन्तन और मनन करना, उन्हे विवेक की कसौटी पर कसना, उन तत्त्वो के अनुसार आचरण करना यही दर्शन का जीवन के साथ वास्तविक सम्बन्ध है।

दर्शन और जगत

दर्शन और जीवन का सम्बन्ध ज्ञात होने के पश्चात् दर्शन और जगत के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना आवश्यक है। जगत के स्वरूप को समझने पर हमे यह सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि व्यक्ति के जीवन का जगत के साथ क्या सम्बन्ध है ? जीवन और जगत का सम्बन्ध ज्ञात होने पर दर्शन का जगत के मूल्याङ्कन मे कितना हाथ है, यह भी ज्ञात हो जायेगा। मानव जिस जगत मे रहता है उस जगत के स्वरूप को समझना अतीव आवश्यक है। चूंकि जिस जगत मे जीवन और दर्शन विकसित होता है उस जगत के स्वरूप को विना समझे दर्शन को समझना कठिन है।

इसी कारण दर्शन का विषय जैसे जीवन है वैसे जगत भी है। वह जीवन और जगत दोनो का विश्लेषण करता है। जगत का विश्लेषण करने वाली दो मुख्य विचारधाराएँ है—एक आदर्शवादी और दूसरी यथार्थवादी। आदर्शवाद और यथार्थवाद मे अतीतकाल से ही सघर्ष चला आ रहा है। उस सघर्ष का मूल कारण जगत की भौतिक सत्ता है। आधुनिक विज्ञानवादी शोध-धारा ने उस सघर्ष को कम करने के स्थान पर अधिक बढा दिया है। विना भौतिक आधार के यथार्थवाद पनप नही सकता। भौतिक आधार के अभाव मे कोरा आदर्शवाद व्यवहार की वस्तु न रह कर कल्पना मात्र रह जाता है। भौतिक तत्त्व को लेकर ही आदर्श और यथार्थवाद मे मौलिक भेद होता है। भौतिक तत्त्व की स्वतत्र सत्ता को आदर्शवादी परम्परा स्वीकार नही करती। यथार्थवादी परम्परा आदर्शवाद की प्रस्तुत मान्यता को स्पष्ट चुनौती प्रदान करती है। यथार्थवादी परम्परा मानती है कि भौतिक तत्त्व का उसी प्रकार सर्वतत्र-स्वतत्र स्थान है जैसे आध्यात्मिक

तत्त्व का है। भारतीय दर्शनो मे शकर का अद्वैतवाद, नागार्जुन का शून्यवाद, और वसुबन्धु का विज्ञानवाद ये आदर्शवादी दर्शन हैं। जगत की भौतिक सत्ता को ये स्वीकार नही करते। अद्वैतवादी दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि ब्रह्म के अतिरिक्त इस ससार मे कुछ भी नही है। ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। ब्रह्म आध्यात्मिक है, भौतिक नही है। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिको का अभिमत है कि इस जीवन और जगत मे हम जो कुछ भी देख रहे है, वह सब विज्ञान ही विज्ञान है। बौद्ध दर्शन ने इसे आलय-विज्ञान कहा है। नागार्जुन का शून्यवाद तो अद्वैतवाद और विज्ञानवाद से भी एक कदम आगे है, इसे समझना ही आसान नही है। इस आदर्शवादी परम्परा के विरोध मे अनेकान्तवादी जैन दर्शन ने आवाज बुलन्द की। साख्य-दर्शन, जो प्रकृति-पुरुषवादी है, वैशेपिक दर्शन, जो परमाणुवादी है, न्याय-दर्शन जो ईश्वरवादी है, ये सभी दर्शन यथार्थवादी हैं। इन यथार्थवादी दर्शनो ने आध्यात्मिक सत्ता के साथ जगत की भौतिक सत्ता को भी स्वीकार किया है। जैनदर्शन की दृष्टि से जीव के साथ अजीव भी है, चेतन के साथ अचेतन भी है, आत्मा के साथ पुद्गल भी है। साख्य दर्शन का अभिमत है कि यह दृश्यमान जगत प्रकृति और पुरुप का सयोग मात्र है। पुरुष-आत्मा की सत्ता के साथ प्रकृति-जड की सत्ता भी यहाँ पर मानी गई है। वैशेषिक दर्शन परमाणुवादी होने से स्वय ही अनेकवादी सिद्ध हो जाता है और ईश्वरवादी न्यायदर्शन जब ईश्वर से अनन्त सृष्टि की उत्पत्ति मानता है तो उसे यथार्थवादी बनना ही पडता है।

पाश्चात्य दार्शनिक साहित्य का इतिहास पढने से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम ग्रीक दार्शनिक पार्मेनाइड्स ने ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व इस बात की उद्घोपणा की थी कि ज्ञान और ज्ञेय (ज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले भौतिक पदार्थों) मे किञ्चित् मात्र भी भेद नही है। ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञेय कोई भिन्न पदार्थ नही है। ज्ञान और ज्ञेय वस्तुत एक है। पाश्चात्य दर्शनो की परम्परा मे यह आदर्शवादी विचारधारा है। इसके पश्चात् जब हम ग्रीक दार्शनिक इतिहास मे महान चिन्तक सुकरात के युग को पार कर प्लेटो के युग मे पहुँचते हैं तब हमे ज्ञात होता है कि प्लेटो ने आध्यात्मिक तत्त्व की सत्ता पर बल दिया किन्तु वह पूर्ण रूप से आदर्शवादी न हो सका। प्लेटो का शिष्य महान दार्शनिक और साथ ही वैज्ञानिक एरिस्टोटल वस्तुत यथार्थवादी था।

आदर्शवाद और यथार्थवाद का जो रूप पाश्चात्य दर्शन मे आज उपलब्ध है उसका मूल स्रोत डेकार्ट की विचारधारा मे है। डेकार्ट ने विस्तार और विचार के भेद से भौतिक तत्त्व और आध्यात्मिक तत्त्व मे भेद उत्पन्न किया। यथार्थ मे योरुपीय-दर्शन मे आदर्शवाद और यथार्थवाद का प्रारम्भ यही मे होता है।

भारतीय दर्शन की विशेषता

पाश्चात्य दार्शनिको की एक धारणा है कि भारतीय दर्शन मे उदासीनता, सन्यासवाद और त्यागवाद इतनी अधिक मात्रा मे आ गया है कि उससे भारतीय दर्शन की विशुद्धता दब गई है। मेरी दृष्टि मे प्रस्तुत मान्यता मे कुछ सत्याश हो सकता हे किन्तु पूर्ण सत्य नही। कितने ही पाश्चात्य दार्शनिको ने अध्यात्मवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि वह जीवन मे आशावाद की प्रेरणा न देकर केवल निराशावाद का सचार करता है। इस आलोचना मे कितना सत्याश है जग इस पर हम चिन्तन करे।

इस सत्य-तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि भारतीय दर्शन की मूल प्रेरणा दु ख के प्रतीकार की रही है। भारत के सभी महापुरुष जन-जीवन मे व्याप्त दु ख के उपचार की अन्वेषणा करते रहे। जन्म, जरा, मरण और आधि, व्याधि-उपाधि के भय से सत्रस्त जन-जीवन को अमृतत्त्व का उपदेश देकर अभय करना उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य और आदर्श रहा था। उपनिषद् युग के ऋषियो की अनासक्ति को, बुद्ध के वैराग्य को और महावीर के महान त्याग को जीवन का निराशावाद या जीवन से पलायन कहना सर्वथा अनुचित है। दु ख जीवन का चरम और परम सत्य है यह मानकर भारतीय दार्शनिक मौन नही बैठे रहे अपितु उन्होने उसके प्रतीकार का मार्ग भी ढूढ निकाला। दु ख के प्रतीकार के प्रयत्न को निराशावाद या पलायनवाद नही कह सकते। वस्तुत भारतीय दर्शन का अन्त निराशावाद एव पलायनवाद मे नही हुआ है। भारतीय दर्शन का सर्वोच्च ध्येय अनन्त आशावाद और असीम आनन्द की उपलब्धि मे रहा है। उस आशा और आनन्द का आधार दु ख की निवृत्ति मे पूर्ण विश्वास है, इसलिए भारतीय दर्शन को निराशावादी और पलायनवादी कहना न्याय व तर्क-सगत नही है।

भारत के अध्यात्मवादी दर्शन ने कभी भी भोग को जीवन का ध्येय नही माना अपितु साधक के लिए भोग को छोडकर त्याग को ग्रहण करने की प्रवल प्रेरणा प्रदान की। चाहे आचार्य शकर का अद्वैत वेदान्त हो, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद हो, वौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का शून्यवाद हो, वसुवन्धु का विज्ञानवाद हो, या महावीर का अहिंसा और अनेकान्तवाद हो, उसने अपने युग की जनता को त्याग और तप की प्रेरणा दी। भारतीय दर्शन ने आनन्द का अर्थ भौतिक भोग नही माना है—इसे आनन्दाभास और सुखाभास कहा है। आनन्द आत्मा का निज गुण है। वह किसी भी भौतिक तत्त्व का गुण नही हे और न उससे उपलब्ध किया जा सकता है। भौतिक विषयो के उपभोग का जो सुख है वह क्षणिक है, विनश्वर है। उसका परिणाम दु ख ही है। इस दु ख का समूल और सदा के लिए विनाश एक आनन्दमय अध्यात्मवादी स्थिति मे ही भारतीय दार्शनिको ने पाया है। दु खो की मुक्ति को ही मोक्ष, निर्वाण और मुक्ति माना गया है। भौतिक भोगो के पूर्ण त्याग की जो भारतीय दर्शन मे प्रेरणा दी गई है वह परम शान्ति के लिए है, जीवन की उपेक्षा अथवा निराशा से प्रेरित नही है।

भारत की अध्यात्मवादी परम्परा ने शाश्वत, सम्पूर्ण और स्वाश्रित आनन्द की अन्वेषणा को ही दर्शन का चरम लक्ष्य कहा है। यहाँ पर उत्पन्न होने वाले दर्शन सदा ही सहगामी रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन की भाँति सत्य केवल बौद्धिक विचारणा का विषय नही अपितु सत्य साधना का विषय रहा है। यहाँ के दार्शनिक ऋषि-मुनि केवल सत्य पर चर्चा ही नही करते किन्तु सत्य का साक्षात्कार कर उस सत्य-तथ्य को साकार करने का प्रयास भी करते। भारतीय साधको ने साधना के सरस स्नेह से ज्ञान के दिव्य-दीपक की ज्योति-शिखा को सदा प्रज्ज्वलित रखा। आचार्य शकर ने, सिद्धसेन दिवाकर ने और धर्मकीर्ति ने सत्य के साथ खिलवाड नही किया, किन्तु सत्य का सत्कार कर उसे जीवन के कण-कण मे उतारने का प्रयास किया। पाश्चात्य दर्शन कमनीय कल्पना के अनन्त गगन मे विहरण करता रहा किन्तु उसने मत्य को जीवन मे उतारने का प्रयत्न नही किया। भारतीय दार्शनिक परम्परा असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर एव भोग से त्याग की ओर प्रगतिशील रही है।

●

जैन दार्शनिक साहित्य का विकास

जैन दर्शन सम्बन्धी जो साहित्य आज उपलब्ध है उसे मुख्य रूप मे पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है। श्रमण भगवान महावीर से लेकर आज तक उसका क्या रूप रहा है, उसका सम्यक् परिचय भी उसमे प्राप्त हो जाता है। वह क्रम इस प्रकार है —

१ आगम युग
२ अनेकान्त स्थापना युग
३ प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग
४ नवीन न्याय युग
५ आधुनिक युग—सम्पादन एव अनुसधान युग।

आगम युग

आगमयुग की काल मर्यादा महावीर के परिनिर्वाण अर्थात् वि० पू० ४७० से प्रारम्भ होकर प्राय एक हजार वर्ष तक जाती है। भगवान महावीर के पावन प्रवचनो का सकलन गणधरो ने किया। अर्थरूप के प्रणेता तीर्थंकर हैं और सूत्र रूप के प्रणेता गणधर है। आगम के दो विभाग हो गए—सूत्रागम और अर्थागम। भगवान के उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र रचना को सूत्रागम कहा गया। आचार्यों के लिए यह आगम साहित्य निधि वन गया। इसलिए इसका अपर नाम 'गणि-पिटक' हुआ। उस सकलन के मौलिक विभाग बारह थे, अत वह 'द्वादशागी' के नाम से भी विश्रुत हुआ। वारह अग ये है—

(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासक दशा, (८) अन्तकृत्दशा (९) अनुत्तरौपपातिक-दशा (१०) प्रश्न व्याकरण, (११) विपाक, (१२) दृष्टिवाद।

आगम साहित्य रचना की दृष्टि से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—अग-प्रविष्ट और अनग-प्रविष्ट। भगवान महावीर के ग्यारह गणधरो ने जो साहित्य सृजन किया वह अग-प्रविष्ट है, स्थविरो ने जिस साहित्य की रचना की वह अनग-प्रविष्ट है। द्वादशागी के अतिरिक्त अन्य

सम्पूर्ण आगम साहित्य अनग-प्रविष्ट है। दूसरे शब्दो मे, यो भी कहा जा सकता है कि गणधरो के प्रश्न पर भगवान ने जो त्रिपदी—उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य का उपदेश दिया उसके आधार से जिस आगम साहित्य की रचना हुई वह अग-प्रविष्ट है और भगवान के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरो ने जो रचना की वह अनग-प्रविष्ट है।

आगमो मे मुख्य स्थान द्वादशागी का है। वह स्वत प्रमाण हैं और शेष आगम परत प्रमाण हैं अर्थात् द्वादशागी से जो अविरुद्ध है वे प्रमाण हैं और शेष अप्रमाण है।

अनग-प्रविष्ट आगम को भी दो भागो मे विभक्त कर सकते है। कितने ही स्थविरो के द्वारा रचित हैं और कितने ही निर्यूढ है। जो आगम द्वादशागी या पूर्वों से उद्धृत किये गये है, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का दूसरा श्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम हैं। आर्य शय्यम्भव ने अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्यूहण किया था[1] शेष आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं। प्रज्ञापना के रचयिता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य रक्षित और नन्दी के देव वाचक हैं।

भाषा की दृष्टि से आगम साहित्य को दो युगो मे विभक्त कर सकते हैं। प्रथम युग ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का। इस समय जिन आगमो की रचना हुई उन आगमो की भाषा अर्द्ध-मागधी है। द्वितीय युग ई० १०० से ५०० तक का है, इस समय रचित या निर्यूढ आगमो की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है।

स्थानाङ्ग और नन्दी मे आगम साहित्य के अग-प्रवृष्टि और अग-बाह्य से दो विभाग किये है। दिगम्बर साहित्य मे भी ये विभाग मिलते है। जब आगम-पुरुष की कल्पना की गई तब अग-प्रविष्ट को उसके अग-स्थानीय और वारह सूत्रो को उपाग स्थानीय माना गया। पुरुप के जिस प्रकार दो पैर, दो जघाएँ, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो वाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अग होते हैं वैसे ही श्रुत-पुरुष के आचार आदि वारह अग है इसलिए वे अग-प्रविष्ट कहलाते है।

१　साहित्य और सस्कृति पृ० २९-३०

कान, नाक, आँख, जघा, हाथ और पैर—ये उपाग है। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपाग है। जैसे—

अग	उपाग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्य प्रज्ञप्ति
उपासक दशा	चन्द्र प्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	कल्पिका
अनुत्तरौपपातिक दशा	कल्पावतसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प चूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

उपाङ्ग शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-भाष्य मे किया है।[1]

छेद सूत्र का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यक निर्युक्ति मे हुआ[2] फिर भाष्यो मे। छेद सूत्र चार हैं—

व्यवहार, बृहत्कल्प, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध।

मूल शब्द का प्रयोग सबसे अर्वाचीन है। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन ये दो मूल सूत्र माने जाते हैं। नन्दी और अनुयोग द्वार ये दो चूलिका सूत्र है।

इस प्रकार अग-बाह्य-श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूप से सयोजना हुई है। साहित्य और सस्कृति ग्रन्थ मे मैंने विस्तार से उस पर विवेचन किया है, अत प्रबुद्ध पाठक वहाँ पर देखें।

---

१ तत्त्वार्थ भाष्य, टीका पृ० २३

२ आवश्यक निर्युक्ति ७७७

वर्तमान मे आगम के जो सस्करण उपलब्ध हैं वे प्रस्तुत रूप मे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय के है। उसके पूर्व आगम-साहित्य लिपिवद्ध नही किया गया था। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात दूसरी शताव्दी मे वारह वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ, उसके पश्चात् पाटलीपुत्र मे आगम वाचना हुई। 'आगम सकलन' का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ से ८४० के मध्य हुआ। उस समय दो वाचनाएँ हुई—एक मथुरा मे और दूसरी वल्लभी मे। मथुरा मे जो वाचना हुई थी वह आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे हुई थी और वल्लभी मे जो वाचना हुई वह आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे हुई। वे वाचनाएँ माथुरी वाचना और वल्लभी वाचना के नाम से विश्रुत हैं। इन तीन वाचनाओ मे आगम लिखे नही गये थे। आगम लिखने का कार्य वीर निर्वाण के ९८० वर्ष के पश्चात देवर्द्धिगणी क्षमा-श्रमण के नेतृत्व मे वल्लभी मे हुआ। उस समय तक वहुत से श्रमण दुर्भिक्ष-जनित कठिनाइयो से कालकवलित हो गये। वहुत सारा श्रुत विस्मृत हो गया था, अत जो कण्ठस्थ था, उसे सुना गया। आगमो के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होने अपनी मति से उसका सकलन किया, सम्पादन किया और पुस्तकारूढ किया।

आगमो का जो वर्तमान रूप है वह देवर्द्धिगणी के समय का सकलित है। उन्होने अग और अगवाह्य दोनो का सकलन और सम्पादन किया। इसलिए वे आगमो के वर्तमान रूप के कर्ता भी माने जाते हैं।[1]

आगमों मे दार्शनिक चर्चाएँ

आगमो मे सूत्रकृत, प्रज्ञापना राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानाङ्ग समवायाङ्ग व अनुयोगद्वार मे दार्शनिक विषयो पर विचार-विमर्श किया गया है।

सूत्रकृत् मे उस समय मे प्रचलित दार्शनिक मतो का निराकरण किया

---

१ श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षवशाद् वहुतरसाधुव्यापत्तौ वहुश्रुतविच्छित्तौ च जाताया भव्यलोकोपकाराय श्रुतव्यक्तये च श्रीसघाग्रहात् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या सकलय्य पुस्तकारूढा कृता। ततो मूलतो गणधर-भाषितानामपि तत्सकलानान्तर सर्वेषामपि आगमाना कर्ता श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात —समाचारी शतक

गया है। भूताद्वैतवाद का निरसन कर आत्मा की पृथक ससिद्धि की गई है। ब्रह्माद्वैतवाद के स्थान पर नानात्मवाद की स्थापना की गई है। कर्म और उसके फल की सिद्धि बताई गई है। जगत् की उत्पत्ति विषयक ईश्वरवाद का खण्डन कर, ससार अनादि अनन्त है, यह बताया गया है। क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद आदि वाद, जो उस समय फैले हुए थे, उनका तर्क पुरस्सर खण्डन कर क्रियावाद की स्थापना की गई है।

जीव के विविध भावो का परिचय विस्तार से प्रज्ञापना मे दिया गया है।

राजप्रश्नीय मे नास्तिकवाद का निराकरण कर आत्मा और परलोक आदि को विविध दृष्टान्त व युक्तियाँ देकर समझाया गया है।

भगवती मे प्रसगानुसार नय, प्रमाण सप्तभगी, अनेकान्तवाद आदि अनेक दार्शनिक विषयो का सुन्दर विश्लेपण है।

नन्दी सूत्र मे ज्ञान के स्वरूप व उसके भेद-प्रभेदो का अच्छा विवेचन किया गया है।

स्थानाङ्ग मे आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, प्रभृति विपयो पर चर्चा है। महावीर के सिद्धान्तो मे एकान्तवाद को लेकर चिन्तन करने वाले निह्नव कहलाते है। उनका भी इसमे निरूपण है।

समवायाङ्ग मे ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विपयो पर चर्चा हैं।

अनुयोग द्वार मे शब्दार्थ की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है। प्रसग से प्रमाण, नय आदि तत्त्वो का भी सुन्दर विश्लेपण है।

प्रस्तुत आगमो की टीकाओ मे भी दार्शनिक विषयो की चर्चाएँ विस्तार के साथ हुई है।

भाष्यकारो मे सघदासगणी व जिनभद्रगणी का नाम विशेप रूप से लिया जाता है। ये दोनो विक्रम की सातवी शताब्दी मे हुए है। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्र की महत्वपूर्ण कृति है। इसमे तत्त्व का व्यवस्थित व युक्ति-युक्त विवेचन है। सघदासगणी का बृहत्कल्पभाष्य एक सुन्दर कृति है। श्रमणो के आहार-विहार आदि का दार्शनिक व तार्किक दृष्टि से विवेचन है।

सस्कृत टीकाकारो मे आचार्य हरिभद्र का नाम विस्मृत नही किया जा सकता, जिन्होने प्राचीन चूर्णियो के आधार से टीकाएँ लिखी हैं।

टीकाओ मे दार्शनिक दृष्टि का विशेष उपयोग किया गया है। आचार्य मलयगिरि की टीकाओ मे भी वही वात है। उन्होने भी यत्र-तत्र दार्शनिक चर्चाएँ की है।

आगम साहित्य ज्ञान विज्ञान का अक्षय कोप है तथापि उसमे दार्शनिक दृष्टि उतनी प्रमुख नही रही है जितनी आगमेतर साहित्य मे रही है। इसका मूल कारण यह है कि आगम साहित्य मुख्य रूप से साधको के लिए है। साधको को उद्‌बोधन देने के लिए अनेक स्थलो पर पुनरावृत्तियाँ भी हुई हैं। दार्शनिक विषयो का निरूपण वाद के साहित्य मे विशेष रूप से हुआ है।

तत्त्वार्थ सूत्र आचार्य उमास्वाति की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन तत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, आत्मविद्या, पदार्थ विज्ञान, कर्मशास्त्र आदि अनेक विषयो पर उसमे सुन्दरतम निरूपण है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र पर एक भाष्य भी लिखा था। छठी शताब्दी मे हुए दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि नामक सक्षिप्त टीका लिखी थी। अकलक व विद्यानन्द ने क्रमश राजवार्तिक व श्लोकवार्तिक की रचना की। ये दोनो भी दिगम्बर आचार्य थे। इनकी टीकाएँ वडी महत्त्वपूर्ण हैं। दर्शन के प्रत्येक विषय को इन्होने स्पर्श किया है। श्वेताम्बर परम्परा के सिद्धसेन और हरिभद्र ने भी वृहत्काय और लघुकाय वृत्तियो की रचना की। इन टीकाओ का निर्माण आठवी-नौवी शताब्दी मे हुआ। जैन दार्शनिक प्रगाति की झलक इन टीकाओ मे स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी कि जैसे दिड्‌नाग के प्रमाण-समुच्चय पर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक लिखा और उसी को केन्द्र मानकर वौद्ध साहित्य विकसित हुआ, वैसे ही तत्त्वार्थ सूत्र की टीकाओ के आसपास जैन दार्शनिक साहित्य विकसित हुआ। वारहवी शताब्दी मे मलयगिरि ने, चौदहवी शताब्दी मे चिरन्तन मुनि ने एव अठारहवी शताब्दी मे नवीन न्याय के उद्‌भट विद्वान् यशोविजयजी ने तत्त्वार्थ पर टीकाएँ लिखी। इनके अतिरिक्त दिगम्बर विज्ञ श्रुतसागर, विबुध सेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनकी आदि ने तत्त्वार्थ पर टीकाएँ लिखी। उसके पश्चात् वीसवी शताब्दी मे भी हिन्दी और गुजराती मे तत्त्वार्थ पर अनेक विवेचन लिखे गये है।

तत्त्वार्थ सूत्र तक पहुँचते-पहुँचते आगम-युग समाप्त हो जाता है।

अनेकान्त स्थापना युग

भारतीय दार्शनिक क्षेत्र मे बौद्धदर्शन के प्रकाण्ड-पण्डित नागार्जुन ने एक बहुत बडी हलचल पैदा करदी थी और दार्शनिको मे अभिनव चेतना जाग्रत करदी थी। नागार्जुन ने जब से इस क्षेत्र मे पदार्पण किया और अपनी तर्कशक्ति का प्रयोग किया तब से दार्शनिक वाद-विवादो एव तत्त्व-चर्चा को नूतन मोड दिया गया। पहले श्रद्धा की प्रमुखता थी अब श्रद्धा के स्थान पर तर्क की प्रमुखता हो गई। यही कारण है कि दर्शनशास्त्र को नागार्जुन के शून्यवाद के कारण व्यवस्थित रूप मिला। नागार्जुन ने दार्शनिक क्षेत्र मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। यह क्रान्तिकारी परिवर्तन बौद्धदर्शन तक ही सीमित नही रहा अपितु, उसका प्रभाव भारत के सभी दर्शनो पर पडा। परिणामस्वरूप जैनदर्शन भी उससे अछूता न रहा। जैनदर्शन मे सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र जैसे महान तार्किक और दार्शनिक पैदा हुए। यह समय भारतीय दर्शन के इतिहास मे पाचवी और छठी शताब्दी का माना जाता है। जैनदर्शन के उन महान तेजस्वी और वर्चस्वी आचार्यो ने श्रमण भगवान महावीर के समय से श्रुत-साहित्य मे जो अनेकान्तवाद के बीज बिखरे हुए थे, उन्हे अनेकान्तवाद के रूप मे स्थिर कर निश्चित रूप दिया। इस मूल आधार को लक्ष्य मे रखकर ही जैन दार्शनिक साहित्य मे इस समय का 'अनेकान्त स्थापनोयुग' कहा है। इस युग मे आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मल्लवादी, आचार्य सिंहगणी और पात्रकेशरी ये पाँच जैन दार्शनिक आचार्य हुए है। विचारो के इस द्वन्द्वात्मक तूफानी युग मे जैनाचार्यो के समक्ष तीन कार्य थे। पहला कार्य था अपने दार्शनिक पक्ष को परिष्कृत एव परिमार्जित करते हुए तर्क प्रधान बनाना और दूसरा कार्य था बौद्ध आचार्यो की शकाओ का निराकरण करना। तीसरा कार्य था वैदिक परम्परा की ओर से उठने वाले प्रश्नो का तर्क-सगत उत्तर देना। जैन दार्शनिक साहित्य के इतिहास मे यह स्वर्णिम युग के नाम से विश्रुत है।

इस युग मे समस्त भारतीय दर्शन के सामने नागार्जुन का शून्यवाद, वसुबन्धु का विज्ञानवाद और वेदान्त का अद्वैतवाद चर्चा के विषय रहे। जैन परम्परा के दार्शनिक आचार्यो ने सोचा शून्यवाद, विज्ञानवाद, अद्वैत-

वाद एव मायावाद के समक्ष जैन परम्परा का अनेकान्तवाद एव स्याद्वाद ही खडा हो सकता है और उसी आधार से हम प्रतिवादियो का प्रतिवाद कर अपनी रक्षा कर सकते है। इसी आधार मे इसको अनेकान्त स्थापनयुग या अनेकान्तवादी युग कहा है।

प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग

तर्क-शास्त्र के नियम के अनुसार प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के द्वारा ही हो सकती है। सस्कृत साहित्य मे और विशेष रूप से इस प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था युग मे "मानाधीना मेयसिद्धि" यह एक प्रसिद्ध नारा था, अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधार पर ही की जा सकती है। इस युग मे जैन परम्परा के सभी आचार्यो का ध्यान अनेकान्त से हटकर प्रमाणशास्त्र पर चला गया।

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास मे दिड्नाग के तार्किक विचारो ने एव उसके दार्शनिक विवेचन ने प्रमाणशास्त्र और न्याय-शास्त्र को नूतन प्रेरणा प्रदान की। दिड्नाग बौद्ध परम्परा मे प्रमाणशास्त्र का पिता माना जाता है। वह प्रवल प्रतिभासम्पन्न, तार्किक एव प्रमाणशास्त्र का प्रशस्त व्याख्याता था। दिड्नाग ने जिस प्रमाण शास्त्र को जन्म दिया उसके पालन-पोषण करने का दायित्व धर्मकीर्ति पर आ गया। दिड्नाग की प्रतिभा के उदित होते ही दार्शनिक क्षेत्र मे वडी हलचल मच गई, जिसके फलस्वरूप वैदिक-परम्परा मे भी इस युग के तार्किको ने प्रमाणशास्त्र पर विशेप बल दिया। वैदिक परम्परा मे व्योमशिव, जयन्त, उद्योतकर, कुमारिल जैसे मेधावी तार्किक सामने आये। यह समय आठवी-नौवी शताव्दी का था। इस समय जैन परम्परा मे अनेक आचार्य हुए। उनमे आचार्य हरिभद्र और अकलक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हरिभद्र ने प्रमाणशास्त्र पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही लिखा पर स्व-रचित 'अनेकान्तजयपताका' 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' एव 'षड्-दर्शन समुच्चय' मे प्रमाणशास्त्र पर एव उसकी विकास-वादी परम्परा पर विशेष रूप से चिन्तन प्रस्तुत किया। अकलक ने 'प्रमाण-सग्रह', 'न्यायविनिश्चय' एव 'लघीयस्त्रयी' आदि ग्रन्थो मे प्रमाणशास्त्र का परिष्कार एव तर्कशास्त्र का परिमार्जन वहुत ही व्यवस्थित रूप से किया। विद्यानन्द ने समन्तभद्र की 'आप्त-मीमासा' पर अकलक कृत जो अष्टशती थी, उस पर 'अष्टसहस्री' लिखकर जैन परम्परा के प्रमाणशास्त्र

को स्थिर रूप प्रदान किया। इसी युग मे प्रभाचन्द्र ने 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचन्द्र' मे बडे विस्तार के साथ प्रमाण-शास्त्र का तार्किक शैली मे प्रतिपादन प्रस्तुत किया। वादिदेवसूरि ने 'प्रमाण-नय-तत्त्वालोक' ग्रन्थ पर स्वय ही 'स्याद्वाद रत्नाकर' जैसी विशाल टीका की रचना की। 'स्याद्वाद रत्नाकर' वस्तुत जैन परम्परा का रत्नाकर ही है। जैन दर्शन का सम्पूर्ण दृष्टिकोण इसमे आ गया है। यहाँ तक कि इसमे बौद्ध और वैदिक-परम्परा के समर्थ आचार्यो के वादो का प्रतिवाद भी बहुत ही कुशलता के साथ किया है। वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि ने 'स्याद्वाद रत्नाकर' का सक्षिप्त सस्करण 'रत्नाकरावतारिका' के रूप मे प्रस्तुत किया। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-मीमासा जैसा अद्भुत ग्रन्थ प्रदान किया। मल्लिषेण की 'स्याद्वाद मजरी' भी इसी युग की विशिष्ट देन है। इन सभी आचार्यो ने प्राय दिङ्नाग के तर्को का बडी सतर्कता व बुद्धिमता से खण्डन किया। इस युग की यह विशेषता रही है कि अपने पक्ष का मण्डन करते हुए दूसरे पक्ष का खण्डन करना। इस युग मे खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है।

नवीन न्याय-युग

भारतीय दार्शनिक इतिहास की परम्परा मे 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक न्याय के ग्रन्थ लेखन के साथ ही न्याय शास्त्र का एक नूतन अध्याय प्रारभ होता है। इसका श्रेय विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे मिथिला मे उत्पन्न होने वाले गगेश नामक प्रतिभा सम्पन्न नैयायिक को है। तत्त्व चिन्तामणि नवीन परिभाषा और नूतन शैली मे लिखा गया, न्याय-शास्त्र व दर्शन-शास्त्र का एक महान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का विषय न्याय-सगत प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण है। प्रमाणो को सिद्ध करने के लिए गगेश ने जिस नैयायिक भाषा, तर्क और शैली का प्रयोग किया, वह न्याय-शास्त्र के क्षेत्र मे बिलकुल ही नई थी। न्याय जैसे शुष्क और नीरस विषय मे रस का सचार कर जन-जन के आकर्षण की वस्तु बना देना, सामान्य कला नही। गगेश ने जिस नूतन और सरस शैली को जन्म दिया वह शैली शनै-शनै अधिक परिष्कृत होती गई। प्रस्तुत ग्रन्थ पर अनेक आचार्यो ने टीकाएँ लिखी। चिन्तामणि-ग्रन्थ के साथ ही भारतीय दर्शन के युग मे एक नूतन युग ही स्थापित हो गया। बौद्ध-नैयायिक भी इस नूतन शैली से प्रभावित हुए। जैनदर्शन के प्रतिभा-

सम्पन्न दार्शनिक भी उस प्रभाव से किस प्रकार बच सकते थे। उन पर भी इस नवीन-न्याय शैली का स्पष्ट प्रभाव पडा। विक्रम की सत्तरहवी शताब्दी के अन्त तक जैनदर्शन मे प्राचीन परम्परा और प्राचीन शैली मे ही न्याय ग्रन्थो की रचनाएँ होती रहीं। अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे उपाध्याय यशोविजय जी ने नवीन न्याय शैली मे न्याय-ग्रन्थो का प्रणयन किया। अनेकान्त-व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्य न्याय शैली मे लिखकर अनेकान्तवाद को पुन प्रतिष्ठित किया। प्रमाणशास्त्र पर 'जैन तर्क भाषा' और 'ज्ञानबिन्दु' लिखकर जैन परम्परा के गौरव मे चार चाँद लगाये। नयवाद पर, नय-प्रदीप, नय-रहस्य, और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे। नयोपदेश पर 'नयामृत-तरगिणी' नामक स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी। अष्ट-सहस्री पर विवरण भी लिखा। आचार्य हरिभद्र रचित शास्त्रवार्ता समुच्चय पर 'स्याद्वादकल्पलता' नामक टीका लिखी। भाषा-रहस्य, प्रमाण-रहस्य, वाद-रहस्य, आदि अनेक ग्रन्थो के अतिरिक्त न्याय खण्डखाद्य, और न्यायालोक लिखकर नूतन शैली मे ही नैयायिकादि दार्शनिको की मान्यताओ का निरसन भी किया।

यशोविजयजी के अतिरिक्त यशस्वतसागर और विमलदास ने नव्य न्याय शैली मे ग्रन्थो की रचना की।

आधुनिक युग—सम्पादन एवं अनुसन्धान युग

उपाध्याय यशोविजयजी ने जिस परम्परा का श्रीगणेश किया वह परम्परा किसी न किसी रूप मे शताब्दी के प्रारम्भ तक चलती रही। कुछ विद्वान टीका-टिप्पणियाँ लिखते रहे किन्तु इस बीच मे महत्त्वपूर्ण कोई परिवर्तन नही हुआ। किन्तु अग्रेजी शासन के युग मे जीवन के अन्यान्य क्षेत्रो की भाँति ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे भी एक बहुत बडा परिवर्तन आया। इस युग मे प्राय सस्कृत या प्राकृत भाषा मे नवीन ग्रन्थो की रचनाएँ बहुत कम की गई किन्तु भारतीय दार्शनिक अपनी-अपनी परम्प-राओ के प्राचीन ग्रन्थो का सम्पादन एव अनुसधान नये युग की शैली मे करने लगे। पाश्चात्य ग्रन्थो के अध्ययन के कारण भारतीय दर्शन-शास्त्र पर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का स्पष्ट प्रभाव पडा। फलस्वरूप प्राचीन साहित्य को नवीन रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा। आधुनिक युग की तीन सबसे बडी विशेषताएँ हैं—

(१) भारतीय और पाश्चात्य दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन।

(२) अनुसधान।

(३) खोजपूर्ण टिप्पण।

पाठान्तर व अनेकानेक ग्रन्थो के अवतरण देने की परम्परा भी प्रस्तुत युग की ही देन है।

जैन परम्परा के दार्शनिक इतिहास मे सम्पादन और अनुसधान की धारा इस युग मे प्रारम्भ करने का श्रेय पडित सुखलाल जी को है। पडित जी का सम्पादन, अनुसधान और खोजपूर्ण तुलनात्मक टिप्पण सभी मे उनका गम्भीर अध्ययन एव नवीन दृष्टि स्पष्ट रूप से झलकती है। पडित सुखलाल जी की परम्परा को आगे बढाने वाले दो और विद्वान है—पडित महेन्द्रकुमार जी जैन और पडित दलसुख मालवणिया। इन विद्वानो ने अनेक ग्रन्थो का सम्पादन तुलनात्मक टिप्पणो के साथ किया। प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती, एव डा० हीरालाल जी जैन ने भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का सम्पादन किया है।

जैन दर्शन के विविध पहलुओ पर अनेक शोधार्थी शोध-प्रबन्ध लिख रहे हैं। नित-नये अनुसधान कार्य चल रहे है। उन सभी का परिचय देना यहाँ पर सम्भव नही है। अनुसधान इस युग की विशेष देन है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन दार्शनिक साहित्य पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है। इस विभाजन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिक साहित्य कितना विशाल और व्यापक रहा है।

प्रत्येक युग की अपनी एक विशिष्ट देन होती है। उस देन से जो धारा लाभ उठाती है वह धारा आगे के युग मे जीवित रहकर निरन्तर आगे बढती है। जो धारा युग के सस्कार को बिना लिये आगे बढना चाहती है वह क्षीण हो जाती है। मौलिक प्रवृत्ति वही रहती है किन्तु युग के अनुसार उसमे परिवर्तन होता रहता है। अन्तरग वही रहता है किन्तु बहिरग बदलता रहता है।[1]

---

१ जैन दर्शन—(क) डा० मोहनलाल मेहता पृ० ८३ से १२१

(ख) जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन—श्री दलसुख भाई मालवणिया

(ग) विश्व दर्शन की रूपरेखा—प० विजय मुनि

(घ) मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ

आगमयुगीन जैनदर्शन

आगम साहित्य मे दार्शनिक तत्त्वो का निरूपण किस प्रकार हुआ है ? इस प्रश्न का सही समाधान तभी प्राप्त हो सकता है जब हमारी दृष्टि विशाल एव ऐतिहासिक होगी। जैसे वेदकालीन दर्शन की अपेक्षा उपनिषद्-कालीन दर्शन प्रौढतर है और गीताकालीन दर्शन प्रौढतम है, वैसे ही जैन-दर्शन के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। आगमकालीन दर्शन की अपेक्षा आगम-व्याख्या साहित्य मे जैनदर्शन प्रौढतर हो गया है और तत्त्वार्थसूत्र मे पहुँच कर प्रौढतम। अब हमे देखना है कि आगम साहित्य मे और उसके व्याख्या साहित्य मे जैनदर्शन का प्रारम्भिक रूप क्या और किस रूप मे था ?

आगमकालीन दर्शन को दो भागो मे विभक्त कर सकते है—प्रमेय और प्रमाण अथवा ज्ञेय और ज्ञान। जहाँ तक प्रमेय अथवा ज्ञेय का प्रश्न है, जैन आगम साहित्य मे यत्र-तत्र अनेकान्त दृष्टि, सप्तभगी, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, पदार्थ, क्षेत्र, काल एव भाव, निश्चय और व्यवहार, निमित्त और उपादान, नियति और पुरुषार्थ, कर्म और उसका फल, आचार और योग आदि विषयो पर बिखरा हुआ वर्णन मिलता है। जहाँ तक प्रमाण और ज्ञान का विषय है, उसके सम्बन्ध मे सक्षेप मे इतना कह सकते हैं कि ज्ञान और उसके भेद-प्रभेदो का विस्तार से निरूपण आगम साहित्य मे है। ज्ञान और उसका ऐसा कोई भी भेद नही है जिसका उल्लेख आगम और व्याख्या साहित्य मे न आया हो। प्रमाण के सम्बन्ध मे प्राचीन न्याय पद्धति पर प्रमाण के सभी भेद और उपभेदो का वर्णन भी आगमो मे उपलब्ध होता है। जैसे—प्रमाण, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद। अनुमान और उसके सभी अग, उपमान और शब्द प्रमाण के भेद भी मिलते है। नय के लिए आदेश एव दृष्टि शब्द का प्रयोग भी प्राचीनतर आगमो मे मिलता है। नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद भी प्राप्त होते हैं। पर्यायार्थिक के स्थान पर प्रदेशार्थिक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे सकलादेश और विकलादेश के रूप मे प्रमाण-सप्तभगी, नय-सप्तभगी का रूप भी मिलता है। चारो निक्षेपो का वर्णन भी अनेक प्रकार मे दिया गया है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने के लिए पुस्कोकिल के स्वप्न का कथन भी रूपक के माध्यम मे किया गया है। जीव और परमाणु की नित्यता और अनित्यता पर भी

विचार किया गया है। न्याय-शास्त्र के प्रसिद्धवाद वितण्डा और जल्प जैसे शब्दो का ही नही अपितु, उनके लक्षणो का विधान भी आगमो के व्याख्या साहित्य मे मिलता है। इस प्रकार प्रमाण व ज्ञान सम्बन्धी वर्णन आगमो मे अनेक रूपो मे और अनेक प्रसगो मे उपलब्ध होता है जिसे पढकर सहज ज्ञात हो जाता है कि आगम युग मे जैन परम्परा की दार्शनिक दृष्टि क्या थी? आगम साहित्य मे षट्-द्रव्य नवपदार्थो का वर्णन भी मिलता है जिसका आगे चल कर विकास हुआ है। यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा का आगमकालीन दर्शन, वेदकालीन वेद परम्परा के दर्शन मे अधिक विकसित और व्यवस्थित प्रतीत होता है।

प्रमेय विचार

दर्शन-साहित्य मे प्रमेय और ज्ञेय ये दोनो शब्द एक ही अर्थ मे व्यवहृत होते हैं। जो प्रमा का विषय है, वह प्रमेय कहलाता है। जो ज्ञान का विषय हो वह ज्ञेय कहलाता है। सम्यक्-ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। ज्ञान विषयी होता है। ज्ञान से जो जाना जाता है वह ज्ञेय है। किसी भी ज्ञय और किसी भी प्रमेय का ज्ञान जैन परम्परा मे अनेक दृष्टि से किया जाता है। जैन दृष्टि से जब किसी भी विषय पर, किसी भी वस्तु पर, या किसी भी पदार्थ पर चिन्तन किया जाता है तो अनेकान्त दृष्टि मे ही उसका सम्यक् निर्णय हो सकता है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान महावीर ने अपने पूर्व परम्परा से आए हुए तत्त्व-दर्शन मे किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नही किया। जैसा भगवान पार्श्व और अन्य तीर्थंकरो ने पाँच ज्ञान, चार निक्षेप, स्व-चतुष्टय और पर-चतुष्टय, षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव-पदार्थ, पचास्तिकाय, कर्म और आत्मा गुणस्थान लेश्या और ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया वैसा महावीर ने भी किया। उसमे किसी भी प्रकार का अन्तर और भेद महावीर ने नही डाला। यह प्रमेय विस्तार भगवान महावीर के पूर्व भी था। भगवान महावीर ने भगवान पार्श्व की परम्परा के आचार मे भेद किया था। यह उत्तराध्ययन आदि मे आये हुए केशी-गौतम सम्वाद आदि से स्पष्ट होता है।

भगवान महावीर को छद्मस्थ अवस्था मे शूलपाणि यक्ष के उपद्रव के पश्चात् किञ्चित् निद्रा आई थी। उसमे उन्होने दस स्वप्न देखे थे। उसमे एक स्वप्न मे एक बडे चित्र-विचित्र पाँखवाले पुस्कोकिल को देखा था।

उस स्वप्न के फल मे वताया गया कि भगवान महावीर चित्र-विचित्र सिद्धान्त (स्व-पर सिद्धान्त) को वताने वाले द्वादशाग का उपदेश करेंगे। उसके पश्चात् जैन दार्शनिको ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर वौद्ध और न्याय-वैशेषिक के सामने अनेकान्त को सिद्ध किया। स्वप्न मे देखे हुए पुस्कोकिल की पाखो को चित्र-विचित्र कहने का और आगमो को विचित्र विशेपण देने का यही अभिप्राय ज्ञात होता है कि उनका उपदेश एकरगी न होकर अनेकरगी था—अनेकान्तवादी था। भगवान महावीर से जव कोई प्रश्न करता तव वे उसका उत्तर अनेकान्त दृष्टि से देते थे। सूत्रकृताङ्ग मे भगवान से प्रश्न किया गया—'भगवान! भिक्षु को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए? उत्तर मे भगवान ने कहा—'विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए।' विभज्यवाद का सही तात्पर्य क्या है, इसे समझने के लिए जैन व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त वौद्ध ग्रन्थ भी उपयोगी है।

मज्झिम निकाय मे शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर मे तथागत वुद्ध ने कहा—हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ, एकाशवादी नही। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन परम्परा के विभज्यवाद और अनेकान्तवाद को तथागत वुद्ध ने भी स्वीकार किया। वस्तुत किसी भी प्रश्न के उत्तर देने की अनेकान्तात्मक पद्धति विभज्यवाद है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के सम्वन्ध मे इतना जानने के पश्चात् स्याद्वाद के सम्वन्ध मे समझना आवश्यक है। स्याद्वाद का अर्थ है कथन करने की एक विशिष्ट पद्धति। जव अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का उल्लेख अभीष्ट हो तव अन्य धर्मो के सरक्षण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह कथन स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद अनेकान्तवाद भगवान महावीर की मौलिक व नूतन उद्भावना है।

द्रव्य के सम्वन्ध मे आगम साहित्य मे अनेक स्थलो पर वर्णन मिलता है। द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीन शब्द हैं। द्रव्य मे गुण रहता है और गुण का परिणमन ही पर्याय है। द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनो विभक्त होकर के भी अविभक्त हैं। मुख्य रूप से द्रव्य के जीव और अजीव ये दो भेद हैं।[1] दूसरे शब्दो मे, चेतन द्रव्य और जड द्रव्य कह सकते है। यो द्रव्यो की सख्या धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल ये छह है। काल के अतिरिक्त पाँच अस्तिकाय है। अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशो का समूह है। काल के प्रदेश

---

१ भगवती २५।२, २५, ४

नही होते इसलिए उसके साथ अस्तिकाय शब्द नही जोडा गया। प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुण वाला होता है और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्याय होती है।

आगम साहित्य मे निक्षेप का वर्णन भी आता है। अनुयोगद्वार मे इसका विस्तार से विश्लेषण है। पर गणधर-कृत नही है। गणधर-कृत अगो मे स्थानाङ्ग सूत्र[1] मे 'सर्व' के जो प्रकार बताए गये है इससे यह ज्ञात होता है कि निक्षेपो का उपदेश स्वय भगवान महावीर ने दिया। हम शब्द व्यवहार करते हैं पर यदि वक्ता के विवक्षित-अभीष्ट अर्थ को न समझा जाय तो बडा अनर्थ हो सकता है। निक्षेप का अर्थ है—अर्थ निरूपण पद्धति। भगवान महावीर ने शब्दो के प्रयोग को चार प्रकार के अर्थो मे विभक्त किया है— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। यह निक्षेप-पद्धति प्राचीन से प्रचीन आगम साहित्य मे मिलती है और नूतन युग के न्याय ग्रन्थो मे भी। आगमेतर ग्रन्थो मे नवीन दृष्टि से इसका निरूपण किया गया है। यशोविजयजी ने जैन तर्क भाषा मे प्रमाण, नय के साथ ही निक्षेप पर भी चिन्तन किया है।

आगम साहित्य मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी वर्णन है। इन्हे स्वचतुष्टय और पर-चतुष्टय के रूप मे भी कहा है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वचतुष्टय और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पर-चतुष्टय। एक ही वस्तु के विषय मे विविध मतो की जो सृष्टि होती है उसमे द्रष्टा की रुचि, शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्म रूप प्रभृति अनेक कारण हैं। जिससे प्रत्येक द्रष्टा और दृश्य हर एक क्षण मे विशेष-विशेष होकर विविध मतो के निर्माण मे निमित्त बनते है। उन सभी कारणो की गणना करना सभव नही है और न तत्कृत विशेषो का परिगणन करना ही सभव है। एतदर्थ ही सूक्ष्म विशेषताओ के कारण से होने वाले विविध मतो की परिगणना करना भी असभव है। इस असभव को लक्ष्य मे रखकर ही भगवान महावीर ने सभी अपेक्षाओ का वर्गीकरण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किया है।

प्रमाण-विचार

जैन आगम साहित्य मे प्रमाण और ज्ञान का वर्णन अनेक स्थलो पर

---

१ स्थानाङ्ग ४।२६६

हुआ है। प्रमाण और ज्ञान किसी भी वस्तु के जानने मे साधन है। प्रमाण की अपेक्षा आगमो मे ज्ञान का वर्णन विस्तार से आया है। पञ्चज्ञान की चर्चा भगवान महावीर से पूर्व भी थी, ऐसा राजप्रश्नीय से ज्ञात होता है। आगम साहित्य मे ज्ञान के भेदो और उपभेदो का वर्णन किया गया है। कर्म-शास्त्र मे ज्ञानावरणीय कर्म के जो भेद और उपभेद निरूपित किये गये हैं जीव-मार्गणाओ मे पाँच ज्ञानो का जो वर्णन है और पूर्व साहित्य मे ज्ञान का स्वतत्र निरूपण करने वाला ज्ञान प्रवाद पूर्ण है, इन सभी से यही स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर से पूर्व भी पच ज्ञानो का वर्णन था। आगम साहित्य के आधार से ज्ञान की तीन भूमिकाएँ बनती हैं—पहली भूमिका वह है जिसमे ज्ञान के पाँच भेद बताए गए है। द्वितीय भूमिका वह है जिसमे पाँच ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागो मे विभक्त कर मति और श्रुत को परोक्ष मे और अवधि, मन पर्यव, और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष मे माना है। तीसरी भूमिका वह है जिसमे इन्द्रिय जन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्ष, उभय रूप मे स्थान दिया है।

ज्ञान चर्चा की इन तीनो आगमिक भूमिकाओ की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता रही है कि इनमे ज्ञान-चर्चा के साथ अन्यान्य दर्शनो मे प्रचलित प्रमाण-चर्चा का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नही किया है। आगमकार ने इन ज्ञानो मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद कर वह सिद्ध कर दिया है जो अन्य दर्शन वाले प्रमाण और अप्रमाण के विभाग द्वारा बताना चाहते हैं। प्रमाण और अप्रमाण जैसे विशेषण न देकर प्रथम तीन ज्ञानो मे अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की सभावना मानी है और अन्तिम दो ज्ञानो को एकान्त सम्यक्त्वयुक्त बताया है। इस प्रकार पाँच ज्ञानो को प्रमाण और अप्रमाण न कहकर उन विशेपणो का प्रयोजन अन्य रूप से निष्पन्न किया है।

ज्ञान के समान प्रमाण की चर्चा आगम और व्याख्या-साहित्य मे विस्तार से नही आयी है। अनुयोगद्वार व नन्दी सूत्र मे प्रमाण शब्द को उसके विस्तृत अर्थ मे लेकर उसके दो भेद किये हैं—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष मे पाँच इन्द्रियो से होने वाले पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष का समावेश किया है। नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे अवधिप्रत्यक्ष, मन पर्याय-प्रत्यक्ष और केवल-प्रत्यक्ष को लिया है। यहाँ पर 'नो' शब्द का अर्थ

इन्द्रिय का अभाव है। ये तीनो ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है किन्तु आत्म-सापेक्ष हैं। जैनदृष्टि से इन्द्रियजन्य ज्ञानो को परोक्ष कहा है किन्तु प्रस्तुत चर्चा दूसरो के प्रमाणो के आधार से की गई है, अत यहाँ उसी के अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। अनुयोगद्वार मे अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् ये तीन भेद किये है, किन्तु स्वार्थ और परार्थ भेद नही किये हैं। आगम और व्याख्या साहित्य मे अनुमान के भेद और उपभेदो का कथन भी है। अनुमान के अवयवो का भी वर्णन है।

नय-विचार

जैन आगमसाहित्य मे प्रमाण के साथ, प्रमाण के एक अश नय का भी निरूपण है। स्थानाङ्ग, भगवती और अनुयोग द्वार मे नयो का वर्णन बिखरे हुए रूप मे मिलता है। नय के स्थान पर आदेश और दृष्टि इन दो शब्दो का भी प्रयोग आगम मे मिलता है। अनेकान्तात्मक वस्तु के अनन्त धर्मो मे से जब किसी एक ही धर्म का ज्ञान होता है तब उसे नय कहा जाता है। जितने भी मत, पक्ष और दर्शन है वे अपने पक्ष की स्थापना करते है और दूसरे पक्ष का निरसन करते हैं। एक का मण्डन कर दूसरे का खण्डन करने से कदाग्रह और हठाग्रह पैदा होता है। भगवान महावीर ने उस कदाग्रह और हठाग्रह के विष को निकालकर नयवाद की समन्वय दृष्टि रूपी अमृत प्रदान किया। नयवाद को दृष्टिवाद, आदेशवाद और अपेक्षा-वाद कहा गया है उसका भी यही रहस्य है। नय के भेद और प्रभेदो के सम्बन्ध मे हमने अगले अध्यायो मे विस्तार से विश्लेषण किया है। नय एक प्रकार का विशेष दृष्टिकोण है, विचार करने की पद्धति है और यही अनेकान्तवाद का मूल आधार है।

आगम साहित्य मे न्याय शास्त्र सम्मत वाद, कथा एव विवाद का भी यथाप्रसग वर्णन है। मूल आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे यथाप्रसग जैन दर्शन के मूल तत्त्वो का विवेचन और विश्लेषण मिलता है।

आगमोत्तर जैनदर्शन

आगम साहित्य के पश्चात् और तर्क युग के पूर्व जो जैन दर्शन लिखा गया वह आगमोत्तर जैन दर्शन है। उस समय मुख्य रूप से कर्म-शास्त्र, आचार-शास्त्र, तत्त्व-विचार, द्रव्य-विचार, अध्यात्मवाद, और योग आदि विषयो पर साधिकार लिखा गया।

कर्म-शास्त्र पर सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार का कर्मकाण्ड, देवेन्द्रसूरि ने कर्मग्रन्थ आदि लिखे। आचार शास्त्र मे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत, धर्म विन्दु-प्रकरण, योग शास्त्र,रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, वसुनन्दी-श्रावकाचार, पण्डित आशाधर का सागार धर्मामृत आदि है। वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, उसकी टीकाएँ-उपटीकाएँ, नेमिचन्द्र का द्रव्य सग्रह, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पचास्तिकायसार आदि तत्त्व-विचार विषयक ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के 'योगविंशिका, योग-शतक, योग-दृष्टि समुच्चय" योगबिन्दु प्रकरण, ये उस युग की प्रतिनिधि कृतियाँ है। इस युग के आचार्यो ने तत्त्व पर मुख्य रूप मे लिखा।

द्वि िय ण

[प्रमेय चर्चा]

कर्म-शास्त्र पर सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार का कर्म-काण्ड, देवेन्द्रसूरि ने कर्मग्रन्थ आदि लिखे। आचार शास्त्र मे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगारधर्मामृत, धर्म विन्दु-प्रकरण, योग शास्त्र,रत्न-करण्ड-श्रावकाचार, वसुनन्दी-श्रावकाचार, पण्डित आशाधर का सागार धर्मामृत आदि हैं। वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, उसकी टीकाएँ-उपटीकाएँ, नेमिचन्द्र का द्रव्य सग्रह, आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पचास्तिकायसार आदि तत्त्व-विचार विपयक ग्रन्थ है। आचार्य हरिभद्र के 'योगविंशिका, योग-शतक, योग-दृष्टि समुच्चय" योगबिन्दु प्रकरण, ये उस युग की प्रतिनिधि कृतियाँ है। इस युग के आचार्यां ने तत्त्व पर मुख्य रूप से लिखा।

●

द्वितीय ०

[प्रमेय चर्चा]

☐ लोकवाद

- लोक क्या है
- लोक और अलोक
- लोक और अलोक का सस्थान
- ऊर्ध्वलोक
- मध्यलोक
- अधोलोक
- लोक-स्थिति
- सृष्टिवाद
- भेदाभेदवाद
- द्रव्य
- द्रव्य और पर्याय

लोकवाद

यह विराट् विश्व, जो हमे दृष्टिगोचर हो रहा है, इतना ही है या इससे भी परे कुछ है ? इसका प्रारम्भ कब हुआ ? और इसका अन्त कब होगा ? इसके मूल मे क्या है ? इसका व्यवस्थापक कौन है ? इसका विकास कैसे हुआ ? आदि अनेको प्रश्न मानव-मस्तिष्क मे उभरते रहते हैं। इन प्रश्नो का समाधान विभिन्न विचारको ने विभिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यो की खोज मे अनवरत प्रयत्नशील है।

श्रमण भगवान महावीर के युग मे इन प्रश्नो पर गहराई से चर्चा, विचारणाएँ चलती थी। तथागत बुद्ध उन्हे अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास करते।[1] परन्तु श्रमण भगवान महावीर उन सभी प्रश्नो का समाधान करते थे।

भगवान महावीर का एक प्रिय शिष्य आर्य रोह था। उसने एक दिन भगवान से पूछा—भगवन् ! पहले लोक हुआ और फिर अलोक हुआ ? या पहले अलोक हुआ और फिर लोक हुआ ?

---

१ तथागत बुद्ध ने इन १० प्रश्नो को अव्याकृत कहा—

(१) लोक शाश्वत है ?
(२) अलोक अशाश्वत है ?
(३) लोक अन्तवान है ?
(४) लोक अनन्त है ?
(५) जीव और शरीर एक हैं ?
(६) जीव और शरीर भिन्न हैं ?
(७) मरने के बाद तथागत होते है ?
(८) मरने के बाद तथागत नही होते ?
(९) मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नही भी होत ?
(१०) मरने के बाद तथागत न- होते हैं और न- नही होते ?

—मज्झिमनिकाय चूलमालुक्य सुत्त ६३

भगवान ने समाधान दिया—रोह ! लोक और अलोक—ये दोनो पहले से हैं और पीछे रहेगे—अनादि से है और अनन्त काल तक रहेगे। दोनो शाश्वत भाव है, अनानुपूर्वी हैं। इनमे पौर्वापर्य नही है।[१]

लोक क्या है ?

जहाँ हम रहते है वह लोक है, लोक अलोक के विना नही हो सकता इसलिए अलोक भी है। अलोक केवल आकाश है। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य का वहाँ पर अभाव है। लोक वह है, जहाँ पर इन छहो द्रव्यो की सहस्थिति होती है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो पचास्तिकायो का जो सहावस्थान है वह लोक है।[२] उत्तराध्ययन मे सक्षेप की दृष्टि से जीव और अजीव की सहस्थिति को लोक कहा है।[३]

लोक और अलोक का विभाग नया नही किन्तु शाश्वत है और उनके विभाजक तत्त्व भी शाश्वत हैं। यह एक तथ्य है कि कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का कभी विभाजन नही हो सकता। छहो द्रव्य शाश्वतिक है। आकाश का विभाजन होता है अत वह विभाजन का हेतु नही वन सकता। काल परिणमन का हेतु है। हम लिख चुके है कि काल के दो विभाग हैं नैश्चयिक और व्यावहारिक। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। जो लोक और अलोक दोनो मे है। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र की गतिक्रिया से होने वाला समय का विभाग है जो मनुष्य लोक के अतिरिक्त अन्यत्र नही होता। जीव और पुद्गल ये दोनो गतिशील है और मध्यम परिणाम वाले हैं। लोक-अलोक की सीमा निर्धारण करने वाले स्थिर और व्यापक तत्त्व है धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये अखण्ड आकाश को दो भागो मे विभाजित करते हैं। ये जहाँ तक है वहाँ तक लोक है, और जहाँ पर इनका अभाव है वह अलोक है। धर्म और अधर्म के अभाव मे गति और स्थिति मे सहायता नही मिलती इसलिए जीव और पुद्गल लोक मे ही हैं, अलोक मे नही।

लोक और अलोक

लोक ससीम है और अलोक असीम है। लोकाकाश के असख्यात

---

१ भगवती १।६
२ भगवती १३।४
३ उत्तराध्ययन ३६।२

प्रदेश है और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश है। लोक चौदह रज्जू-परिमाण-परिमित है, पर अलोक के लिए ऐसा कोई विधान नही किया जा सकता। भगवती मे आर्य स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—लोक, द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है क्योकि वह सख्या मे एक है। क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, क्योकि सकल आकाश मे से कुछ ही भाग लोक है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है, शाश्वत है, क्योकि ऐसा कोई काल नही, जिसमे लोक का अस्तित्व न हो और भाव अर्थात् पर्यायो की अपेक्षा से लोक अनन्त है क्योकि लोक द्रव्य की पर्याय अनन्त है।[1]

महान् वैज्ञानिक अलवर्ट आइन्स्टीन ने जो लोक-अलोक का स्वरूप चित्रित किया है वह जैनदृष्टि से मिलता हुआ है। वे लिखते है—'लोक परिमित है। लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के वाहर नही जा सकती। लोक के वाहर उस शक्ति का अभाव है, जो गति मे सहायक होता है।'

लोक और अलोक का सस्थान

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य मे सकरा है और ऊपर-ऊपर मृदगाकार है। तीन शरावो मे से एक शराव ओधा, दूसरा सीधा, और तीसरा उसके ऊपर ओधा रखने से जो आकार बनता है वह आकार त्रिशरावसपुट आकार कहलाता है। वही आकार लोक का है। दूसरे शब्दो मे लोक का आकार सुप्रतिष्ठक सस्थान भी कहा है। अलोक का आकार मध्य मे पोल वाले गोले के सदृश हैं। अलोक का कोई भी विभाग नही है वह एकाकार है। लोकाकाश तीन विभागो मे विभक्त है—ऊर्ध्व लोक, मध्य लोक और अधो लोक।[2] तीनो लोको की लम्वाई चौदह रज्जू है। ऊर्ध्व लोक सात रज्जू से कुछ न्यून है। मध्य लोक अठारहसौ योजन प्रमाण है और अधोलोक सात रज्जू से कुछ अधिक है।

आकाश एक अखड द्रव्य होने पर भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के कारण लोक और अलोक इस रूप मे दो भागो मे विभक्त हो जाता है। वैसे ही धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के द्वारा लोकाकाश के भी, जो ऊर्ध्व, मध्य,

---

१ भगवती २।१।९०

२ भगवती ११।१०

अधोलोक तीन विभाग किये उनकी भी विभिन्न आकृतियाँ बनती है।[1] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय कही पर फैली हुई है और कही पर सकुचित है। ऊर्ध्वलोक मे धर्म, अधर्म विस्तृत होते चले गये है। इसलिए उसका आकार ऊर्ध्वमुख मृदग के समान है। मध्यलोक मे वे कृश है इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान है। नीचे की ओर फिर वे विस्तृत रूप से व्याप्त हैं अत अधोलोक का आकार ओधे किये हुये शराव के सदृश बनता है। अलोकाकाश मे दूसरे द्रव्य का अभाव होने से उसकी कोई आकृति नही है। लोकाकाश की मोटाई सात रज्जू की है।

लोक की मोटाई को समझाने के लिए भगवान महावीर ने रूपक की भाषा मे कहा—एक देव मेरु पर्वत की चूलिका पर खडा है—जो एक लाख योजन की ऊँचाई पर है। नीचे चारो दिशाओ मे दिक्-कुमारिकाएँ हाथ मे बलिपिंड लेकर बहिर्मुखी रहकर उस बलिपिंड को एक साथ फेकती हैं। उस समय वह देवता दौडता है। चारो बलिपिंडो को पृथ्वी पर गिरने से पूर्व ही वह हाथ मे ले लेता है। इसे शीघ्रगति कहते है। इस शीघ्रगति से छह देव लोक का अन्त लेने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नीची इन छह दिशाओ मे चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर मे एक हजार वर्ष की आयुवाला पुत्र पैदा हुआ, उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके पश्चात् हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे पोते हुए। इस प्रकार सात पीढिया व्यतीत हो गई। उसके नाम-गोत्र भी मिट गये, तथापि देवता चलते रहे किन्तु लोक का अन्त प्राप्त न कर सके। यह ठीक है कि उन्होने अधिक भाग पार किया है, जो भाग शेष रहा वह असख्यातवा भाग है। इससे यह सिद्ध है कि लोक कितना बडा है।

प्रो० आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड अस्सी लाख प्रकाश वर्ष माना है। एक प्रकाश वर्ष उस दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण १,८६,००० मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष मे तय करती है।

ऊर्ध्वलोक

जहाँ पर हम लोग रहते है उससे नव सौ योजन ऊपर का भाग ऊर्ध्व लोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक मे मुख्य रूप से देवो का निवास है इस-

---

१ भगवती ११।६

लिए उसे देवलोक, ब्रह्मलोक, यक्षलोक और स्वर्गलोक भी कहते है।[1] अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है। उससे बारह योजन ऊपर एक सिद्ध-शिला है। यह सिद्ध-शिला ४५ लाख योजन लम्बी और इतनी ही चौडी है, इसकी परिधि कुछ अधिक तीन गुनी है। मध्य भाग मे इसकी मोटाई आठ योजन है।[2] जो क्रमश चारो ओर से कृश होती हुई अन्त मे मक्खी के पर से भी अधिक कृश हो गई है। इसका आकार खोले हुए छत्र के समान है। शख, अक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान स्वभावत सफेद, निर्मल, कल्याणकारिणी एव स्वर्णमयी होने से इसे 'सीता' नाम से भी अभिहित किया है। इसे 'ईषत्प्राग्भारा' नाम से भी उल्लिखित किया गया है। इससे एक योजन प्रमाण ऊपर वाले क्षेत्र को लोकान्तभाग कहा है क्योकि उसके पश्चात् लोक की सीमा समाप्त हो जाती है। इस योजन-प्रमाण लोकान्त भाग के ऊपरी क्रोश के छठे भाग मे मुक्त आत्माओ का निवास माना गया है।[3] उत्तराध्ययन मे लोकान्त को लोकाग्र भी कहा है।[4]

देव एक विशेष प्रकार की शय्या पर जन्म लेते है। वे गर्भज नही, उनकी अकाल मृत्यु भी नही होती। उनमे अद्‌भुत पराक्रम होता है। देवो के चार प्रकार है—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक। जिन स्वर्गो मे इन्द्र सामानिक आदि पद होते है वे कल्प के नाम से विश्रुत है और कल्पो मे उत्पन्न देव कल्पोत्पन्न कहलाते है। कल्पो के ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते है। वहाँ पर देवो मे किसी भी प्रकार की असमानता नही होती। वे सभी इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र भी कहलाते है। किसी निमित्त से मानव लोक मे आने का प्रसग उपस्थित होने पर कल्पोत्पन्न देव ही आते है, कल्पातीत देव नही। भवनवासी से लेकर ऐशान कल्प तक के देव वासनात्मक सुख-भोग मानवो की भाँति करते है। सनत्कुमार व माहेन्द्र कल्प के देवगण देवियो के साथ शरीर का मात्र स्पर्श कर काम सुख प्राप्त करते है। ब्रह्म

---

१ देखें—उत्तराध्ययन, १६।८, १८।२६, ५।२४, १४।४१

२ अवचूरिकार ने आठ योजन प्रमाण मे 'उत्सेधागुल' से और अनुयोगद्वार मे 'प्रमाणागुल से क्षेत्र सीमा नापने की कल्पना की जिससे काफी अन्तर आ जाता है —देखे आचाय आत्माराम जी म० उत्तरा० टीका पृष्ठ १६६८

३ उत्तराध्ययन ३६।५७-६२

४ उत्तराध्ययन ३६।५६

और लान्तक कल्पो के देव, देवियो की सुन्दरता को ही देखकर अपनी वासना की पूर्ति करते हैं। महाशुक्र, सहस्रार कल्पो के देव सिर्फ देवियो का मधुर गान सुनकर ही अपनी वासना को तृप्त करते है। आनत प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो के देवगण मात्र देवियो को स्मरण करके ही अपनी कामेच्छा को शान्त करते हैं। शेष देव काम वासना से रहित होते है। लौकान्तिक देव भी विषय-रति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं।

मध्य-लोक

मध्य लोक १८०० योजन प्रमाण हे। उत्तराध्ययन मे मध्य लोक को तिर्यक् लोक भी कहा है।[१] इस लोक मे असख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र मे केवल अढाई-द्वीपो मे ही मानव का निवास माना गया है।[२] अढाई-द्वीप को समय क्षेत्र भी कहा गया है।[३] उन अढाई-द्वीपो की रचना एक सदृश है, अन्तर इतना ही है कि इनका क्षेत्र क्रमश दुगुना-दुगुना हो जाता है। पुष्कर-द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत आ जाने से आधा पुष्कर द्वीप ही मनुष्य क्षेत्र मे गिना गया हे। जम्बू-द्वीप मे सात प्रमुख क्षेत्र है—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत।[४] विदेह क्षेत्र मे दो अन्य प्रमुख भाग हैं। जिनके नाम है—देवकुरु और उत्तरकुरु। धातकी खण्ड और पुष्करार्ध-द्वीप मे इन सभी क्षेत्रो की दुगुनी-दुगुनी सख्या है। ये सभी क्षेत्र कर्मभूमि, अकर्मभूमि, और अन्तरद्वीप के भेद से तीन भागो मे विभक्त है।[५]

जहाँ मानव कृपि, वाणिज्य, शिल्पकला आदि के द्वारा जीवनयापन करते है वे क्षेत्र कर्मभूमि हैं। यहाँ का मनुष्य सर्वोत्कृष्ट पुण्य और सर्वोत्कृष्ट पाप कर सकता है। भरत, ऐरावत और महाविदेह इसकी सीमा मे आते हैं। जम्बू-द्वीप मे एक भरत, एक ऐरावत, एक महाविदेह, धातकी खण्ड मे दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह तथा पुष्करार्ध द्वीप मे दो भरत, दो

---

१ उत्तराध्ययन ३६।५०, ३६, ५४

२ प्राड् मानुपोत्तरान्मनुष्या।

—तत्त्वार्थ सूत्र ३।३५

३ उत्तराध्ययन ३६।७

४ भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा क्षेत्राणि। —तत्त्वार्थ सूत्र ३।१०

उत्तराध्ययन ३६।१९५ —१९६

ऐरावत, दो महाविदेह। इस प्रकार ढाई-द्वीपो मे कुल मिलाकर कर्मभूमि के पन्द्रह क्षेत्र हैं।[1] आधुनिक विज्ञान ने जितने भूखण्ड की अन्वेपणा की है वह कर्मभूमि के जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र का छोटा-सा भाग है। इससे मध्यलोक और तीनो लोको के विस्तार का सहज अनुमान किया जा सकता है।

जहाँ पर कृपि आदि कर्म किये विना ही भोगोपभोग की सामग्री सहज उपलब्ध हो जाती है, जीवन यापन करने के लिए किसी प्रयत्न विशेप की आवश्यकता नही होती, वह अकर्मभूमि क्षेत्र है। भोगो की वहाँ पर प्रधानता होने से वह भोगभूमि भी कहलाती है। देवताओ के सुख के समान वहाँ भी सुख की ही प्रधानता होती है। जम्बूद्वीप मे एक हैमवत, एक हरि, एक रम्यक एक हैरण्यवत, एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु, ये छह भोगभूमि क्षेत्र है। इसी प्रकार धातकीखण्डद्वीप और पुष्करार्धद्वीप मे हैमवतादि प्रत्येक के दो-दो क्षेत्र होने से दोनो द्वीपो के वारह-वारह क्षेत्र है। इस प्रकार सव मिलकर अकर्मभूमि के तीस क्षेत्र होते है।

कर्मभूमि और अकर्मभूमि के प्रदेश के अतिरिक्त जो समुद्र के मध्य-वर्ती द्वीप वच जाते हैं वे अन्तरद्वीप कहलाते है। जम्बूद्वीप के चारो ओर फैले हुए लवण समुद्र मे हिमवान पर्वत की दाढाओ पर अट्ठाईस अन्तरद्वीप है। ये अन्तरद्वीप सात चतुष्को मे विद्यमान हैं। इनके क्रमश नाम इस प्रकार हैं—

प्रथम चतुष्क—एकोरुक, आभाषिक, लाड्गूलिक, और वैभाणिक।
द्वितीय चतुष्क—हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, और शष्कुलीकर्ण।
तृतीय चतुष्क—आदर्शमुख, मेपमुख, हयमुख और गजमुख।
चतुर्थ चतुष्क—अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख।
पचम चतुष्क—अश्वकर्ण, सिंहकर्ण, गजकर्ण और कर्णप्रावरण।
पष्ठ चतुष्क—उल्कामुख, विद्युन्मुख, जिह्वामुख और मेघमुख।
सप्तम चतुष्क—घनदन्त, गूढदन्त, श्रेष्ठदन्त और शुद्धदन्त।

इसी प्रकार से शिखरी पर्वत सम्बन्धी भी अट्ठाईस अन्तरद्वीप हैं। इस तरह सव मिलकर ५६ अन्तरद्वीप होते हैं। इन अन्तरद्वीपो मे मनुष्यो का निवास माना गया है।

---

१ उत्तराध्ययन ३६।१९६

इसी प्रकार मध्यलोक इतना विशाल है तथापि ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की अपेक्षा इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

अधोलोक

मध्यलोक के नीचे का प्रदेश अधोलोक कहलाता है। इसमे क्रमश नीचे-नीचे सात पृथिवियाँ है जो सात नरको के नाम से विश्रुत है। इनमे मुख्य रूप से नारक जीव रहते है। इनकी लम्बाई-चौडाई एक-सी नही हैं। नीचे-नीचे की भूमियाँ ऊपर-ऊपर की भूमियो से अधिक लम्बी-चौडी है। ये भूमियाँ एक दूसरे से नीचे है। परन्तु एक दूसरे से सटी हुई नही है। बीच-बीच मे बहुत अन्तर है, इस अन्तराल मे घनोदधि, घनवात, और आकाश है।[1] प्रत्येक पृथ्वी के नीचे क्रमश घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है।[2] अधोलोक की सात भूमियो के नाम क्रमश इस प्रकार है—रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा, वालुका प्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा, महातम प्रभा। इनके नाम के साथ जो प्रभा शब्द जुडा हुआ है वह इनके रग को व्यक्त करता है। रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड है। सब से ऊपर का प्रथम खरकाण्ड है जो रत्न बहुल है। उसकी ऊपर से नीचे तक की मोटाई १६००० योजन है। उसके नीचे दूसरा काण्ड पक बहुल है उसकी मोटाई ४८,००० योजन है। उसके नीचे का तृतीय काण्ड जल बहुल है उसकी मोटाई ८०,००० योजन है। इस प्रकार तीनो काण्डो की मोटाई यदि मिलाई जाय तो रत्नप्रभा की मोटाई—१,८०००० योजन होती है। दूसरी पृथ्वी से लेकर सातवी पृथ्वी तक इस प्रकार के काण्ड नही हैं। उनमे जो भी पदार्थ हैं वे सभी समान है। दूसरी नरक की मोटाई १,३२०००, योजन है। तीसरी नरक की मोटाई १,२८००० योजन है। चतुर्थ नरक की मोटाई १,२०,००० योजन है। पाँचवी नरक की मोटाई १,१८००० योजन है। छठी नरक की मोटाई १,१६००० योजन है और सातवी की १०८,००० योजन है। सातो नरको के नीचे जो घनोदधि आती है उसकी मोटाई भी विभिन्न प्रमाणो मे है।[3]

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ३।१-२

२ सर्वार्थसिद्धि ३।१

३ सर्वार्थसिद्धि ३।१

रत्नप्रभा आदि की जितनी-जितनी मोटाई बतलाई गई है उसके ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन छोडकर शेप भाग मे नारकावास है। जैसे रत्नप्रभा की १,८०,००० योजन की मोटाई मे से एक हजार योजन ऊपर छोडकर और एक हजार योजन नीचे छोडकर शेप १,७८,००० योजन प्रमाण मध्यभाग मे नारकावास है। द्वितीय आदि भूमियो के भी ऊपरी और निचले एक-एक हजार योजन को छोडकर मध्य भाग मे नारकावस समझना चाहिए।

इन नरको मे रहने वाले जीव नारक कहलाते है, ज्यो-ज्यो नीचे की ओर वढते है त्यो-त्यो नारक जीवो मे कुरूपता, भयानकता आदि विकृतियाँ बढती जाती हैं। वहाँ पर अतिताप है, अतिशीत है। वे कार्य तो वहाँ पर ऐसा करना चाहते है जिससे सुख की उपलब्धि हो पर उन्हे दु ख ही मिलता है। वे जव एक-दूसरे को देखते है, तव उनमे क्रोधाग्नि भडक उठती है। पूर्व जीवन के वैर को स्मरण कर कुत्ते और विल्ली के समान एक-दूसरे को नोचने के लिए झपट पडते है। अपने ही द्वारा बनाये हुए शस्त्रास्त्रो से या हाथ-पैर, दाँतो से एक-दूसरे को आहत कर टुकडे-टुकडे कर देते है। उनका शरीर वैक्रिय होता है। वह पारे के समान पूर्ववत् जुड जाता है। नारकियो को दुष्ट देवो से भी कष्ट प्राप्त होता है, जो उन्हे गर्मागर्म शीशे का पान करवाते हैं। गर्म लोह-स्तम्भ का स्पर्श करवाते है और काटेदार वृक्षो पर चढने और उतरने के लिए बाध्य करते हैं। वे देव परमाधार्मिक कहलाते है। वे प्रथम तीन भूमियो तक जाते हैं। ये असुर भी कहलाते हैं। जिनका स्वभाव अत्यन्त क्रूर होता है और सदा पाप मे रत रहते है। दूसरो को कष्ट देने मे इन्हे आनन्द की अनुभूति होती है। नारकियो का जीवन काल किञ्चित् मात्र भी न्यून नही किया जा सकता, वे अकाल-मृत्यु से नही मरते।[१]

इस लोक की सीमा के चारो ओर असीम अलोकाकाश है। यह लोक रचना इतनी विशाल है कि आधुनिक विज्ञान इसके लघुतम अश को भी नही जान सका है।[२]

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र २।५२, ३,१३-५

२ उत्तराध्ययन सूत्र एक परिशीलन, पृ—६१

लोक-स्थिति

बृहदारण्यक उपनिषद् मे एक सम्वाद है। गार्गी ने लोक-स्थिति के सम्बन्ध मे याज्ञवल्क्य के सामने जिज्ञासा प्रस्तुत की—यह विश्व जल से ओत-प्रोत है । परन्तु जल किसमे ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—वायु मे ।

गार्गी—वायु किसमे ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—अन्तरिक्ष मे, अन्तरिक्ष गधर्व-लोक मे, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक मे,आदित्य-लोक चन्द्र-लोक मे, चन्द्र-लोक नक्षत्र लोक मे, नक्षत्र-लोक देव-लोक मे, देव-लोक इन्द्र-लोक मे, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक मे और प्रजापति-लोक ब्रह्मलोक मे ओत-प्रोत है ।

गार्गी—ब्रह्मलोक किसमे ओत-प्रोत है ?

याज्ञवल्क्य—गार्गी ! यह अति प्रश्न है तू इस प्रकार के प्रश्न मत कर नही तो तेरा सिर कटकर गिर पडेगा ।[1]

जैन साहित्य मे इस प्रकार की बात नही है। भगवान महावीर से जो भी प्रश्न पूछा गया, उनका उन्होने स्पष्ट उत्तर दिया है परन्तु कही पर भी इस प्रकार का भय नही बताया है ।

भगवती सूत्र मे लोक को स्थिति कितने प्रकार को है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—गौतम ! लोक-स्थिति आठ प्रकार की है ।[2]

१ वायु आकाश पर ठहरी हुई है ।
२ समुद्र वायु पर ठहरा हुआ है ।
३ पृथ्वी समुद्र पर ठहरी हुई है ।
४ त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर ठहरे हुए है ।
५ अजीव जीव के आश्रित है ।
६ सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं ।
७ अजीव जीवो द्वारा सग्रहीत है ।
८ जीव कर्म-सग्रहीत है ।

विश्व के आधारभूत आकाश, वायु, जल और पृथ्वी ये चार अग हैं। इन्ही के आधार-आधेयभाव मे विश्व की यह सम्पूर्ण व्यवस्था निर्मित

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद् ३।६।१
२ भगवती १।६

हुई है। ससारी जीव और पुद्‌गल मे आधार-आधेय भाव और सग्राह्य-सग्राहक ये दोनो भाव होते है। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय है। कर्म ससारी जीव का आधार है और ससारी जीव कर्म का आधेय है। कर्म से बँधा हुआ जीव ही शरीर युक्त होता है। चलना, फिरना, बोलना और सोचना आदि सारी क्रियाएँ उसी की होती है।

सृष्टिवाद

अपेक्षा दृष्टि से चिन्तन करने पर द्रव्य दृष्टि से विश्व अनादि-अनन्त है और पर्याय की दृष्टि से सादि-सान्त है। मुख्य रूप से लोक मे दो द्रव्य हैं, जीव और अजीव। दोनो अनादि है, शाश्वत है। इनमे पौर्वापर्य सम्बन्ध नही है। प्रथम जीव उसके पश्चात् अजीव, अथवा प्रथम अजीव उसके पश्चात् जीव—ऐसा सम्बन्ध नही है। पर्याय की दृष्टि से विश्व मे परिवर्तन होता रहता है। वह परिवर्तन स्वाभाविक और वैभाविक दो रूप का है। सभी पदार्थो मे स्वाभाविक परिवर्तन निरन्तर होता रहता है किन्तु कर्म-बद्ध जीव और पुद्‌गल-स्कन्धो मे वैभाविक परिवर्तन भी होता है।

वैदिक दर्शन मे विश्व के सम्बन्ध मे दो मुख्य धाराएँ हैं—अद्वैतवाद और द्वैतवाद।

अद्वैतवाद की भी सृष्टि के सम्बन्ध मे (१) जडाद्वैतवाद, (२) चैतन्याद्वैतवाद (३) जड-चैतन्याद्वैतवाद, ये तीन मुख्य शाखाएँ हैं।

जडाद्वैतवाद का अभिमत है कि चेतन तत्त्व की उत्पत्ति अचेतन तत्त्व से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रम-विकासवादी वैज्ञानिक प्रस्तुत मत का समर्थन करते हैं।

चैतन्याद्वैत का अभिमत है—सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा है—'ब्रह्म तीनो लोको मे अतीत है' उसने सोचा—'किस प्रकार मैं इन लोगो मे पैठू ?' तब वह नाम और रूप से इन लोगो मे पैठा।[1]

जडचैतन्याद्वैत का अभिमत है कि ससार की उत्पत्ति चेतन और अचेतन—इन दोनो गुणो मे मिश्रित पदार्थ से हुई है। स्मरण रखना चाहिए जडाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद ये दोनो इस तथ्य को नही मानते हैं कि कारण के अनुरूप कार्य होता है। जडाद्वैतवाद मे जड से

---

१ तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च।

—शतपथ ब्राह्मण १।१।२।३

चैतन्य की उत्पत्ति मानी गई है, तो चैतन्याद्वैतवाद मे चैतन्य से जड की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतत्र अस्तित्व नही मानते अपितु अचेतन या चेतन मे से किसी एक के अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं।

द्वैतवादी दर्शन जड और चैतन्य इन दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जड से चैतन्य और चैतन्य से जड की उत्पत्ति नही होती। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से जड और चैतन्य के सयोग का नाम सृष्टि है।

न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन और मीमासकदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा परमाणुओ को सयुक्त करता है। उनके सयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए ये दर्शन आरम्भ-वादी कहलाते हैं।

साख्यदर्शन और योगदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। जव प्रकृति क्षुब्ध होती है तव त्रिगुण का विकास होता है। उससे सृष्टि का निर्माण होता है। अनीश्वरवादी साख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणाम-वाद ये दो रूप परिणामवाद के हैं। गुण-परिणामवाद साख्यदर्शन और मध्वाचार्य मानते है और ब्रह्म-परिणामवाद रामानुजाचार्य मानते है। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर ये तीनो तत्त्व मानते हैं, तथापि सभी को ब्रह्मरूप स्वीकार करते हैं। ब्रह्म ही अश विशेप मे प्रकृति रूप मे परिणत होकर जगत् वनता है।

जैन और वौद्धदर्शन सृष्टिवाद को नही मानते हैं। वह तो परिवर्तन-वादी है।

वौद्धदर्शन मे परिवर्तन की प्रस्तुत प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' के नाम से कही गई है। यह अहेतुकवाद है। इसमे कारण से कार्य पैदा नही होता परन्तु सन्तति-प्रवाह मे पदार्थ उत्पन्न होता है।

जैनदर्शन के अनुसार विश्व में जो कुछ भी परिवर्तन दिखलाई दे रहा है, वह परिवर्तन जीव और पुद्गल के सयोग से होता है। वह परि-वर्तन दो प्रकार का है—

(१) स्वाभाविक।
(२) प्रायोगिक।

स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओ से दिखाई नही देता, किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होने मे दिखलाई देता है। जीव और पुद्गल के सायोगिक अवस्था से ही यह दृश्य जगत् प्रवहमान है।

वैदिक ऋषि विश्व के सम्वन्ध मे सदिग्ध रहे है। उनका अभिमत है कि प्रलय दशा मे असत् भी नही था, सत् भी नही था, पृथ्वी भी नही थी, आकाश भी नही था। आकाश मे विद्यमान सातो भुवन भी नही थे।

प्रकृति तत्त्व को कौन जानता है ? कौन उसका वर्णन करता है ? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई ? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुई है ? देवता लोग इन सृष्टियो के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से सृष्टि हुई यह कौन जानता है ?

ये विविध सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ की, और किसने नही की—ये सभी वाते वे ही जाने जो इनके स्वामी परमधाम मे रहते हैं। सम्भव है वे भी सव कुछ न जानते हो।[1]

जैनदर्शन विश्व के सम्वन्ध मे किञ्चित् मात्र भी सदिग्ध नही है। उसका स्पष्ट अभिमत है कि चेतन से अचेतन उत्पन्न नही होता और अचेतन से चेतन की सृष्टि नही होती। किन्तु चेतन और अचेतन ये दोनो अनादि है।

भेदाभेदवाद

भेद और अभेद को लेकर दार्शनिक साहित्य मे चार विचारधाराएँ हैं। एक भेद का समर्थन करता है तो दूसरा अभेद का, तृतीय भेद और अभेद दोनो को महत्त्व देता है, तो चतुर्थ भेद-विशिष्ट-अभेद को स्वीकार करता है।

---

१ नासदासीन्नोसदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि।
अर्वाग् देव अस्य विसजनेनाथा को वेद मत आवभूव।'
'इय विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्तसो अग वेद यदि वा न वेद॥
—ऋग्वेद १०।१२९ नासदीय सूक्त

चैतन्य की उत्पत्ति मानी गई है, तो चैतन्याद्वैतवाद मे चैतन्य से जड की उत्पत्ति मानी है। इस प्रकार अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतत्र अस्तित्व नही मानते अपितु अचेतन या चेतन मे से किसी एक के अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं।

द्वैतवादी दर्शन जड और चैतन्य इन दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जड से चैतन्य और चैतन्य से जड की उत्पत्ति नही होती। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से जड और चैतन्य के सयोग का नाम सृष्टि है।

न्यायदर्शन, वैशेपिकदर्शन और मीमासकदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा परमाणुओ को सयुक्त करता है। उनके सयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए ये दर्शन आरम्भ-वादी कहलाते हैं।

साख्यदर्शन और योगदर्शन का मन्तव्य है कि सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। जब प्रकृति क्षुब्ध होती है तब त्रिगुण का विकास होता है। उससे सृष्टि का निर्माण होता है। अनीश्वरवादी साख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणाम-वाद ये दो रूप परिणामवाद के हैं। गुण-परिणामवाद साख्यदर्शन और मध्वाचार्य मानते है और ब्रह्म-परिणामवाद रामानुजाचार्य मानते हैं। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर ये तीनो तत्त्व मानते हैं, तथापि सभी को ब्रह्मरूप स्वीकार करते है। ब्रह्म ही अश विशेप मे प्रकृति रूप मे परिणत होकर जगत् बनता है।

जैन और बौद्धदर्शन सृष्टिवाद को नही मानते है। वह तो परिवर्तन-वादी हैं।

बौद्धदर्शन मे परिवर्तन की प्रस्तुत प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' के नाम से कही गई है। यह अहेतुकवाद है। इसमे कारण मे कार्य पैदा नही होता परन्तु सन्तति-प्रवाह मे पदार्थ उत्पन्न होता है।

जैनदर्शन के अनुसार विश्व मे जो कुछ भी परिवर्तन दिखाई दे रहा है, वह परिवर्तन जीव और पुद्गल के सयोग से होता है। वह परि-वर्तन दो प्रकार का है—

(१) स्वाभाविक।
(२) प्रायोगिक।

स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओ से दिखाई नही देता, किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होने से दिखलाई देता है। जीव और पुद्गल के सायोगिक अवस्था से ही यह दृश्य जगत् प्रवहमान है।

वैदिक ऋषि विश्व के सम्वन्ध मे सदिग्ध रहे है। उनका अभिमत है कि प्रलय दशा मे असत् भी नही था, सत् भी नही था, पृथ्वी भी नही थी, आकाश भी नही था। आकाश मे विद्यमान सातो भुवन भी नही थे।

प्रकृति तत्त्व को कौन जानता है ? कौन उसका वर्णन करता है ? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई ? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुई है ? देवता लोग इन सृष्टियो के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से मृष्टि हुई यह कौन जानता है ?

ये विविध सृष्टियाँ कहाँ से हुई, किसने सृष्टियाँ की, और किसने नही की—ये सभी वाते वे ही जाने जो इनके स्वामी परमधाम मे रहते है। सम्भव है वे भी सव कुछ न जानते हो।[1]

जैनदर्शन विश्व के सम्वन्ध मे किञ्चित् मात्र भी सदिग्ध नही है। उसका स्पष्ट अभिमत है कि चेतन से अचेतन उत्पन्न नही होता और अचेतन से चेतन की सृष्टि नही होती। किन्तु चेतन और अचेतन ये दोनो अनादि है।

भेदाभेदवाद

भेद और अभेद को लेकर दार्शनिक साहित्य मे चार विचारधाराएँ हैं। एक भेद का समर्थन करता है तो दूसरा अभेद का, तृतीय भेद और अभेद दोनो को महत्त्व देता है, तो चतुर्थ भेद-विशिष्ट-अभेद को स्वीकार करता है।

---

१ नासदासीन्नोसदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि।
अर्वाग् देव अस्य विसजनेनाथा को वेद मत आवभूव।'
'इय विसृष्टिर्यंत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्तसो अग वेद यदि वा न वेद॥
—ऋग्वेद १०।१२९ नासदीय सूक्त

भेदवादी किसी भी पदार्थ मे अन्वय नही मानता। वह प्रतिपल-प्रतिक्षण विविध तत्त्व और विविध ज्ञान की सत्ता मे विश्वास करता है। उसका मन्तव्य है कि भेद के अतिरिक्त कोई भी तत्त्व निर्दोष नही है, जहाँ पर भेद है वही पर वास्तविकता है। भारतीय दर्शन मे वैभाषिक और सौत्रान्तिक इस सिद्धान्त के मानने वाले है। वे क्षण-भगवाद को अन्तिम सत्य स्वीकार करते है। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। हर क्षण पदार्थ उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है, कोई भी चिरस्थायी नही है। जहाँ पर स्थायित्व नही वहाँ पर अभेद किस प्रकार हो सकता है? ज्ञान भी क्षणिक है और पदार्थ भी क्षणिक है। जिसे हम आत्मा कहते है वह विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार और रूप इन पाँच स्कन्धो का समुदाय है[1] जो वाह्य पदार्थ है वह क्षणिक परमाणु-पुञ्ज है। प्रस्तुत समुदायवाद को बौद्धदर्शन मे सघातवाद भी कहा है। विभिन्न निरश तत्त्वो का समुदाय सघात है। आत्मा नाम का कोई भी अखण्ड और स्थायी द्रव्य नही है। इसे अनात्मवाद या पुद्गलनैरात्म्य भी कहा है। वाह्य पदार्थ क्षणिक और निरश परमाणुओ का एक समुदाय है इसे धर्मनैरात्म्य के नाम से भी अभिहित किया गया है। यह कथन देश की अपेक्षा से है। इसी प्रकार काल की दृष्टि से 'सन्तान-वाद' का समर्थन करते हैं। चित्त और परमाणु की सन्तति को निहार कर हम 'यह वही है' इस प्रकार कहते है, वस्तुत यह अलग और वह अलग है। यह यही है और वह वही है। जव सभी क्षणिक है तो यह वह नही हो सकता। हमारा जितना भी व्यवहार है वह सभी सघातवाद और सन्तान-वाद पर अवलम्बित है। देशीय एकता का वोध सघातवाद से होता है और कालिक एकता का परिज्ञान सन्तानवाद से होता है। अभेद या अन्वय सन्तान-जन्य है। वस्तुत प्रत्येक ज्ञान और पदार्थ निरश और भिन्न है। एकता सन्तान के अतिरिक्त कुछ भी नही है। सन्तान-परम्परा से कुछ समान पदार्थो को देखकर उनमे एकता का आरोप करते हैं परन्तु वे सभी क्षणिक हैं, और एक-दूसरे से विल्कुल भिन्न है। परिवर्तन इतना शीघ्र होता है कि उसमे अन्वय या एकता की भ्रान्ति स्वाभाविक हो जाती है। जैसे रथ का चक्र एक विन्दु पर घूमता है और वह एक विन्दु पर ही रुकता

---

१ षड्दर्शन समुच्चय २।५

है। वैसे ही प्राणी का जीवन विचार के एक क्षण तक ठहरता है। जैसे विचार का क्षण समाप्त होता है। वैसे ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है।[1]

ग्रीक का महान् दार्शनिक हेराक्लिटस प्रस्तुत विचारधारा का समर्थन करता था। उसका अभिमत था कि अभेदवाद भ्राति है। एक ही क्षण मे पदार्थ वही है भी सही और नही भी है। प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन ही पदार्थ का प्राण है। पदार्थ एक क्षण ठहरता है ऐसा भी नही कह सकते, चूँकि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। एकता या अन्वय की जो प्रतीति होती है वह इन्द्रियजन्य भ्रान्ति है। तर्क या हेतु से कभी भी व्यक्ति एकता की सिद्धि नही कर सकता। जो इन्द्रियो से ऊपर उठकर बुद्धि पर विश्वास रखता है वह एकता के भ्रम से सदा सर्वदा दूर रहता है। नित्यता की भ्रान्ति होना इन्द्रियो की देन है। तर्क के सहारे ही हम परिवर्तन या अनित्यता तक पहुँच सकते है।[2] ह्यूम ने एकता को समानता बताकर अन्वय और अभेद का खण्डन किया है। उसका मन्तव्य है कि—मै अपनी आत्मा को कभी भी नही पकड सकता। जब कभी भी मैं ऐसा करने का प्रयास करता हूँ तो अमुक अनुभव ही मेरे हाथ लगता है।[3] विलियम जेम्स ने कहा—कि चलता हुआ विचार स्वय ही विचारक है।[4] बर्गसाँ के शब्दो मे कहा जाय तो प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट प्रवाह की अभिव्यक्ति मात्र है।[5]

पाश्चात्य और पौर्वात्य दर्शन के भेदवाद के उपर्युक्त उद्धरणो के प्रकाश मे यह स्पष्ट होता है कि एकता जैसी कोई वस्तु नही है। सभी कुछ परिवर्तनशील और प्रवाहशील है। एकता की प्रतीति केवल भ्राति है। वस्तुत क्षणिकता ही सत्य है। यही क्षणिकता प्रवाह, परिवर्तन, अनित्यता और भेद का सूचक है।

---

१ विशुद्धिमग्गो ८।

2 The illusion of permanence is ascribed to the senses it is by reason that we arise to the knowledge of the law of becoming

3 I never can catch 'myself' whenever I try I stumble on this or that perception

4 The passing thought itself is the thinker

5 Everything is the Manifestation of the flow of Elan

दूसरा मत अभेदवाद का है। उसका यह स्पष्ट आघोप है कि भेद मिथ्या है। एकत्व का मूल्य है, अनेकरूपता का कोई मूल्य नही है। हमारे अज्ञान के कारण ही भेद की प्रतीति होती है किन्तु ज्ञानियो की प्रतीति सदा अभेद मूलक होती है। अभेद ही वस्तुत तत्त्व है, भेद तत्त्व नही है। इस विचारधारा का समर्थन उपनिषद् और वेदान्त के कुछ विचारक करते हैं। अभेदवादी एक ही तत्त्व मानता है चूँकि अभेद की अन्तिम सीमा एकत्व है। जहाँ पर दो है वहाँ पर अपूर्णता है। अद्वैत वेदान्त एक तत्त्व मे विश्वास करता है। विज्ञानवाद और शून्यवाद की अन्तिम भूमिका मे इसी विचारधारा को हम देख सकते है।

पाश्चात्य परम्परा मे अभेदवाद का प्रवर्तक पार्मेनिडीस माना जाता है। उसकी स्पष्ट विचारधारा थी कि परिवर्तन वास्तविक नही है, क्योकि वह परिवर्तित हो जाता है। जो परिवर्तित होता है वह कदापि वास्तविक और सत्य नही हो सकता। जो इन परिवर्तनो के बीच सदा ध्रुव रहता है, वही सत्य है। जो परिवर्तित होता रहता है वह असत् है और जो परिवर्तित नही होता है वह सत् है। जो सत् है वह वास्तविक है, जो असत् है वह वास्तविक नही है। जो सत् है वह सदा विद्यमान है वह उत्पन्न नही हो सकता। यदि सत् पैदा होता है तो वह असत् से पैदा होगा किन्तु असत् से सत् पैदा नही हो सकता।[1] यदि सत् सत् से उत्पन्न होता है तो वह उत्पन्न नही हो सकता चूँकि वह स्वय सत् है। उत्पन्न वह होता है जो स्वय सत् न हो। जो सत् नही है वह उत्पन्न नही हो सकता। एतदर्थ जो वास्तविक है वह सभी सत् है। जो सत् है उसमे किसी भी प्रकार के भेद का प्रश्न ही नही, वह तो अभेद ही है। इस प्रकार पार्मेनिडीस अभेदवाद की सिद्धि करता है और भेद को इन्द्रियजन्य भ्रान्ति मानता है। जितने भी भेद दिखलाई देते है उनका मूल कारण इन्द्रियाँ है। पार्मेनिडीस ने जो कारण भेद की प्रतीति मे बताया है वही कारण हेराक्लिटस ने अभेद की प्रतीति मे बताया है। पार्मेनिडीस का कथन है कि हेतुवाद के आधार से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अभेद की प्रतीति ही सही प्रतीति है। जैन दार्शनिको ने अनेकता का तर्कसगत खण्डन करके एकता के आधार से अभेद की स्थापना की।

---

1 Ex nihilo nihil fit

तृतीय मत भेद और अभेद दोनो का समर्थन करता है। भेद और अभेद ये दोनो स्वतन्त्र है, सत् है। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने सामान्य और विशेष नाम से दो भिन्न-भिन्न पदार्थ माने हैं। वे दोनो पदार्थ स्वतन्त्र हैं और एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न है। किसी सम्बन्ध विशेष के आधार पर सामान्य और विशेष परस्पर मिल जाते है। सामान्य एकता का सूचन करता है तो विशेष भेद का सूचन करता है। वस्तु मे भेद और अभेद, विशेष और सामान्य के कारण होते है। एकता की प्रतीति का मूल कारण अभेद है, जैसे सभी गायो मे गोत्व सामान्य रहता है अत सभी मे 'गो' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। प्रस्तुत प्रतीति एकता की प्रतीति है। वैसे ही व्यक्तिगत रूप से सभी गाये पृथक् ही प्रतीत होती है। सभी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध से ही भेद और अभेद की प्रतीति होती है। समवाय सम्बन्ध से एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होने पर परस्पर मिले हुए प्रतीत होते है। इस प्रकार भेद और अभेद मानने वाला मत दोनो को सम्बन्ध विशेष से मिला देता है, परन्तु वह दोनो को अलग मानता है। यद्यपि जाति और व्यक्ति कभी भिन्न-भिन्न उपलब्ध नही होते, चूँकि वे अयुतसिद्ध है,[1] तथापि वे स्वतन्त्र है और एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

चतुर्थ मत है—भेद-विशिष्ट-अभेद का। इसके दो भेद है। प्रथम मत मे अभेद प्रधान होता है और भेद गौण होता है। जैसे रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद मे अचित्, चित् और ईश्वर ये तीन तत्त्व अन्तिम और वास्तविक है। ये तीन तत्त्व 'तत्त्वत्रय' के नाम से भी विश्रुत हैं। तीनो तत्त्व समान है। सत् और वास्तविक है तथापि अचित् और चित् ये दोनो ईश्वराश्रित हैं। वे यद्यपि अपने आप मे द्रव्य हैं तथापि ईश्वर से सम्बन्धित होने से उसके गुण हो जाते है। वे ईश्वर के शरीर कहे जाते है और ईश्वर उनकी आत्मा है। इस प्रकार ईश्वर चिदाचिद्विशिष्ट है। चित् और अचित् ये ईश्वर के शरीर का निर्माण करते हैं और तदाश्रित है।[2] इसके अनुसार भेद की सत्ता तो रहती है परन्तु अभेदाश्रित होकर। अभेद की

---

१ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूताना इह प्रत्ययहेतु सम्बन्ध स समवाय ।
—स्याद्वादमजरी, का० ७

२ सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना —श्री भाष्य २।१।९, रामानुज

प्रधानता रहती है। भेद स्वतन्त्र न होकर अभेद पर अवलम्बित होता है। भेद, अभेद के आश्रित होकर जीता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला मत दोनो को स्वतन्त्र रूप से सत् मानता है। उसकी दृष्टि मे अभेद की प्रधानता है।

जैनदर्शन की दृष्टि वडी विलक्षण है। वह भेद और अभेद दोनो को समान रूप से सत् मानता है। जैसे भेद वास्तविक है वैसे अभेद भी वास्तविक है। तात्त्विक दृष्टि से दोनो मे कुछ भी अन्तर नही है। भेद और अभेद ये दोनो इस प्रकार परस्पर सम्मिलित है कि एक के अभाव मे दूसरे की उपलब्धि नही हो सकती। जहाँ पर भेद है वहाँ पर अभेद है और जहाँ पर अभेद है वहाँ पर भेद है। भेद और अभेद किसी सम्बन्ध विशेष से सम्मिलित हो ऐसी बात नही है। वे तो स्वभाव से ही एक-दूसरे से मिले हुए है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावत सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को भेदात्मक कहना उचित नही है, चूकि कोई भी भेद अभेद के विना प्राप्त नही हो सकता। अभेद को मिथ्या और कल्पना कहना पर्याप्त नही है। वह किसी प्रमाण से जब तक मिथ्या सिद्ध न हो जाय। प्रमाण विना अनुभव के नही होता और अनुभव अभेद को मिथ्या सिद्ध नही करता। एकान्त अभेद को मानना भी इसी प्रकार उचित नही है चूकि जो दोष एकान्त भेद मे है वही दोष एकान्त अभेद मे भी है। भेद और अभेद ये दो स्वतन्त्र पदार्थ मानना उचित नही है, चूकि भेद और अभेद स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नही होते, उन्हे जोडने वाला अन्य पदार्थ भी नही है। ऐसी स्थिति मे वस्तु स्वय भेदाभेदात्मक है, ऐसा मानना उचित है। तत्त्व कथचित् सदृश है, कथचित् विसदृश है, कथचित् वाच्य है, कथचित् अवाच्य है, कथचित् सत् हैं, कथचित् असत् है।[1] ये सभी धर्म वस्तु के अपने धर्म है, इनका सम्बन्ध कही बाहर से नही है। वस्तु अपने आप मे सामान्य और विशेष, भिन्न और अभिन्न, एक और अनेक, नित्य और क्षणिक है। एरिस्टोटल की भी यही मान्यता थी। वह वस्तु को सामान्य और विशेष उभयात्मक मानता था। उसका मन्तव्य था कि कोई

---

१ स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप,
वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव। —अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, का० २५

भी वस्तु सामान्य और विशेष के विना उपलब्ध नही होता। द्रव्य सामान्य और विशेष दोनो का समन्वय है। इन दोनो रूपो के अभाव मे कोई भी वस्तु उपलब्ध नही हो सकती।[1]

जैनदर्शन ने भेदाभेदवाद के रूप मे वस्तु के वास्तविक रूप को ग्रहण किया है। यह भेदाभेद दृष्टि अनेकान्त दृष्टि का एक तरह से कारण है। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले गुणो को एक ही वस्तु मे एक साथ मानना भेदाभेदवाद का अर्थ है। भेद और अभेद की एक स्थान पर अवस्थिति वस्तु के रूप को नष्ट नही करती अपितु अधिक निखारती है। भेद और अभेद कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है। द्रव्य अभेदमूलक है और पर्याय भेदमूलक है, अत द्रव्य और अभेद एक है तथा पर्याय और भेद एक है।[2]

द्रव्य

जैनदर्शन ने विश्व का वर्गीकरण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यो मे किया है। काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय है। अस्तिकाय का अर्थ है प्रदेशो का समूह या अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे लघुतम परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव ये चारो अविभागी द्रव्य है, इनका विघटन नही होता है। इन्हे अवयवी इस दृष्टि से कहा जाता है कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डो की कल्पना की जाय तो वे असख्य होते हैं। छह द्रव्यो मे केवल पुद्गल ही विभागी द्रव्य है। पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा परमाणु कहलाता है। परमाणु का विभाग नही होता इसलिए वह अविभागी है। जब परमाणुओ का सयोग होता है तब स्कन्ध बनता है। जिस स्कन्ध मे जितने परमाणु मिले होते है वह स्कन्ध उतने प्रदेशो का होता है। द्वयणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त-प्रदेशी होता है। वियोजन होने पर पुन स्कन्ध परमाणु हो जाते है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नही है। इस दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी हैं। सख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं और प्रदेशो की दृष्टि से प्रत्येक जीव के असख्यात प्रदेश हैं। धर्म, अधर्म और लोकाकाश

---

1 A Critical History of Greek Philosophy

२ जैनधर्म और दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता के आधार स।

प्रधानता रहती है। भेद स्वतन्त्र न होकर अभेद पर अवलम्वित होता है। भेद, अभेद के आश्रित होकर जीता है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। भेद और अभेद को भिन्न मानने वाला मत दोनो को स्वतन्त्र रूप से सत् मानता है। उसकी दृष्टि मे अभेद की प्रधानता है।

जैनदर्शन की दृष्टि बडी विलक्षण है। वह भेद और अभेद दोनो को समान रूप से सत् मानता है। जैसे भेद वास्तविक है वैसे अभेद भी वास्तविक है। तात्त्विक दृष्टि से दोनो मे कुछ भी अन्तर नही है। भेद और अभेद ये दोनो इस प्रकार परस्पर सम्मिलित है कि एक के अभाव मे दूसरे की उपलब्धि नही हो सकती। जहाँ पर भेद है वहाँ पर अभेद है और जहाँ पर अभेद है वहाँ पर भेद है। भेद और अभेद किसी सम्बन्ध विशेष से सम्मिलित हो ऐसी बात नही है। वे तो स्वभाव से ही एक-दूसरे से मिले हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वभावत सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक है। जो सत् है वह भेदाभेदात्मक है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तु या तत्त्व को भेदात्मक कहना उचित नही है, चूकि कोई भी भेद अभेद के विना प्राप्त नहीं हो सकता। अभेद को मिथ्या और कल्पना कहना पर्याप्त नही है। वह किसी प्रमाण से जव तक मिथ्या सिद्ध न हो जाय। प्रमाण विना अनुभव के नही होता और अनुभव अभेद को मिथ्या सिद्ध नही करता। एकान्त अभेद को मानना भी इसी प्रकार उचित नही है चूकि जो दोष एकान्त भेद मे है वही दोष एकान्त अभेद मे भी है। भेद और अभेद ये दो स्वतन्त्र पदार्थ मानना उचित नही है, चूकि भेद और अभेद स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नही होते, उन्हे जोडने वाला अन्य पदार्थ भी नही है। ऐसी स्थिति मे वस्तु स्वय भेदाभेदात्मक है, ऐसा मानना उचित है। तत्त्व कथचित् सदृश है, कथचित् विसदृश है, कथचित् वाच्य है, कथचित् अवाच्य है, कथचित् सत् हैं, कथचित् असद् है।[१] ये सभी धर्म वस्तु के अपने धर्म हैं, इनका सम्बन्ध कही बाहर से नही है। वस्तु अपने आप मे सामान्य और विशेष, भिन्न और अभिन्न, एक और अनेक, नित्य और क्षणिक है। एरिस्टोटल की भी यही मान्यता थी। वह वस्तु को सामान्य और विशेष उभयात्मक मानता था। उसका मन्तव्य था कि कोई

---

१ स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप,
वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव। —अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, का० २५

भी वस्तु सामान्य और विशेष के बिना उपलब्ध नही होता। द्रव्य सामान्य और विशेष दोनो का समन्वय है। इन दोनो रूपो के अभाव मे कोई भी वस्तु उपलब्ध नही हो सकती।[1]

जैनदर्शन ने भेदाभेदवाद के रूप मे वस्तु के वास्तविक रूप को ग्रहण किया है। यह भेदाभेद दृष्टि अनेकान्त दृष्टि का एक तरह से कारण है। दो परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले गुणो को एक ही वस्तु मे एक साथ मानना भेदाभेदवाद का अर्थ है। भेद और अभेद की एक स्थान पर अवस्थिति वस्तु के रूप को नष्ट नही करती अपितु अधिक निखारती है। भेद और अभेद कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न हैं। द्रव्य अभेदमूलक है और पर्याय भेदमूलक है, अत द्रव्य और अभेद एक है तथा पर्याय और भेद एक है।[2]

द्रव्य

जैनदर्शन ने विश्व का वर्गीकरण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यो मे किया है। काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है प्रदेशो का समूह या अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे लघुतम परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव ये चारो अविभागी द्रव्य हैं, इनका विघटन नही होता है। इन्हे अवयवी इस दृष्टि से कहा जाता है कि इनके परमाणु-तुल्य खण्डो की कल्पना की जाय तो वे असख्य होते है। छह द्रव्यो मे केवल पुद्गल ही विभागी द्रव्य है। पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा परमाणु कहलाता है। परमाणु का विभाग नही होता इसलिए वह अविभागी है। जब परमाणुओ का सयोग होता है तब स्कन्ध बनता है। जिस स्कन्ध मे जितने परमाणु मिले होते है वह स्कन्ध उतने प्रदेशो का होता है। द्वचणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त-प्रदेशी होता है। वियोजन होने पर पुन स्कन्ध परमाणु हो जाते हैं। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नही है। इस दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी है। सख्या की दृष्टि से जीव अनन्त हैं और प्रदेशो की दृष्टि से प्रत्येक जीव के असख्यात प्रदेश हैं। धर्म, अधर्म और लोकाकाश

---

1 A Critical History of Greek Philosophy

२ जैनधर्म और दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता के आधार स।

के भी असख्यात प्रदेश है। धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव इन चारो के असख्यात प्रदेश समान हैं। काल के न प्रदेश हैं और न परमाणु ही हैं। प्रदेशो का अभाव होने से काल को अस्तिकाय मे नही गिना है। उसे द्रव्य की कोटि मे इसलिए रखा गया है कि वह द्रव्य के समान उपयोगी है, व्यवहार का प्रवर्तन करता है। आचार्यों ने काल के नैश्चयिक और व्यावहारिक ये दो भेद किये है। पचास्तिकाय मे जो वर्तमान रूप परिणमन है वह नैश्चयिक दृष्टि से है। ज्योतिष की गति के आधार से जो परिवर्तन होता है वह व्यावहारिक दृष्टि से है। दूसरे शब्दो मे इसे यो कह सकते हैं कि वर्तमान का एक समय नैश्चयिक है, भूत और भविष्य का जो कथन है वह व्यावहारिक है। जो समय चला गया है वह आने वाला नही है और भविष्य मे आने वाला समय अभी उत्पन्न ही नही हुआ है, इसलिए भूतकाल और भविष्यकाल ये दोनो ही अविद्यमान है। इसलिए वे व्यावहारिक और औपचारिक है। समय, मुहूर्त, दिन-रात आदि सभी भेद व्यावहारिक काल की दृष्टि से है। आकाश का काल्पनिक खण्ड दिग् कहलाता है, दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नही है।

वर्तमान, भूत और भविष्य इन दोनो का सकलन करता है। भूत और भविष्य का महत्त्व वर्तमान से है। किसी भी वस्तु का जब हम अस्तित्व स्वीकार करते है तब हमे यह स्वीकार करना पडता है कि यह वस्तु पूर्व मे भी थी और पश्चात् भी रहेगी। वह वस्तु हमेशा एक ही अवस्था मे रहेगी, ऐसा कोई नियम नही है। विभिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तित होने पर भी उसके मौलिक रूप और शक्ति मे कभी भी किञ्चित् भी विनाश नही होता। द्रव्य की परिभाषा करते हुए एक आचार्य ने लिखा है "जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है।" विभिन्न अवस्थाओ का उत्पाद और विनाश होने पर भी जो सदा ध्रुव रहता है चूकि ध्रौव्य के अभाव मे पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओ का सम्बन्ध नही हो सकता इसलिए जो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनो अवस्थाओ मे व्याप्त रहता है वह द्रव्य है। जो द्रव्य है वह सत् है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे कहा—सत् उत्पाद व्यय और ध्रौव्ययुक्त है[1], उसी अध्याय मे द्रव्य की परिभाषा लिखते हुए लिखा—

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ५।२९

"गुण और पर्याय वाला द्रव्य है।'[1] इसमे उत्पाद और व्यय के स्थान पर पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है और ध्रौव्य के स्थान पर गुण शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्पाद और व्यय ये परिवर्तन के सूचक है और ध्रौव्य नित्यता का सूचन करता है। किसी भी वस्तु के दो रूप होते है, एकता और अनेकता, नित्यता और अनित्यता, स्थायित्व और अस्थायित्व, सदृशता और विसदृशता। इनमे से प्रथम ध्रौव्य को बताता है और दूसरा उत्पाद और व्यय को। वस्तु के स्थायित्व मे स्थिरता रहती है और अस्थायी मे पहले की पर्याय का नाश होता है और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है। वस्तु की उत्पत्ति और विनाश मे जो एक प्रकार की स्थिरता है, जिसका कभी नाश भी नही होता और जो कभी उत्पन्न भी नही होती वह एकरूपता ही ध्रौव्य है। इसे ही उमास्वाति ने 'तद्भावाव्यय' कहा है।[2] यह नित्य का लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की है 'जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला है, उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्ययुक्त है, गुण और पर्याय युक्त है वही द्रव्य है।[3] एक ही गाथा मे तत्त्वार्थ सूत्र के उपर्युक्त तीनो सूत्रो का सार आ गया है। पचास्तिकाय मे सत्ता का लक्षण इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है।[4] इस तरह जैनदर्शन मे सत् एकान्त रूप से नित्य अथवा अनित्य नही माना गया है। उसे कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य कहा है। वह गुण की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है। न्याय-वैशेषिक आदि वैदिकदर्शनो के समान कूटस्थ नित्य मानें तो परिवर्तन और बौद्धदर्शन के समान सर्वथा अनित्य माने तो उसमे किञ्चित् भी एकरूपता नही आ सकती। ऐसी स्थिति मे वस्तु को नित्य और अनित्य उभयात्मक मानना ही अधिक युक्तियुक्त है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ५।३७

२ तत्त्वार्थसूत्र ५।३०

३ अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त ।
गुणव च सपज्जाय, ज त दव्व ति वुच्चति ॥

—प्रवचनसार २।३

४ सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणतपज्जाया।
भगुप्पादधुवत्ता, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥

—पचास्तिकायसार, गा० ८

अनित्य है किन्तु परिणामी-नित्य है। सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन मे भी उसका अस्तित्व नही मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार का अभाव हो तो 'यह वही है' का अनुभव कैसे हो सकता है। यदि द्रव्य निर्विकारी है तो विश्व की विविधता किस प्रकार सगत हो सकेगी। एतदर्थ जैनदर्शन ने परिणामीनित्यत्व का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से प्रस्तुत सिद्धान्त की तुलना की जा सकती है।

सन् १७८९ मे द्रव्याक्षरत्ववाद की सस्थापना लेवोसियर (Lawosier) नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने की थी। इस सिद्धान्त का सक्षेप मे साराश यह है कि इस विराट् विश्व मे द्रव्य का परिणाम सदा सर्वदा समान रहता है उसमे न्यूनता व अधिकता नही होती। न वर्तमान द्रव्य का पूर्ण रूप से नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण रूप से जिसे द्रव्य का नष्ट होना माना जाता है, वह नष्ट नही होता किन्तु रूपान्तर होता है। जैसे कोयला जलने पर राख हो जाता है, वह कोयला रूप से नष्ट हो गया, किन्तु वस्तुत वह नष्ट नही होता। वायुमण्डल मे ऑक्सीजन अश के साथ मिलकर कार्वोनिक एसिड गैस के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। शक्कर या नमक पानी मे घुलकर नष्ट नही होते अपितु जो ठोस थे वे द्रव रूप मे परिणत हो जाते हैं। नवीन वस्तु कोई भी उत्पन्न नही होती किन्तु पूर्व वस्तु का रूपान्तर हो जाता है। आपके घर मे लोहे का कोई बर्तन पडा हुआ है। दीर्घकाल तक उसका उपयोग नही करने के कारण उसमे जग लग गया है। जग कोई नया उत्पन्न नही हुआ किन्तु धातु की ऊपर का हिस्सा जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के सयोग से लोहे के ऑक्सीहाइड्रेट के रूप मे वदल गया। पदार्थो के गुणात्मक अन्तर को भौतिकवाद परिमाणात्मक अन्तर मे परिवर्तित कर देता है। शक्ति परिमाण की दृष्टि से कोई परिवर्तन नही होता किन्तु गुण की दृष्टि से परिवर्तन होता है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण मे न्यूनता नही आती अपितु वे एक-दूसरे मे परिवर्तित होते है। जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का भी सार यही है। जिस द्रव्य का नाश समझा जाता है पर वह नष्ट नही होता किन्तु रूपान्तरित होता है। वस्तुत अतीत मे जितने द्रव्य थे, उतने ही वर्तमान मे भी है और जितने वर्तमान मे है उतने ही भविष्य मे

भी रहेगे। उनमे न कोई न्यून हो सकता है और न कोई बढ ही सकता है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता की परिधि मे उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं।

सारय दर्शन नित्यानित्यत्ववाद को मानता है। उसका मन्तव्य है कि पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य है। नैयायिक और वैशेपिकदर्शन परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते है और घट-पट आदि को अनित्य। समूह की अपेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को मानते है किन्तु जैन-दर्शन की भाँति द्रव्य-मात्र को परिणामी नित्य नही मानते। आचार्य पत-जलि, कुमारिलभट्ट, पार्थसारमिश्र आदि ने परिणामी नित्यत्ववाद को स्पष्ट सिद्धान्त के रूप मे नही माना है तथापि प्रकारान्तर से उसका समर्थन किया है।[1]

द्रव्य और पर्याय

द्रव्य शब्द अनेकार्थक है। उनमे से सत् तत्त्व, या पदार्थ-परक अर्थ पर हम कुछ चिन्तन कर चुके हैं। सामान्य के लिए भी द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है और विशेष के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है।

सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य। तिर्यक् सामान्य का अर्थ है—एक ही काल मे स्थित अनेक देशो मे रहने वाले अनेक पदार्थों मे समानता की अनुभूति होना। जीव और अजीव इन दोनो मे रहने वाला सत्त्व, जीव के ससारी और सिद्ध इन दो भेदो मे रहने वाला जीवत्व अथवा ससारी के एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक पाँच भेदो मे रहा हुआ ससारी जीवत्व आदि तिर्यक्-सामान्य हैं।

---

१ (क) द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्ण कदाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचका क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका क्रियन्ते। पुनरावृत्त सुवर्ण पिण्ड। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्य पुनस्तदेव। आकृत्युपमेदेन द्रव्यमेवाव शिष्यते। —पातञ्जल योगदर्शन

(ख) वर्धमानकभगे च रुचक क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिन शोक प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य, तेन सामान्यनित्यता ॥
—मीमासा श्लोकवार्तिक, १-३ पृ० ६१९

अनित्य है किन्तु परिणामी-नित्य है। सत्ता भी है और परिवर्तन भी—द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी। इस परिवर्तन मे भी उसका अस्तित्व नही मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार का अभाव हो तो 'यह वही है' का अनुभव कैसे हो सकता है। यदि द्रव्य निर्विकारी है तो विश्व की विविधता किस प्रकार सगत हो सकेगी। एतदर्थ जैनदर्शन ने परिणामीनित्यत्व का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया। रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से प्रस्तुत सिद्धान्त की तुलना की जा सकती है।

सन् १७८९ मे द्रव्याक्षरत्ववाद की सस्थापना लेवोसियर (Lawosier) नामक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक ने की थी। इस सिद्धान्त का सक्षेप मे साराश यह है कि इस विराट् विश्व मे द्रव्य का परिणाम सदा सर्वदा समान रहता है उसमे न्यूनता व अधिकता नही होती। न वर्तमान द्रव्य का पूर्ण रूप से नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण रूप से जिसे द्रव्य का नष्ट होना माना जाता है, वह नष्ट नही होता किन्तु रूपान्तर होता है। जैसे कोयला जलने पर राख हो जाता है, वह कोयला रूप से नष्ट हो गया, किन्तु वस्तुत वह नष्ट नही होता। वायुमण्डल मे ऑक्सीजन अश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। शक्कर या नमक पानी मे घुलकर नष्ट नही होते अपितु जो ठोस थे वे द्रव रूप मे परिणत हो जाते है। नवीन वस्तु कोई भी उत्पन्न नही होती किन्तु पूर्व वस्तु का रूपान्तर हो जाता है। आपके घर मे लोहे का कोई बर्तन पडा हुआ है। दीर्घकाल तक उसका उपयोग नही करने के कारण उसमे जग लग गया है। जग कोई नया उत्पन्न नही हुआ किन्तु धातु की ऊपर का हिस्सा जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के सयोग से लोहे के ऑक्सीहाइड्रेट के रूप मे बदल गया। पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को भौतिकवाद परिमाणात्मक अन्तर मे परिवर्तित कर देता है। शक्ति परिमाण की दृष्टि से कोई परिवर्तन नही होता किन्तु गुण की दृष्टि से परिवर्तन होता है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्पण मे न्यूनता नही आती अपितु वे एक-दूसरे मे परिवर्तित होते है। जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का भी सार यही है। जिस द्रव्य का नाश समझा जाता है पर वह नष्ट नही होता किन्तु रूपान्तरित होता है। वस्तुत अतीत मे जितने द्रव्य थे, उतने ही वर्तमान मे भी है और जितने वर्तमान मे है उतने ही भविष्य मे

भी रहेगे। उनमे न कोई न्यून हो सकता है और न कोई बढ ही सकता है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता की परिधि मे उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं।

साख्य दर्शन नित्यानित्यत्ववाद को मानता है। उसका मन्तव्य है कि पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामी नित्य है। नैयायिक और वैशेषिकदर्शन परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते है और घट-पट आदि को अनित्य। समूह की अपेक्षा से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को मानते है किन्तु जैन-दर्शन की भाँति द्रव्य-मात्र को परिणामी नित्य नही मानते। आचार्य पत-जलि, कुमारिलभट्ट, पार्थसारमिश्र आदि ने परिणामी नित्यत्ववाद को स्पष्ट सिद्धान्त के रूप मे नही माना है तथापि प्रकारान्तर मे उसका समर्थन किया है।[1]

द्रव्य और पर्याय

द्रव्य शब्द अनेकार्थक है। उनमे से सत् तत्त्व, या पदार्थ-परक अर्थ पर हम कुछ चिन्तन कर चुके हैं। सामान्य के लिए भी द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है और विशेष के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है।

सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य। तिर्यक् सामान्य का अर्थ है—एक ही काल मे स्थित अनेक देशो मे रहने वाले अनेक पदार्थों मे समानता की अनुभूति होना। जीव और अजीव इन दोनो मे रहने वाला सत्त्व, जीव के ससारी और सिद्ध इन दो भेदो मे रहने वाला जीवत्व अथवा ससारी के एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक पाँच भेदो मे रहा हुआ ससारी जीवत्व आदि तिर्यक्-सामान्य है।

---

१ (क) द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्ण कदाचिदाकृत्या युक्त पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचका क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिका क्रियन्ते। पुनरावृत सुवर्ण पिण्ड। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्य पुनस्तदेव। आकृत्युपमेदेन द्रव्यमेवाव शिष्यते।

—पातञ्जल योगदर्शन

(ख) वर्धमानकभगे च रुचक क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिन शोक प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिन ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य, तेन सामान्यनित्यता ॥

—मीमासा श्लोकवार्तिक, १-३ पृ० ६१९

ऊर्ध्वता-सामान्य का अर्थ है—जब कालकृत विविध अवस्थाओ मे किसी विशेष द्रव्य का एकत्व या अन्वय विवक्षित हो, या एक विशेष पदार्थ की अनेक अवस्थाओ की एक एकता या ध्रौव्य अपेक्षित हो, वह एकत्व या ध्रौव्य सूचक अश। जैसे जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है,[1] तब जीव द्रव्य का अर्थ ऊर्ध्वता-सामान्य से है। जब यह कहा जाय कि अव्युच्छित्ति नय की दृष्टि से नारक शाश्वत है,[2] तब अव्युच्छित्ति नय का विपय जीव ऊर्ध्वता सामान्य से विवक्षित है। इस भाँति जब किसी भी जीव विशेष या अन्य पदार्थ विशेष की अनेक अवस्थाओ का वर्णन करते है तब एकत्व या अन्वयसूचक पद ऊर्ध्वता सामान्य की दृष्टि से प्रयोग किया जाता है।

जिज्ञासु ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—भगवन्! जीवपर्याय कितने हैं? भगवान ने कहा जीवपर्याय अनन्त है। पुन प्रश्न किया—भगवन्! वह कैसे? भगवान ने पुन उत्तर देते हुए कहा—असख्यात नारक है। असख्यात असुरकुमार है यावत् असख्यात् स्तनितकुमार है। असख्यात पृथ्वीकाय है यावत् असख्यात वायुकाय हैं। अनन्त वनस्पतिकाय हैं। असख्यात् द्वीन्द्रिय हैं, यावत् असख्यात मनुष्य है। असख्यात वाणव्यतर हैं, यावत् अनन्त सिद्ध है। यही कारण है कि जीवपर्याय अनन्त है।[3] प्रस्तुत सवाद मे जो पर्याय विवक्षित हैं वह तिर्यक् विशेष की दृष्टि से हैं। चूंकि ये पर्याय अनेक देशो मे रहने वाले विभिन्न जीवो से सम्बन्धित है। इनमे सम्पूर्ण जीवो का समावेश हो जाता है, इसलिए अनेक जीवाश्रित पर्याय होने से यह तिर्यक् सामान्य पर्याय है।

अनेक कालो मे एक ही द्रव्य की अर्थात् ऊर्ध्वता-सामान्य की जो विभिन्न अवस्थाएँ हैं—जो अनेक विशेष पर्याये हैं वे ऊर्ध्वता-सामान्य पर्याये हैं। ऊर्ध्वता-विशेष की दृष्टि से चिन्तन करने पर विशेष का आधार अन्य हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि हर एक जीव की अनन्त पर्याय हैं और किसी जीव विशेष के सम्बन्ध मे चिन्तन करे तो हमारा दृष्टिकोण ऊर्ध्वता-विशेप को विषय करता है, जैसे एक नारकीय जीव को ले। उसके अनन्त पर्याय होते हैं। जीव-सामान्य के अनन्त पर्यायो का कथन तिर्यक्

---

१ भगवती सूत्र ७।२।२७३

२ भगवती सूत्र ७।३।२७६

३ भगवती सूत्र २५।५

सामान्याश्रित की दृष्टि से है किन्तु विशेष नारकादि के अनन्त पर्यायो का कथन ऊर्ध्वता सामान्याश्रित पर्यायो की दृष्टि से है। एक नारक विशेष के अनन्त पर्याय किस प्रकार हो सकते है, इसका समाधान प्रज्ञापना मे इस प्रकार दिया गया है—

एक नारक अन्य नारक मे द्रव्य की दृष्टि से तुल्य है। अवगाहना की दृष्टि से स्यात् चतु स्थान हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् चतु स्थान से अधिक है। स्थिति की दृष्टि से अवगाहना के समान है किन्तु श्यामवर्ण पर्याय की अपेक्षा से स्यात् षट्स्थान हीन, स्यात् तुल्य, स्यात् षट्स्थान अधिक है। इसी भाँति अन्य वर्ण-पर्याय, दोनो गध-पर्याय, पाँचो रस-पर्याय, आठो स्पर्श-पर्याय, मतिज्ञान, मति अज्ञान-पर्याय, श्रुतज्ञान और श्रुत अज्ञान-पर्याय, अवधिज्ञान और विभगज्ञान-पर्याय, चक्षुदर्शन-पर्याय, अचक्षुदर्शन-पर्याय, अवधिदर्शनपर्याय—इन सभी पर्यायो की दृष्टि से स्यात् षट्स्थान पतित हीन है, स्यात् तुल्य है, स्यात् षट्स्थानपतित अधिक है, एतदर्थ नारक के अनन्त पर्याय कहे जाते है।[1] द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक नारक सदृश है। प्रत्येक आत्मा के प्रदेश असख्यात हैं। शारीरिक दृष्टि से एक नारक से दूसरा नारक समान भी हो सकता है, लघु भी हो सकता है और बडा भी हो सकता है। यह शरीर की असमानता असख्यात प्रकार की हो सकती है। सब से लघुतम अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग के बराबर होती है। क्रमश एक-एक भाग के बढने से ५०० धनुष्यप्रमाण पहुँचती है। इसके मध्य के जो प्रकार हैं वे असख्यात हैं, इसलिए अवगाहना की दृष्टि से नारक के असख्यात प्रकार हो सकते हैं। आयु के सम्बन्ध मे भी यही बात है। नारक के जो अनन्त पर्याय कहे गये हैं, वह शरीर और आत्मा को कथचित् अभिन्न मानकर वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श को भी नारक के पर्याय मानकर चिन्तन किया जाय तो नारक के अनन्त पर्याय हो सकते हैं। जैसे हम किसी एक वर्ण को लें और कोई भाग एक गुण श्याम हो, कोई द्विगुण श्याम हो, कोई त्रिगुण श्याम हो, इस प्रकार यदि अनन्त गुणश्याम हो तो वर्ण के अनन्त पर्याय स्वत सिद्ध हो सकने हैं। इसी प्रकार गध, रस और स्पर्श के सम्बन्ध मे भी। जैसे यह भौतिक और पौद्गलिक गुणो के सम्बन्ध मे कहा गया वैसे ही आत्म-गुणो के सम्बन्ध मे भी कह सकते हैं। ये सारे भेद अकेले नारक मे कालभेद

---

१ प्रज्ञापना ५।२४८

से घटित हो सकते है। ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित पर्याय का मूल आधार काल भेद है। एक जीव कालभेद से अनेकानेक पर्यायो को धारण करता है। ये पर्याय ऊर्ध्वता-सामान्याश्रित विशेष हैं।

भगवती और प्रज्ञापनासूत्र मे द्रव्य के ऊर्ध्वता सामान्याश्रित पर्यायो को परिणाम भी कहा है। विशेष और पर्याय ये दोनो द्रव्य की पर्याय है चूकि दोनो मे परिवर्तन होता है। परिणाम मे कालभेद की मुख्यता रहती है और विशेष मे देश भेद की। जो काल की दृष्टि से परिणाम हैं वे ही देश की दृष्टि से विशेष हैं। इस तरह पर्याय, विशेष, परिणाम, उत्पाद और व्यय ये सभी प्राय एक ही अर्थ के वाचक है। द्रव्य विशेष की विविध अवस्थाओ मे इन सभी शब्दो का समावेश हो जाता है।

प्रश्न—द्रव्य और पर्याय भिन्न है या अभिन्न है?

उत्तर—आगम साहित्य मे कही पर द्रव्य को पर्याय से भिन्न माना है तो कही पर द्रव्य से पर्याय को अभिन्न माना है। भगवतीसूत्र मे कहा है कि 'अस्थिर पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है' इस उत्तर मे स्पष्ट रूप से भेद दृष्टि झलक रही है। यदि द्रव्य और पर्याय का सर्वथा अभेद होता तो पर्याय के नष्ट होते ही द्रव्य स्वत ही नष्ट हो जाता। इसका तात्पर्य यह है कि पर्याय ही द्रव्य नही है। द्रव्य और पर्याय कथचित् भिन्न भी है। द्रव्य की पर्याय प्रतिक्षण परिवर्तित होने पर भी द्रव्य अपने आपमे नही बदलता। द्रव्य का गुण कदापि नष्ट नही होता, भले ही उसकी अवस्थाएँ उत्पन्न हो या नष्ट हो।

भगवान पार्श्व के शिष्यो के अन्तर्मानस मे यह विचार घूम रहा था कि भगवान महावीर के शिष्य सामायिक के अर्थ को नही जानते है। श्रमण भगवान महावीर ने कहा—'आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।' यहाँ पर आत्मा एक द्रव्य है और सामायिक आत्मा की अवस्था विशेष है, पर्याय है। आत्मा को सामायिक से भिन्न नही माना है। यह द्रव्य और पर्याय की अभेद दृष्टि है। यह कथन अपेक्षायुक्त है। किसी अपेक्षा से आत्मा और सामायिक ये दोनो एक है। सामायिक आत्मा की पर्याय है। इसलिए आत्मा सामायिक से अभिन्न है। दृष्टि-भेद से द्रव्य और पर्याय के भेद और अभेद की विवक्षा करना भगवान महावीर को इष्ट था।

भगवती[1], स्थानाङ्ग[2] आदि मे आत्मा के निम्न आठ भेद बताये है।— द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा। ये भेद द्रव्य और पर्याय दोनो दृष्टियो से किये गये है। द्रव्यात्मा का जो वर्णन किया गया है वह द्रव्य दृष्टि से है और शेष सात पर्याय दृष्टि से है। द्रव्य और पर्याय दोनो परस्पर एक-दूसरे से मिले हुए है। एक के बिना दूसरे की स्थिति सभव नही है। द्रव्यरहित पर्याय की उपलब्धि जैसे असभव है वैसे ही पर्यायरहित द्रव्य की उपलब्धि भी सभव नही है। जहाँ द्रव्य होगा वहाँ पर्याय अवश्य होगा।[3]

□

१ भगवती १२।१०।४६६
२ स्थानाङ्ग ८
३ जैनधर्म और दर्शन—डा० मोहनलाल मेहता पृ० १२३-१२६

□ जैनदर्शन की रीढ : तत्त्ववाद

- तत्त्व की महत्ता
- तत्त्व की परिभाषा
- तत्त्वों की संख्या
- तत्त्वों का क्रम
- संक्षेप और विस्तार
- अध्यात्मदृष्टि से वर्गीकरण
- रूपी और अरूपी
- जीव और अजीव
- द्रव्यदृष्टि से विभाग
- द्रव्य और भाव

जैनदर्शन की रीढ़ : तत्त्ववाद

तत्त्व की महत्ता

भारतीय साहित्य मे तत्त्व के सम्बन्ध मे गहराई से अनुशीलन-परिशीलन किया गया है। 'तत्' शब्द से 'तत्त्व' शब्द बना है। संस्कृत भाषा मे तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भाव अर्थ मे 'त्व' प्रत्यय लगकर 'तत्त्व' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है उसका भाव—'तस्य भाव तत्त्वम्'। अत वस्तु के स्वरूप को और स्वरूप भूत वस्तु को तत्त्व कहा जाता है।

दर्शन के क्षेत्र मे तत्त्व शब्द गम्भीर चिन्तन को लिये हुए है। चिन्तन-मनन का प्रारम्भ तत्त्व से ही होता है। किं तत्त्वम्—तत्त्व क्या है? यही जिज्ञासा तत्त्व दर्शन का मूल है।

लौकिक दृष्टि से तत्त्व शब्द के अर्थ होते हैं—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, साराश। दार्शनिक चिन्तको ने प्रस्तुत अर्थ को स्वीकार करते हुए भी परमार्थ, द्रव्य स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है।[1] वेदो मे परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए तत्त्व शब्द का उपयोग किया गया है। साख्यमत मे जगत के मूल कारण के रूप मे तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ है।

सभी दर्शनो ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्वो का निरूपण किया है। सभी का यह मन्तव्य है कि जीवन मे तत्त्वो का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व ये एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। तत्त्व से जीवन-को पृथक् नही किया जा सकता और तत्त्व के अभाव मे जीवन गतिशील नही हो सकता। जीवन मे से तत्त्व को पृथक् करने का अर्थ है आत्मा के अस्तित्व से इन्कार होना।

---

१ तत्त तह परमट्ठ दव्वसहाव तहेव परमपर।
धेय सुद्ध परम एयट्ठा हुति अभिहाणा॥
—तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य स्वभाव, पर-अपर, ध्येय, शुद्ध, परम ये सभी शब्द एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची हैं।
—बृहद्नयचक्र ४

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खडे हुए हैं। आस्तिक-दर्शनो मे से प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार तत्त्व-मीमासा और तत्त्व-विचार स्थिर किया है। भौतिकवादी चार्वाकदर्शन ने भी तत्त्व स्वीकार किये है। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व मानता है[1], आकाश को नही। चूंकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है। वैशेषिकदर्शन मे मूल छह तत्त्व माने है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, कालान्तर मे इनके साथ 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड दिया गया है। इस तरह सात पदार्थ हैं। न्यायदर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं, वे ये है—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। साख्यदर्शन ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये है। वे ये है—प्रकृति, महत्, अहकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पच महा-भूत और पुरुष। योगदर्शन साख्यसम्मत तत्त्वो को ही स्वीकार करता है। मीमासा-दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्त्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को सत् मानता है और शेप सभी को असत् मानता हैं। बौद्धदर्शन ने चार आर्य सत्य स्वीकार किये है—(१) दुख, (२) दुख-समुदय (३) दुख-निरोध, (४) दुख-निरोध-मार्ग। जैनदर्शन मे तत्त्व की व्यवस्था दो प्रकार से की गई है—षट्द्रव्य रूप मे तथा सप्त-तत्त्व या नव पदार्थ के रूप मे। (द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ इन तीनो का एक ही अर्थ है।)

तत्त्व की परिभाषा

जैनदर्शन मे विभिन्न स्थलो पर और विभिन्न प्रसगो पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य—इन शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया गया है। अत ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रहे हैं। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे तत्त्वार्थ, सत् और द्रव्य शब्द का प्रयोग तत्त्व अर्थ मे किया है अत जैनदर्शन मे जो तत्त्व है वह सत् है और जो सत् है वह द्रव्य है। केवल शब्दो मे अन्तर है, भावो मे कोई अन्तर नही है। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है—द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। शेप सम्पूर्ण ससार इन दोनो का ही प्रपच है, विस्तार है।

---

१ पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। —बृहस्पति

सत् क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर बौद्धदर्शन इस प्रकार देता है—'यत् क्षणिक तत् सत्'—इस विश्व मे जो कुछ है वह सव क्षणिक है। बौद्ध दृष्टि से जो क्षणिक है वही सत् है, वही सत्य है। इसके विपरीत वेदान्तदर्शन का अभिमत है कि जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एव एकरूप है वही सत् है, शेष सभी कुछ मिथ्या है। बौद्धदर्शन इस प्रकार एकान्त क्षणिकवादी है और वेदान्तदर्शन एकान्त नित्यतावादी है। दोनो दो किनारो पर खडे हैं। जैनदर्शन इन दोनो एकान्तवादो को अस्वीकार करता है। वह परिणामि-नित्यवाद को मानता है। सत् क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे जैनदर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-युक्त है वही सत् है, सत्य है, तत्त्व है और द्रव्य है। उत्पाद और व्यय के अभाव मे ध्रौव्य कदापि नही रह सकता और ध्रौव्य के अभाव मे उत्पाद और व्यय नही रहते। एक वस्तु मे एक समय मे उत्पाद भी हो रहा है, व्यय भी हो रहा है और ध्रुवत्व भी रहता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है, इसलिए तत्त्व रूप से परिणामि-नित्य है किन्तु वह एकान्त नित्य और अनित्य नही है। हमे यहाँ पर अन्य दर्शनो के तत्त्वो के सम्बन्ध मे चिन्तन न कर केवल जैनदर्शन मे व्यवहृत तत्त्वो के सम्बन्ध मे ही विश्लेषण करना है।

तत्त्वो की सख्या

तत्त्व कितने हैं ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रन्थो ने विभिन्न रूप से दिया है। सक्षेप और विस्तार की दृष्टि से तत्त्व के प्रतिपादन की मुख्य रूप से तीन शैलियाँ हैं। एक शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। दूसरी शैली के अनुसार तत्त्व सात है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। तीसरी शैली के अनुसार तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। दार्शनिक ग्रन्थो मे प्रथम और द्वितीय शैली मिलती है। आगमसाहित्य मे तृतीय शैली उपलब्ध होती है। भगवती[1] प्रज्ञापना[2], उत्तराध्ययन[3] आदि मे तत्त्वो की

---

१ अभिगम जीवाजीवा उवलद्ध पुण्णपावा आसव सवर णिज्जर किरियाहिगरण बन्ध मोक्ख कुसला। —भगवती

२ प्रज्ञापना

३ उत्तराध्ययन २८।१४

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खडे हुए है। आस्तिक-दर्शनो मे से प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी परम्परा और अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार तत्त्व-मीमासा और तत्त्व-विचार स्थिर किया है। भौतिकवादी चार्वाकदर्शन ने भी तत्त्व स्वीकार किये है। वह पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार तत्त्व मानता है[1], आकाश को नही। चूकि आकाश का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होकर अनुमान से होता है। वैशेषिकदर्शन मे मूल छह तत्त्व माने है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, कालान्तर मे इनके साथ 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड दिया गया है। इस तरह सात पदार्थ है। न्यायदर्शन ने सोलह पदार्थ माने हैं, वे ये हैं—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। साख्यदर्शन ने पच्चीस तत्त्व स्वीकार किये हैं। वे ये हैं—प्रकृति, महत्, अहकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पच महा-भूत और पुरुष। योगदर्शन साख्यसम्मत तत्त्वो को ही स्वीकार करता है। मीमासा-दर्शन वेदविहित कर्म को सत् और तत्त्व मानता है। वेदान्त दर्शन एकमात्र ब्रह्म को सत् मानता है और शेप सभी को असत् मानता है। बौद्धदर्शन ने चार आर्य सत्य स्वीकार किये है—(१) दुख, (२) दुख-समुदय (३) दुख-निरोध, (४) दुख-निरोध-मार्ग। जैनदर्शन मे तत्त्व की व्यवस्था दो प्रकार से की गई है—षट्द्रव्य रूप मे तथा सप्त-तत्त्व या नव पदार्थ के रूप मे। (द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ इन तीनो का एक ही अर्थ है।)

तत्त्व की परिभाषा

जैनदर्शन मे विभिन्न स्थलो पर और विभिन्न प्रसगो पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य—इन शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ मे किया गया है। अत ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रहे हैं। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे तत्त्वार्थ, सत् और द्रव्य शब्द का प्रयोग तत्त्व अर्थ मे किया है अत जैनदर्शन मे जो तत्त्व है वह सत् है और जो सत् है वह द्रव्य है। केवल शब्दो मे अन्तर है, भावो मे कोई अन्तर नही है। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है—द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। शेष सम्पूर्ण ससार इन दोनो का ही प्रपच है, विस्तार है।

---

१ पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। —बृहस्पति

सत् क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर बौद्धदर्शन इस प्रकार देता है—'यत् क्षणिक तत् सत्'—इस विश्व मे जो कुछ है वह सब क्षणिक है। बौद्ध दृष्टि से जो क्षणिक है वही सत् है, वही सत्य है। इसके विपरीत वेदान्तदर्शन का अभिमत है कि जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एव एकरूप है वही सत् है, शेप सभी कुछ मिथ्या है। बौद्धदर्शन इस प्रकार एकान्त क्षणिक-वादी है और वेदान्तदर्शन एकान्त नित्यतावादी है। दोनो दो किनारो पर खडे हैं। जैनदर्शन इन दोनो एकान्तवादो को अस्वीकार करता है। वह परिणामि-नित्यवाद को मानता है। सत् क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे जैनदर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-युक्त है वही सत् है, सत्य है, तत्त्व है और द्रव्य है। उत्पाद और व्यय के अभाव मे ध्रौव्य कदापि नही रह सकता और ध्रौव्य के अभाव मे उत्पाद और व्यय नही रहते। एक वस्तु मे एक समय मे उत्पाद भी हो रहा है, व्यय भी हो रहा है और ध्रुवत्व भी रहता है। विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है, इसलिए तत्त्व रूप से परिणामि-नित्य है किन्तु वह एकान्त नित्य और अनित्य नही है। हमे यहाँ पर अन्य दर्शनो के तत्त्वो के सम्बन्ध मे चिन्तन न कर केवल जैनदर्शन मे व्यवहृत तत्त्वो के सम्बन्ध मे ही विश्लेषण करना है।

तत्त्वो की सख्या

तत्त्व कितने हैं ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रन्थो ने विभिन्न रूप से दिया है। सक्षेप और विस्तार की दृष्टि से तत्त्व के प्रतिपादन की मुख्य रूप से तीन शैलियाँ है। एक शैली के अनुसार तत्त्व दो है—जीव और अजीव। दूसरी शैली के अनुसार तत्त्व सात है—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। तीसरी शैली के अनुसार तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष। दार्शनिक ग्रन्थो मे प्रथम और द्वितीय शैली मिलती है। आगमसाहित्य मे तृतीय शैली उपलब्ध होती है। भगवती[1] प्रज्ञापना[2], उत्तराध्ययन[3] आदि मे तत्त्वो की

१ अभिगम जीवाजीवा उवलद्ध पुण्णपावा आसव सवर णिज्जर किरियाहिगरण वन्ध मोक्ख कुसला। —भगवती

२ प्रज्ञापना

३ उत्तराध्ययन २८।१४

सख्या नौ बताई गई है किन्तु स्थानाङ्ग[1] आदि मे दो राशि का भी उल्लेख है—जीव-राशि, और अजीव-राशि। आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने द्रव्यसग्रह ग्रन्थ मे इसी आधार पर तत्त्व के दो भेद किये है—जीव और अजीव। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे पुण्य और पाप तत्त्व को आस्रव या बन्ध तत्त्व मे समावेश कर तत्त्वो की सख्या सात मानी है।[2] आचार्य मलयगिरि ने भी प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे उन्ही का अनुसरण किया है।[3]

तत्त्वो का क्रम

प्रश्न उद्भूत होता है कि नव तत्त्वो मे सर्व प्रथम जीव को ही क्यो स्थान दिया गया है ? उत्तर है कि उक्त तत्त्वो मे ज्ञाता, पुद्गल का उपभोक्ता, शुभ और अशुभ कर्म का कर्ता तथा ससार और मोक्ष के लिए योग्य प्रवृत्ति का विधाता जीव ही है। यदि जीव न हो तो पुद्गल का उपयोग क्या रहेगा ? एतदर्थ ही नव तत्त्वो मे जीव तत्त्व की प्रमुखता होने से उसे प्रथम स्थान दिया गया है। जीव की गति मे, अवस्थिति मे, अवगाहना मे और उपभोग आदि मे उपकारक अजीव तत्त्व है, अत जीव के पश्चात् अजीव का उल्लेख है। जीव और पुद्गल का सयोग ही ससार है। उस ससार के आस्रव और बन्ध ये दो कारण है अत अजीव के पश्चात आस्रव और बन्ध को स्थान दिया है। ससारी आत्मा को पुण्य से सुख का वेदन और पाप से दु ख का वेदन होता है, इस दृष्टि से पुण्य और पाप का स्थान कितने ही ग्रन्थो मे आस्रव और बन्ध के पूर्व रखा गया है और कितने ही ग्रन्थो मे उसके बाद मे रखा गया है। जीव और पुद्गल का वियोग मोक्ष है। सवर और निर्जरा उस मोक्ष का कारण हैं। कर्म की पूर्ण निर्जरा होने पर मोक्ष होता है अत सवर, निर्जरा और मोक्ष यह क्रम रखा गया है। कितने ही ग्रन्थो मे सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष यह क्रम है।

संक्षेप और विस्तार

अधिकारी की योग्यता को देखकर ही आचार्य किसी तत्त्व का सक्षेप और विस्तार करते हैं। यदि जिज्ञासु कुशाग्रबुद्धि है तो तत्त्व का प्रतिपादन

---

१ स्थानाङ्ग २
२ तत्त्वार्थ सूत्र १।४
३ प्रज्ञापना वृत्ति

सक्षेप मे किया जाता है और यदि जिज्ञासु मन्दबुद्धि है तो तत्त्व का कथन विस्तार से किया जाता है जिससे वह स्पष्ट रूप से समझ सके। सात तत्त्व का भी यदि सक्षेप करना चाहे तो जीव और अजीव इन दो तत्त्वो मे कर सकते है, क्योकि सात तत्त्व इन्ही के सयोग और वियोग से बने हैं। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ये चारो तत्त्व सयोगी है। सवर, निर्जरा, मोक्ष ये तीन तत्त्व वियोगी हैं। आत्म-प्रदेशो को आच्छादित करने वाले कर्म जिस क्रिया-विशेष से आते है वह आस्रव तत्त्व है। जहाँ आस्रव है वहाँ बन्ध भी है। कार्मण वर्गणा के पुद्गलो का राग-द्वेष रूपी कषाय से आत्मा के साथ बन्ध होता है। शुभ बन्ध पुण्य है और अशुभ बन्ध पाप है। इस प्रकार ये चारो तत्त्व जीव और अजीव के सयोग से बनते हैं, एतदर्थ सयोगी हैं। सवर का अर्थ है आस्रव के द्वारा जो कर्म प्रवाह आ रहा है उसे रोकना, कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध न होने देना। कार्मण वर्गणा के पुद्गलो का आशिक रूप से हटना निर्जरा है और सम्पूर्ण रूप से हटना मोक्ष है। इन तीनो का कार्य विजातीय तत्त्व को हटाना है एतदर्थ ये वियोगी तत्त्व है।

प्रश्न हो सकता है कि जब जीव और अजीव इन दो ही तत्त्वो से कार्य चल सकता है तब नौ तत्त्वो का विस्तार क्यो किया गया है ? उत्तर मे कहना है कि वस्तु को स्मरण रखने की दृष्टि से भले ही समासशैली उपयुक्त हो, परन्तु बोध के लिए तो व्यासशैली ही अधिक उपयुक्त है। यही कारण है कि शास्त्रकारो ने और उसके बाद के अनेक आचार्यों ने वही शैली अपनाई है। सस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी व गुजराती भाषा मे नव तत्त्व को लेकर अनेकानेक ग्रन्थो का निर्माण किया गया है।[1]

---

१ सस्कृत भाषा मे—

नवतत्त्व प्रकरण मूल,
नवतत्त्वविचार—श्री भवसागर
बृहन्नवतत्त्व
नवतत्त्वविचारसारोद्धार
नवतत्त्वसार प्रकरण—आचलिक श्री जयशेखरसूरि
नवतत्त्वसार
नवतत्त्वप्रकरण—श्री देवगुप्तसूरि
नवतत्त्वभाष्य—श्री अभयदेवसूरि

अध्यात्म दृष्टि से वर्गीकरण

अध्यात्म दृष्टि से तत्त्व तीन प्रकार के हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय। जो जानने योग्य है वह ज्ञेय है, जो छोडने योग्य है वह हेय है, जो ग्रहण करने योग्य है वह उपादेय है। जीव और अजीव ये दोनो ज्ञेय हैं। जो साधक अध्यात्म भाव की साधना करता है उस साधक के लिए जीव और अजीव इन दोनो का ज्ञान आवश्यक है। यदि वह जीव और अजीव को नही समझता तो सयम को कैसे समझेगा ? साधक के लिए बन्ध रूप ससार हेय है और मोक्ष उपादेय है। इसलिए मोक्ष के कारण सवर और निर्जरा भी उपादेय है और ससार के कारण आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध हेय हैं। यहाँ पर पुण्य के सम्बन्ध मे यह समझना आवश्यक है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियमत ससार का कारण नही होता। छद्मस्थ अवस्था मे रत्नत्रय धर्म के साथ पुण्य का अविनाभावी सम्बन्ध है। नीचे की भूमिका मे प्रशस्त राग अर्थात अपने से विशिष्ट गुण प्रधान निर्ग्रन्थ मुनियो, अरिहत देव *और उनकी वाणी का अवलम्बन रहता है अत धर्मानुराग होता है।*

प्राकृत भाषा मे—

नवतत्त्व बालावबोध—हर्षवर्धन गणि
नवतत्त्व बालावबोध—श्री पार्श्वचन्द्र
नवतत्त्व बालावबोध—(कुलक)

गुजराती भाषा मे—

नवतत्त्व रास—श्री ऋषभदास
" " श्री भवसागर
" " श्री सौभाग्य सुन्दर
नवतत्त्व जोड—श्री विजयदान सूरि
नवतत्त्व स्तवन—श्री भाग्यविजय जी
" " विवेक विजय जी
नवतत्त्व चौपाई—श्री कमल शेखर
" " श्री सौभाग्य सुन्दर
" " श्री वर्धमान मुनि
" " श्री लुपक मुनि

इनके अतिरिक्त भी अनेक ग्रन्थ हैं। विस्तार भय से उन सभी के नाम यहाँ पर नही दिये हैं।
—लेखक

वह अवलम्बन रूप लाघव उपादेय है। साराश यह है कि एकान्त दृष्टि से पुण्य हेय ही हो यह बात नही है किन्तु वह हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनो है। चौदहवे गुणस्थानवर्ती साधक के लिए पुण्य हेय है, ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थानवर्ती के लिए पुण्य ज्ञेय है और अन्य गुणस्थानवर्तियो के लिए पुण्य उपादेय भी हो सकता है। इस प्रकार जीव और अजीव का ज्ञेय मे, आस्रव, बन्ध और पाप का हेय मे, सवर, निर्जरा और मोक्ष का उपादेय मे तथा पुण्य का हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनो मे अन्तर्भाव होता है।

रूपी और अरूपी

नव तत्त्वो मे जीव अरूपी है। मोक्ष भी अरूपी है। अजीव के पाँच भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है। पुद्गल की पर्याय-विशेष द्रव्य कर्मरूप, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप भी रूपी है। रूपी वह है जिसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हो। जिसमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श का अभाव हो वह अरूपी है।

जीव और अजीव

नव तत्त्वो मे कितने तत्त्व जीव हैं और कितने तत्त्व अजीव है? इस प्रश्न के समाधान मे कहा गया है कि जीव तो जीव है ही किन्तु जीव की अवस्था विशेष सवर, निर्जरा और मोक्ष भी जीव है। अजीव, अजीव है किन्तु अजीव की अवस्था विशेष आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप भी अजीव ही हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल भी अजीव है।

द्रव्य दृष्टि से विभाग

जैनदर्शन मे तत्त्वो का विभाग दो प्रकार से मिलता है—तत्त्व दृष्टि से और द्रव्य दृष्टि से। तत्त्व दृष्टि से जो विभाग होता है उसका वर्णन कर चुके है। द्रव्य दृष्टि से विभाग इस प्रकार हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव द्रव्य का एक भेद और अजीव द्रव्य के धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच भेद हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश के साथ जब अस्तिकाय शब्द का प्रयोग करते है तब जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय कहते हैं। अस्तिकाय का अर्थ प्रदेशो का समूह है। छह द्रव्यो मे काल प्रदेशसमूह रूप नही है अत काल द्रव्य के साथ अस्तिकाय शब्द का प्रयोग नही किया गया है।

द्रव्य और भाव

किसी भी वस्तु के स्वरूप को समझने की दृष्टि से उसे द्रव्य और भाव रूप दो भागो मे विभक्त किया जाता है। द्रव्य का अर्थ वस्तु का मूल स्वरूप है और भाव का अर्थ है उसकी पर्याय विशेष। द्रव्य और भाव का एक अन्य दृष्टि से भी अर्थ करते है, वह इस प्रकार है—द्रव्य का अर्थ पौद्-गलिक वस्तु और भाव का अर्थ है आत्मिक परिणाम। द्रव्य और भाव की दृष्टि से नव तत्वो को इस प्रकार घटाते हैं—

द्रव्य जीव क्या है ? अनादिकालीन जीवरूप अखण्ड तत्त्व। भाव जीव क्या है ? जीव के प्रतिपल-प्रतिक्षण होने वाले विविध परिणमन अर्थात पर्याय। इसी तरह अनादिकालीन धर्म, अधर्म, आकाश, आदि द्रव्य अजीव हैं और उसकी पर्यायें भाव-अजीव हैं। द्रव्य पुण्य है शुभ कर्म के पुद्गल और भाव पुण्य है—पुण्य वन्ध के कारणभूत आत्मा के दान रूप आदि शुभ परिणाम। द्रव्य पाप हैं अशुभ कर्म के पुद्गल, भाव पाप है पाप वन्ध के कारणभूत आत्मा के परपीडन रूप अशुभ परिणाम। द्रव्य आस्रव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से कर्म पुद्गलो का आस्रवण। भाव आस्रव है—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग रूप आत्मा का परिणाम। द्रव्य सवर है—आस्रव का निरोध करने के लिए किये जाने वाले व्रत, समिति, गुप्ति के आचरण से पुद्गल रूप द्रव्य कर्मो का निरोध। भाव सवर है—आस्रव का निरोध करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम। द्रव्य निर्जरा है—विपाक, तप के द्वारा बद्ध कर्मो का आशिक क्षय होना। भाव निर्जरा है, निर्जरा करने वाले आत्मा के शुद्ध परिणाम। द्रव्य वन्ध है—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध, भाव वन्ध है आत्मा का राग-द्वेष रूप परिणाम। द्रव्य मोक्ष है—बद्ध कर्म का सर्वथा क्षय होना। भाव मोक्ष है—आत्मा का अपने शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन और निर्विकार स्वरूप मे रमण करना। □

□ आत्मवाद : एक पर्यवेक्षण

- ○ विविध विचार
- ○ देह आत्मवाद
- ○ मनोमय आत्मा
- ○ प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा
- ○ चिदात्मा
- ○ अ-वैदिक परम्परा
- ○ जन्मान्तरवाद
- ○ जैनदृष्टि से जीव का स्वरूप
- ○ जैनदृष्टि के साथ साख्य-योग की तुलना
- ○ न्याय-वैशेषिकदर्शन के साथ तुलना
- ○ बौद्धदृष्टि से जीव का स्वरूप
  - पुद्गल नैरात्म्यवाद
  - पुद्गलास्तिवाद
  - त्रैकालिक धर्मवाद और वर्तमानिक धर्मवाद
  - धर्मनैरात्म्य, निःस्वभाव या शून्यवाद
  - विज्ञप्ति मात्रतावाद

- औपनिषद् विचारधारा
  - प्रतिबिम्बवाद
  - अवच्छेदवाद
  - ब्रह्मजीववाद
- आत्मा का परिमाण
- जीव का लक्षण
- जीव के दो प्रकार
- शरीर और आत्मा
- विचारों का शरीर पर प्रभाव
- आत्मा और शरीर का सम्बन्ध
- आधुनिक विज्ञान और आत्मा
- चेतना का पूर्वरूप क्या है ?
- क्या इन्द्रियाँ और मस्तिष्क आत्मा है ?
- आत्मा के असख्यात प्रदेश
- आत्मा पर वैज्ञानिको के विचार
- आत्मा की ससिद्धि
- जीव विभाग
- ससारी और मुक्त

आत्मवाद : एक पर्यवेक्षण

विविध-विचार

आत्मा के सम्बन्ध मे सूत्रकृताङ्ग[1] मे विविध विचारधाराओ का दिग्दर्शन कराया गया है। कितने ही दार्शनिक इस जगत के मूल मे पाँच महाभूतो की सत्ता मानते थे । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश के सम्मिलन से ही आत्मा नामक तत्त्व की निष्पत्ति होती है।[2] बौद्ध साहित्य मे भी इसी प्रकार के दार्शनिको का उल्लेख है जो चार तत्त्वो से आत्मा की चेतना की उत्पत्ति मानते थे।[3] ऋग्वेद का ऋषि, जो आत्मा के सम्बन्ध मे विचार करते-करते विचारो की भूलभुलैया मे खो जाता है और फिर पुकार उठता है 'मैं कौन हूँ' यह भी मुझे मालूम नही है।[4] दार्शनिक चिन्तन की इस उलझन मे कभी पुरुष को, कभी प्रकृति को, कभी आत्मा को, कभी प्राण को, कभी मन को आत्मा के रूप मे देखा गया फिर भी चिन्तन को समाधान प्राप्त नही हुआ और वह आत्म-विचारणा के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढता रहा।

देह-आत्मवाद

ऐतिहासिक दृष्टि से भूतचैतन्यवाद प्राचीन है। उपनिषद् साहित्य मे, जैन आगम और बौद्धपिटको मे इसका निर्देश पूर्वपक्ष के रूप मे किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे विश्व के मूल कारण की जिज्ञासा व्यक्त करते हुए भूतो का एक कारण के रूप मे निर्देश किया है।[5] बृहदारण्यक मे 'विज्ञान-

---

१ सूत्रकृताङ्ग १।१।१—७—८

२ सति पच महब्भूया इहमगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ व वाउ आगास पचया ।

—सूत्र० १।१।१।७

३ ब्रह्मजालसुत्त

४ न वा जानामि यदिव इदव इदमस्मि

—ऋग्वेद १।१६४।३७

५ श्वेताश्वतरोपनिषद् १।२

घन चैतन्य का भूतो मे से उत्थित होकर उसमे विलीन होने का निर्देश है और साथ ही 'न प्रेत्यसज्ञाऽस्ति' भी कहा है।[1] भूतचैतन्यवाद परक प्रस्तुत उल्लेख केवल जैन-साहित्य[2] मे ही नही है अपितु जयन्त जैसे समर्थ नैयायिको ने भी इसका चार्वाक के रूप मे निर्देश किया है।[3] सूत्रकृताङ्ग मे ऐसे मत का उल्लेख किया गया है जिसका यह मन्तव्य था कि पाँच भूतो मे से जीव पैदा होता है।[4] दीघनिकाय मे अजितकेशकम्बली के मत का वर्णन है, जो यह मानता था कि चार भूतो मे से पुरुष उत्पन्न होता है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि उस समय एक ऐसा मत भी था जो चैतन्य या जीव को मात्र भूतो का परिणाम या कार्य मानता था। अत इस मत को लोकायत" कह कर उसके प्रति गर्हा व्यक्त की गई।

जैसे चार या पाँच भूतो के सघात से चैतन्य की उत्पत्ति मानने वाले भूत 'चैतन्यवादी' मत का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है वैसे ही उस मत से मिलता-जुलता 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का भी उल्लेख मिलता है। उपनिषद् साहित्य मे 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का उल्लेख शब्द रूप मे नही हुआ है पर सूत्रकृताङ्ग[6] विशेषावश्यक भाष्य[7] एव मज्झिमनिकाय[8] आदि मे हुआ है।

पण्डित सुखलाल जी आदि विद्वानो का अभिमत है "भूतचैतन्यवाद और तज्जीव तच्छरीरवाद ये दोनो मत पृथक्-पृथक् होने चाहिए। चूकि यदि वे किसी भी अर्थ मे भिन्न नही होते तो इतने प्राचीनकाल मे इन दोनो

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१२

२ विशेपावश्यक भाष्य गा० १५५३

३ न्यायमजरी—विजयनगरम् सिरीज पृ० ४७२

४ सूत्रकृताङ्ग १।१।१७—८

५ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

६ (क) इति पढमे पुरिसजाए तज्जीवतच्छरीरए त्ति आहिए।

—सूत्रकृताङ्ग २।।९

(ख) दोच्चे पुरिसजाए पञ्चमहब्भूइए ति आहिए।

—वही २। ।१०

(ग) सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति गा० ३०

७ विशेषावश्यक भाष्य—वायुभूति की शका

८ मज्झिमनिकाय—चूलमालुक्यसुत्त

मतो का भिन्न रूप से कैसे उल्लेख होता ?[1] तज्जीव-तच्छरीरवाद जीव और शरीर को एक मानता था। तथागत बुद्ध ने अव्याकृत प्रश्नो मे इसको भी गिना है। सूत्रकृताङ्ग मे इस मत की विचारधारा का उल्लेख इस प्रकार किया है "जैसे कोई मानव म्यान मे से तलवार पृथक् करके दिखाता है, हथेली मे आँवला लेकर दिखाता है, दही मे से मक्खन और तिल मे से तेल अलग निकाल कर बताता है वैसे ही जीव और शरीर को सर्वथा भिन्न मानने वाले शरीर से जीव को सर्वथा पृथक् करके नही बता सकते। अत शरीर और जीव पृथक्-पृथक् नही हैं।"[2]

ये दोनो विचारधाराएँ प्राचीन ग्रन्थो मे आज भी निहारी जा सकती है 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि'[3] प्रस्तुत सूत्र मे चार तत्त्वो का निर्देश करके 'तेभ्यश्चैतन्यम्'[4] इस सूत्र से चातुर्भौतिक चैतन्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त मिलता है। यह जीव की स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास नही करता अपितु भौतिक तत्त्वो के विशिष्ट सयोग से आत्मा की उत्पत्ति मानता है। जैसे नाना द्रव्यो के सयोग से मादकता उत्पन्न होती है वैसे ही भूतो के विशिष्ट मेल से चैतन्य उत्पन्न होता है। भारत मे चार्वाक और पश्चिम मे थेलिस, एनाक्सिमॉडर, एनाक्सिमीनेस आदि एक जडवादी (Monistic Materialists) तथा डेमोक्रेटस आदि अनेक जडवादी (Pluralistic Materialists) इसी मान्यता के पक्षपाती है। तत्त्वसग्रह ग्रन्थ मे 'कम्बलाश्वतर' की विचारधारा 'कायादेव चैतन्यम्' का वर्णन है। तत्त्वसग्रह ग्रन्थ के अभिमतानुसार 'तज्जीवतच्छरीरवाद' के जनक कम्बलाश्वतर रहे है। दीघनिकाय मे भूतवादी के रूप मे अजितकेसकम्बली का नाम आया है, दोनो के नामो मे कम्बल तो है ही, सम्भव है दोनो एक ही रहे हो।

बौद्ध साहित्य के दीघनिकाय नामक ग्रन्थ का एक विभाग 'पायासी सुत्त' है। जैन साहित्य मे राजप्रश्नीय सूत्र हैं। दोनो मे प्राय एक सदृश वर्णन हैं कि राजा पायासी या प्रदेशी जीव और शरीर को पृथक् नही मानता था, उसने अपने मन्तव्यो को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रयास

---

१ भारतीय तत्त्वविद्या पृ० ७७

२ सूत्रकृताङ्ग पुण्डरीक अध्ययन

३ तत्त्वोपप्लवसिंह पृ० १

४ तत्वसग्रहपजिका पृ० २०५

किये। उसने मरने वालो से भी कहा कि तुम यहाँ से मरकर जहाँ पर जाओ वहाँ से आकर पुन हमे समाचार देना। जब कोई भी उन्हे समाचार देने नही आए तो उसे यह निष्ठा हो गई कि शरीर से भिन्न आत्मा नही है। उसने प्रयोग करके भी देखा कि शरीर से पृथक् आत्मा है या नही ? किसी को पेटी मे बन्द करके देखा कि जीव किस प्रकार बाहर निकलता है, पर पेटी मे किसी भी प्रकार का छेद नही हुआ, मुर्दे का वजन कम नही हुआ। प्रत्येक शरीर के अङ्गोपाङ्ग का छेदन करके भी देखा पर आत्मा के दर्शन उसे नही हुए। एक युवक अनेक वाण एक साथ चला सकता है पर बालक नही चला सकता, अत शक्ति आत्मा की नही, अपितु शरीर की हैं, अत शरीर के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता हैं।"

राजा प्रदेशी के इन परीक्षणो से व युक्तियो से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह आत्मा को भूतो का विषय मानकर उसकी अन्वेषणा कर रहा था। उसके दादा भी इसी विचारधारा के थे। इस बात का समर्थन उप-*निषदो से भी होता है, वहाँ पर आत्मा को अन्नमय कहा है।*[1]

छान्दोग्योपनिषद मे एक कथा है कि असुरो मे वैरोचन के अन्तर्मानस मे और देवो मे इन्द्र के अन्तर्मानस मे आत्म-विज्ञान की जिज्ञासा जाग्रत हुई। वे दोनो प्रजापति के पास पहुँचे और अपने हृदय की बात उनके सामने प्रस्तुत की। प्रजापति ने पानी के एक पात्र मे मुँह दिखाते हुए पूछा—तुम्हे इसमे क्या दिखाई देता है ? दोनो ने एक स्वर से कहा—हमारा सम्पूर्ण शरीर इसमे दिखाई दे रहा है।

प्रजापति ने कहा—वही आत्मा है। वैरोचन को वह वात जँच गई और उन्होने इस वात का प्रचार किया कि देह ही आत्मा है।[2]

प्राणमय-आत्मा

इन्द्र को इससे समाधान नही हुआ, वे आत्मा के सम्वन्ध मे गहराई से चिन्तन करने लगे होंगे। इन्द्र ही नही अन्य चिन्तको के मन मे भी यह प्रश्न कचोट रहा होगा उससे सम्भव है उस समय उनका ध्यान प्राणशक्ति की ओर केन्द्रित हुआ होगा और उन्हे यह अनुभव हुआ होगा कि नींद मे

---

१ तैत्तिरीय ०२।१।२
२ छान्दोग्योपनिषद ६।६

जब होते हैं उस समय सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य छोड देती हैं किन्तु श्वासोच्छ्वास उस समय भी चलता है, मृत्यु के पश्चात श्वासोच्छ्वास के दर्शन नही होते, अत प्राण ही आत्मा है। प्राण को ही जीवन की समस्त क्रिया का कारण माना।[१] छान्दोग्योपनिषद् मे कहा गया कि इस विश्व मे जो कुछ भी हैं वह प्राण है।[२] वृहदारण्यक मे प्राणो को ही देवो का भी देव कहा है।[३]

नागसेन ने मिलिन्दप्रश्न मे प्राण (वायु) को आत्मा मानने का खण्डन किया है।

शरीर मे इन्द्रियो का स्थान प्रमुख है। सम्भव है कुछ लोग इन्द्रियो को ही आत्मा मानते रहे हो। यही कारण है कि दार्शनिक टीकाकारो ने इन्द्रियात्मवादियो का खण्डन किया है।[४] वृहदारण्यक मे कहा गया है—मृत्यु मे सभी इन्द्रियाँ थक जाती है परन्तु इन्द्रियो के बीच मे रहने वाले प्राण को किञ्चित् भी हानि नही होती, अत इन्द्रियो ने प्राण के रूप को ग्रहण किया अत इन्द्रियो को भी प्राण कहते हैं।[५]

जैन आगम साहित्य मे दस प्राणो का उल्लेख है, उनमे इन्द्रियाँ भी सम्मिलित हैं।

साख्य-सम्मत वैकृतिक बध पर विश्लेषण करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्द्रियो को पुरुष मानने का उल्लेख किया है। वह भी इन्द्रियात्मवादियो के सम्बन्ध मे समझना चाहिए।[६]

इस प्रकार कितने ही आत्मा को देह रूप मे, कितने ही भूतात्मक रूप मे, कितने ही प्राण रूप मे और कितने ही इन्द्रिय रूप मे मानते रहे। इन सभी मे आत्मा का भौतिक रूप ही सामने आता है।

मनोमय-आत्मा

इन्द्रियाँ भी मन के अभाव मे कार्य नही कर सकती। शरीर प्रसुप्त

---

१ तैत्तिरीय० २।२।३।, कौषीतकी० ३।२
२ छान्दोग्य० ३।१५।४
३ वृहदारण्यक० १।५।२१
४ आत्ममीमासा पृ० १३—प० दलसुख मालवणिया
५ वृहदारण्यक० १।५।२१
६ साख्यकारिका ४४

पड़ा हुआ हो तो भी मन इधर से उधर घूमता रहता है अत इन्द्रियो से आगे मन को आत्मा माना गया। पण्डित दलसुख मालवणिया[१] का अभिमत है कि पहले प्राणमय आत्मा की कल्पना की गई, उसके पश्चात् मनोमय आत्मा की कल्पना की गई। इन्द्रियो और प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। मन भौतिक है या अभौतिक, इस सम्वन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है। कितने ही दार्शनिको ने मन को अभौतिक माना है। न्याय[२]–वैशेपिक[३] मन को अणु रूप मानते है, और पृथ्वी आदि भूतो से उसको विलक्षण मानते हैं। साख्यदर्शन मानता है कि भूतो की उत्पत्ति होने से पहले ही प्राकृतिक अहकार से मन उत्पन्न होता है। एतदर्थ वह भूतो की अपेक्षा सूक्ष्म है। वैभाषिक बौद्धो ने पुन मन को विज्ञान का समानान्तर कारण माना है इसलिए मन विज्ञान रूप है।[४]

न्यायदर्शनकार[५] ने मन को आत्मा माना है। उसका तर्क है कि जिन कारणो से आत्मा को देह से भिन्न सिद्ध किया जाता है उनसे वह मनोमय ही सिद्ध होती है। मन सर्वग्राही है। सभी इन्द्रियाँ जिन विपयो को ग्रहण करती हैं उन सभी विपयो को मन ग्रहण करता है। इसलिए मन को आत्मा मानना चाहिए। मन से पृथक आत्मा को मानने की आवश्यकता नही है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे 'अन्योन्तरात्मा मनोमय'[६] कहा है अर्थात् मन ही आत्मा है।

वृहदारण्यक मे 'मन क्या है?' इस प्रश्न पर विविध दृष्टियो से चिन्तन किया है।[७] वहाँ पर मन को परम ब्रह्म सम्राट् भी कहा है।[८] मन को छान्दोग्योपनिषद् मे ब्रह्म कहा है।[९] तेजोविन्दु उपनिपद् मे तो यहाँ तक

---

१ आत्ममीमासा पृ० १५
२ न्यायसूत्र ३।२।६१
३ वैशेपिक सूत्र ७।१।२३
४ षण्णामनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन । —अभिधर्मकोप १।१७
५ (क) न्यायसूत्र ३।१।१६
(ख) न्यायवार्तिक पृ० ३३६
६ तैत्तिरीय उपनिपद् २।३
७ वृहदारण्यक० १।५।३
८ वृहदारण्यक० ४।१।६
९ छान्दोग्योपनिपद् ७।३।१

कहा है 'मन ही सम्पूर्ण जगत् है, मन विराट् शत्रु है, मन से ही नाना दु ख होते है, मन ही काल है, मन ही सकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहकार है, मन ही अन्त करण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही अग्नि है, मन ही पवन है, मन ही आकाश है, मन ही शब्द है, स्पर्श है, रूप, रस, गध और पाँच कोष मन से पैदा हुए है। जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति इत्यादि मनोमय है, दिक्पाल, वसु रुद्र, आदित्य आदि भी मनोमय है।[1] इस प्रकार मन के कारण ही विश्व-प्रपच है, यह बताया गया है।

प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा

जब चिन्तको का चिन्तन मन के पश्चात् आगे बढा तो उन्होने प्रज्ञा को आत्मा कहा। इन्द्रियाँ और मन ये दोनो प्रज्ञा के अभाव मे अकिंचित्कर हैं। इन्द्रियाँ और मन की अपेक्षा प्रज्ञा का महत्त्व अधिक है।[2] तैत्तिरीय उपनिषद् मे इसका सूचन विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा का अन्तरात्मा कहा है।[3] ऐतरेय उपनिषद् मे प्रज्ञान ब्रह्म के जो पर्याय दिये गये है उनमे एक मन भी है।[4] प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक माना है[5] और प्रज्ञा के पर्याय के रूप मे विज्ञान शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[6]

विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये सभी शब्द एकार्थक हैं। इसी दृष्टि से आत्मा को विज्ञानात्मा, प्रज्ञात्मा, प्रज्ञानात्मा कहा गया है। हम पूर्व ही बता चुके है कि मन को कितने ही दार्शनिक भौतिक और कितने ही दार्शनिक अभौतिक मानते हैं किन्तु जब आत्मा को विज्ञान की सज्ञा मिली, उसके पश्चात् आत्म-चिन्तन के क्षेत्र मे एक नया परिवर्तन हुआ और आत्मा एक अभौतिक तत्त्व है, वह चेतन है, इसलिए इन्द्रियो के विषयो का नही किन्तु इन्द्रियो के विषयो के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ज्ञान करना चाहिए। मन का ज्ञान आवश्यक नही पर मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है। इन्द्रियादि साधनो से पर जो प्रज्ञात्मा है उसको जानना चाहिए।[7]

---

१ तेजोबिन्दु उपनिषद् ५।९८।१०४
२ कौषीतकी० ३।६।७
३ तैत्तिरीय उपनिषद् २।४
४ ऐतरेय० ३।२
५ ऐतरेय० ३।३
६ ऐतरेय० ३।२
७ कौषीतकी० ३।८

यह स्मरण रखना चाहिए कि कौषीतकी उपनिषद् मे समस्त इन्द्रियाँ और मन को प्रज्ञा मे प्रतिष्ठित किया गया। जैसे मानव सुप्त या मृतावस्था मे होता है उस समय इन्द्रियाँ प्राणरूप प्रज्ञा मे अन्तर्हित हो जाती है अत उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नही होता। जब मानव नीद से जागता है या फिर से जन्म लेता है तब जैसे चिनगारी से अग्नि प्रकट होती है वैसे ही प्रज्ञा से इन्द्रियाँ बाहर आती हैं[1] और मानव को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अश के सदृश हैं,[2] अत प्रज्ञा के अभाव मे वह कार्य नही कर सकती।[3] अत इन्द्रियाँ और मन से भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

कठोपनिषद्[4] मे एक के पश्चात् द्वितीय श्रेष्ठतर तत्त्वो की परिगणना की गई है। वहाँ पर मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त-प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्च माना गया। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नही है अपितु अचेतन प्रकृति का भी धर्म है। इस मत को देखते हुए विज्ञानात्मा की शोध पूर्ण होने पर आत्मा पूर्णत चेतन स्वरूप है यह सिद्ध हो गया। उसके पश्चात् आनन्द की पराकाष्ठा आत्मा मे है इसलिए आनन्दात्मा की भी कल्पना की गई।

चिदात्मा

चिन्तको ने आत्मा के सम्बन्ध मे अन्नमय आत्मा से लेकर आनन्दात्मा तक जो चिन्तन प्रस्तुत किया उसमे आत्मा के विविध आवरणो को आत्मा समझा गया किन्तु आत्मा के मूलस्वरूप की ओर उनकी दृष्टि नही गई। चिन्तन के चरण आगे बढे, शोध हुई, तब चिन्तको ने कहा—अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है। उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है।[5] आत्मा के अभाव मे शरीर कुछ भी नही कर सकता। शरीर का सचालक आत्मा है। शरीर और आत्मा ये दोनो

---

१ कौषीतकी० ३।२
२ कौषीतकी० ३।५
३ कौषीतकी० ३।७
४ कठोपनिषद् १।३।१०-११
५ (क) मैत्रेयी उपनिषद् २।३।४
(ख) कठोपनिषद् १।३।३

अलग-अलग तत्त्व है। प्रश्नोपनिषद् का अभिमत है कि प्राण का जन्म आत्मा से होता है। जैसे मानव की छाया का आधार स्वय मानव है वैसे ही प्राण आत्मा पर अवलम्बित है।[१] आत्मा और प्राण ये दोनो भी पृथक्-पृथक् है।

केनोपनिषद्कार का मन्तव्य है कि आत्मा इन्द्रिय और मन से भिन्न है।[२] इन्द्रियाँ और मन आत्मा के अभाव मे कुछ भी कार्य करने मे समर्थ नही हैं। जैसे विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है वैसे ही आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सद्रूप ब्रह्म है। इस प्रकार विज्ञान और आनन्द से भी अलग ब्रह्म की कल्पना की गई।[३]

ब्रह्म और आत्मा ये दोनो अलग-अलग तत्त्व नही है किन्तु एक ही तत्त्व के पृथक्-पृथक् नाम हैं।[४] इसी आत्मा को सम्पूर्ण तत्त्वो से अलग ऐसा पुरुष भी माना गया है और उसे सभी भूतो मे गूढात्मा भी कहा है।[५] कठोपनिषद्कार ने बुद्धि-विज्ञान को प्राकृत—जड बताया। सभव है इससे चिन्तको को जैसा चाहिए वैसा सन्तोष नही हुआ होगा और उन्होने आगे खोज प्रारम्भ की होगी और उसके फलस्वरूप ब्रह्म या चेतन-आत्मा की कल्पना की गई। इस प्रकार अभौतिक तत्त्व के रूप मे चिन्तको ने आत्मा का निश्चय किया।

यह हम पूर्व बता चुके है कि विज्ञानात्मा स्वत प्रकाशित नही है। वह सुप्तावस्था मे अचेतन हो जाता है किन्तु पर-पुरुष चेतन-आत्मा के सम्बन्ध मे यह नही है, वह तो स्वय-प्रकाशी है।[६] वह विज्ञान को भी जानने वाला है।[७] वृहदारण्यक मे सर्वान्तरात्मा के सम्बन्ध मे कहा है—वह साक्षात् है, अपरोक्ष है, वही प्राण को ग्रहण करने वाला है, वही आँख से देखने वाला है, वही कान से सुनने वाला है, वही मन से विचार करने वाला है, वही

---

१ प्रश्नोपनिषद् ३।३

२ केनोपनिषद् १।४।६

३ तैत्तिरीय० २।६

४ सर्वं ह्नि एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म —माण्डूक्य० २

५ कठोपनिषद् १।३।१०-१२

६ वृहदारण्यक० ४।३।६-६ विज्ञानात्मा व प्रज्ञानघन (वृहदारण्यक० ४।५।१३) आत्मा मे अन्तर है। प्रथम प्राकृत है और द्वितीय पुरुष चेतन है।

७ वृहदारण्यक० ३।७।२२

ज्ञान का जानने वाला है।[1] वही द्रष्टा है, श्रोता है, मनन करने वाला है, वही विज्ञाता है।[2] वह नित्य चिन्मात्र रूप है, सर्वप्रकाशरूप है, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप है।[3]

पहले चिन्तको ने भौतिक-तत्त्व को आत्मा माना और उसके पश्चात् उन्होने अभौतिक आत्मतत्त्व को स्वीकार किया। यह अभौतिक आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था, उसके सम्वन्ध मे अब गहराई से चिन्तन होना आवश्यक था। हम देखते है कि नचिकेता आत्मतत्त्व को जानने के लिये अत्यधिक उत्सुक है। उसे जानने के लिए स्वर्ग के रगीन मनमोहक सुखो को भी तिलाञ्जलि दे देता है।[4] मैत्रेयी आत्म-विद्या को जानने के लिए पति की विराट् सम्पत्ति को भी ठुकरा देती है।[5] याज्ञ-वल्क्य कहता है कि पति-पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सभी वस्तुएँ आत्मा के निमित्त से हैं अत आत्मा को देखना चाहिए, उसी का चिन्तन-मनन करना चाहिए।[6]

इस प्रकार आत्मा के सम्वन्ध मे जिन विविध विचारो का विकास हुआ उसका सकलन उपनिषद् साहित्य मे हुआ है। उपनिषदो की रचना के पूर्व अवैदिक परम्परा भारत मे विद्यमान थी और वह वहुत ही विकसित अवस्था मे थी। इतिहासवेत्ताओ का अभिमत है कि वैदिक परम्परा ने, अवैदिक जो श्रमण परम्परा भारत मे थी, उससे आध्यात्मिक-मार्ग को ग्रहण किया। पर उस समय का श्रमण परम्परा का साहित्य आज उपलब्ध नही है। अत उस पर समीक्षात्मक-दृष्टि से चिन्तन नही किया जा रहा है।

जन्मान्तरवाद

स्वतत्र जीववाद के पुरस्कर्त्ता अनेक समुदाय थे। जिन्होने अपनी-अपनी दृष्टि से इस वाद पर चिन्तन किया।

---

१ वृहदारण्यक० ३।४।१-२
२ वृहदारण्यक० ३।७।२३, ३।८।११
३ मैत्रेय्युपनिषद् ३।१६।२१
४ कठोपनिषद् १।१।२३-२६
५ वृहदारण्यक० २।४।३
६ वृहदारण्यक० ४।५।६

हम जो कर्म करते है उसका फल अवश्य ही मिलता है इस विचार ने जन्मान्तरवाद और परलोकवाद के अस्तित्व पर चिन्तन किया, पुन उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि शरीर विनष्ट होने के पश्चात् जो स्वतत्र जीव जन्मान्तर धारण करता है या परलोक मे जाता है उसका स्वरूप क्या है। प्रस्तुत देह को छोडकर देहान्तर धारण करने के लिए किस प्रकार जाता होगा ? सभी परम्पराओ ने अपनी-अपनी दृष्टि से इस पर चिन्तन किया और जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे अनेक विचारधाराएँ सामने आई।

जैन-दृष्टि से जीव का स्वरूप

पण्डित प्रवर श्री सुखलाल जी का मन्तव्य है कि स्वतत्र जीववादियो मे प्रथम स्थान जैन-परम्परा का है। उसके मुख्य दो कारण है। प्रथम कारण यह है कि जैन-परम्परा की जीव-विषयक विचारधारा सर्वसाधारण को बुद्धिग्राह्य लगती है। द्वितीय कारण यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान पार्श्व, जो ईस्वी पूर्व आठवी शती मे हुए है, उस समय तक जैन-परम्परा मे जीववाद की कल्पना सुस्थिर हो गई थी। जैन-परम्परा मे जीव और आत्मवाद की मान्यता जैसी भगवान पार्श्वनाथ के समय थी वैसी आज भी है। उसमे किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नही हुआ है किन्तु बौद्ध और वैदिक परम्परा मे समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है।

(१) जीव अनादि-निधन है, न उसकी आदि है और न अन्त ही है। वह अविनाशी है। अक्षय है। द्रव्य-दृष्टि से उसका स्वरूप तीनो कालो मे एक-सा रहता है इसलिए वह नित्य है और पर्याय-दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपो मे परिणत होता रहता है अत अनित्य है।

(२) ससारी जीव—दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गध—जिस प्रकार जीव-शरीर एक प्रतीत होते हैं पर पिजडे से पक्षी, म्यान से तलवार, घडे से शक्कर अलग है वैसे ही जीव शरीर से अलग है।

(३) शरीर के अनुसार जीव का सकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के विराट्काय शरीर मे होता है वही जीव चीटी के नन्हे शरीर मे उत्पन्न हो सकता है। सकोच और विस्तार दोनो ही अवस्थाओ मे उसकी प्रदेश सख्या न्यूनाधिक नही होती, समान ही रहती है।

(४) जिस प्रकार आकाश अमूर्त है तथापि वह अवगाहन गुण से जाना जाता है, उसी प्रकार जीव अमूर्त है तथापि वह विज्ञान गुण से जाना जाता है।

(५) जैसे काल अनादि है, अविनाशी है। वैसे जीव भी अनादि है, अविनाशी है।

(६) जैसे पृथ्वी सभी वस्तुओ का आधार है, वैसे जीव ज्ञान, दर्शन आदि का आधार है।

(७) जैसे आकाश तीनो कालो मे अक्षय, अनन्त और अतुल है वैसे ही जीव तीनो कालो मे अक्षय, अनन्त और अतुल है।

(८) जैसे सुवर्ण के हार, मुकुट, कुण्डल, अंगूठी प्रभृति अनेक रूप बनते हैं तथापि वह सुवर्ण ही रहता है केवल नाम और रूप मे अन्तर पडता है। वैसे ही चारो गतियो व चौरासी लक्ष जीव-योनियो मे परिभ्रमण करते हुए जीव की पर्यायें परिवर्तित होती हैं, रूप और नाम बदलते हैं किन्तु जीव द्रव्य हमेशा बना रहता है।

(९) जैसे दिन मे सहस्ररश्मि सूर्य यहाँ पर प्रकाश करता है तब दिखलाई देता है। रात्रि मे वह अन्य क्षेत्र मे चला जाता है, तब उसका प्रकाश दिखलाई नही देता है। वैसे ही वर्तमान शरीर मे रहा हुआ जीव दिखलाई देता है और उसे छोडकर दूसरे शरीर मे चला जाता है तब वह दिखलाई नही देता है।

(१०) केसर, कस्तूरी, कमल, केतकी आदि की सुगन्ध का रूप नेत्रो से नही दिखाई देता पर घ्राण के द्वारा उसका ग्रहण होता है वैसे ही जीव के दिखलाई नही देने पर भी उसका ग्रहण ज्ञान गुण के द्वारा होता है।

(११) वाद्य-यन्त्रो के शब्द सुने जाते है, किन्तु उनका रूप दिखाई नही देता वैसे ही जीव भले ही न दिखाई दे तब भी उसका ज्ञान गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

(१२) जैसे किसी के शरीर मे भूत-पिशाच प्रवेश कर जाता है पर वह दिखलाई नही देता है, तथापि शारीरिक चेष्टाओ के द्वारा यह जान लिया जाता है कि यह व्यक्ति भूत-पिशाच से अभिभूत है। वैसे ही शरीर मे रहे हुए जीव को हास्य, नृत्य, सुख-दु ख, बोलना-चालना आदि विविध चेष्टाओ से जाना जाता है।

(१३) हम जो भोजन करते है वह स्वत ही सप्त धातुओ मे परिणत हो जाता है वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल स्वत ही कर्मरूप मे परिणत हो जाते है।

(१४) जीव अनेकानेक शक्तियो का पुञ्ज है उसमे मुख्य शक्तियाँ ये है—ज्ञान-शक्ति वीर्य-शक्ति, सकल्प-शक्ति।[1]

(१५) जीव जिस प्रकार का विचार और व्यवहार करता है वैसा ही सस्कार उसमे गिरता है और उस सस्कार को धारण करने वाला एक सूक्ष्म पौद्गलिक शरीर भी उसके साथ निर्मित होता है, जो देहान्तर धारण करते समय भी साथ ही रहता है।[2]

(१६) जीव अमूर्त है, तथापि अपने द्वारा सचित मूर्त शरीर के योग से जब तक शरीर का अस्तित्व रहता है, तब तक मूर्त-जैसा वन जाता है।

(१७) सम्पूर्ण जीवराशि मे सहज योग्यता एक सदृश है, तथापि प्रत्येक का विकास एक सदृश नही होता। वह उसके पुरुषार्थ एव अन्य निमित्तो के वलावल पर अवलम्वित है।

(१८) लोक मे ऐसा कोई भी स्थान नही है जहाँ पर सूक्ष्म या स्थूल-शरीर जीवो का अस्तित्व न हो।

(१९) जिस प्रकार सोने और मिट्टी का सयोग अनादि है वैसे ही जीव और कर्म का सयोग भी अनादि है। अग्नि से तपाकर सोना मिट्टी से पृथक् किया जाता है वैसे ही जीव भी सवर-तपस्या आदि द्वारा कर्मो से पृथक् हो जाता है।

(२०) जैसे मुर्गी और अण्डे की परम्परा मे पौर्वापर्य नही है वैसे ही जीव और कर्म की परम्परा मे भी पौर्वापर्य नही है, दोनो अनादि काल से साथ-साथ हैं।

जैन-दृष्टि के साथ साख्य-योग की तुलना

उपर्युक्त पक्तियो मे जीवतत्त्व के सम्बन्ध मे जैन-दृष्टि को मान्यता दी गई, अव हम उसकी तुलना साख्ययोग सम्मत पुरुष, जीव या चेतन तत्त्व के साथ करेगे।[3]

---

१ उत्तराध्ययन० २८।११

२ तत्त्वार्थसूत्र २।२६

३ भारतीय तत्त्वविद्या पृ० ८१

(१) जैन-दृष्टि से जीव अनादि-निधन और चेतनरूप है वैसे ही साख्य-योग पुरुष तत्त्व को मानता है।[1]

(२) जैन-दृष्टि से जीव देह-परिमित है, सकोच-विस्तारशील है और द्रव्य-दृष्टि से परिणामिनित्य है। किन्तु साख्य-योग चेतनतत्त्व को कूटस्थ-नित्य और व्यापक मानता है अर्थात् चेतनतत्त्व मे किसी भी प्रकार का सकोच-विस्तार या द्रव्यदृष्टि से परिणामित्व नही मानता।

(३) जैन-दृष्टि से प्रत्येक शरीर मे जीव भिन्न-भिन्न है और अनन्त जीव हैं। साख्ययोग परम्परा भी इसी बात को स्वीकार करती है।[2]

(४) जैन-दृष्टि से जीवतत्त्व मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व वास्तविक है अत वह उसमे शुद्धता-अशुद्धता के रूप मे गुणो की न्यूनता या वृद्धि या परिणाम स्वीकार करती है। जबकि साख्य-योग-परम्परा वैसा नही मानती। वह चेतन मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व या गुण-गुणिभाव या धर्म-धर्मिभाव स्वीकार न करने के कारण किसी भी प्रकार के गुण या धर्म का सद्भाव अथवा परिणाम स्वीकार नही करती।[3]

(५) जैन-दृष्टि से शुभाशुभ विचार या अध्यवसाय के परिणाम-स्वरूप गिरने वाले सस्कारो को धारण करने वाला जीवतत्त्व मानकर उसके पास एक पौद्‌गलिक सूक्ष्म-शरीर मानता है। वही शरीर एक जन्म से दूसरे जन्म मे जीवतत्त्व को ले जाने का माध्यम है। वैसे ही साख्य-योग परम्परा मे स्वय चेतन अपरिणामी, अलिप्त, कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहित, और व्यापक मानने पर भी उसका पुनर्जन्म सिद्ध करने के लिए प्रतिपुरुष एक-एक सूक्ष्म शरीर की कल्पना की है। जैन-दृष्टि के समान वह सूक्ष्म शरीर कर्त्ता-भोक्ता है, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, प्रभृति गुणो का आश्रय और उनकी हानि-वृद्धि रूप परिणाम वाला है। साथ ही वह देह-परिमाण सकोच और विस्तारशील भी है। साराश यह है कि सहज चेतना-शक्ति के अतिरिक्त जितने भी धर्म, गुण या परिणाम जैन-दृष्टि सम्मत जीवतत्त्व मे

---

१ साख्यकारिका १०।१।१७
२ साख्यकारिका १८
३ साख्यकारिका १९-२०

माने जाते है, वे सभी साख्य-योग के बुद्धितत्त्व या लिग-शरीर मे माने जाते हैं ।[1]

(६) जैन-दृष्टि से जीव अमूर्त है किन्तु कार्मण आदि शरीरो के योग से वह मूर्त-सदृश बन जाता है किन्तु साख्य-योग चेतनतत्त्व को इतना अधिक एकान्त-दृष्टि से अमूर्त मानता है कि उसके निरन्तर सन्निधान मे रहने वाले अचेतन या मूर्त सूक्ष्म-शरीरगत मूर्तता की उस पर वस्तुत कोई प्रतिच्छाया नही गिरती किन्तु उस निर्मल बुद्धितत्त्व मे पुरुप की, और पुरुष मे बुद्धिगत धर्मो की जो प्रतिच्छाया सनिधान के कारण मानी जाती है वह वास्तविक नही अपितु आरोपित और व्यावहारिक है। जैसे आकाश मे किसी चित्र की वास्तविक छाप नही गिरती तथापि वह दिखलाई देती है वैसी ही छाप यह भी है।[2]

(७) जैन-दृष्टि से जीव अनेक शक्तियो का पुञ्ज है उसमे ज्ञान, वीर्य और सकल्प-शक्ति प्रमुख हैं, पर साख्य-योग ये शक्तियाँ चेतन मे न मानकर सूक्ष्म शरीर रूप जो बुद्धितत्त्व हैं उसमे मानता है।[3]

(८) जैन-दृष्टि से सभी जीवो मे समान शक्ति है परन्तु पुरुषार्थ और उसके निमित्त से उसका विकास माना है। उसी प्रकार साख्य-योग परम्परा मे सूक्ष्म या बुद्धितत्त्व को लेकर यह सभी घटाया है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो सभी बुद्धितत्त्व यद्यपि समान योग्यता वाले है तथापि उनका विकास तो विवेक, पुरुषार्थ और अन्य निमित्तो के बलाबल पर आधृत है।

न्याय-वैशेषिकदर्शन के साथ तुलना

जैन और साख्य-योग के समान न्याय-वैशेषिकदर्शन भी स्वतन्त्र जीववादी है किन्तु उनकी जीव की व्याख्या स्वतन्त्र है। न्याय-वैशेषिक दर्शन साख्य-योग के समान शरीर-भेद से भिन्न[4] ऐसे अनन्त एव अनादि-निधन जीवद्रव्य को मानता है तथापि जैनदर्शन के समान मध्यम परिमाण

---

१ (क) साख्यकारिका ४०
(ख) भारतीय तत्त्वविद्या पृ० ८३
२ साख्यकारिका ६२
३ साख्यकारिका ४०
४ वैशेषिकदर्शन ३।२।२०, ३।२।२१

न मानकर साख्य-योगदर्शन के सदृश सर्वव्यापी मानता है ।[1] मध्यमपरिमाण या सकोच-विस्तारशीलता न मानने से साख्य-योगदर्शन के समान द्रव्यदृष्टि से जीव को कूटस्थनित्य[2] मानता है । तथापि न्याय-वैशेषिक-दर्शन गुण-गुणि या धर्म-धर्मिभाव के सम्बन्ध मे साख्य-योगदर्शन से पृथक् होकर कुछ अशो मे जैनदर्शन के साथ साम्य रखता है । साख्य-योगदशन चेतना को निरश और किसी भी प्रकार के गुण या धर्म के सम्वन्ध से रहित मानते है तो न्याय-वैशेषिकदर्शन जीवतत्त्व को जैनदर्शन के समान अनेक गुणो या धर्मो का आश्रय मानता है ।[3] ऐसा होने के बावजूद भी वह जैनदर्शन के चिन्तन से भी भिन्न तो पडता ही है। जैनदर्शन ने जीव को अनेक शक्तियो का पुञ्ज माना है, किन्तु न्याय-वैशेषिक-दर्शन जीवतत्त्व मे ऐसी कोई चेतना शक्ति स्वीकार नही करता तथापि उसमे ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि गुण मानता है । इन गुणो का सम्बन्ध शरीर के अस्तित्व तक रहता है । ये पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं । न्याय-वैशेषिकदर्शन ने जिन गुणो की परिकल्पना की है वे गुण जैनदर्शन के आत्म-गुणो के साथ मिलते-जुलते है । तथापि दोनो ही दर्शनो मे मौलिक अन्तर यह है कि जैनदर्शन मुक्त अवस्था मे भी जीव मे सहज चेतना, आनन्द, वीर्य, ज्ञान आदि गुण मानता है, जवकि न्याय-वैशेषिकदर्शन के अभिमतानुसार जीवतत्त्व मे विदेहमुक्ति के समय वैसे किसी शुद्ध या अशुद्ध, क्षणिक या स्थायी ज्ञान आदि गुण का सद्भाव ही नही है ।[4] चूंकि वह मूल मे ही जीवद्रव्य मे साहजिक चेतना आदि शक्तियाँ नही मानता ।

---

१ विभावान्महानाकाशस्तथा चात्मा

—वैशेषिक दर्शन ७।१।२२

२ अनाश्रितत्त्वनित्यत्वे चान्यत्रावयविद्रव्येभ्य ।

—प्रशस्तपादभाष्य, द्रव्यसाधर्म्य प्रकरण

३ (क) वैशेषिकदशन ३।२।४, ५।२।५, ६।३।६
(ख) प्रशस्तपाद भाष्यगत आत्म-निरूपण

४ (क) न्यायभाष्य १।१।२२
(ख) गणधरवाद की प्रस्तावना पृ० १०५ दलसुख मालवणिया
(ग) भारतीय तत्त्वविद्या पृ० ८६ प० सुखलालजी

न्याय-वैशेषिकदर्शन साख्य-योगदर्शन के साथ किसी वात मे मिलता है तो अन्य बातो से वह पृथक् भी पड जाता है। साख्य-दर्शन चेतन को केवल निरश एव कूटस्थनित्य स्वय-प्रकाशी चेतना रूप मानता है इसलिए वह जैसे उसे ससार-दशा मे किसी भी प्रकार के ज्ञानादि गुणो के सम्वन्ध से रहित मानता है वैसे ही मुक्ति-दशा मे भी मानता है। जवकि न्याय-वैशेषिकदर्शन जीवतत्त्व को सहज चेतन रूप नही मानता और पुन सशरीर दशा मे ज्ञान आदि गुणवाला मानता है किन्तु मुक्त-अवस्था मे वैसे गुणो का अस्तित्व न रहने से वह जीवद्रव्य एक दृष्टि से साख्य-दर्शन के चेतन सदृश निर्गुण हो जाता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो मुक्ति-दशा मे वह सम्पूर्ण रूप से उत्पाद-विनाशशील गुणो से रहित होने से साख्य-योगदर्शन के समान निर्गुण द्रव्य हो जाता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन के अभिमतानुसार मुक्तजीव आकाश-कल्प बन जाता है। इसमे अन्तर इतना ही है कि आकाश अमूर्त होने पर भी भौतिक माना गया है जबकि जीवद्रव्य अमूर्त और अभौतिक है। सहज चेतना और ज्ञान आदि गुण या पर्यायो के अभाव की दृष्टि से मुक्त जीवतत्त्व मे और आकाशतत्त्व मे किञ्चित् मात्र भी अन्तर नही है। आकाश एक द्रव्य है तो मुक्तजीव अनन्त है। यह सख्याकृत अन्तर है इसके अतिरिक्त कोई अन्य अन्तर नही है।

न्याय और वैशेषिकदर्शन जैन व साख्य-योगदर्शन के साथ कितनी ही वातो मे विलक्षण साम्य भी रखता है और वैषम्य भी रखता है। जैन-दर्शन जीवतत्त्व मे स्वाभाविक कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानता है[1] तो न्याय-वैशेषिकदर्शन भी ऐसा ही मानता है किन्तु जैनदर्शन का कर्तृत्व व भोक्तृत्व मुक्त-दशा मे भी रहता है जवकि न्याय-वैशेषिकदर्शन वैसा नही मानता। शरीर रहे वहाँ तक ज्ञान, इच्छा प्रभृति गुणो का उत्पाद-विनाश होता रहता है और साथ ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी रहता है[2] किंतु मुक्त दशा मे किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व शेष नही रहता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन साख्य-योगदर्शन की कल्पना के साथ मिलता है।

---

१ सन्मति तर्क ३।५५

२ न्यायवार्तिक ३।१।६

न्याय-वैशेषिक दर्शन के मन्तव्यानुसार जीवतत्त्व मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी भिन्न प्रकार का है। वह जीव को कूटस्थनित्य मानता है अत सहज-रूप से किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व घटाया नही जा सकता। तथापि उन्होने कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुणो के उत्पाद-विनाश को लेकर घटाया है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है जव ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, आदि गुण होते है तव जीव कर्त्ता और भोक्ता है परन्तु इन गुणो का सर्वथा अभाव होने पर मुक्ति-दशा मे किसी भी प्रकार का साक्षात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व नही रहता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की भाँति जीव मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने पर भी जीवतत्त्व को कूटस्थनित्य घटा सकता है क्योकि उसके विचारानुसार गुण जीवतत्त्व रूप आधार से सर्वथा भिन्न है। एतदर्थ गुणो का उत्पाद-विनाश होता हो, तव भी गुण-गुणी की भेददृष्टि के कारण वह अपनी दृष्टि से कूटस्थनित्यता घटा लेता है। साख्य-योग-दर्शन ने चेतन मे किसी भी प्रकार के गुणो का अस्तित्व ही स्वीकार नही किया है। जहाँ पर अन्य द्रव्य के सम्बन्ध मे परिवर्तन या अवस्थान्तर का प्रश्न उपस्थित हुआ वहाँ पर उसने उपचरित और काल्पनिक माना, तो न्याय-वैशेषिकदर्शन ने कूटस्थनित्यत्व को अपनी दृष्टि से घटित किया। उसने द्रव्य मे गुण माना है, वे गुण उत्पदिष्णु (उत्पत्तिशील) और विनश्वर भी हो तो भी उनके कारण उनके आधार द्रव्य मे किसी भी प्रकार का वास्तविक परिवर्तन या अवस्थान्तर नही होता। उसका तर्क यह है कि आधारभूत द्रव्य की दृष्टि से गुण बिल्कुल ही अलग है, इसलिए उसका उत्पाद-विनाश आधारभूत जीवद्रव्य का उत्पाद विनाश नही है, और न अवस्थान्तर ही है। इस प्रकार सांख्य-योगदर्शन ने और न्याय-वैशेपिकदर्शन ने अपनी-अपनी दृष्टि से कूटस्थनित्यत्व घटाया है किन्तु जीवद्रव्य के सम्बन्ध मे कूटस्थ-नित्यता की विचारधारा का मूल प्रवाह इन दोनो दर्शनो मे एक समान है।

जैन दर्शन के समान न्याय-वैशेपिकदर्शन यह मानता है कि शुभ-अशुभ या शुद्ध-अशुद्ध वृत्तियो से जीवद्रव्य मे सस्कार गिरते है। उन सस्कारो को ग्रहण करने वाला भौतिक सूक्ष्म-शरीर जैनदर्शन ने माना तो न्याय-वैशेपिकदर्शन ने एक परमाणु रूप मन माना है। जीव व्यापक होने से गमनागमन नही कर सकता परन्तु प्रत्येक जीव के साथ एक-एक परमाणु रूप मन है। जो एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर धारण करता

है। इस प्रकार मन का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना आत्मा का पुनर्जन्म है, किन्तु जैन-दृष्टि से जीव अपने-आप ही अपने सूक्ष्म-शरीर के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है।

साख्य-योगदर्शन का पुनर्जन्म के सम्वन्ध मे मन्तव्य है, कि बुद्धि या सूक्ष्म-लिंग-शरीर, जो धर्म-अधर्म आदि गुणो का आश्रय है, जो मध्यम-परिमाण होने से गतिशील भी है, मरण-काल मे स्थूल-देह का परित्याग कर एक स्थान से स्थानान्तर मे जाता है,[1] किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन प्रकृतिजन्य वैसा सूक्ष्म-शरीर न मानकर नित्य परमाणु रूप मन को गतिशील मानता है, और उससे पुनर्जन्म की व्यवस्था करता है। जैन-दृष्टि से सूक्ष्म-शरीर के साथ जीव गति और आगति करता है, किन्तु साख्य-योग एव न्याय-वैशेषिक-दृष्टि से जीव मे किसी भी प्रकार की गति-आगति नही होती। उनकी दृष्टि से पुनर्जन्म का अर्थ है उपाधि का गमनागमन।

जैनदर्शन के समान न्याय-वैशेषिकदर्शन जीव मे ज्ञान, श्रद्धा और पुरुषार्थ की शुद्धि-अशुद्धि के परिमाण के अनुसार उसकी वस्तुत उत्क्रान्ति और अपक्रान्ति मानता है, किन्तु साख्य-योगदर्शन के समान उपाधिभूत सूक्ष्म-लिंग-शरीर के सम्वन्ध से आरोपित या काल्पनिक नही मानता है।

बौद्ध-दृष्टि से जीव का स्वरूप

जीव के सम्बन्ध मे तथागत बुद्ध का क्या मन्तव्य था? इस पर हम ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करे तो सत्य-तथ्य का परिज्ञान हो सकता है।

तथागत बुद्ध के समय और उसके पूर्व आत्मा के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से दो विचारधाराएँ चल रही थी। एक विचारधारा का यह मन्तव्य था कि आत्मतत्त्व या उसकी शक्ति पर किसी भी प्रकार का कालतत्त्व का प्रभाव नही पडता, वह अलिप्त रहता है। दूसरी विचारधारा का मन्तव्य था कि आत्मतत्त्व और उसकी शक्तियाँ पूर्ण अर्थ मे तदवस्थ रहने पर भी वे कालतत्त्व के प्रभाव से बिल्कुल निर्लिप्त नही रह सकती। अर्थात् प्रथम मत के अनुसार अस्तित्व या सत्व का तात्पर्य है तीनो कालो मे सर्वथा

---

१ (क) न्यायवार्तिक ३।२।६८

(ख) विशेष विस्तार की दृष्टि से गणधरवाद की प्रस्तावना पृ० १२१ देखे।

(ग) भारतीय तत्त्वविद्या प० सुखलाल जी का पृ० ८९ का टिप्पण देखे।

न्याय-वैशेषिक दर्शन के मन्तव्यानुसार जीवतत्त्व मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी भिन्न प्रकार का है। वह जीव को कूटस्थनित्य मानता है अत सहज-रूप से किसी भी प्रकार का कर्तृत्व-भोक्तृत्व घटाया नही जा सकता। तथापि उन्होने कर्तृत्व-भोक्तृत्व गुणो के उत्पाद-विनाश को लेकर घटाया है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है जब ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, आदि गुण होते है तब जीव कर्त्ता और भोक्ता है परन्तु इन गुणो का सर्वथा अभाव होने पर मुक्ति-दशा मे किसी भी प्रकार का साक्षात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व नही रहता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिकदर्शन जैनदर्शन की भाँति जीव मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने पर भी जीवतत्त्व को कूटस्थनित्य घटा सकता है क्योकि उसके विचारानुसार गुण जीवतत्त्व रूप आधार से सर्वथा भिन्न है। एतदर्थ गुणो का उत्पाद-विनाश होता हो, तब भी गुण-गुणी की भेददृष्टि के कारण वह अपनी दृष्टि से कूटस्थनित्यता घटा लेता है। साख्य-योग-दर्शन ने चेतन मे किसी भी प्रकार के गुणो का अस्तित्व ही स्वीकार नही किया है। जहाँ पर अन्य द्रव्य के सम्बन्ध मे परिवर्तन या अवस्थान्तर का प्रश्न उपस्थित हुआ वहाँ पर उसने उपचरित और काल्पनिक माना, तो न्याय-वैशेषिकदर्शन ने कूटस्थनित्यत्व को अपनी दृष्टि से घटित किया। उसने द्रव्य मे गुण माना है, वे गुण उत्पदिष्णु (उत्पत्तिशील) और विनश्वर भी हो तो भी उनके कारण उनके आधार द्रव्य मे किसी भी प्रकार का वास्तविक परिवर्तन या अवस्थान्तर नही होता। उसका तर्क यह है कि आधारभूत द्रव्य की दृष्टि से गुण बिल्कुल ही अलग है, इसलिए उसका उत्पाद-विनाश आधारभूत जीवद्रव्य का उत्पाद विनाश नही है, और न अवस्थान्तर ही है। इस प्रकार साख्य-योगदर्शन ने और न्याय-वैशेषिकदर्शन ने अपनी-अपनी दृष्टि से कूटस्थनित्यत्व घटाया है किन्तु जीवद्रव्य के सम्बन्ध मे कूटस्थ-नित्यता की विचारधारा का मूल प्रवाह इन दोनो दर्शनो मे एक समान है।

जैन दर्शन के समान न्याय-वैशेषिकदर्शन यह मानता है कि शुभ-अशुभ या शुद्ध-अशुद्ध वृत्तियो से जीवद्रव्य मे सस्कार गिरते है। उन सस्कारो को ग्रहण करने वाला भौतिक सूक्ष्म-शरीर जैनदर्शन ने माना तो न्याय-वैशेषिकदर्शन ने एक परमाणु रूप मन माना है। जीव व्यापक होने से गमनागमन नही कर सकता परन्तु प्रत्येक जीव के साथ एक-एक परमाणु रूप मन है। जो एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर धारण करता

(५) विज्ञप्तिमात्रतावाद[1]

इन सभी वादो के चिन्तको ने बुद्ध का जो मुख्य लक्ष्य चार आर्य-सत्य से आध्यात्मिक शुद्धि और उत्क्रान्ति की स्थापना थी उसको ध्यान मे रखकर ही अपने विचारो का विकास किया।

पुद्गल नैरात्म्यवाद

त्रिपिटक साहित्य मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अन्य चितक जिसका आत्मा के रूप मे वर्णन करते है वह तत्त्व परस्पर अविभाज्य वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान का प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाला सघात स्वरूप है।[2] नाम पद मे बुद्ध इसका निर्देश करते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद[3] मे 'नाम-रूप' युगल का वर्णन आता है। कोई मूलभूत एक तत्त्व अपने आपको नाम एव रूप स्वभाव मे व्याकृत करता है। बुद्ध की दृष्टि से ऐसा कोई मूल तत्त्व नही है जिसमे से नाम का व्याकरण हो। वे तो रूप के समान नाम को भी एक स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं और वह तत्त्व प्रथम प्रतिपादित किये हुए सघात रूप एव सततिबद्ध होने से अनादि-निधन है। बुद्ध की दृष्टि से वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान की सघातधारा निरन्तर प्रवाहित रहती है, किन्तु उस धारा का आदि-अन्त नही है। इस विज्ञान केन्द्रित धारा मे चेतन या पुद्गल द्रव्य के स्थायी व्यक्तित्व का किसी प्रकार का स्थान न होने से ये विचार पुद्गल नैरात्म्यवाद के नाम से विश्रुत हैं।

पुद्गलास्तिवाद

बौद्ध सघ शाश्वत आत्मवादियो से घिरा हुआ था। जब उन शाश्वत आत्मवादियो ने नैरात्म्यवाद का खण्डन किया और कुछ शाश्वत आत्मवादी विचारधारा मानने वाले बौद्ध सघ मे सम्मिलित हुए तब उन्होने अपनी दृष्टि से पुद्गलवाद की सस्थापना की। कथावत्थु और तत्त्वसग्रह प्रभृति

---

१ बौद्ध तत्त्वज्ञान की तीन भूमिकाओ के लिए देखिए Buddhist Logic, Vol I, pp 3-14 और Central Philosophy of Buddhism, p 26

२ विसुद्धिमग्गो ग्घनिद्देस १४

३ तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।

—बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।७

वाधारहित या अपरिवर्तिष्णु रहना। दूसरे मत के अनुसार अस्तित्व का तात्पर्य है सत् तत्त्व मे परिवर्तन होता है तथापि उसका व्यक्तित्व एक और अखण्ड रहता है। ये दोनो विचारधाराएँ अपनी-अपनी दृष्टि से चेतन तत्त्व को शाश्वत मानती थी। आत्मतत्त्व को एक और अखण्ड द्रव्य मानती थी। इन शाश्वतवादी विचारधाराओ के विरोध मे बुद्ध ने कहा—ऐसा कोई भी तत्त्व या सत्त्व नही है जो काल के प्रवाह मे अखण्ड या अबाधित रह सके। हर एक तत्त्व या अस्तित्व अपने स्वभाव के कारण ही काल के आनन्तर्य-नियम या क्रम-नियम का वशवर्ती होता है। ऐसे दो क्षण भी नही हो सकते जिसमे कोई एक सत् जैसा है वैसा ही रहे। इस प्रकार बुद्ध ने वस्तु के मौलिक स्वरूप या सत्त्व को ही कालस्वरूप मानकर शाश्वत द्रव्यवाद के स्थान पर क्षणिकभाव या गुणसघातवाद की सस्थापना की। प्रस्तुत सस्थापना मे बुद्ध ने चेतन और अचेतन दोनो तत्त्व रखे जिससे जो शाश्वत आत्मवाद की विचारधारा मे ओत-प्रोत थे उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ कि बुद्ध ने आत्मतत्त्व मानने से इन्कार किया है। और उन्होने बुद्ध को निरात्म वादी कहा। किन्तु बुद्ध की दृष्टि और थी। उनको शाश्वतवाद की युक्तियाँ भी प्रभावित नही कर सकी तो चेतन तत्त्व के निषेध मे भी प्रवल युक्ति नही मिली, इसलिए उन्होने लोकायत के भूत-चैतन्य जैसे उच्छेदवाद को भी नही माना। उन्होने मध्यम मार्ग अपनाया। उन्होने पुनर्जन्म, कर्म, पुरुषार्थ और मोक्ष सभी को माना है। जीव, आत्मा और चेतन तत्त्व को उन्होने अपने ढग से स्थान दिया है।

यह एक सत्य-तथ्य है कि जैन, साख्ययोग, न्याय-वैशेषिकदर्शन मे जिस प्रकार आत्म-स्वरूप के सम्वन्ध मे एक निश्चित धारणा रही है वैसी बौद्धदर्शन मे नही रही है। जव हम बौद्धदर्शन के तत्त्वनिरूपण के इतिहास का गहराई से अध्ययन करते हैं तव हमे आत्मस्वरूप के सम्बन्ध मे पाँच श्रेणियाँ मिलती हैं।

(१) पुद्गलनैरात्म्यवाद

(२) पुद्गलास्तिवाद

(३) त्रैकालिक धर्मवाद और वार्तमानिक धर्मवाद।

(४) धर्म-नैरात्म्य नि स्वभाव या शून्यवाद

वाद त्रैकालिक मानता था उनको सौत्रान्तिकवाद ने केवल वार्तमानिक ही माना ।

धर्मनैरात्म्य नि स्वभावता या शून्यवाद

वह युग तत्त्व चर्चा का युग था, पक्ष और प्रतिपक्ष मे परस्पर प्रवल चर्चाएँ चलती थी । वाद-विवाद होते थे । कोई सत् की सस्थापना करता तो कोई असत् की सस्थापना करता । कोई सदसदुभयपक्ष पर अपने विचार व्यक्त करता तो कोई अनुभय पक्ष पर । इस प्रकार नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय, एक, अनेक, आदि अनेक चतुष्कोटियाँ चल रही थी । नागार्जुन ने देखा ये चतुष्कोटियाँ बुद्ध के मध्यम मार्ग के अनुकूल नही हैं अत उसने चतुष्कोटिविनिर्मुक्त[1] शून्यवाद की स्थापना की । शून्य का अर्थ है धर्म-नैरात्म्य या नि स्वभावता । किसी धर्म या धर्मी मे या किसी एक पक्ष मे बँध जाना मध्यम मार्ग नही है । चतुष्कोटिविनिर्मुक्त वह है जो पारमार्थिक तत्त्व है और बुद्धिगम्य है । नागार्जुन ने शून्यवाद की स्थापना की, पर उसमे बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा या आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद का हनन नही हुआ है ।

विज्ञप्ति मात्रतावाद

शून्यवाद के पश्चात् योगाचार आता है । उसने सोचा शून्यवाद किसी भी तत्त्व का भावात्मक या विधि रूप से विश्लेषण नही करता, अत बुद्ध का विज्ञानकेन्द्रित 'नाम' तत्त्व शून्यवत् हो जाता है । इसलिए उन्होने नाम चित्त चेतना या आत्मा को मात्र विज्ञप्ति रूप स्थापित किया । इस वाद की मुख्य विशेषता यह है कि पूर्व के वौद्ध दार्शनिक विज्ञान वाह्य रूप (इन्द्रिय ग्राह्य भूत-भौतिक तत्त्व) का वास्तविक अस्तितव मान्य रख करके ही चिन्तन करते थे किन्तु विज्ञानवादियो ने उस प्रकार का वाह्य रूप का पृथक् अस्तितव नही माना । उनका मन्तव्य था कि बौद्ध दर्शन या अन्य दर्शन जिसे 'रूप' कहते हैं वह मूर्त तत्त्व केवल विज्ञान का ही एक स्वरूप है किन्तु अविद्या, वासना या सवृति के कारण विज्ञान से भिन्न प्रतिभासित होता है ।

---

१ (क) माध्यमिक वृत्ति पृ० १६, २६, १०८, २७५
(ख) स्याद्वाद मजरी का० १७

ग्रन्थो मे बौद्ध के पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत वाद का उल्लेख हुआ है।[1] इन सम्मितीय या वात्सीपुत्रीय पुद्गलवादियो का मन्तव्य था कि पुद्गल या जीवद्रव्य वस्तुत है। किन्तु जब उनसे पूछा गया कि क्या उसका अस्तित्व 'रूप' सदृश है ? तब उन्होने उत्तर मे इन्कार किया। 'पुद्गलास्तिवाद' बुद्ध सघ मे आया किन्तु तथागत बुद्ध की मूल दृष्टिबिन्दु के साथ मेल बैठ नही सका अत अन्त मे वह केवल नाम मात्र रह गया।

त्रैकालिक धर्मवाद और वार्तमानिक धर्मवाद

पुद्गलनैरात्म्यवाद सम्यक् रूप से विकसित हो रहा था। उसे शाश्वत आत्मवादियो के सामने टिकना था, उनके आक्षेपो का तर्क पुरस्सर उत्तर देना था और साथ ही पुनर्जन्म, बन्ध-मोक्ष की बुद्धिग्राह्य व्याख्या करनी थी, अत सर्वास्तिवाद अस्तित्व मे आया। उसने उस 'नाम' तत्त्व का 'चित्त' पद से भी प्रयोग किया और उस चित्त या वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान के सघात को अनेक सहजात या आगन्तुक, साधारण-असाधारण अशो मे—धर्मो मे विभक्त करके उसका निरूपण किया। वह 'सर्वास्तिवाद' के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। प्रस्तुतवाद ने चित्त और उसकी विविध अवस्थाओ का बहुत ही बारीकी से विश्लेषण किया। क्षणिकवाद से चिपके रहने पर भी भूत-भविष्य को स्वीकार कर प्रत्येक क्षणिक चित्त एव चैतसिक की त्रैकालिकता अपनी दृष्टि से स्थापित की।[2] पुन इस वाद के सामने उग्र विरोध हुआ कि बुद्ध तो क्षणिकवादी और केवल वर्तमान को ही मानते है तो फिर उनके साथ त्रैकालिकता की सगति किस प्रकार बैठ सकती है ? त्रैकालिकता को कहकर पुन शाश्वतवाद की स्थापना करनी है। इसी विचार क्रान्ति से सौत्रान्तिकवाद ने जन्म लिया। उसने सर्वास्तिवाद की चित्त-चैतसिको की सम्पूर्ण बातें मान्य रखी। केवल जिन धर्मो को सर्वास्ति

---

१ (क) क पुनरत्र सयुज्यते ? (पृ० २५४) पौद्गलिकस्यापि अव्याकृतवस्तुवादिन पुद्गलोऽपि द्रव्यतोऽस्तीति (पृ० २५८) नग्नाटपक्षे प्रक्षेप्तव्या (पृ २५६)
—अभिधर्मदीप और उनके टिप्पण पृ० २५४

(ख) तत्वसग्रह का० ३३६

२ (क) तत्त्वसग्रह मे त्रैकाल्य परीक्षा का० १७८६, पृ० ५०३

(ख) अभिधर्मदीप—टिप्पण सहित का० २९९ पृ० २५० मे सर्वास्तिवाद का वर्णन है जो कालत्रय को स्वीकार कर सभी उसमे घटाते हैं।

औपनिषद विचारधारा

जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे उपनिषदो मे एक ही प्रकार के विचार नही मिलते। यहाँ तक कि कभी-कभी एक ही उपनिषद् मे विभिन्न विचार मिलते हैं। यही कारण है कि उपनिषदो के आधार पर आधृत जिन चिन्तको का चिन्तन है उनमे भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। उसमे जीव के स्वरूप के सम्बन्ध मे पूर्व प्रचलित जो मत थे उन सभी का उल्लेख किया है। उपनिषदो की भाँति ब्रह्मसूत्र भी अत्यधिक जन-मन प्रिय हुआ और उस पर अनेको व्याख्याएँ लिखी गई, परन्तु वे सारी व्याख्याएँ आज उपलब्ध नही है। आचार्य शकर ने उस पर भाष्य लिखकर मायावाद की सस्थापना की, किन्तु जिन विज्ञो को मायावाद मान्य नही था उन्होने मायावाद के विरोध मे व्याख्याएँ लिखी। उनमे मुख्य आचार्य भास्कर, रामानुज और निंवार्क है। इन आचार्यो की विचारधारा मे यत्किञ्चित् अन्तर है, परिभाषा एव दृष्टान्तो का प्रयोग एक सदृश नही है तथापि सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि आचार्य शकर जैसा कहते है वैसा जीव का केवल मायिक अस्तित्व नही है किन्तु जीव का अस्तित्व वास्तविक है और वह जीव देह से भिन्न एव नित्य है। आचार्य शकर आदि ने अपनी विचारधारा के समर्थन मे उपनिषदो का आधार ही मुख्य रूप से लिया हैं। पण्डित सुखलाल जी ने उस विचारधारा के विकास का वर्गीकरण तीन विभागो मे किया है—प्रथम आचार्य शकर का पक्ष, द्वितीय आचार्य मध्व का पक्ष, और तृतीय मे अन्य शेप आचार्यो के पक्ष।[1]

आचार्य शकर ने ब्रह्म के अतिरिक्त शेष सभी तत्वो को पारमार्थिक सत्य नही माना है। वे व्यवहार मे अनुभूयमान जीवभेद की उपपत्ति माया या अविद्या शक्ति से मानते हैं। वह शक्ति ब्रह्म से पृथक् नही है। उनके मन्तव्यानुसार जीव और उनका परस्पर भेद तात्त्विक नही है।[2] आचार्य मध्व का मन्तव्य उनसे विल्कुल ही विपरीत है। वे कहते है कि जीव काल्पनिक नही अपितु वास्तविक है, और उनमे जो परस्पर भेद है वह भी

---

१ भारतीय तत्त्वविद्या पृ० १००

२ (क) जीवो ब्रह्मैव नापर —ब्रह्मसिद्धि पृ० ६

(ख) बौद्धदर्शन और वेदान्त पृ० २३४ डॉ० सी० डी० शर्मा

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन ने आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध मे अनेक सोपान पार किये हैं और अन्त मे योगाचार सम्मत विज्ञप्तिमात्र वाद मे वह प्रतिष्ठित हुआ है। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित एव कमलशील जैसे महान् दार्शनिको ने इसे बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रबल प्रयास किया।[१]

बौद्ध-परम्परा की सभी शाखाओ ने स्वसम्मत चित्तसन्तान या जीव का वास्तविक भेद माना है। विज्ञानाद्वैतवादी, जो विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी वास्तविक नही मानते है, उन्होने भी विज्ञानसन्ततियो का परस्पर वास्तविक भेद मानकर देहभेद से जीवभेद की मान्यता का अनुसरण भी किया है।[२]

चित्त, विज्ञानसन्तति, या जीव के परिमाण के सम्बन्ध मे बौद्ध-दर्शन ने अपना कोई मौलिक विचार प्रस्तुत नही किया है। जिसके आधार से साधिकार यह कहा जा सके कि वह अणुवादी है या देहपरिमाणवादी है तथापि विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थो मे 'चित्त या विज्ञान का आश्रय 'हृदयवत्थु'[३] कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि वे हृदयवत्थुनिश्रित विज्ञान के सुख दु खादि रूप असर को देहव्यापी मानते होगे।

हम लिख चुके हैं कि जैन, साख्य-योग आदि ने पुनर्जन्म के लिए एक स्थान से द्वितीय स्थान पर जाने वाला सूक्ष्म शरीर माना है। वैसे ही बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय मे 'गन्धर्व' का वर्णन है। गन्धर्व का अर्थ है कोई मरकर दूसरे स्थान पर जाने वाला हो तब गन्धर्व सात दिन तक अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता है। 'कथावत्थु' ग्रन्थ मे गन्धर्व की कल्पना के आधार से अन्तराभव शरीर की चर्चा की है। उसके पश्चात् अन्य लोगो ने और वसु-बन्धु जैसे वैभाषिको ने अन्तराभव शरीर मानकर उसका समर्थन किया है।[४] केवल थेरवादी बुद्धघोष ने अन्तराभव शरीर न मानकर प्रतिसन्धि की उप-पत्ति के कुछ दृष्टान्त दिये है।[५]

---

१ (क) प्रमाणवार्तिक २।३२७

(ख) तत्त्वसग्रह की बहिरर्थपरीक्षा पृ० ५५०-८२

२ सन्तानान्तर सिद्धि ग्रथ मे धर्मकीर्ति ने इसे सिद्ध किया।

३ विसुद्धिमग्गो १४।६०, १७।१६३

४ अभिधर्मदीप पृ १४२ सटिप्पण

५ (क) विसुद्धिमग्गो १७।१६३ (ख) भारतीय तत्त्वविद्या पृ ९९

द्वैतवाद ने माया या अविद्या का आश्रय लेकर सम्पूर्ण लौकिक एव शास्त्रीय भेद प्रधान-व्यवहार को घटित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास मे विभिन्न कल्पनाएँ की गई है। वे कल्पनाएँ एक दूसरे के विपरीत भी है। और मजे की बात तो यह है कि सभी व्याख्याकारो ने अपनी-अपनी कल्पना को सिद्ध करने के लिए श्रुतियो का आश्रय लिया है। आचार्य शकर को क्या इष्ट था वह उनके शब्दो मे निर्दिष्ट नही है।

वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मजरी[1] पर अप्पय दीक्षित ने व्याख्या लिखी है।[2] उसमे केवलाद्वैत के जीव सम्बन्धी सभी मतो का सग्रह किया है। हम उन सभी पर चर्चा न कर कुछ प्रमुख मतो की चर्चा करेगे।

प्रतिबिम्बवाद

प्रकटार्थकार, सक्षेपशारीरककार, विद्यारण्य स्वामी और विवरण-कार जैसे आचार्य अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्म के प्रतिबिम्बस्वरूप से जीव के सम्बन्ध मे चिन्तन करते है। प्रतिबिम्ब को कितने ही अविद्यागत मानते है, कितने ही अन्त करण, और कितने ही अज्ञानगत।[3]

अवच्छेदवाद

कितने ही आचार्य प्रतिबिम्ब के स्थान मे अवच्छेद पद का प्रयोग करके कहते है कि अन्त करण आदि मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव नही है अपितु अन्त करणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है।[4]

ब्रह्मजीववाद

प्रस्तुत वाद का मन्तव्य है कि जीव न तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और न उसका अवच्छेद ही है, अपितु अविकृत ब्रह्म स्वय ही अविद्या के कारण जीव है और विद्या के कारण ब्रह्म है।[5]

इस प्रकार केवलाद्वैत मे प्रतिबिम्ब, अवच्छेद और ब्रह्माभेद ये तीन मुख्य भेद है।[6]

---

१ इस ग्रन्थ के लेखक गगाधर सरस्वती है और यह एक कारिका ग्रन्थ है।

२ व्याख्या का नाम 'सिद्धान्तलेश सग्रह' है।

३ वेदान्त सूक्ति मजरी प्रथम परिच्छेद का० २८-४०

४ वही, कारिका ४१

५ वही, कारिका ४२

६ भारतीय तत्त्वविद्या पृ० १०४

वास्तविक है। वह ब्रह्म से स्वतन्त्र है। उनका मन्तव्य अनन्त नित्य जीव-वाद का है।

भास्कर प्रभृति आचार्यों ने ब्रह्म के एक परिणाम, कार्य या अश के रूप मे जीव को वास्तविक तत्त्व माना है। भले ही ब्रह्म शक्ति से ये परिणाम, कार्य या अश उत्पन्न हुए हो तथापि वे किसी भी दृष्टि से मायावी नही हैं।

महाभारत मे साख्यमत के रूप मे तीन विचारधाराये मिलती हैं

(१) चौबीस तत्त्ववादी।

(२) स्वतन्त्र अनन्त पुरुष मानने वाला पच्चीस तत्त्ववादी।

(३) पुरुषो से पृथक एक ब्रह्मतत्त्व मानने वाला छब्बीस तत्त्ववादी।

ऐसा ज्ञात होता है कि इन्ही तीन विचारो के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने अपनी-अपनी विचारधारा का विकास किया और उस विकास यात्रा मे उपनिषदो का आधार भी लिया गया है। सक्षेप मे जीव सम्बन्धी वेदान्त विचारधारा केवलाद्वैत, सत्योपाधि-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, अविभागाद्वैत, शुद्धाद्वैत, एव अचिन्त्यभेदाभेद जैसी मुख्य रूप से अद्वैत-लक्षी परम्पराओ मे प्रवर्तमान है और द्वैतवाद के रूप मे भी उसे समर्थन मिलता रहा है।

आचार्य शकर का मत केवलाद्वैत है। वे एक मात्र ब्रह्म को पार-मार्थिक मानकर जगत् की भाँति जीव का भेद माया से घटाते है। उनके अभिमतानुसार जीव कोई स्वतन्त्र या नित्य तत्त्व नही है अपितु माया, अविद्या अथवा अन्त करण के सम्बन्ध से होने वाला पारमार्थिक ब्रह्म का आभास मात्र है। जब ब्रह्म के साथ जीव के ऐक्य की अनुभूति होती है तब वह आभास भी नही रहता। केवलाद्वैतवाद को केवल विशुद्ध एव अखण्ड चित् तत्त्व ही इष्ट है। शुद्ध ब्रह्म के साथ जिस प्रकार जीवतत्त्व के सम्बन्ध की उपपत्ति करनी पडती है उसी प्रकार जीव के पारस्परिक भेद की भी उपपत्ति करनी पडती है। इसके साथ ही पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए देह से देहान्तर का सक्रम भी घटाना होता है। मूल मे एक ही पारमार्थिक तत्त्व रहा हुआ हो और उसमे विविध प्रकार से भेदो को घटित करना हो तो माया या अविद्या का आश्रय लिये बिना गति नही। एतदर्थ ही केवला-

द्वैतवाद ने माया या अविद्या का आश्रय लेकर सम्पूर्ण लौकिक एव शास्त्रीय भेद प्रधान-व्यवहार को घटित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास मे विभिन्न कल्पनाएँ की गई है। वे कल्पनाएँ एक दूसरे के विपरीत भी है। और मजे की बात तो यह है कि सभी व्याख्याकारो ने अपनी-अपनी कल्पना को सिद्ध करने के लिए श्रुतियो का आश्रय लिया है। आचार्य शकर को क्या इष्ट था वह उनके शब्दो मे निर्दिष्ट नही है।

वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मजरी[1] पर अप्पय दीक्षित ने व्याख्या लिखी है।[2] उसमे केवलाद्वैत के जीव सम्बन्धी सभी मतो का सग्रह किया है। हम उन सभी पर चर्चा न कर कुछ प्रमुख मतो की चर्चा करेंगे।

प्रतिबिम्बवाद

प्रकटार्थकार, सक्षेपशारीरककार, विद्यारण्य स्वामी और विवरण-कार जैसे आचार्य अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्म के प्रतिबिम्बस्वरूप से जीव के सम्बन्ध मे चिन्तन करते है। प्रतिबिम्ब को कितने ही अविद्यागत मानते है, कितने ही अन्त करण, और कितने ही अज्ञानगत।[3]

अवच्छेदवाद

कितने ही आचार्य प्रतिबिम्ब के स्थान मे अवच्छेद पद का प्रयोग करके कहते है कि अन्त करण आदि मे प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव नही है अपितु अन्त करणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है।[4]

ब्रह्मजीववाद

प्रस्तुत वाद का मन्तव्य है कि जीव न तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और न उसका अवच्छेद ही है, अपितु अविकृत ब्रह्म स्वय ही अविद्या के कारण जीव है और विद्या के कारण ब्रह्म है।[5]

इस प्रकार केवलाद्वैत मे प्रतिबिम्ब, अवच्छेद और ब्रह्माभेद ये तीन मुख्य भेद है।[6]

---

१ इस ग्रन्थ के लेखक गगाधर सरस्वती है और यह एक कारिका ग्रन्थ है।
२ व्याख्या का नाम 'सिद्धान्तलेश सग्रह' है।
३ वेदान्त सूक्ति मजरी प्रथम परिच्छेद का० २८-४०
४ वही, कारिका ४१
५ वही, कारिका ४२
६ भारतीय तत्त्वविद्या पृ० १०४

केवलाद्वैत मे जीव की सख्या के सम्बन्ध मे भी एक मत नही है। कितने ही विज्ञो ने एक जीव मानकर एक ही शरीर को सजीव कहा और अन्य शरीर को निर्जीव। कितने ही विज्ञो ने जीव के एक ही होने पर भी दूसरे शरीरो को सजीव कहा है। कितने ही विज्ञो ने जीव अनेक माने हैं।[1] सिद्धान्त बिन्दु मे मधुसूदन सरस्वती ने एव वेदान्तसार मे सदानन्द ने सक्षेप मे उल्लेख किया है।

भास्कर का अभिमत है कि ब्रह्म अपनी नाना शक्तियो से जगत के समान जीव के रूप मे भी परिणत होता है। जीव ब्रह्म का परिणाम है और वह क्रियात्मक होने से सत्य हे। ब्रह्म एक है और उसके परिणाम अनेक है। एकत्व और अनेकत्व मे किसी भी प्रकार का विरोध नही है। जिस प्रकार एक ही समुद्र तरगो के रूप मे अनेक दिखाई देता है वैसे ही जीव ब्रह्म के अश और परिणाम है। अज्ञान जहाँ तक रहता है वही तक उनका अस्तित्व है। जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब वे अणुपरिमाण जीव ब्रह्म-अभेद का अनुभव करते है।

विशिष्टाद्वैत पर चिन्तन करते हुए रामानुज ने जगत् के समान जीव का मूल मे ब्रह्म के अव्यक्त शरीर के रूप मे वर्णन किया और फिर उस अव्यक्त को अनुक्रम से व्यक्त-जीव और व्यक्त-प्रपच के रूप मे घटित किया है। अव्यक्त चित् शक्ति व्यक्त-जीव रूप प्राप्त करता है और प्रवृत्ति भी करता है। प्रस्तुत प्रवृत्ति का मूल स्रोत पर ब्रह्म नारायण है।

आचार्य निंबार्क पर ब्रह्म को अभिन्न स्वरूप मानकर के भी उसका अनन्त जीवो के रूप मे परिणाम मानते है, अत वे भेदाभेदवादी होने से द्वैताद्वैतवादी कहलाते हैं। एक ही पवन स्थान भेद होने से विविध रूप मे परिणत होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनेक जीवो के रूप मे परिणत होता है। वे जीव को काल्पनिक और आरोपित नही मानते।

विज्ञान भिक्षु का मन्तव्य है कि प्रकृति के समान पुरुष अनादि और स्वतन्त्र है तथापि ब्रह्म से पृथक नही है। यह मन्तव्य अविभागाद्वैत कहलाता है।

---

१ वेदान्त सूक्ति मजरी, कारिका ४३-४४

आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैतवादी है। उनका कहना है कि जीव भी जगत् के समान वास्तविक परिणाम है। ऐसे परिणाम लीला के कारण उत्पन्न होते हैं, तथापि ब्रह्म स्वय अविकृत और शुद्ध है।

चैतन्य अचिन्त्यभेदाभेद को मानते हैं। जीव-शक्ति से ब्रह्म अनन्त जीवो के रूप मे प्रकट होता है। उन जीवो का ब्रह्म के साथ भेदाभेद है किन्तु वह अचिन्त्यनीय है।

भास्कर से लेकर चैतन्य तक सभी आचार्यो ने जीव को अणुरूप माना है और ज्ञान व भक्ति से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है, तब वह आत्मा मुक्त होता है। ये सभी आचार्य जो अणुजीववादी है वे पुनर्जन्म की उपपत्ति सूक्ष्म शरीर से घटाते है।

मध्व वेदान्ती है तथापि अद्वैत या अभेद को नही मानते। वे उपनिषदो व अन्य ग्रन्थो के प्रकाश मे यह सिद्ध करते हैं कि जीव अणु हैं, अनन्त है किन्तु स्वतन्त्र व नित्य होने से परब्रह्म के परिणाम नही है, कार्य नही है और अश भी नही है। जब जीव अज्ञान से निवृत्त होता है तभी वह ब्रह्म या विष्णु के स्वामित्व की अनुभूति करता है।

शैव, जो वेद और वेदान्त को अपने चिन्तन का आधार नही मानते है, उन्होने प्रत्यभिज्ञादर्शन माना है। उनका मन्तव्य है कि परब्रह्म ही शिव है, उससे अतिरिक्त अन्य कोई भी श्रेष्ठ नही है। यह परम श्रेष्ठ ब्रह्म ही अपनी स्वेच्छा से जगत् के समान अनन्त जीवो को पैदा करता है। तत्त्व दृष्टि से वे जीव शिव से भिन्न नही है।

उपनिषद् और गीता की दृष्टि से आत्मा शरीर से विलक्षण[१], मन से पृथक्[२] विभु-व्यापक[३] और अपरिणामी है।[४] वह वाणी द्वारा अगम्य है।[५]

---

१ न हन्यते हन्यमाने शरीरे। —कठोपनिषद् २।१५।१८

२ (क) इन्द्रियो से मन श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अव्यक्त, और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक व अलिग है। —कठोपनिषद् २।३।७।८

(ख) पुरुष से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) अन्य कुछ भी नही है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। —कठोपनिषद् १।३।१०, ११

३ ईशावास्यमिद सर्वं। यत् किञ्च जगत्या जगत्। —ईशा० उपनिषद्

४ गीता २।२५

५ तैत्तिरीय उपनिषद् २।४

उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा व्यक्त किया गया है।[१] वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सघ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।[२]

आत्मा का परिमाण

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध मे नाना कल्पनाएँ है। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय मे चावल या जौ के दाने के समान बडा है।[३]

यह आत्मा प्रदेश-मात्र है अर्थात् अँगूठे के सिरे मे तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना है।[४]

यह आत्मा शरीर व्यापी है।[५]

यह आत्मा सर्व-व्यापी है।[६]

हृदय-कमल के अन्दर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक, या इन सभी लोको की अपेक्षा बडा है।[७]

जैन-दृष्टि से जीव अनन्त है, प्रत्येक जीव के प्रदेश असख्य हैं। उसमे व्याप्त होने की क्षमता है। जब केवली समुद्घात होता है तब आत्मा कुछ समय के लिए सम्पूर्ण लोक मे व्यापक हो जाता है।[८] मरण-समुद्घात के समय भी आशिक व्यापकता होती है।[९]

---

१ स एस नेति नेति
—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१५

२ अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीघमलोहितमस्वेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाश-मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमबाह्यम्।
—बृहदारण्यक उपनिषद् ३।८।८

३ यथा व्रीहि र्वा यवो वा —बृहदारण्यक उपनिषद् ५।६।१

४ प्रदेशमात्रम् —छान्दोग्य उपनिषद् ५।१८।१

५ एष प्रज्ञात्मा इद—शरीरमनुप्रविष्ट —कौषीतकी उपनिषद् ३५।४।२०

६ सर्वंगत। —मुण्डक उपनिषद् १।१।६

७ छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।३

८ जीवत्थिकाए—लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे —भगवती २।१०

९ भगवती ६।६।१७

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव इन चारो की प्रदेश सख्या समान है किन्तु अवगाहन की दृष्टि से समान नही है। धर्म, अधर्म और लोकाकाश स्वीकारात्मक एव क्रिया प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति रहित है। अत उनके परिमाण मे किसी भी प्रकार का परिवतन नही होता। ससारी जीव पुद्-गलो को स्वीकार भी करते है, उनमे क्रिया-प्रतिक्रिया भी होती है, अत उनका परिमाण सदा सर्वदा समान नही रहता। उसमे सकोच और विस्तार होता रहता है। तथापि अणु के समान सकुचित और केवली-समुद्घात को छोडकर लोकाकाश जितना विकसित नही होता, एतदर्थ ही जीव को मध्यम परिमाण वाला कहा है।

स्मरण रखना चाहिए कि सकोच और विस्तार जीव का स्वय का स्वभाव नही है। किन्तु वह कार्मण शरीर के कारण होता है। कर्मयुक्त अवस्था मे जीव शरीर की मर्यादा मे आवद्ध होता है, एतदर्थ उसका जो परिमाण है वह स्वतन्त्र उसका अपना नही है। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन चारो गति की अपेक्षा से है। मुक्त दशा मे वह नही होता।

आत्मा के सकोच-विकोच की तुलना दीपक के प्रकाश से कर सकते है। खुले स्थान पर दीपक को रखदे तो उसके प्रकाश का परिमाण अमुक प्रकार का होगा। उसी दीपक को किसी कमरे मे रखदें तो वही प्रकाश कमरे मे समा जाता है। लघुपात्र के नीचे रखे तो लघुपात्र मे समा जाता है वैसे ही कार्मण शरीर के कारण आत्म-प्रदेशो का सकोच और विस्तार होता है।

जो आत्मा एक नन्हे बालक के शरीर मे रहता है वही आत्मा एक युवक के शरीर मे भी रहता है और वृद्ध के शरीर मे भी रहता है। जो एक विराट्काय स्थूल शरीर मे रहता है वही एक नन्ही-सी चीटी मे भी रह सकता है।

जीव का लक्षण

निश्चय-दृष्टि से जीव का लक्षण चेतना है। ऐसा विश्व मे कोई प्राणी नही, जिसमे उसका सद्भाव न हो। सभी प्राणियो मे सत्ता के रूप मे चैतन्य शक्ति अनन्त है। किन्तु उसका विकास सभी जीवो मे समान नही होता। ज्ञान के आवरण की अधिकता या न्यूनता के अनुसार उसका विकास कम-ज्यादा होता है। अत जीव और अजीव का भेद बताते हुए

उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा व्यक्त किया गया है।[1] वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सघ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न अन्तर है, न बाहर है।[2]

आत्मा का परिमाण

उपनिषदो मे आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध मे नाना कल्पनाएँ है। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय मे चावल या जौ के दाने के समान वडा है।[3]

यह आत्मा प्रदेश-मात्र है अर्थात् अँगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना है।[4]

यह आत्मा शरीर-व्यापी है।[5]

यह आत्मा सर्व-व्यापी है।[6]

हृदय-कमल के अन्दर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक, या इन सभी लोको की अपेक्षा वडा है।[7]

जैन-दृष्टि से जीव अनन्त है, प्रत्येक जीव के प्रदेश असख्य है। उसमे व्याप्त होने की क्षमता है। जब केवली समुद्घात होता है तव आत्मा कुछ समय के लिए सम्पूर्ण लोक मे व्यापक हो जाता है।[8] मरण-समुद्घात के समय भी आशिक व्यापकता होती है।[9]

---

१ स एस नेति नेति

—वृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१५

२ अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीघमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तरमवाह्यम्।

—वृहदारण्यक उपनिषद् ३।८।८

३ यथा व्रीहि र्वा यवो वा —वृहदारण्यक उपनिषद् ५।६।१

४ प्रदेशमात्रम् —छान्दोग्य उपनिषद् ५।१८।१

५ एष प्रज्ञात्मा इद—शरीरमनुप्रविष्ट —कौषीतकी उपनिषद् ३५।४।२०

६ सर्वगत। —मुण्डक उपनिषद् १।१।६

७ छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।३

८ जीवत्थिकाए—लोए, लोयमेत्ते, लोयप्पमाणे —भगवती २।१०

९ भगवती ६।६।१७

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और जीव इन चारो की प्रदेश सख्या समान है किन्तु अवगाहन की दृष्टि से समान नही है । धर्म, अधर्म और लोकाकाश स्वीकारात्मक एव क्रिया प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति रहित है। अत उनके परिमाण मे किसी भी प्रकार का परिवतन नही होता । ससारी जीव पुद्-गलो को स्वीकार भी करते है, उनमे क्रिया-प्रतिक्रिया भी होती है, अत उनका परिमाण सदा सर्वदा समान नही रहता । उसमे सकोच और विस्तार होता रहता है । तथापि अणु के समान सकुचित और केवली-समुद्घात को छोडकर लोकाकाश जितना विकसित नही होता, एतदर्थ ही जीव को मध्यम परिमाण वाला कहा है ।

स्मरण रखना चाहिए कि सकोच और विस्तार जीव का स्वय का स्वभाव नही है । किन्तु वह कार्मण शरीर के कारण होता है । कर्मयुक्त अवस्था मे जीव शरीर की मर्यादा मे आबद्ध होता है, एतदर्थ उसका जो परिमाण है वह स्वतन्त्र उसका अपना नही है । कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन चारो गति की अपेक्षा से है । मुक्त दशा मे वह नही होता ।

आत्मा के सकोच-विकोच की तुलना दीपक के प्रकाश से कर सकते है । खुले स्थान पर दीपक को रखदे तो उसके प्रकाश का परिमाण अमुक प्रकार का होगा । उसी दीपक को किसी कमरे मे रखदें तो वही प्रकाश कमरे मे समा जाता है । लघुपात्र के नीचे रखे तो लघुपात्र मे समा जाता है वैसे ही कार्मण शरीर के कारण आत्म-प्रदेशो का सकोच और विस्तार होता है ।

जो आत्मा एक नन्हे बालक के शरीर मे रहता है वही आत्मा एक युवक के शरीर मे भी रहता है और वृद्ध के शरीर मे भी रहता है । जो एक विराट्काय स्थूल शरीर मे रहता है वही एक नन्ही-सी चीटी मे भी रह सकता है ।

जीव का लक्षण

निश्चय-दृष्टि से जीव का लक्षण चेतना है । ऐसा विश्व मे कोई प्राणी नही, जिसमे उसका सद्भाव न हो । सभी प्राणियो मे सत्ता के रूप मे चैतन्य शक्ति अनन्त है । किन्तु उसका विकास सभी जीवो मे समान नही होता । ज्ञान के आवरण की अधिकता या न्यूनता के अनुसार उसका विकास कम-ज्यादा होता है । अत जीव और अजीव का भेद बताते हुए

कहा है—केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग तो सभी जीवो मे विकसित रहता है।[1] यदि वह भी आवृत हो जाय तो जीव अजीव हो जाए, किन्तु ऐसा कभी होता नही है।

व्यावहारिक दृष्टि से सजातीय-जन्म, वृद्धि, सजातीय-उत्पादन, क्षत-सरोहण और अनियमित तिर्यग्-गति, ये जीव के लक्षण हैं। एक मशीन भोजन तो कर सकती है पर उस भोजन के रस से अपने शरीर की अभि-वृद्धि नही कर सकती। स्वय का नियन्त्रण करने वाली मशीने भी हैं। टारपिडो मे स्वय चालक शक्ति भी है, तथापि वे न तो सजातीय-यन्त्र से उत्पन्न होते हैं और न वे किसी सजातीय-यन्त्र को पैदा ही करते है। ऐसा कोई भी यन्त्र नही है जो स्वय का जख्म स्वय भर सके या मानवकृत नियमन के अभाव मे अपनी स्वेच्छा से इधर-उधर जा सके। एक ट्रेन पटरी पर मनो-टनो वजन को लेकर पवन के समान दौड सकती है किन्तु एक नन्ही-सी चीटी के समान इधर-उधर नही जा सकती। चीटी मे चेतना है किन्तु ट्रेन मे उसका अभाव है। यन्त्रो का नियामक चेतनावान् प्राणी है। अत यन्त्र से प्राणी की शक्ति पृथक् है। जो चेतनावान प्राणी मे विशेष-ताएँ होती है वे जड मे नही होती।

मुक्त और ससारी

जीव दो भागो मे विभक्त है—मुक्त जीव और ससारी जीव। मुक्त जीव अनन्त है तो ससारी जीव भी अनन्त हैं। ससारी जीव षट्जीवनिकाय मे विभक्त है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायु काय, (५) वनस्पतिकाय, (६) त्रसकाय।

त्रसकाय के अतिरिक्त पाँचो निकाय के जीव वादर और सूक्ष्म दोनो है। सम्पूर्ण लोक सूक्ष्म जीवो से भरा हुआ है। वादर जीव विना आधार के रह नही सकने अत वे लोक के कुछ भाग मे है।

पृथ्वीकाय आदि मे कितने जीव है, यह रूपक के द्वारा इस प्रकार वताया है—

एक हरे आवले के सदृश मिट्टी के ढेले मे पृथ्वीकाय के इतने जीव हैं

कि यदि उन सबमे से प्रत्येक का शरीर कबूतर के समान बडा किया जाय तो वे एक लाख योजन के जम्बूद्वीप मे नही समा सकते।[1]

पानी की एक बूंद मे इतने जीव है कि उन सबका शरीर सरसो के दाने के समान किया जाय तो जम्बूद्वीप मे नही समा सकते।[2]

एक नन्ही-सी चिनगारी के जीवो को लीख के समान बनाया जाय तो जम्बूद्वीप मे नही समाते।[3]

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा मे इतने जीव हैं कि उन सभी जीवो के शरीर को खस-खस के दाने के समान बनाया जाय तो वे जम्बूद्वीप मे नही समाते।[4]

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का परस्पर मे क्या सम्बन्ध है? मानसिक विचारो का हमारे शरीर एव मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है? इस जिज्ञासा के समाधान मे भारतीय दर्शनो मे तीन वाद विश्रुत है—

(१) एक पाक्षिक-क्रियावाद—(भूत चैतन्यवाद)
(२) मनोदैहिक-सहचरवाद।
(३) अन्योन्याश्रयवाद।

भूतचैतन्यवादी के अभिमतानुसार आत्मा शरीर की उपज है। मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। जैसे आमाशय की क्रिया का नाम पाचन है, फेफडो की क्रिया का नाम श्वासोच्छ्वास है वैसे ही मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम चेतना (आत्मा) है।

इस भूतचैतन्यवाद का निरसन आत्मवादी इस प्रकार करते है 'चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है' इसमे द्विअर्थक क्रिया शब्द का

---

१ अद्दाऽमलगपमाणे पुढवीकाए हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जम्बूदीवे न माइत्ति॥

२ एगम्मि दगबिन्दुम्मि, जे जिणवरेहिं पण्णत्ता।
ते जइ सरिसवमित्ता जम्बूदीवे न माइत्ति॥

३ वरट्टितन्दुलमित्ता तेऊ, जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थपलिक्ख पमाणा, जम्बूदीवे न माइत्ति॥

४ जे लिंबपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जम्बूदीवे न माइत्ति॥

समानार्थक प्रयोग हुआ है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया मे बहुत अन्तर है। दो बार क्रिया शब्द का प्रयोग विचार-भेद को प्रकट करता है। जब हम यह कहते हैं कि आमाशय की क्रिया का नाम पाचन है तब पाचन और आमाशय की क्रिया अभिन्न प्रतीत होती है किन्तु जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया पर चिन्तन करते है तब उस क्रियामात्र को चेतना नही समझते। चेतना का चिन्तन करते है तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया ध्यान मे नही आती, अत ये दोनो घटनाएँ एक नही हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का परिज्ञान होता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय ये अलग-अलग नही किन्तु एक ही क्रिया के दो नाम है। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क एव शरीर के सम्पूण अवयव चेतनाहीन तत्त्व से निर्मित हैं। जड से कभी भी चेतना उत्पन्न नही हो सकती। इसी भाव को व्यक्त करते हुए पादरी बटलर लिखते हैं—'आप हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु और बारुद की भाँति उन समस्त तत्त्वो के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क निर्मित हुआ है, ले लीजिए। चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एव ज्ञान-शून्य है, फिर चिन्तन कीजिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे है। इस शुद्ध यान्त्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन मे खीच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार मे आ सकता है। इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओ से बोध, विचार एव भावनाएँ उत्पन्न हो सकती है ? क्या फासो के खटखटाने से होमर कवि या बिलयर्ड गेल की गेंद के खनखनाने से गणित डिफरेनशियल केल्कुलस (Differential Calculus) निकल सकता है ? आप मनुष्य की जिज्ञासा का—परमाणुओ के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया मे ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई ?—सन्तोषप्रद उत्तर नही दे सकते।'[1]

---

1 "Take your dead hydrogen atoms, your dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the brain is formed Imagine them separate and senseless, observe then running together and forming all imaginable combi-

पाचन और श्वासोच्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना करना भ्रान्तिपूर्ण है। चूंकि ये दोनो क्रियाये चेतनारहित है। चेतनारहित मस्तिष्क की क्रिया चेतनायुक्त कैसे हो सकती है ? अत यह सत्य-तथ्य है कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नही है। जो शारीरिक व्यापारो को ही मानसिक व्यापारो का कारण मानते है उनके समक्ष दूसरा प्रश्न यह आता है कि 'मैं स्वेच्छा से चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनो को पैदा करने वाले हैं' क्या वे इस प्रकार के प्रयोग कर सकते है ?

'मनोदैहिक-सहचरवाद' का मन्तव्य है कि मानसिक और शारीरिक व्यापार एक-दूसरे के सहकारी है। इसके अतिरिक्त दोनो मे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है। अन्योन्याश्रयवाद प्रस्तुत वाद का समाधान है। इसका अभिमत है कि शारीरिक क्रियाओ का मानसिक व्यापारो पर और मानसिक व्यापारो का शारीरिक क्रियाओ पर असर होता है। उदाहरणार्थ—

(१) मस्तिष्क की रुग्णता से मानसिक शक्ति क्षीण हो जाती है।

(२) मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारण रूप से पुरुषो का मस्तिष्क ४६ से ५० या ५२ औस तक का और महिलाओ का ४४-४८ औस तक का होता है। क्षेत्र विशेष के अनुसार उसमे कुछ अधिकता व न्यूनता भी पाई जाती है। अपवाद रूप से जिनकी मानसिक शक्ति असाधारण है, उनका दिमाग भी औसत परिमाण से कम पाया गया है। किन्तु साधारण नियम के अनुसार तो मस्तिष्क का परिमाण और मानसिक विकास का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

(३) ब्राह्मीघृत, बादाम आदि ऐसी अनेक औषधियाँ है जिनके सेवन से मानसिक विकास होता है, स्मरण शक्ति तीव्र होती है।

---

nations This as a purely mechanical process is seeable by the mind But can you see or dream or in any way imagine how out of that mechanical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise ? Are you likely to create Homer out of the rattling of dice or 'Differential Calculus' out of the clash of Billiard ball You cannot satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomena of consciousness "

(४) मस्तिष्क पर आघात होने से स्मरणशक्ति मन्द होती है।

(५) मस्तिष्क का कुछ विशेष भाग जिसका सम्बन्ध मानसिक शक्ति के साथ है उसकी क्षति होने पर मानसिक शक्ति क्षीण होती है।

विचारो का शरीर पर प्रभाव

शरीर और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण चिन्ता करने से एव बौद्धिक श्रम करने से शरीर कृश होता है। सुख और दु ख का शरीर पर प्रभाव पडता है। क्रोध आदि से रक्त विषाक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी इस निर्णय पर पहुँचे है कि मानसिक और शारीरिक शक्तियो का परस्पर सम्बन्ध है। दोनो शक्तियाँ पृथक् है। दो विसदृश पदार्थो के बीच कार्य-कारण किस प्रकार है इस समस्या का वे समाधान नही कर सके है।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर ये दोनो सजातीय नही हैं। आत्मा चेतन है और अरूप है, शरीर जड है और रूपवान है। प्रश्न यह है कि चेतन और जड का, अरूप और रूपवान का, जो बिल्कुल ही विरोधी है उनका परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? जैनदर्शन ने इस प्रश्न का समाधान दिया है। ससार मे जितनी भी आत्माएँ हैं वे सूक्ष्म और स्थूल इन दोनो प्रकार के शरीरो से वेष्टित है। एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाते समय स्थूल शरीर नही रहता पर सूक्ष्म शरीर बना रहता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है। और सूक्ष्म शरीर एव आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी का तात्पर्य है जहाँ पर पहले और पीछे का कोई विभाग न हो, पौर्वापर्य न हो। साराश यह है कि उनका सम्बन्ध अनादि है, अत ससार अवस्था मे जीव कथञ्चित् मूर्त भी है। कथञ्चित् मूर्त होने से ही वह मूर्त शरीर धारण करता है। ससार दशा मे जीव और पुद्गल का कथचित् सादृश्य होता है। अत उनका सम्बन्ध होना सम्भव है। आत्मा का अमूर्त रूप विदेहदशा मे प्रकट होता है। अमूर्त बनने के पश्चात् फिर उसका मूर्त द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता।

आधुनिक विज्ञान और आत्मा

कितने ही पाश्चात्य वैज्ञानिक आत्मा को मन से पृथक् नही मानते। वे मन और मस्तिष्क-क्रिया को एक ही मानते है। मन और मस्तिष्क को

पर्यायवाची शब्द मानते है। इसका समर्थन पावलोफ ने किया है कि स्मृति मस्तिष्क (सेरेव्रम) के करोडो सेलो (Cells) की क्रिया है। वर्गसाँ जिस तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के सेलो की क्रिया वताता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट मे जैसे प्रतिविम्व खीचे जाते है वैसे ही मस्तिष्क मे भूतकाल के चित्र प्रतिविम्बित होते हैं। जव उन्हे अनुकूल सामग्री से अभिनव प्रेरणा प्राप्त होती है तव वे उद्‌वुद्ध हो जाते है। निम्न स्तर से ऊपरी स्तर मे आ जाते हैं, वही स्मृति हैं। इससे अतिरिक्त भौतिक तत्त्वो से अलग-थलग अन्वयी आत्मा मानने की आवश्यकता नही है। भौतिक प्रयोगो से अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने का इन वैज्ञानिको ने वहुत प्रयास किया है तथापि भौतिक प्रयोगो का क्षेत्र भौतिकता तक ही रहता है। आत्मा अमूर्त है और मन भौतिक और अभौतिक दोनो है।

सूत्रकृताङ्ग वृत्ति के अनुसार 'मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति, 'यह वही है' इस प्रकार सकलनात्मक ज्ञान भूत और वर्तमान ज्ञान की जोड करना, ये कार्य अभौतिक मन के है।[1] उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन भौतिक मन है, जिसे मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कहा जा सकता है। मस्तिष्क शरीर का एक अवयव है। उस पर नाना प्रकार के प्रयोग करने से मानसिक स्थिति मे परिवर्तन होता है। आधुनिक वैज्ञानिको का अभिमत है कि मन केवल भौतिकतत्त्व नही है। भौतिकतत्त्व मानने पर उसके विचित्र गुण-चेतन-क्रियाओ की व्याख्या नही हो सकती। मन (मस्तिष्क) मे ऐसे अनेक नये गुण देखे जाते है जो पूर्व भौतिक-तत्त्वो मे नही थे। एतदर्थ भौतिक-तत्त्वो और मन को एक नही कह सकते और साथ ही भौतिक-तत्त्वो से मन इतना पृथक् भी नही है कि उसे विल्कुल ही एक पृथक् तत्त्व माना जाय।[2]

हम उपर्युक्त उद्धरण के प्रकाश मे चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि मन के सम्वन्ध मे ही नही अपितु मन के साधनभूत मस्तिष्क के सम्वन्ध मे भी आधुनिक वैज्ञानिक कितने सदिग्ध है। मस्तिष्क को भूतकाल के प्रतिविम्वो का वाहक और स्मृति का साधन मान कर के भी स्वतन्त्र चेतना का लोप

---

१ सूत्रकृताग वृत्ति १।८

२ विज्ञान की रूपरेखा पृ ३६७

(४) मस्तिष्क पर आघात होने से स्मरणशक्ति मन्द होती है।

(५) मस्तिष्क का कुछ विशेप भाग जिसका सम्बन्ध मानसिक शक्ति के साथ है उसकी क्षति होने पर मानसिक शक्ति क्षीण होती है।

विचारो का शरीर पर प्रभाव

शरीर और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण चिन्ता करने से एव बौद्धिक श्रम करने से शरीर कृश होता है। सुख और दु ख का शरीर पर प्रभाव पडता है। क्रोध आदि से रक्त विपाक्त हो जाता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रयवादी इस निर्णय पर पहुँचे है कि मानसिक और शारीरिक शक्तियो का परस्पर सम्बन्ध है। दोनो शक्तियाँ पृथक् है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य-कारण किस प्रकार है इस समस्या का वे समाधान नही कर सके है।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध

आत्मा और शरीर ये दोनो सजातीय नही है। आत्मा चेतन है और अरूप है, शरीर जड है और रूपवान है। प्रश्न यह है कि चेतन और जड का, अरूप और रूपवान का, जो बिल्कुल ही विरोधी है उनका परस्पर सम्बन्ध कैसे हो सकता है? जैनदर्शन ने इस प्रश्न का समाधान दिया है। ससार मे जितनी भी आत्माएँ हैं वे सूक्ष्म और स्थूल इन दोनो प्रकार के शरीरो से वेष्टित है। एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाते समय स्थूल शरीर नही रहता पर सूक्ष्म शरीर बना रहता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा स्थूल शरीर धारण करता है। और सूक्ष्म शरीर एव आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी का तात्पर्य है जहाँ पर पहले और पीछे का कोई विभाग न हो, पौर्वापर्य न हो। साराश यह है कि उनका सम्बन्ध अनादि है, अत ससार अवस्था मे जीव कथञ्चित् मूर्त भी है। कथञ्चित् मूर्त होने से ही वह मूर्त शरीर धारण करता है। ससार दशा मे जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है। अत उनका सम्बन्ध होना सम्भव है। आत्मा का अमूर्त रूप विदेहदशा मे प्रकट होता है। अमूर्त बनने के पश्चात् फिर उसका मूर्त द्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नही रहता।

आधुनिक विज्ञान और आत्मा

कितने ही पाश्चात्य वैज्ञानिक आत्मा को मन से पृथक् नही मानते। वे मन और मस्तिष्क-क्रिया को एक ही मानते हैं। मन और मस्तिष्क को

पर्यायवाची शब्द मानते है। इसका समर्थन पावलोफ ने किया है कि स्मृति मस्तिष्क (सेरेब्रम) के करोडो सेलो (Cells) की क्रिया है। बर्गसाँ जिस तर्क के आधार पर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को 'पावलोफ' मस्तिष्क के सेलो की क्रिया बताता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट मे जैसे प्रतिबिम्ब खीचे जाते है वैसे ही मस्तिष्क मे भूतकाल के चित्र प्रतिविम्बित होते हैं। जब उन्हे अनुकूल सामग्री से अभिनव प्रेरणा प्राप्त होती है तब वे उद्‌बुद्ध हो जाते है। निम्न स्तर से ऊपरी स्तर मे आ जाते हैं, वही स्मृति हैं। इससे अतिरिक्त भौतिक तत्त्वो से अलग-थलग अन्वयी आत्मा मानने की आवश्यकता नही है। भौतिक प्रयोगो से अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने का इन वैज्ञानिको ने बहुत प्रयास किया है तथापि भौतिक प्रयोगो का क्षेत्र भौतिकता तक ही रहता है। आत्मा अमूर्त है और मन भौतिक और अभौतिक दोनो है।

सूत्रकृताङ्ग वृत्ति के अनुसार 'मनन, चिन्तन, तर्क, अनुमान, स्मृति, 'यह वही है' इस प्रकार सकलनात्मक ज्ञान भूत और वर्तमान ज्ञान की जोड करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं।[1] उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन भौतिक मन है, जिसे मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कहा जा सकता है। मस्तिष्क शरीर का एक अवयव है। उस पर नाना प्रकार के प्रयोग करने से मानसिक स्थिति मे परिवर्तन होता है। आधुनिक वैज्ञानिको का अभिमत है कि मन केवल भौतिकतत्त्व नही है। भौतिकतत्त्व मानने पर उसके विचित्र गुण-चेतन-क्रियाओ की व्याख्या नही हो सकती। मन (मस्तिष्क) मे ऐसे अनेक नये गुण देखे जाते हैं जो पूर्व भौतिक-तत्त्वो मे नही थे। एतदर्थ भौतिक-तत्त्वो और मन को एक नही कह सकते और साथ ही भौतिक-तत्त्वो से मन इतना पृथक् भी नही है कि उसे बिल्कुल ही एक पृथक् तत्त्व माना जाय।[2]

हम उपर्युक्त उद्धरण के प्रकाश मे चिन्तन करे तो ज्ञात होगा कि मन के सम्बन्ध मे ही नही अपितु मन के साधनभूत मस्तिष्क के सम्बन्ध मे भी आधुनिक वैज्ञानिक कितने सदिग्ध है। मस्तिष्क को भूतकाल के प्रतिबिम्बो का वाहक और स्मृति का साधन मान कर के भी स्वतन्त्र चेतना का लोप

---

१ सूत्रकृताग वृत्ति १।८

२ विज्ञान की रूपरेखा पृ ३६७

नही कर सकते। फोटो के नेगेटिव प्लेट के समान मस्तिष्क वर्तमान के चित्रो को अकित कर सकता है, सुरक्षित रख सकता है किन्तु भविष्य की कल्पना नही कर सकता। "यह क्यो है ? यह है तो ऐसा होना चाहिए, इस प्रकार नही होना चाहिए, यह वही है, इसका परिमाण इस प्रकार होगा।" यह सारा चिन्तन सिद्ध करता है कि कोई स्वतन्त्र चेतनात्मक शक्ति का अस्तित्व है। प्लेट की चित्रावली मे नियमन होता है। उसमे प्रतिविम्बित चित्र के अतिरिक्त कुछ भी नही होता किन्तु मानव-मन पर यह नियम लागू नही होता। वह भूतकाल की धारणाओ के आधार पर चिन्तन कर निष्कर्ष निकालता है और भविष्य का मार्ग सुनिर्णीत करता है अत प्रस्तुत दृष्टात से मानस-क्रिया की सगति नही बैठ सकती।

विज्ञान ने जो अभूतपूर्व प्रगति की है वह प्रगति अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व है। ये आविष्कार किसी दृष्ट-वस्तु का प्रतिविम्ब नही अपितु स्वतन्त्र-मानस की तर्कणा के कार्य है। एतदर्थ स्वतन्त्र-चेतना का विकास और अस्तित्व मानना चाहिए।

वैज्ञानिक दृष्टि से १०२ तत्त्व हैं। वे सभी तत्त्व मूर्त हैं। उन्होने आज तक जितने भी प्रयोग किये है वे सभी मूर्त-द्रव्यो पर किये हैं। अमूर्त-तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नही हो सकता और न उस पर प्रयोग ही हो सकते हैं। आत्मा अमूर्त है एतदर्थ वैज्ञानिक भौतिक साधनयुक्त होने पर भी उसका पता नही लगा सके हैं। भौतिक साधनो से आत्मा का अस्तित्व-नास्तित्व नही जाना जा सकता। शरीर पर किये गये प्रयोगो से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नही हो सकती।

रूस के सुप्रसिद्ध जीव-विज्ञानी पावलोफ ने परीक्षण की दृष्टि से एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया। वह कुत्ता शून्यवत् हो गया। उसकी शारीरिक चेष्टाएँ स्तब्ध हो गईं। वह अपने स्वामी एव भोजन तक को भी नही पहचानता, तथापि वह मरा नही। इन्जेक्शनो से उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता। उसने प्रस्तुत प्रयोग से यह सिद्ध किया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकाल देने पर प्राणी मे कुछ भी चैतन्य नही रहता।

यहाँ पर यह समझना है कि दिमाग चेतना का उत्पादक नही परन्तु वह मानस प्रवृत्तियो के उपयोग का साधन है। दिमाग निकलने से उसकी मानसिक चेष्टाएँ रुक गईं, किन्तु उसकी चेतना नष्ट नही हुई। चेतना

यदि नष्ट हो जाती तो वह जीवित नही रह सकता था। खाद्य-पदार्थ को ग्रहण करना, खून का सचार, प्राणापान आदि चेतन प्राणी के लक्षण है। ऐसे अनेक प्राणी है जिनमे मस्तिष्क का अभाव है पर उनमे शोक, हर्ष, भय आदि प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। उस अनुभूति की अभिव्यक्ति के साधन उसके पास हो या न हो यह अलग बात है। उसे कष्ट होता ही है किन्तु वाणी का साधन न होने से वह उस अपार कष्ट को कह नही पाता है। उसे कष्ट नही होता यह कहना तो भ्रमपूर्ण है। आगम साहित्य मे स्थावर जीवो की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए लिखा है—एक जन्म से अन्धा है, जन्म से मूक है, जन्म से वधिर है, और अनेक रोगो से ग्रसित है। उस व्यक्ति के शरीर पर कोई युवक पुरुष तलवार से एक बार नही अपितु वत्तीस-वत्तीस वार छेदन-भेदन करे उस व्यक्ति को जितना कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वीकाय के जीवो को उन पर प्रहार करने से होता है किन्तु सामग्री के अभाव मे वे उसे व्यक्त नही कर पाते। मानव प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है अत इन तथ्यो को स्वीकार करने से कतराता है। आत्मा अरूपी है वह चर्म चक्षुओ से देखी नही जा सकती।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

दार्शनिको मे दो मत है—एक मत का यह मन्तव्य है कि निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ कदापि पैदा नही हो सकता। एतदर्थ जीव अनादि काल से है। वैज्ञानिक लुई पाश्चर और टिंजल का यह मत है। लुई पाश्चर और हिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा यह प्रमाणित भी किया है। वह परीक्षण इस प्रकार था—

उन्होने एक काँच के गोले मे कुछ विशुद्ध पदार्थ रखा और उसके पश्चात् धीरे-धीरे उसके अन्दर से सम्पूर्ण हवा निकाल दी। वह गोला और उसके अन्दर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके अन्दर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई अन्य चीज न रह जाय, यह पूर्व ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था मे रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाय, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था मे किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नही होती। उसी पदार्थ को वाहर निकाल कर रख देने पर कुछ दिनो में ही उनमे कीडे-मकोडे, या

क्षुद्राकार जीवाणु दिखाई देने लगते है। इससे यह सिद्ध है कि बाहर की हवा मे रहकर ही जीवाणु या प्राणी का अण्डा या नन्हे-नन्हे जीव इस पदार्थ मे जाकर उपस्थित होते हैं।"

दूसरे दार्शनिको का अभिमत है कि निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति होती है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड', रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिनस्काया, अणु-वैज्ञानिक डॉ० डेराल्डयूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति मानते है।

मार्क्सवाद का कहना है कि चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी पानी है। जब उसका तापमान बढा दिया जाता है तो निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर भाप बन जाता है, यदि उसका तापमान कम कर दिया जाय तो बर्फ बन जाता है। जिस प्रकार भाप और बर्फ का पूर्व रूप पानी है। उसका भाप या बर्फ के रूप मे परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर पानी-पानी नही रहता, वैसे ही चेतना का पहला रूप मिटकर चेतना को पैदा कर सका है।

पर प्रश्न यह है कि पानी निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर भाप या बर्फ बनता है वैसे ही भौतिकता का ऐसा कौनसा निश्चित बिन्दु है जहाँ पर पहुँचकर भौतिकता चेतना के रूप मे बदल जाती है। इस प्रश्न का समाधान वैज्ञानिक अभी तक नही कर पाये है। मस्तिष्क के हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, फासफोरस प्रभृति घटक तत्त्व हैं। उनमे से कौनसा तत्त्व चेतना का उत्पादक है? या सभी के मिश्रण से चेतना उत्पन्न होती है? या कितने तत्त्वो की कितनी मात्रा मिलने पर चेतना उत्पन्न होती है? इसका अभी तक परिज्ञान वैज्ञानिको को नही है। 'चेतना का पूर्व-रूप क्या है' इस प्रश्न का वे समाधान नही कर सके हैं।

क्या इन्द्रियाँ और मस्तिष्क आत्मा हैं?

हम देखते हैं कि आँख, कान, आदि इन्द्रियाँ नष्ट भी हो जाती हैं पर उन इन्द्रियो से जिन विषयो का ज्ञान किया है वे विषय उसे स्मरण रहते है इसका अर्थ यह है कि आत्मा देह और इन्द्रियो से भिन्न है। यदि इन्द्रियाँ ही आत्मा होती तो इन्द्रियो के नष्ट होने पर उन इन्द्रियो से अनुभूत ज्ञान स्मरण नही रह सकता। इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान का अधिष्ठाता आत्मा इन्द्रियो से भिन्न है। यदि यह कहा जाय कि स्मृति का

कारण मस्तिष्क है, आत्मा नही। मस्तिष्क स्वस्थ रहने पर स्मृति रहती है उसके विकृत होने पर स्मृति लोप हो जाती है अत ज्ञान का अधिष्ठाता मस्तिष्क है, इसलिए आत्मा को मानने की आवश्यकता नही। प्रस्तुत युक्ति भी उचित नही है। जैसे बाहरी वस्तुओ को जानने मे इन्द्रियाँ साधन है वैसे ही इन्द्रिय-ज्ञान सम्बन्धी चिन्तन और स्मृति के लिए मस्तिष्क साधन है। यदि मस्तिष्क विकृत हो गया तो सही स्मृति नही होती तथापि पागल व्यक्ति मे चेतना तो होती है। साधनो की कमी होने से ज्ञान शक्ति धुधली हो सकती है किन्तु नष्ट नही होती। पागल व्यक्ति भी खाता है, पीता है, चलता है, फिरता है, श्वासोच्छ्वास लेता है। इससे यह सहज ही ज्ञात होता है कि दिमाग के अतिरिक्त भी चेतना-शक्ति है जिससे ये सारी क्रियाएँ होती है। मस्तिष्क चेतना का केन्द्र है, इसमे दो राय नही है। तन्दुल वेयालिय ग्रन्थ मे लिखा है कि मानव-शरीर मे १६० ऊर्ध्वगामिनी और रसहारिणी शिराएँ है, जो नाभि से निकलकर सिर तक पहुँचती है। वे जब तक स्वस्थ होती है तब तक आँख, कान, नाक और जीभ का बल ठीक रहता है।[1]

चरक के अनुसार भी मस्तक, प्राण और इन्द्रियो का केन्द्र है।[2] वह चैतन्य-सहायक धमनियो का जाल है। यह सत्य है कि मस्तिष्क की अमुक शिरा कट जाने पर अमुक प्रकार की अनुभूति नही होती किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि मस्तिष्क ही चेतना है।

आत्मा के असख्यात प्रदेश

हम यह पूर्व बता चुके है कि आत्मा के असख्यात प्रदेश है। असख्य प्रदेशो का समुदाय ही जीव है। एक, दो, तीन, चार, प्रदेश जीव नही होते। आत्मा असख्य जीवकोषो का पिण्ड नही है। वैज्ञानिक दृष्टि से असख्य सेल्स (Cells) जीवकोषो से प्राणी का शरीर और चेतन निर्मित होता है। वैज्ञानिक दृष्टि केवल शरीर तक सीमित रही है। शरीर तो पुद्गल का

---

१ इमम्मि सरीरए सट्ठिसिरासय नाभिप्पभवाण उढ्ढगामिणीण सिर उपगयाण जाउ रसहरणिओत्ति च्चइ। बुजसि ण निरुवघाएण चक्खुसोयघाणजिहाबल भवइ।

—तन्दुल वैयालिय

२ प्राणा प्राणभृता यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गाना शिरस्तदभिधीयते ॥

—चरक सहिता

पिण्ड है, वह रूपी है अत उसे देखा जा सकता है, उसका विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु आत्मा अरूपी है, इन्द्रियो से उसे नही देख सकते। अतएव जीवकोषो से आत्मा की उत्पत्ति बताना अनुचित है। आत्मा के जो असख्य प्रदेश बताये गये हैं वह केवल आत्मा का परिमाण जानने के लिए है। वह आरोपित है, वास्तविक नही। आत्मा अखण्ड द्रव्य रूप है। उसमे कभी भी सघात-विघात नही होता। एक धागा भी कपडे का उपकारी है उसके अभाव मे कपडा पूर्ण नही होता किन्तु एक धागा ही कपडा नही है। कपडा समुदित धागाओ का नाम है। वैसे ही एक प्रदेश जीव नही है। असख्य चेतन प्रदेशो के पिण्ड का नाम ही जीव है।

चैतन्य आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। यह गुण आत्मा के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य मे नही है, अतएव आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। उसमे पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ-क्रियाकारित्व और सत् दोनो घटते है। पदार्थ वह है जो सत् हो, पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओ को छोडता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओ को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न छोडे। आत्मा का ज्ञान-प्रवाह निरन्तर प्रवाहित है। वह उत्पाद-व्यय युक्त होने पर भी ध्रुव है।

आत्मा पर वैज्ञानिको के विचार

प्रोफेसर अलवर्ट आइन्स्टीन ने कहा—'मैं जानता हूँ कि सारी प्रकृति मे चेतना काम कर रही है।'[1] सर ए० एस० एडिंग्टन का मानना है कि "कुछ अज्ञात शक्ति काम कर रही है, हम नही जानते वह क्या है? मैं चैतन्य को मुख्य मानता हूँ, भौतिक पदार्थ को गौण। पुराना नास्तिकवाद चला गया है। धर्म आत्मा और मन का विषय है और वह किसी प्रकार से हिलाया नही जा सकता।[2] हर्बर्ट स्पेन्सर का मन्तव्य है "गुरु, धर्म गुरु, बहुत सारे दार्शनिक—प्राचीन हो या अर्वाचीन, पश्चिम के हो या पूर्व के,

---

1 I believe that intelligence is manifested throughout all nature
—*The Modern Review of Calcutta*, July 1936

2 Something unknown is doing we donot know what I regard consciousness as fundamental I regard matter as derivative from consciousness the old atheism is gone Religion belongs to the realm of the spirit and mind, and cannot be shaken
—*The Modern Review of Calcutta*, July 1936

सब ने अनुभव किया हैं कि वह अज्ञात या अज्ञेय तत्त्व वे स्वय ही है।[1] जे० वी० एस० हेल्डन का विचार है कि 'सत्य यह है कि विश्व का मौलिक तत्त्व जड (Matter) बल (Force) या भौतिक पदार्थ (Physical thing) नही है किन्तु मन और चेतना ही है।'[2] आर्थर एच० काम्पटन ने लिखा है 'एक निर्णय जो कि बताता है मृत्यु के वाद आत्मा की सभावना है। ज्योति काष्ट से भिन्न है। काष्ट तो थोडी देर उसे प्रकट करने मे ईधन का काम करता है।'[3]

दि ग्रेट डिजायन नामक एक पुस्तक मे विश्व के प्रमुख वैज्ञानिको ने अपनी सामूहिक सम्मति प्रदान की है कि यह दुनियाँ विना रूह की मशीन नही है, यह इत्तफाक ही से यो ही नही वन गई है। मादे के इस परदे के पीछे एक दिमाग, एक चेतना-शक्ति काम कर रही है चाहे हम उसका कुछ भी नाम क्यो न दे।"

रेने डेकार्ट ने एक बहुत ही सरल उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—'मैं चिन्तन करता हूँ' इसका अर्थ 'मैं' हूँ और इसमे 'मैं' या आत्मा की ध्वनि होती है।

स्पिनोजा मानते थे कि प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण है और गुण भी अनन्त हैं। हमारा ज्ञान दो गुणो तक ही सीमित है—चेतन और विस्तार। चेतना के असख्य रूप है और हर रूप आत्मा है। विस्तार के भी असख्य रूप है और प्रत्येक रूप प्राकृत पदार्थ कहलाता है।

जॉन लॉक का कथन है कि आत्मा प्रत्यक्ष-ज्ञान का विषय है। 'मैं चिन्तन करता हूँ, मैं तर्क करता हूँ, मैं सुख-दु ख का अनुभव करता हूँ।' से अपनी सत्ता का अनुभव होता है और ज्ञान होता है। इससे यह कहा जा सकता है कि आत्मा ज्ञान का विषय है।

---

1 The teachers and founders of the religion have all taught, and many philosophers ancient and modern, Western and Eastern have perceived that this unknown and unknowable is our very self
—*First Principles*, 1900

2 The truth is that, not matter, not forces, not any physical thing, but mind, personality is the central fact of the Universe
—*The Modern Review of Calcutta*, July 1936

3 A conclusion which suggests the possibility of consciousness after death the flame is distinct from the log of wood which serves it temporarily as fuel
—*Arthurh, H Compton*

जार्ज बर्कले ने विश्व की सत्ता को तीन भागो मे विभक्त किया (१) आत्मा और उसका बोध, (२) परमात्मा, (३) बाह्य पदार्थ। उसके अनुसार आत्मा कदापि चिन्तन या चेतना के अभाव मे नही रह सकता।

डेकार्ट, लॉक और बर्कले ने आत्मा की सत्ता को स्वयसिद्ध माना है। उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही। ह्यूम ने आत्मा को भी प्रकृति की तरह एक कल्पना मात्र माना है। फ्रीखटे ने 'मैं हूँ' से प्रकट किया कि 'मैं' ज्ञेय से भिन्न है। मैं और ज्ञेय एक दूसरे से ओतप्रोत है।

वैज्ञानिको ने आत्मा के सम्बन्ध मे अनुसधान किये हैं किन्तु अभी तक वे किसी भी निश्चित निर्णय पर नही पहुँच पाये। आज भी आत्मा उनके लिए पहेली बनी हुई है। यह पहेली कब बुझेगी निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

आत्मा की ससिद्धि

आत्मा की ससिद्धि साधक-प्रमाणो से और बाधक-प्रमाण के अभाव से, इन दोनो से होती है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक-प्रमाण अनेक हैं किन्तु बाधक-प्रमाण एक भी ऐसा नही है जो आत्मा का निषेध करता हो। इसलिए आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है—यह सिद्ध होता है। इन्द्रियो से आत्मा का परिज्ञान नही होता तथापि वह आत्मा के अस्तित्व मे बाधक नही है, क्योकि बाधक तो वह हो सकता है जो जानने मे पूर्ण समर्थ हो, तथापि न जाने। जैसे आँखे किसी वस्तु को देख सकती हैं, जिस वस्तु को देखना हो वह वस्तु पास मे हो, प्रकाश भी उचित मात्रा मे हो तथापि न देख सके तो वह बाधक कहलाती है। इन्द्रियो की ग्राह्य-शक्ति सीमित है, वे सन्निकटवर्ती स्थूल पौद्‌गलिक पदार्थो को जान सकती हैं किन्तु आत्मा अपौद्‌गलिक होने से इन्द्रियग्राह्य नही है।

आत्मा के अस्तित्व-साधक अनेक प्रमाण उपलब्ध है, इसलिए उसकी स्थापना की जाती है। तथापि यदि कोई सन्देह करता है तो वे कहते हैं कि 'आत्मा नही है' इसमे प्रमाण क्या है ? 'आत्मा है' इसका स्पष्ट प्रमाण तो चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते है। उससे अप्रत्यक्ष आत्मा का सद्‌भाव भी स्वत -सिद्ध है। धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है क्योकि विना अग्नि के धुआँ नही होता। चेतना भूत-समुदाय का धर्म नही है चूंकि भूत जड है। चेतन कभी भी अचेतन नही होता और

अचेतन कभी चेतन नही होता। इसलिए आत्मा जड से पृथक् तत्त्व है। जैसा कि हमने पूर्व देखा है कि कितने ही चिन्तको ने आत्मा को जड पदार्थ का विकसित रूप माना है पर उनका यह मानना तर्क-सगत नही है, क्योकि जो विकास होता है वह अपने धर्म के अनुकूल ही होता है। चेतना-हीन जड पदार्थ से चेतनायुक्त आत्मा का पैदा होना विकास नही है किन्तु यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। जडत्व और चेतनत्व ये दो परस्पर विरोधी महाशक्तियाँ हैं अत उन्हे एक न मानकर अलग-अलग मानना ही तर्कसगत है।

जीव विभाग

दार्शनिक विद्वानो ने जीवो के विभाग अनेक दृष्टियो से किये है। जैन दार्शनिको ने गति और ज्ञान के आधार से जीवो के विभाग किये है। गति के आधार से जीवो के दो विभाग होते हैं—

(१) स्थावर,
(२) त्रस

जिनमे गमन करने की क्षमता का अभाव है वे स्थावर है और जिनमे चलने की क्षमता है वे त्रस हैं।[1]

स्थावर जीवो के तीन भेद हैं—पृथ्वी, जल और वनस्पति।[2] कही-कही पाँच विभाग भी बताये गये है—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेजस्काय (४) वायुकाय, और (५) वनस्पति। अग्नि और वायु इन दो को गति-शील होने से अपेक्षापूर्वक गतित्रस कहा गया है। इनके सूक्ष्म और स्थूल ये दो प्रकार हैं। सूक्ष्म जीव समूचे लोक मे व्याप्त हैं और स्थूल जीव लोक के कई भागो मे प्राप्त होते हैं।[3]

स्थूल पृथ्वी के दो प्रकार है—(१) मृदु और (२) कठिन। मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं—(१) कृष्ण (काली) (२) नील (नीली या ग्रेनित शिलोत्पन्न) (३) लोहित (लेटराइट या लाल) (४) हारिद (पीली) (५) शुक्ल (श्वेत) (६) पाण्डु (धूमिल भूरी) (७) पनकमृतिका (नद्यु प

---

१ उत्तराध्ययन ३६।६९

२ पुढवी आउजीवा य तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे॥ —उत्तरा० ३६।७०

३ उत्तरा० ३६।७८, ८६, १००

पक, किट्ट तथा चिकनी दोमट) यहाँ ये भेद अत्यन्त वैज्ञानिक हैं।[1] प्रज्ञापना मे भी मृदु पृथ्वी के सात प्रकार बताये हैं।

कठिन पृथ्वी—भूतल-विन्यास (टैरेन) और करबोपलो (ओरिस) को छत्तीस भागो मे विभक्त किया गया है—

(१) शुद्ध पृथ्वी
(२) शर्करा
(३) वालुका—वलुई
(४) उपल—कई प्रकार की शिलाएँ और करवोपल
(५) शिला
(६) लवण
(७) ऊप—नौनी मिट्टी
(८) अयस्—लोहा
(९) ताम्र—ताँवा
(१०) त्रपु—जस्त
(११) सीसक—सीसा
(१२) रूप्य—चाँदी
(१३) सुवर्ण—सोना
(१४) वज्र—हीरा
(१५) हरिताल
(१६) हिगुलुक
(१७) मन शीला—मैनसिल
(१८) सस्यक—रत्न का एक प्रकार
(१९) अजन
(२०) प्रवालक—मूगे के समान रग वाला[2]
(२१) अभ्रक बालुका—अभ्रक की वालु
(२२) अभ्रपटल—अभ्रक
(२३) गोमेदक—वैडूर्य की एक जाति

---

१ उत्तराध्ययन ३६।७२

२ कौटिलीय अर्थशास्त्र ११।३६

(२४) रुचक—मणि की एक जाति
(२५) अक—मणि की एक जाति
(२६) स्फटिक
(२७) मरकत—पन्ना
(२८) भुजमोचक—मणि की एक जाति
(२९) इन्द्रनील—नीलम
(३०) चन्दन—मणि की एक जाति
(३१) पुलक—मणि की एक जाति
(३२) सौगन्धिक—माणक की एक जाति
(३३) चन्द्रप्रभ—मणि की एक जाति
(३४) वैडूर्य
(३५) जलकान्त—मणि की एक जाति
(३६) सूर्यकान्त—मणि की एक जाति

उत्तराध्ययन की वृहद्वृत्ति के अनुसार लोहिताक्ष और मसारगल्ल क्रमश स्फटिक और मरकत तथा गोरुक और हसगर्भ के उपभेद है।[1]

स्थूल जल के पाँच प्रकार है—(१) शुद्ध उदक, (२) ओस, (३) हर-तनु (४) कुहरा और (५) हिम।[2]

स्थूल वनस्पति के दो प्रकार है—(१) प्रत्येक शरीरी और (२) साधारण शरीरी। जिसके एक शरीर मे एक जीव होता है वह प्रत्येक शरीरी वनस्पति कहलाती है और जिसके एक शरीर मे अनन्त जीव होते है वह साधारण शरीरी वनस्पति कहलाती है।

प्रत्येक शरीरी वनस्पति के बारह प्रकार हैं।

१ वृक्ष
२ गुच्छ
३ गुल्म
४ लता
५ वल्ली
६ तृण
७ लतावलय
८ पर्वग
९ कुहुण
१० जलज
११ औषधितृण
१२ हरितकाय[3]

---

१ उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति पत्र ६८९
२ उत्तराध्ययन ३६।८६
३ उत्तराध्ययन ३६।९५—९६

साधारण शरीरी वनस्पति के अनेक प्रकार है, जैसे—कन्द, मूल आदि[1]

त्रस जीव छह प्रकार के है--

१ अग्नि २ वायु	} गतित्रस	४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रिय
३ द्वीन्द्रिय		६ पचेन्द्रिय[2]

अग्नि और वायु की गति अभिप्रायपूर्वक नही होती, इसलिए वे केवल गमन करने वाले त्रस कहलाते है। द्वीन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करते हैं।

अग्नि और वायु ये दोनो सूक्ष्म और स्थूल रूप से दो-दो प्रकार के है। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है और स्थूल जीव लोक के अमुक भाग मे हैं।[3] स्थूल अग्निकायिक जीवो के अनेक भेद है—अगार, मुर्मु र, शुद्ध, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्का, विद्यु त आदि।[4]

स्थूल वायुकायिक जीवो के भेद इस प्रकार है—(१) उत्कलिका (२) मण्डलिका (३) घनवात, (४) गुञ्जावात, (५) शुद्धवात (६) सवर्तक वात[5]।

अभिप्रायपूर्वक जिन किन्ही प्राणियो मे सामने जाना, पीछे मुडना, सकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौडना—ये सभी क्रियाएँ है जो आगति और गति के विज्ञाता हैं वे सभी त्रस हैं।[6]

प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार त्रस जीवो के चार प्रकार है—(१) द्वीन्द्रिय (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, (४) पचेन्द्रिय[7]। ये स्थूल होते है इनमे सूक्ष्म स्थूल का विभाग नही है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव

---

१ उत्तराध्ययन ३६।९७—१००
२ वही० ३६।१०८—१२७
३ वही० ३६।११०—१२१
४ वही० ३६।१०१—१०६
५ उत्तराध्ययन ३६।११९—१२०
६ दशवैकालिक ४। सूत्र ९
७ उत्तरा० ३६।१२७

सम्मूर्च्छनज ही होते हैं। पचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) सम्मूर्च्छनज (२) और गर्भज। गति की दृष्टि से पचेन्द्रिय चार प्रकार के है—(१) नैरयिक (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य और (४) देव। पचेन्द्रिय तिर्यंच के जलचर, (२) स्थलचर और (३) खेचर ये तीन प्रकार हैं।[1]

जलचर के मुख्य प्रकार हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और शुशुमार आदि।[2]

स्थलचर की मुख्य दो जातियाँ है—(१) चतुष्पद, (२) परिसर्प।[3] चतुष्पद के चार प्रकार है—

(१) एक खुरवाले—अश्व आदि
(२) दो खुरवाले—बैल आदि
(३) गोल पैर वाले—हाथी आदि
(४) नख-सहित पैरवाले—सिंह आदि[4]

परिसर्प की मुख्य दो जातियाँ है (१) भुज परिसर्प—भुजाओ के वल रेंगने वाले गोह आदि।

(२) उर परिसर्प—छाती के वल रेंगने वाले सर्प आदि।[5]

खेचर की मुख्य चार जातियाँ हैं—

(१) चर्म पक्षी
(२) रोम पक्षी
(३) समुद्ग पक्षी
(४) वितत पक्षी[6]

ससारी और मुक्त

जैनदर्शन मे द्रव्य या स्वाभाविक शक्ति की दृष्टि से सभी जीव समान हैं। उनमे जीव और ईश्वर जैसी कोई भेद-रेखा नही है। तथापि पर्याय की दृष्टि से मुख्य रूप से जीव दो प्रकार के हैं—(१) ससारी और

---

१ उत्तराध्ययन ३६।१७२
२ वही० ३६।१७३
३ उत्तराध्ययन ३६।१८०
४ वही० ३६।१८१
५ वही० ३६।१८२
६ वही० ३६।१८८

सिद्ध, जिन्हे दूसरे शब्दो मे बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा भी कह सकते हैं। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएँ हैं। उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य मे मुक्ति के पर्यायवाची अनेक शब्दो का प्रयोग हुआ है—मोक्ष[1] निर्वाण[2] बहि विहार[3] सिद्धलोक[4] आत्मवसति[5] अनुत्तरगति[6], प्रधानगति[7], वरगति[8], सुगति[9], अपुनरावृत्त[10], अव्याबाध[11], लोकोत्तमोत्तम[12] आदि। मुक्त जीव की अवस्था जरा-मरण से रहित, व्याधि से रहित, शरीर से रहित, अत्यन्त दु खाभावरूप, निरतिशय सुखरूप, शान्त, क्षेमकर, शिवरूप, घनरूप, वृद्धि-ह्रास से रहित, अविनश्वर, ज्ञानरूप, दर्शनरूप, पुनर्जन्मरहित और एकान्त अधिष्ठान रूप है।[13]

मुक्त अवस्था को प्राप्त आत्मा स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेने के कारण परमात्मा बन जाता है। आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है। सभी मुक्तात्मा पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं किन्तु अद्वैत वेदान्त के समान एकरूप नही होते। ज्ञान और दर्शन रूप चेतना का, जो जीव का स्वभाव है, अभाव नही होता। कर्म का पूर्ण अभाव हो जाने से तज्जन्य शरीर जरा, व्याधि, रूप, दु ख, वृद्धि-ह्रास आदि कुछ भी नही रहता, क्योकि वे सभी कर्मो के सम्पर्क से होते हैं। भौतिक शरीर एव रूप आदि न होने

---

१ उत्तराध्ययन ६।१०
२ वही० ३६।२६६, २८।३०
३ वही० १४।४
४ वही २३।८३, १०।३५
५ वही १४।४८, ७।२५
६ उत्तरा० १८।३८, १८।३६-४०, ४२, ४३, ४८
७ उत्तरा० १६।६८
८ उत्तरा० ३६।६७
९ उत्तरा० २८।३
१० उत्तरा० २६, ४४, २१, २५
११ उत्तरा० २६।३
१२ उत्तरा० २६।५८
१३ (क) अरूविणो जीवघणा नाणदसणसन्निया
अउल सुहमपत्ता उवमा जस्स नत्थिउ ॥
—उत्तरा० ३६।६६

(ख) उत्तरा० २६।२८, ६।४, २६।४१,

पर भी जीव का अभाव नही हो जाता, उसे घनरूप कहा गया है। साराश यह है कि मोक्ष अभाव रूप नही किन्तु भावात्मक है। मुक्त होने से पहले जीव जिस शरीर से युक्त होता है उस शरीर का जितना आकार-ऊँचाई एव चौडाई होती है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीवो का होता है।[1] क्योकि शरीर मे जो रिक्त (पोला) भाग है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान के समय आत्म-प्रदेशो से व्याप्त हो जाता है। अतएव एक-तिहाई भाग कम विस्तार हो जाता है और वही विस्तार मुक्त-दशा मे रहता है।

प्रश्न यह है—कि मुक्त जीवो के शरीर नही है इसलिए आत्म-प्रदेशो को या तो अणुरूप हो जाना चाहिए, या सर्वत्र फैल जाना चाहिए, पूर्वजन्म के शरीर की अपेक्षा तृतीय भाग न्यून बताया गया है, इसका क्या रहस्य है।

उत्तर है—ससार अवस्था मे जीव को शरीर-प्रमाण बताया है किन्तु अणुरूप और व्यापकरूप नही। अत मोक्ष मे भी अणु अथवा व्यापक-रूप नही हो सकता। आत्मा मे जो सकोच और विस्तार होता है वह कर्म-जन्य शरीर के फलस्वरूप है। मुक्तात्माओ मे शरीर न होने से तज्जन्य सकोच और विस्तार नही होता। मुक्तात्माओ मे जो अवगाहना बताई गई है वह अन्तिम शरीर के आधार से बताई गई है। मुक्त-जीव रूपादि से रहित होते है, जो आत्म-प्रदेशो के विस्तार की बात कही गई है वह आकाश प्रदेश मे स्थित आत्मा के अदृश्य प्रदेशो की अपेक्षा से है। अमूर्त होने से एक आत्मा के प्रदेशो के साथ अन्य आत्माओ के प्रदेश रह सकते है।

मुक्तावस्था मे शरीर एव शरीर-जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि कुछ भी नही होते। वे आत्म-रूप हो जाते है। अतएव उन्हे सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊँचे लोक के चरम भाग मे होता है। वे मुक्त होते ही वहाँ पर पहुँच जाते है। आत्मा का स्वभाव सदा ऊपर जाने का है, कर्म रहित होने से ऊपर जाने के पश्चात् फिर कभी नीचे नही

---

१ उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणो तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे ॥
—उत्तरा० ३६।६४

आते । जब तक कर्म का घनत्व होता है वहाँ तक लोक का घनत्व उन पर दबाव डालता है, ज्यो ही कर्म का घनत्व नष्ट होता है आत्मा हलकी हो जाती है फिर लोक का घनत्व उसकी ऊर्ध्वगति मे बाधक नही बनता। गुब्बारे मे हाइड्रोजन भरने पर वायुमण्डल के घनत्व से उसका घनत्व कम हो जाता है इसलिए वह ऊँचा चला जाता है। यही बात यहाँ पर भी समझनी चाहिए।

मुक्तजीव अशरीरी होते है। गति शरीर से सम्बन्धित है इसलिए मुक्तजीव गतिशील नही हैं। उनमे कम्पन नही होता, अकम्पित दशा मे ही जीव की मुक्ति होती है[1] और वे हमेशा उसी स्थिति मे रहते है। सत्य तथ्य यह है कि वह उनकी स्वय प्रयुक्त गति नही है वह तो बन्धन-मुक्ति का वेग है जिसका एक ही धक्का एक समय मे उसे लोकान्त तक ले जाता है।

चक्र पूर्व-आयोगजनित वेग के कारण घूमता है। मिट्टी से लिप्त तुम्बी जल-तल मे चली जाती है, लेप उतरते ही ऊपर आ जाती है। एरण्ड का बीज फली मे बँधा रहता है पर बन्धन टूटते ही ऊपर उछलता है अग्नि की शिखावत् अकर्मजीव की ऊर्ध्वगति होती है। भगवती मे पूर्व-प्रयोग, असगता, बध-विच्छेद, तथा विध स्वभाव ये चार कारण बताये हैं।[2] गति सहायक तत्त्व के अभाव मे अलोक मे भी नही जा सकते हैं। मुक्त अवस्था मे अलौकिक आत्मिक सुख की अनुभूति होती है।

दूसरे विभाग मे ससारी आत्मा है। ससारी आत्मा कर्म-युक्त होने से अनेक योनियो मे परिभ्रमण करती है, नित्य नूतन कर्म बाँधकर उनका फल भी भोगती है। मुक्त आत्माओ से ससारी आत्मा सख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त गुनी अधिक हैं। ससारी आत्मा कर्मावृत होने से षट्निकाय मे विभक्त हो गई है पर मुक्त आत्माओ मे कर्मरहित होने से किसी भी प्रकार का भेद नही है। सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकल कर्मो के बन्धन से रहित हैं।

---

१ भगवती ३।३

२ निस्सगयाए निरगणाए गतिपरिणामेण बधण छेयणाए।
निरिंधणयाए पुव्वप्पओगेण अकम्मस्स गती पन्नायति ॥

—भगवती ७।१।२६५

मुक्ति मे आत्मा का किसी दूसरी शक्ति मे विलय नही होता। मुक्त आत्मा की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सत्ता है। वह किसी दूसरी सत्ता का अवयव व विभिन्न अवयवो का सघात नही है। उसके प्रत्येक अवयव परस्पर अनुविद्ध हैं अत अखण्ड है। मुक्त जीवो के विकास की स्थिति मे भेद नही होता। मोक्ष की स्थिति मे सत्ता का स्वातन्त्र्य बाधक नही है। कर्म के कारण से ही अविकास और स्वरूप का आवरण होता है। कर्म का क्षय होते ही सम्पूर्ण उपाधियाँ मिट जाती हैं। सभी मुक्त आत्माओ का विकास समान हो जाता है। आत्मा के विकास की जो तरतमता है वह उपाधिकृत है किन्तु सहज नही, एतदर्थ मुक्त-दशा मे उनकी स्वतन्त्रता एव समानता मे किसी भी प्रकार की बाधा नही आती। आत्मा अपने-आप मे पूर्ण है अत उसे अन्य किसी दूसरे पर आश्रित रहने की आवश्यकता नही।

मुक्त अवस्था मे आत्मा सम्पूर्ण वैभाविक-आधेयो, औपाधिक विशेषताओ से मुक्त हो जाता है, अत उसका पुनरावर्तन नही होता। पुनरावर्तन का मूल कर्म है। कर्म का नाश होने से उसका बन्ध नही होता।

अजीव तत्त्व : एक अवलोकन

- धर्मास्तिकाय
- ईथर के साथ तुलना
- अधर्मास्तिकाय
- आकाशास्तिकाय
- बौद्धदर्शन में आकाश
- वैज्ञानिक दृष्टि से आकाश
- काल
- काल के प्रकार
- वैदिक दर्शन में काल का स्वरूप
- बौद्ध दर्शन मे काल

अजीव तत्त्व : एक अवलोकन

जीव तत्त्व का प्रतिपक्षी अजीव तत्त्व है ।[1] जीव चेतनामय है अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदि उपयोग लक्षण वाला है तो अजीव अचेतन है। शरीर मे जो ज्ञानवान पदार्थ है, जो सभी को जानता है, देखता है और सुख-दु ख आदि का अनुभव करता है वह जीव है।[2] जिसमे चेतना गुण का पूर्ण अभाव है, जिसे सुख-दु ख की अनुभूति नही होती है वह अजीव द्रव्य है ।[3]

अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी ।[4] पुद्गल रूपी है शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार अरूपी हैं ।

आगम साहित्य मे रूपी के लिए 'मूर्त' और अरूपी के लिए 'अमूर्त' शब्द का प्रयोग हुआ है ।

धर्मास्तिकाय

छह द्रव्यो मे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य गति करते है, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नही कि वे प्रतिपल-प्रतिक्षण गति करते ही रहते हो। वे गतिशील है तो स्थितिशील भी हैं। शेष चारो द्रव्य अवस्थित हैं। जैनदर्शन जीव और पुद्गल को गतिशील और स्थितिशील दोनो मानता है—और उसके लिए एक विशेष माध्यम भी स्वीकार करता है और वह माध्यम है धर्म और अधर्म। धर्म गति का माध्यम है तो अधर्म स्थिति का माध्यम है ।

धर्म और अधर्म शब्द का व्यवहार जैन साहित्य मे जहाँ शुभ और अशुभ प्रवृत्तियो के अर्थ मे हुआ है वहाँ पर धर्म-द्रव्य का प्रयोग गति-सहायक-

---

१ स्थानाङ्ग २।१।५७

२ पचास्तिकाय २।१२२

३ पचास्तिकाय २।१२४-१२५

४ (क) उत्तराध्ययन ३६।४

(ख) समवायाङ्ग १४९

५ (क) उत्तराध्ययन ३६।६

(ख) भगवती १८।७—७।१०

तत्त्व और अधर्म-द्रव्य का प्रयोग स्थिति सहायक-तत्त्व के रूप मे भी हुआ है। जैनदर्शन के अतिरिक्त भारत के अन्य किसी भी दार्शनिक ने इस पर चिन्तन नही किया है। आधुनिक वैज्ञानिको मे सर्वप्रथम न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of Motion) को माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइस्टीन ने गति-तत्त्व की सस्थापना करते हुए कहा—लोक परिमित है, लोक से परे अलोक भी परिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति मे सहायक होता है। वैज्ञानिको ने जिसे ईथर—गति तत्त्व—कहा है उसे ही जैन-साहित्य मे धर्म-द्रव्य कहा है।[1]

---

1 Hollywood, R and T *Instruction Lesson No* 2 *What is Ether* ?

I am quite sure that you have heard of Ether before now, but please do not confuse it with the Liquid Ether used by surgeons, to render a patient unconscious for an operation If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromagnetic-waves I would answer that I cannot accurately describe it Neither can anyone else The best that anyone could do would be to say that Ether is invisible body and that through it electromagnetic wāves can be propagated

But let us see from a practical standpoint the nature of the thing called 'Ether' We are all quite *familiar with the existence* of solids, liquids and gases Now suppose that inside a glass-vessel there are no solids, liquids or gases that all of these things have been removed including *the air as well*

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vessel, you would promptly reply that nothing exists within it, *that a vaccum has been created* But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'Ether' nothing else

So we may say *that 'Ether' is a* 'something' that is *not* a solid, nor liquid, nor gaseous, nor anything else which can be observed by us physically Therefore, we may say that an absolute 'vaccum' or a *void does not* exist anywhere, for we know that an absolute vaccum cannot be *created for* Ether cannot be *removed*

We get *our knowledge of* Ether from experiments by observing results and deducing *facts* For example, if within

भगवान् महावीर ने कहा—धर्म-द्रव्य एक है। वह समग्र लोक मे व्याप्त है, शाश्वत है, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से रहित है। वह जीव और पुद्गल की गति-क्रिया मे सहायक है। यहाँ तक कि जीवो का आगमन, गमन, वोलना, उन्मेष, मानसिक, वाचिक व कायिक आदि अन्य स्पन्दनात्मक प्रवृत्तियाँ भी धर्मास्तिकाय से होती है। उसके असख्यात प्रदेश हैं। वह नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य का अर्थ तद्भावाव्यय है। गति-क्रिया मे सहायता देने रूप भाव से कदापि च्युत नही होना धर्म का तद्भावाव्यय कहलाता है। अवस्थित का अर्थ है जितने असख्यात प्रदेश है उन प्रदेशो का कम और ज्यादा न होना किन्तु हमेशा उतने असख्यात ही बने रहना। वर्ण, गध, रस आदि का अभाव होने से वह अरूपी है। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य है। जीव आदि के समान पृथक्-पृथक् रूप से नही रहता किन्तु अखण्ड द्रव्य रूप मे रहता है। वह सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। लोक मे ऐसा कोई भी स्थान नही जहाँ पर धर्म-द्रव्य का अभाव हो। सम्पूर्ण लोकव्यापी होने से उसे अन्य स्थान पर जाने की आवश्यकता ही नही।

गति का तात्पर्य है एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने की क्रिया। धर्म इस प्रकार की गति क्रिया मे सहायक है। जैसे मछली स्वय तैरती है

---

the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of any kind reaches our ears Therefore we deduce that in the absence of air, sound does not exist, and thus, that sound must be due to vibration in the air

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void of air We find that radio signals are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air So we are right in deducing that electro-magnetic waves or Radio waves, do not depend on air for their propagation that they are propagated through or by means of 'something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted This something has been named 'Ether'

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth, and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter That is to say, Ether is everywhere, and that electromagnetic wave can be propagated everywhere

तथापि उसकी वह क्रिया बिना पानी के नही हो सकती। पानी के अभाव मे तैरने की शक्ति होने पर भी वह नही तैर सकती। इसका अर्थ है कि पानी तैरने मे सहायक है। जब मछली तैरना चाहती है तब उसे पानी की सहायता लेनी ही पडती है। यदि वह न तैरना चाहे तो पानी बल-प्रयोग नही करता। उसी तरह जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्मद्रव्य की सहायता लेनी पडती है।

हम वर्तमान दृष्टि से धर्मद्रव्य के सहाय को समझना चाहे तो ट्रेन और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। ट्रेन के लिए पटरी की सहायता जैसे अनिवार्य रूप से अपेक्षित है वैसे ही जीव और पुद्गल द्रव्य के लिए धर्म द्रव्य अपेक्षित है।

गति और स्थिति ये दोनो ही क्रियाएँ सहजरूप से जीव और पुद्गल मे ही पायी जाती है। इनका स्वभाव न केवल गति करना है और न स्थिति करना ही है। किसी समय किसी मे गति होती है तो किसी समय किसी मे स्थिति होती है। लोक मे चारो प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते है (१) स्थिति से गति को प्राप्त होने वाले (२) गति से स्थिति को प्राप्त होने वाले (३) हमेशा स्थिर रहने वाले और (४) हमेशा गति करने वाले। इसलिए गति और स्थिति ये दोनो स्वाभाविक हैं। दोनो यथार्थ हैं, दोनो के लिए भिन्न-भिन्न माध्यम मानना तर्कसगत है।

धर्म और अधर्म को मानना इसलिए आवश्यक है कि वह गति और स्थिति-निमित्तक द्रव्य हैं और साथ ही लोक और अलोक का विभाजन भी उनके बिना सभव नही है। हम पूर्व बता चुके है कि जीव और पुद्गल ये दोनो गतिशील हैं। गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वय है और निमित्त कारण धर्म और अधर्म द्रव्य है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक मे होती है इसलिए ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है जो स्वय गतिशून्य हो और सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हो किन्तु अलोक मे न हो।[1]

---

१ धर्माधर्मविभुत्वात् सवत्र च जीव पुद्गलविचारात्।
नालोक कश्चित् स्यान्न च मम्मतमेतदर्याणाम्॥
तस्माद्धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्त लोकख सर्वम्।
एव हि परिछिन्न सिद्धयति लोकस्तद् विभुत्वात्॥
—प्रज्ञापना, पद १, वृत्ति

इससे धर्म और अधर्म की कितनी आवश्यकता है इसका सहज परिज्ञान हो सकता है। धर्म और अधर्म का अस्तित्व सिद्ध करते हुए आचार्य मलयगिरि ने लिखा है, "इनके विना लोक-अलोक की व्यवस्था नही हो सकती।"[1]

लोक है, इसमे तो किसी को शका नही है क्योकि वह इन्द्रियो से प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, परन्तु अलोक इन्द्रियो से दिखलाई नही देता है। इसलिए उसके अस्तित्व-नास्तित्व का प्रश्न उद्‌बुद्ध होता है। जव हम लोक का अस्तित्व मानते हैं तब अलोक की अस्तिता भी स्वत मानली जाती है। तर्कशास्त्र का नियम है कि 'जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जिस प्रकार अघट, घट का प्रतिपक्ष है उसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है वह अलोक है।[2]

जहाँ पर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल और जीव ये सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है। जहाँ पर केवल आकाश ही है वह अलोक है। अलोक मे जीव और पुद्‌गल नही होते चूँकि वहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्य नही हैं। इस प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य लोक और अलोक का विभाजन करते हैं।

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्। गति-सहायक-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान ने समाधान दिया—गौतम। गति का सहारा नही होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरगे किस प्रकार फैलती? आँख किस प्रकार खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक-तत्त्व ही है।[3]

गणधर गौतम ने पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्। स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान ने समाधान करते हुए कहा—गौतम। स्थिति का सहारा

---

१ लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते —प्रज्ञापना पद १ वृत्ति

२ यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेय स स सविपक्ष। यथा घटोऽघट विपक्षक। यश्च लोकस्य विपक्ष. सोऽलोक। —न्यायावतार

३ भगवती १३।४

तथापि उसकी वह क्रिया विना पानी के नही हो सकती। पानी के अभाव मे तैरने की शक्ति होने पर भी वह नही तैर सकती। इसका अर्थ है कि पानी तैरने मे सहायक है। जब मछली तैरना चाहती है तब उसे पानी की सहायता लेनी ही पडती है। यदि वह न तैरना चाहे तो पानी बल-प्रयोग नही करता। उसी तरह जब जीव या पुद्गल गति करता है तब उसे धर्मद्रव्य की सहायता लेनी पडती है।

हम वर्तमान दृष्टि से धर्मद्रव्य के सहाय को समझना चाहे तो ट्रेन और पटरी का उदाहरण समुचित होगा। ट्रेन के लिए पटरी की सहायता जैसे अनिवार्य रूप से अपेक्षित है वैसे ही जीव और पुद्गल द्रव्य के लिए धर्म द्रव्य अपेक्षित है।

गति और स्थिति ये दोनो ही क्रियाएँ सहजरूप से जीव और पुद्गल मे ही पायी जाती है। इनका स्वभाव न केवल गति करना है और न स्थिति करना ही है। किसी समय किसी मे गति होती है तो किसी समय किसी मे स्थिति होती है। लोक मे चारो प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं (१) स्थिति से गति को प्राप्त होने वाले (२) गति से स्थिति को प्राप्त होने वाले (३) हमेशा स्थिर रहने वाले और (४) हमेशा गति करने वाले। इसलिए गति और स्थिति ये दोनो स्वाभाविक है। दोनो यथार्थ हैं, दोनो के लिए भिन्न-भिन्न माध्यम मानना तर्कसगत है।

धर्म और अधर्म को मानना इसलिए आवश्यक है कि वह गति और स्थित्ति-निमित्तक द्रव्य हैं और साथ ही लोक और अलोक का विभाजन भी उनके विना सभव नही है। हम पूर्व बता चुके हैं कि जीव और पुद्गल ये दोनो गतिशील है। गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल स्वय है और निमित्त कारण धर्म और अधर्म द्रव्य है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक मे होती है इसलिए ऐसी शक्तियो की अपेक्षा है जो स्वय गतिशून्य हो और सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हो किन्तु अलोक मे न हो।[1]

---

१ धर्माधर्मविभुत्वात् सवत्र च जीव पुद्गलविचारात्।
नालोक कश्चित् स्यान्न च सम्मतमेतदर्थाणाम्॥
तस्माद्धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्त लोकख सर्वम्।
एव हि परिच्छिन्न सिद्धयति लोकस्तद् विभुत्वात्॥
—प्रज्ञापना, पद १, वृत्ति

इससे धर्म और अधर्म की कितनी आवश्यकता है इसका सहज परिज्ञान हो सकता है। धर्म और अधर्म का अस्तित्व सिद्ध करते हुए आचार्य मलयगिरि ने लिखा है, "इनके विना लोक-अलोक की व्यवस्था नही हो सकती।"[1]

लोक है, इसमे तो किसी को शका नही है क्योकि वह इन्द्रियो से प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, परन्तु अलोक इन्द्रियो से दिखलाई नही देता है। इसलिए उसके अस्तित्व-नास्तित्व का प्रश्न उद्‌बुद्ध होता है। जव हम लोक का अस्तित्व मानते हैं तव अलोक की अस्तिता भी स्वत मानली जाती है। तर्कशास्त्र का नियम है कि 'जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान और शुद्ध होता है वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जिस प्रकार अघट, घट का प्रतिपक्ष है उसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है वह अलोक है।[2]

जहाँ पर धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल और जीव ये सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है। जहाँ पर केवल आकाश ही है वह अलोक है। अलोक मे जीव और पुद्‌गल नही होते चूंकि वहाँ पर धर्म और अधर्म द्रव्य नही है। इस प्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य लोक और अलोक का विभाजन करते है।

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! गति-सहायक-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है ?

भगवान ने समाधान दिया—गौतम ! गति का सहारा नही होता तो कौन आता और कौन जाता ? शब्द की तरगें किस प्रकार फैलती ? आँख किस प्रकार खुलती ? कौन मनन करता ? कौन बोलता ? कौन हिलता-डुलता ? यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सवका आलम्वन गति-सहायक-तत्त्व ही है।[3]

गणधर गौतम ने पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवो को क्या लाभ होता है ?

भगवान ने समाधान करते हुए कहा—गौतम ! स्थिति का सहारा

---

१ लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते —प्रज्ञापना पद १ वृति

२ यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेय स स सविपक्ष । यथा घटोऽघट विपक्षक । यश्च लोकस्य विपक्ष सोऽलोक । —न्यायावतार

३ भगवती १३।४

नही होता तो कौन खडा रहता ? कौन बैठता ? किस प्रकार सो सकते ? कौन मन को एकाग्र करता ? कौन मौन करता ? कौन निस्पन्द बनता ? निमेष कैसे होता ? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक-तत्त्व ही है।[१]

ईथर के साथ तुलना

अन्य भारतीय एव पाश्चात्य दर्शनो मे गति को तो यथार्थ माना गया है किन्तु गति के माध्यम के रूप मे 'धर्म' जैसे किसी विशेष तत्त्व की आवश्यकता अनुभव नही की गई। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने 'ईथर' के रूप मे गति-सहायक एक ऐसा तत्त्व माना है जिसका कार्य धर्म द्रव्य से मिलता-जुलता है। 'ईथर'[२] आधुनिक भौतिक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध है। ईथर के सम्बन्ध मे भौतिक विज्ञान वेत्ता डा० ए० एस० एडिंग्टन लिखते हैं—

"आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नही है, भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है, भूत मे प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणो का ईथर मे अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होगे 'ईथर का अभौतिक सागर'।"[3]

अलबर्ट आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार 'ईथर अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप मे स्थिर है।[४]

---

१ भगवती १३।४

२ न्याय-वैशेपिकदर्शन मे आकाश को 'ईथर' कहा है। इसका गुण या कार्य शब्द है।

3 This does not mean that the Ether is abolished We need an ether in the last century it was widely believed that ether was a king of matter having properties such as mass, rigidity, motion like ordinary matter It would be difficult to say when this view died out Now a days it is agreed that other is not a kind of matter, being non-material its properties are signeries (quite unique) characters such as mass and rigidity which we meet within matter will naturally be absent in ether but the ether will have new and definite characters of its own non-material ocean of ether —*The Nature of the Physical World* p 31

4 Thus it is proved that science and Jain Physics agree absolutely so far as they call Dharm (Ether) non-material, non-atomic, non-discrete, continuous, co extensive with space, indivisible and as a necessary medium for motian and one which does not itself move

धर्म-द्रव्य और ईथर पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हुए प्रोफेसर जी० आर० जैन लिखते हैं कि यह प्रमाणित हो गया है कि जैन दर्शनकार व आधुनिक वैज्ञानिक यहाँ तक एक है कि धर्म-द्रव्य या ईथर अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का माध्यम और अपने-आप मे स्थिर है।

अधर्मास्तिकाय

जैसे गति करने मे धर्मास्तिकाय कारण है वैसे ही अवस्थिति मे अधर्मास्तिकाय कारण है। जैसे धर्म के अभाव मे गति नही हो सकती वैसे अधर्म के अभाव मे स्थिति नही हो सकती। धर्म के समान वह भी सर्वलोकव्यापी है, अखण्ड है, जैसे सम्पूर्ण तिल मे तैल होता है वैसे ही सम्पूर्ण लोकाकाश मे अधर्मास्तिकाय है। जैसे वृक्ष की शीतल छाया पथिको के विश्राम मे सहायक होती है वैसे ही अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की अवस्थिति मे सहायक है।

प्रश्न है कि अधर्म स्थिति मे किस ढग से किस प्रकार की सहायता करता है ? उत्तर है कि अधर्म के अभाव मे केवल गति ही गति रहेगी, किसी भी प्रकार की सन्तुलित स्थिति सभव नही होगी। जो द्रव्य पदार्थो के सन्तुलन का माध्यम है वह अधर्म द्रव्य है।

दूसरा प्रश्न यह है कि धर्म और अधर्म ये दोनो लोकाकाशव्यापी हैं, दोनो का एक ही स्थान है। दोनो का परिमाण भी एक ही है, दोनो त्रैकालिक हैं। दोनो अमूर्त हैं, अजीव है, अनुमेय हैं, इतनी बहुत दोनो मे समानता होने पर भी उन्हे एक क्यो नही कहते ?

उत्तर है—धर्म और अधर्म इन दोनो का कार्य पृथक्-पृथक् है। एक गति मे सहायक है तो दूसरा स्थिति मे सहायक है। दोनो परस्पर विरोधी कार्य करते है इसलिए दोनो एक नही हो सकते।

तीसरा प्रश्न है कि धर्म और अधर्म ये अमूर्त द्रव्य है, अमूर्त होने से वे गति और स्थिति मे किस प्रकार सहायक हो सकते है ? उत्तर है—सहायता देने की सामर्थ्य केवल मूर्त मे ही नही किन्तु अमूर्त मे भी होती है। जैसे आकाश अमूर्त है तो भी वह अपने मे पदार्थ को स्थान देता है, वैसे ही धर्म और अधर्म गति और स्थिति मे सहायक है। आकाश के लिए अवकाश प्रदान करना असभव नही है वैसे ही धर्म और अधर्म के लिए गति और स्थिति मे सहायक होना असम्भव नही है।

प्रश्न है कि धर्म के समान अधर्म को भी लोक व्यापक मानेंगे तो वे दोनो एक दूसरे मे मिल जायेंगे, फिर दोनो मे किसी भी प्रकार का भेद नही रहेगा।

उत्तर है कि एक से अधिक तत्त्वो के सर्वव्यापक होने पर भी उनमे अपने-अपने कार्य की दृष्टि से भिन्नता हैं। जैसे अनेक दीपको के प्रकाश एक दूसरे से मिल जाने पर भी उनमे पृथक्ता रहती है। परस्पर मिल जाने पर भी उनमे से किसी का अस्तित्व समाप्त नही होता, वैसे ही धर्म और अधर्म के लोकव्यापक होने पर भी उनमे से किसी का अस्तित्व समाप्त नही होता।

कितने ही आधुनिक विद्वान अधर्म की तुलना, या समानता 'गुरुत्वाकर्षण (gravitation) एव फील्ड (field) के साथ करते है किन्तु डाक्टर मोहन लाल जी मेहता का मन्तव्य है कि गुरुत्वाकर्षण और फील्ड से अधर्म पृथक और एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को अनावश्यक मानते हैं। उनका अभिमत है कि ये दोनो द्रव्य नही, द्रव्य के पर्याय मात्र है।[1]

आकाशास्तिकाय

जो द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान प्रदान करता है वह आकाश द्रव्य है।[2] आकाश सभी द्रव्यो का आधारभूत भाजन (पात्र विशेष) है।[3]

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवो और अजीवो को क्या लाभ होता है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! आकाश नही होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल

---

१ प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्त किं धर्माधर्मयो फलम्॥

—निश्चयद्वात्रिंशिका २४

२ आकाशस्यावगाह। —तत्त्वार्थ सूत्र ५।१८

३ भायण सव्वदव्वाण नह ओगाहलक्खण। —उत्तरा० २८।९

कहाँ पर बरतता ? पुद्गल का रगमच कहाँ पर बनता ? यह विश्व निराधार ही होता ।[1]

आकाश कोई ठोस द्रव्य नही अपितु खाली स्थान है, वह सर्वव्यापी, अमूर्त और अनन्त प्रदेश वाला है। उसके दो विभाग किये गये हैं, लोकाकाश और अलोकाकाश।[2] जैसे जल का आश्रय-स्थान जलाशय कहलाता है वैसे ही समस्त-द्रव्यो का आश्रय-स्थान लोकाकाश है । सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आकाश एक और अखण्ड द्रव्य है तो फिर उसे दो विभागो मे कैसे विभक्त किया गया ? समाधान है कि 'लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन किया गया है वह धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आदि के आधार से किया गया है किन्तु आकाश की अपेक्षा से नही किया गया।' वस्तुत आकाश एक अखण्ड द्रव्य है परन्तु आकाश के जिस खण्ड मे धर्म, अधर्म, जीव, पुद्गल और काल रहते हैं वह लोकाकाश है और जिस खण्ड मे उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है। स्वरूपत आकाश एक है, अखण्ड है और सर्वव्यापी है। आकाश लोक और अलोक सभी स्थानो पर एक सदृश है उसमे किञ्चित् भी अन्तर नही है।

प्रश्न है, जो अवकाश दे वह आकाश है। पाँच द्रव्यो को आश्रय देने के कारण लोकाकाश को तो आकाश कहना उचित है, पर अलोकाकाश तो किसी को भी आश्रय नही देता फिर भी उसे आकाश क्यो कहा जाता है ? उत्तर है—आकाश का धर्म तो अवकाश देना है किन्तु आकाश उसे ही अवकाश देता है जो उसमे रहता हो, अलोकाकाश मे कोई भी द्रव्य नही रहता, फिर आकाश किसे अवकाश दे ? यदि वहाँ पर कोई भी द्रव्य होता और आकाश उसे अवकाश नही देता तो कहा जा सकता था कि अलोक मे आकाश का अभाव है किन्तु वहाँ पर कोई भी द्रव्य नही पहुँचता उसमे अलोकाकाश का क्या अपराध ? वस्तुत धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव होने से ही अलोकाकाश मे अन्य द्रव्यो की सत्ता नही है। सीमारहित होने से आकाश को अनन्त माना गया है। आधुनिक दर्शनशास्त्र मे धर्म, अधर्म और आकाश इन तीन द्रव्यो की शक्तियाँ आकाश मे ही मानी है।

प्रश्न है—किसी पदार्थ को आकाश कैसे स्थान देता है ? जिसे पूर्व-

---

१ भगवती १३।४

२ उत्तराध्ययन ३६।२

स्थान प्राप्त नही है उसे स्थान देता है, या जिसे पूर्व-स्थान प्राप्त है उसे नवीन स्थान देता है ?

उत्तर है—प्रत्येक पदार्थ लोक मे किसी न किसी स्थान पर अवस्थित है ही। वही पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है। आकाश जिस प्रकार अनादि है उसी प्रकार अन्य द्रव्य भी अनादि है।

प्रश्न—सभी द्रव्यो का युगपत्-अस्तित्व है फिर आकाश को अन्य द्रव्यो का आधार मानकर धर्म-अधर्म आदि द्रव्यो को आधेय मानना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर—आकाश अन्य द्रव्यो से अधिक विस्तृत है इसलिए वह आधार है और अन्य द्रव्य उसमे रहते हैं इसलिए आधेय हैं। जैसे शरीर और हस्तादि मे आधाराधेय-भाव देखा जाता है। समस्त पदार्थ एक-दूसरे के आधार से टिके हुए हैं। जैनदृष्टि से पृथ्वी का आधार जल है, जल का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है किन्तु आकाश का कोई भी आधार नही है। वह स्वप्रतिष्ठित है। उसके लिए किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता नही।

लोकाकाश असख्यात प्रदेश वाला है और अलोकाकाश अनन्त प्रदेश वाला है। यो सम्पूर्ण आकाश के भी अनन्त प्रदेश हैं। अनन्त मे से असख्यात को यदि हम पृथक् भी कर दे तो भी बाद मे वे अनन्त ही रहेगे चूकि अनन्त, परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त के भेद से तीन प्रकार का है।[1] और इन सबके प्रकार भी अनन्त है।

बौद्ध, वैशेषिक, साख्य और वेदान्तदर्शनो ने भी आकाश-द्रव्य को माना है, किन्तु जैनदर्शन मे जैसा आकाशद्रव्य का निरूपण है वैसा वहाँ नही है। बौद्धदर्शन मे आकाश का स्वरूप आवरणाभाव माना है और उसे असस्कृत धर्मो (जिसमे उत्पाद-विनाश नही होता) मे गिनाया है।[2] किन्तु जैनदर्शन मे आकाश को अभावात्मक स्वीकार नही किया है। इसके अतिरिक्त आकाश को असस्कृत धर्म भी नही कह सकते क्योकि उसमे उत्पाद-विनाश और स्थिरतारूप द्रव्य का सामान्य लक्षण पाया जाता है। वैशेषिकदर्शन मे आकाश को यद्यपि एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है किन्तु

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।१०।२
२ बौद्धदर्शन, बलदेव उपाध्याय पृ० २३९

वहाँ शब्द-गुण के जनक को आकाश कहा गया है। इसके अतिरिक्त दिशा को आकाश से अलग माना गया है।[1] जिसका गुण शब्द है वह आकाश है और जो बाह्य जगत को देशस्थ करता है वह दिक् है।[2] न्यायकारिकावली के अभिमतानुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं।[3] जैनदर्शन मे दिशा को आकाश से अलग नही माना है क्योकि आकाश के प्रदेशो मे ही दिशा की कल्पना की जाती है। इसके अतिरिक्त आकाश शब्द गुण का जनक नही हो सकता चूंकि शब्द मूर्तिक पुद्गल विशेष है और आकाश अमूर्तिक द्रव्य है। अमूर्तिक द्रव्य मूर्तिक का जनक किस प्रकार हो सकता है? इसी तरह प्रकृति (अचेतन) का विकार या ब्रह्म का विवर्त भी आकाश नही हो सकता[4], चूंकि आकाश एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य की अपेक्षा से आकाश अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा से आकाश अनन्त विस्तार वाला है—लोक अलोकमय है। काल की अपेक्षा से आकाश अनादि अनन्त है और भाव की अपेक्षा से आकाश अमूर्त है।

वस्तु का व्यपदेश या प्ररूपण आकाश के जिस भाग से किया जाता है वह दिक् है।

तिर्यक् लोक से दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति होती है।

आकाश के दो प्रदेशो से दिशा का प्रारम्भ होता है और वह दिशा

---

१ तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव। शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभुनित्य च। प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्।

—तर्कसग्रह पृ० २, ६

२ वैशेषिक सूत्र २।२।१३

३ दूरान्तिकादिधीहेतुरिका नित्यादिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि व्यपदेशभाक्॥

—न्यायकारिकावली ४६, ४७

४ (क) आकाश को वेदान्तदर्शन मे ब्रह्म का विवर्त तथा सास्यदर्शन में प्रकृति का विकार माना गया है।

—देखिए वेदान्तसार, सदानन्द (विद्याभवन सस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा) पृ० ३२

(ख) सास्यकारिका श्लोक ३

दो-दो प्रदेशो की वृद्धि करती हुई असख्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशो से होता है। उसमे अन्त तक चार ही प्रदेश रहते हैं किन्तु वृद्धि नही होती।[1]

जो व्यक्ति जहाँ है, उस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्वदिशा है जिस ओर सूर्यास्त होता है वह पश्चिम दिशा है, उस व्यक्ति के दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा है और बाये हाथ की ओर उत्तर दिशा है। इन दिशाओ को ताप-दिशा भी कहा गया है।[2]

आचाराग निर्युक्ति मे निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और भी बताया है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होता है, वह पूर्व दिशा उसका पृष्ठ भाग पश्चिम दिशा और दोनो पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हे प्रज्ञापक दिशा कहा है।[3]

स्मरण रखना चाहिए कि दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है। आकाश के प्रदेशो मे सूर्योदय की अपेक्षा दिशाओ की कल्पना की गई है। आकाश के प्रदेशो मे पक्तियाँ सभी तरफ कपडे मे तन्तु के समान श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश कहलाता है। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यदि हम पूर्व, पश्चिम आदि का व्यवहार होने से दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानेंगे तो पूर्व देश, पश्चिम देश, आदि व्यवहारो से 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना होगा, फिर प्रान्त-जिला आदि अनेक स्वतन्त्र द्रव्यो की कल्पना करनी होगी, जो उचित नही है।[4]

आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो ने आकाश मे शब्द गुण की कल्पना को असत्य सिद्ध कर दिया है। शब्द पुद्गल है। जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियो से ग्रहण किया जाता है, पुद्गलो से टकराता है, पुद्गलो से रोका जाता है, पुद्गलो मे भरा जाता है वह पौद्गलिक ही हो सकता है। एतदर्थ शब्द गुण के आधार के रूप मे आकाश का अस्तित्व नही मान सकते। केवल

---

१ आचाराग निर्युक्ति ४२, ४४
२ आचाराग निर्युक्ति ४७, ४८
३ आचाराग निर्युक्ति ५१
४ जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार जैन पृ० १७४

पुद्गल द्रव्य का परिणमन आकाश नही हो सकता चूंकि एक ही द्रव्य के मूर्त और अमूर्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नही हो सकते ।

साख्यदर्शन एक प्रकृति तत्त्व को मानकर उसी प्रकृति के पृथ्वी आदि भूत और आकाश ये दोनो परिणमन मानता है किन्तु चिन्तनीय प्रश्न यह है कि एक प्रकृति का घट, पट, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु प्रभृति विविध रूपी भौतिक कार्यों के आकार मे परिणमन करना युक्ति और अनुभव इन दोनो से मेल नही खाता है। इस विराट् विश्व के अनन्त रूपी भौतिक कार्यों की अपनी अलग-अलग सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो का सादृश्य देखकर इन सबको एक जातीय या समान जातीय तो कह सकते हैं किन्तु एक नही कह सकते। किञ्चित् समानता होने के बावजूद भी कार्यों का एक कारण से उत्पन्न होना भी आवश्यक नही है। विभिन्न कारणो से समुत्पन्न शताधिक घट-पटादि कार्य यत्-किञ्चित् समानता रखते ही है तथापि मूर्त्तिक और अमूर्त्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूप से विरुद्ध धर्म वाले पृथ्वी आदि और आकाश को एक प्रकृति का परिणमन मानना ब्रह्मवाद की माया मे ही एक अश मे समा जाना है। ब्रह्मवाद चेतन और अचेतन सभी पदार्थों को एक ब्रह्म का विवर्त मानता है और यह साख्य-दर्शन सभी जडो को एक जड प्रकृति की पर्याय मानता है।

त्रिगुणात्मकत्व का अन्वय होने से सभी त्रिगुणात्मक कारण से उत्पन्न हैं तो आत्मत्व का अन्वय सभी आत्माओ मे मिलता है और सत्ता का अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थों मे पाया जाता है तो इन सबको एक 'अद्वैत-सत्' कारण से उत्पन्न हुआ मानना होगा जो प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग इन दोनो से मेल नही खाता है। अपने अपने विभिन्न कारणो से समुत्पन्न होने वाले स्वतन्त्र जड और चेतन, मूर्त्त और अमूर्त्त आदि विविध पदार्थों मे अनेक प्रकार के पर-अपर सामान्यो का सादृश्य दिखलाई देता है किन्तु इससे सब एक नही हो सकते। इसलिए आकाश प्रकृति की पर्याय नही है किन्तु स्वतन्त्र द्रव्य है। जो अमूर्त्त है, निष्क्रिय है, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपने मे अन्य पुद्गलादि द्रव्यो को जो अव-काश या स्थान प्रदान करते हैं, यह उनके तरल परिणमन और शिथिल

दो-दो प्रदेशो की वृद्धि करती हुई असख्य प्रदेशात्मक वन जाती है। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशो से होता है। उसमे अन्त तक चार ही प्रदेश रहते है किन्तु वृद्धि नही होती।[1]

जो व्यक्ति जहाँ है, उस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्वदिशा है जिस ओर सूर्यास्त होता है वह पश्चिम दिशा है, उस व्यक्ति के दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा है और वाये हाथ की ओर उत्तर दिशा है। इन दिशाओ को ताप-दिशा भी कहा गया है।[2]

आचाराग निर्युक्ति मे निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और भी वताया है। प्रज्ञापक जिस ओर मुँह किये होता है, वह पूर्व दिशा उसका पृष्ठ भाग पश्चिम दिशा और दोनो पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हे प्रज्ञापक दिशा कहा है।[3]

स्मरण रखना चाहिए कि दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है। आकाश के प्रदेशो मे सूर्योदय की अपेक्षा दिशाओ की कल्पना की गई है। आकाश के प्रदेशो मे पक्तियाँ सभी तरफ कपडे मे तन्तु के समान श्रेणीबद्ध हैं। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है वह प्रदेश कहलाता है। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यदि हम पूर्व, पश्चिम आदि का व्यवहार होने से दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानेंगे तो पूर्व देश, पश्चिम देश, आदि व्यवहारो से 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना होगा, फिर प्रान्त-जिला आदि अनेक स्वतन्त्र द्रव्यो की कल्पना करनी होगी, जो उचित नही है।[4]

आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो ने आकाश मे शब्द गुण की कल्पना को असत्य सिद्ध कर दिया है। शब्द पुद्गल है। जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियो से ग्रहण किया जाता है, पुद्गलो से टकराता है, पुद्गलो से रोका जाता है, पुद्गलो मे भरा जाता है वह पौद्गलिक ही हो सकता है। एतदर्थ शब्द गुण के आधार के रूप मे आकाश का अस्तित्व नही मान सकते। केवल

---

१ आचाराग निर्युक्ति ४२, ४४
२ आचाराग निर्युक्ति ४७, ४८
३ आचाराग निर्युक्ति ५१
४ जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार जैन पृ० १७४

पुद्गल द्रव्य का परिणमन आकाश नही हो सकता चूंकि एक ही द्रव्य के मूर्त्त और अमूर्त्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नही हो सकते।

साख्यदर्शन एक प्रकृति तत्त्व को मानकर उसी प्रकृति के पृथ्वी आदि भूत और आकाश ये दोनो परिणमन मानता है किन्तु चिन्तनीय प्रश्न यह है कि एक प्रकृति का घट, पट, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु प्रभृति विविध रूपी भौतिक कार्यो के आकार मे परिणमन करना युक्ति और अनुभव इन दोनो से मेल नही खाता है। इस विराट् विश्व के अनन्त रूपी भौतिक कार्यों की अपनी अलग-अलग सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो का सादृश्य देखकर इन सबको एक जातीय या समान जातीय तो कह सकते हैं किन्तु एक नही कह सकते। किञ्चित् समानता होने के बावजूद भी कार्यो का एक कारण से उत्पन्न होना भी आवश्यक नही है। विभिन्न कारणो से समुत्पन्न शताधिक घट-पटादि कार्य यत्-किञ्चित् समानता रखते ही हैं तथापि मूर्त्तिक और अमूर्त्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूप से विरुद्ध धर्म वाले पृथ्वी आदि और आकाश को एक प्रकृति का परिणमन मानना ब्रह्मवाद की माया मे ही एक अश मे समा जाना है। ब्रह्मवाद चेतन और अचेतन सभी पदार्थो को एक ब्रह्म का विवर्त मानता है और यह साख्य-दर्शन सभी जडो को एक जड प्रकृति की पर्याय मानता है।

त्रिगुणात्मकत्व का अन्वय होने से सभी त्रिगुणात्मक कारण से उत्पन्न हैं तो आत्मत्व का अन्वय सभी आत्माओ मे मिलता है और सत्ता का अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थो मे पाया जाता है तो इन सबको एक 'अद्वैत-सत्' कारण से उत्पन्न हुआ मानना होगा जो प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग इन दोनो से मेल नही खाता है। अपने-अपने विभिन्न कारणो से समुत्पन्न होने वाले स्वतन्त्र जड और चेतन, मूर्त्त और अमूर्त्त आदि विविध पदार्थो मे अनेक प्रकार के पर-अपर सामान्यो का सादृश्य दिखलाई देता है किन्तु इससे सब एक नही हो सकते। इसलिए आकाश प्रकृति की पर्याय नही है किन्तु स्वतन्त्र द्रव्य है। जो अमूर्त्त है, निष्क्रिय है, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपने मे अन्य पुद्गलादि द्रव्यो को जो अवकाश या स्थान प्रदान करते हैं, यह उनके तरल परिणमन और शिथिल

बन्ध के कारण है। वस्तुत जल मे रहा हुआ आकाश ही अवकाश देने वाला है।

बौद्धदर्शन मे आकाश

बौद्ध दार्शनिको ने आकाश को असस्कृत धर्मों मे गिना है और उसका वर्णन उन्होने अनावृत्ति—आवरणाभाव के रूप मे किया है।[1] यह न किसी को आवरण करता है और न किसी से आवृत ही होता है। जिसमे उत्पादादि धर्म पाये जाये वह सस्कृत है किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्ध आकाश को असस्कृत मानते हैं अर्थात् उसे उत्पादादि धर्म से रहित मानते है। वैभाषिको के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आकाश का वर्णन भले ही अनावृति के रूप मे किया जाय किन्तु वह भावात्मक पदार्थ है।[2] प्रश्न यह है कि कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धदर्शन के अनुसार उत्पादादिशून्य किस प्रकार हो सकता है। यह सभव है कि उसमे होने वाले उत्पादादि का हम वर्णन न करें किन्तु स्वरूपभूत उत्पादादि से इन्कार नही किया जा सकता और न उसे केवल आवरणाभावरूप ही मान सकते हैं। चार महाभूतो के समान वह निष्पन्न नही होता, किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओ के परिच्छेद—दर्शन मात्र से इसका परिज्ञान होता है। एतदर्थ ही अभिधम्मत्थसगह मे आकाश को परिच्छेदरूप कहा है। किन्तु आकाश केवल परिच्छेदरूप नही हो सकता चूँकि वह अर्थक्रियाकारी है, एतदर्थ वह उत्पादादि लक्षणो से युक्त एक सस्कृत पदार्थ है।

वैज्ञानिक दृष्टि से आकाश

पाश्चात्य दार्शनिको मे आकाश तत्त्व की वास्तविकता और अवास्तविकता को लेकर दो पक्ष हैं। डेकार्ट्स, लाइबनीज, पाण्डित्यवादी दार्शनिक, कान्ट आदि आकाश को स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविक नही मानते, किन्तु प्लुतो, अरस्तु, गेसेन्डी आदि आकाश को एक स्वतन्त्र वस्तु सापेक्ष वास्तविक मानते हैं। जैनदर्शन आकाश को अस्तिकाय मानता है, जो वास्तविक है। वास्तविकता की दृष्टि से जैनदर्शन द्वितीय पक्ष के साथ मेल खाता है।

---

१ तत्राकाशमनावृत्ति —अभिधर्मकोश १।५

२ छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल —अभिधर्मकोश १।२८

आकाश की शून्याशून्यता को लेकर के भी दो पक्ष है। पाण्डित्यवादी दार्शनिक कान्ट, गेसेन्डी आदि शून्य आकाश का अस्तित्व भी वास्तविक मानते हैं। डेकार्ट्स, लाइबनीज, प्लेतो, अरस्तु आदि का मन्तव्य है कि पदार्थों के अभाव मे आकाश का कोई अस्तित्व नही है। सैद्धान्तिक दृष्टि से जैनदर्शन प्रथम पक्ष के साथ सादृश्य रखता है। अलोकाकाश बिल्कुल ही रिक्त है तथापि वास्तविक है। लोकाकाश मे भी निश्चयदृष्टि से शून्यता की विद्यमानता स्वीकार की गई है, परन्तु व्यावहारिकदृष्टि से सम्पूर्ण लोकाकाश पदार्थों से व्याप्त है।

आकाश के स्वरूप के सम्बन्ध मे पाण्डित्यवादी कान्ट आदि का अभिमत है कि आकाश की कल्पना हम इसलिए करते हैं कि वास्तविक पदार्थों के विस्तार को देखते हुए हमे यह सहज ही अनुभव होता है कि इसका कोई न कोई आधार अवश्य ही होना चाहिए। अत आकाश अपने आप मे कोई वास्तविक तत्त्व नही है किन्तु हमारे मस्तिष्क की कल्पना है, यदि हम उसे वास्तविक मानले तो ईश्वर और आकाश मे कोई भी अन्तर नही रहेगा।[1] आकाश केवल ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व है अथवा प्राग्-अनुभव-अन्त दर्शन की उपज ही है।

समीक्षा—पाण्डित्यवादियो ने आकाश को वास्तविक नही माना है, पर प्रस्तुत धारणा तर्क-सगत नही है। चूँकि वास्तविक पदार्थों का आधार यदि वास्तविक नही है तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उसका टिकना किस प्रकार हो सकता है? अत उसे वास्तविक मानना चाहिए। दूसरी बात वास्तविक मानने पर ईश्वर और आकाश मे कोई अन्तर नही रहेगा, यह मान्यता भी तर्कसगत नही है, क्योकि ईश्वर की सर्वव्यापकता की कल्पना भी स्वय आधाररहित है, अत आकाश को वास्तविक मानने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही है। तीसरी बात, कान्ट ने 'आकाश को केवल एक प्राग्-अनुभव-अन्तर्दर्शन' की उपज लिखा है किन्तु यह भी तर्क की दृष्टि से उचित नही है।[2] क्योकि अब युक्लिडियेतर भूमिति के आविष्कार के पश्चात् तो कान्ट की प्रस्तुत मान्यता का प्रत्यक्षत खण्डन हो

---

१ कोस्मोलोजी पृ० १०१
२ कोस्मोलोजी पृ० ६७

जाता है।[1] जैनदर्शन की आकाश सम्बन्धी मान्यता और कान्ट की विचार-धारा मे इतना-सा साम्य है कि दोनो ने शून्य आकाश के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

प्लेतो, अरस्तु ने आकाश को भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित माना है। प्लेतो ने 'कोरा' तत्त्व को माना है। अरस्तु का मन्तव्य है कि भौतिक पदाथ के अभाव मे आकाश को स्वीकार नही कर सकते। डेकार्ट्स का मन्तव्य है कि आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण मानना तर्कसगत नही है।

समीक्षा—आकाश का यदि अस्तित्व है तो वह भूत से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र होना चाहिए। भौतिक विश्व सान्त है और आकाश अनन्त है। स्थान प्राप्त करना और स्थान को रोकना, यह भौतिक पदार्थ का गुण है, पर जिसमे स्थान पाया जाता है वह उससे पृथक् है। अनेक पदार्थो का एक ही स्थान मे आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालान्तर मे अनेक स्थानो मे आश्रित होना, आश्रय देने वाले तत्त्व को आश्रित तत्त्व से पृथक् कर देता है। जैनदर्शन के अभिमतानुसार आकाशास्तिकाय के एक प्रदेश पर अनन्त भौतिक पदार्थ आश्रय ग्रहण कर सकते है। आकाश अमूर्त है जबकि भौतिक पदार्थ वर्णादि गुण-युक्त होने से मूर्त है। अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कदापि नही हो सकता।

लाइबनीज आदि कुछ दार्शनिक आकाश को दृश्य पदार्थो का क्रम रूप मानते हैं। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन आदि ने भी प्रस्तुत मान्यता स्वीकार की है।

गेसेण्डी आदि का मन्तव्य है कि आकाश ज्ञाता (आत्मा) और भूत (मैटर) से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र वास्तविकता है। यह मान्यता जैन-दर्शन के समान ही है। यही मान्यता न्यूटन के आकाश सम्बन्धी वैज्ञानिक विश्लेषण का आधार रही है। न्यूटन आदि ने और जैनदर्शन ने आकाश को एक स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया है, एव उसको अगतिशील, एक, अखण्ड, शून्यता की क्षमता वाला स्वीकार किया है।

---

१ (क) वैज्ञानिक आधार पर इसके खण्डन के लिए देखें "फिजिक्स एण्ड फिलो-सोफी" ले० वरनर हाईसनबर्ग पृ० ८१
(ख) फ्राम युक्लिड टू एडिंग्टन पृ० १६-१७
(ग) दी फिलोसोफी आफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्सन, पृ० ६०

तथापि दोनो मे एक बहुत बडा अन्तर है। न्यूटनीय भौतिक विज्ञान ने आकाश के साथ भौतिक ईथर का अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर गति की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है किन्तु जैनदर्शन अभौतिक ईथर (धर्म द्रव्य-अधर्म द्रव्य) के सिद्धान्त से गति-स्थिति की समस्या का समाधान करता रहा है। यह सत्य है कि न्यूटन के सिद्धान्तो ने ऐसी समस्या पैदा करदी थी जो कभी भी सुलझ नही सकती थी जिससे आपेक्षिकता के सिद्धान्त ने न्यूटन के भौतिक ईथर को तिलाञ्जलि दी। पाश्चात्य महान् दार्शनिक बरट्रेण्ड रसेल ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है— "न्यूटन का निरपेक्ष आकाश का सिद्धान्त उस दुविधा को दूर करता है जो 'शून्य' और वास्तविकता के सम्बन्ध से उपस्थित होती है। तर्कशास्त्र के आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन नही किया जा सकता। इस सिद्धान्त के विरोध मे मुख्य कारण यही है कि निरपेक्ष आकाश को जानना विल्कुल सभव नही है, इसीलिए प्रायोगिक विज्ञान मे उसकी धारणा कोई अनिवार्य परिकल्पना नही वन सकती। इससे भी अधिक व्यावहारिक कारण यह है कि भौतिक विज्ञान की गाडी इसके बिना भी चल सकती है। इससे स्पष्ट है कि न्यूटन का 'निरपेक्ष आकाश' अथवा जैनदर्शन का आकाशास्तिकाय का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से वजनदार है और अकाट्य है।"

काल

काल के सम्बन्ध मे जैन-साहित्य मे दो मत हैं। एक मत के अनुसार काल स्वतन्त्र द्रव्य नही है। 'काल' जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय प्रवाह है। इस दृष्टि से जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय परिणमन ही उपचार से काल कहा जाता है, अत जीव और अजीव को 'काल' द्रव्य जानना चाहिए वह पृथक् तत्त्व नही है।

द्वितीय मत के अनुसार काल एक सर्वथा स्वतन्त्र द्रव्य है। उसका स्पष्ट आघोष है कि जीव और पुद्गल जैसे स्वतन्त्र द्रव्य हैं उसी प्रकार काल भी है, अत काल को जीव आदि की पर्याय प्रवाह रूप न मानकर पृथक् तत्त्व मानना चाहिए।

श्वेताम्बर आगम साहित्य भगवती[1], उत्तराध्ययन[2], जीवाभिगम[3],

---
१ भगवती २५।४।७३४
२ उत्तराध्ययन २८।७-८
३ जीवाभिगम

प्रज्ञापना[1] आदि मे काल सम्बन्धी दोनो मान्यताओ का उल्लेख है। उसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति[2], सिद्धसेन दिवाकर[3], जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[4], हरिभद्र सूरि[5], आचार्य हेमचन्द्र[6], उपाध्याय यशोविजय जी[7], विनयविजय जी[8], देवचन्द्र जी[9] आदि श्वेताम्बर विज्ञो ने दोनो पक्षो का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द[10], पूज्यपाद[11], भट्टारक अकलकदेव[12], विद्यानन्द स्वामी[13] आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य हैं वे सभी पर्याय-विशेष के सकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष है। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनो अपने-अपने पर्याय रूप मे स्वत ही परिणत हुआ करते हैं अत जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप मे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है।[14]

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वय ही गति करते हैं और स्वय ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति मे निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते

---

१ प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३
२ तत्त्वार्थसूत्र ५।३८-३९ देखें भाष्य व्याख्या सिद्धसेन कृत
३ द्वात्रिंशिका
४ विशेषावश्यक भाष्य ९२६ और २०६८
५ धर्मसग्रहणी गाथा ३२, मलयगिरि टीका
६ योगशास्त्र
७ द्रव्यगुणपर्याय रास, देखें प्रकरण रत्नाकर भा० १ गा० १०
८ लोकप्रकाश
९ नयचक्रसार और आगमसार ग्रन्थ देखें
१० प्रवचनसार अ० २, गा० ४६-४७
११ तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ५।३८-३९
१२ तत्त्वार्थ० राजवार्तिक ५।३८-३९
१३ तत्त्वार्थ० श्लोकवार्तिक ५।३८-३९
१४ दर्शन और चिन्तन पृ० ३३१, प० सुखलालजी

है वैसे ही जीव और अजीव मे पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।[1]

उक्त दोनो कथन परस्पर विरोधी नही किन्तु सापेक्ष है। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहारदृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक है। इन्ही के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थो की स्थिति आदि के लिए होता है। समय आवलिका रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नही है, उन्ही की पर्याय है।

निश्चयदृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नही है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है[2] एव उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।[3]

जैन साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कही पर षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है[4] तो कही पर पचास्तिकायमय लोक कहा है।[5] पण्डित दलसुख मालवणिया का अभिमत है कि उत्तराध्ययन मे जो षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है वह अपवाद रूप ही समझना चाहिए।[6]

---

1 वही, पृ० ३३२

2 (क) भगवती २।१०।१२०, ११।११।४२४, १३।४।४८२-४८३, २५।४ इत्यादि
  (ख) प्रज्ञापना पद १
  (ग) उत्तराध्ययन २८।१०

3 स्थानाङ्ग सूत्र ६५

4 धम्मो अधम्मो आगास कालो पुग्गल-जन्तवो।
  एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदसिहिं॥
  —उत्तराध्ययन २८।७

5 (क) किमिय भते! लोएत्ति पवुच्चइ? गोयमा, पचत्थिकाया।
  —भगवती १३।४।४८१
  (ख) पचास्तिकाय गा० ३

6 आगमयुग का जैनदर्शन पृ० २१४

प्रज्ञापना[१] आदि मे काल सम्बन्धी दोनो मान्यताओ का उल्लेख है। उसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति[२], सिद्धसेन दिवाकर[३], जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[४], हरिभद्र सूरि[५], आचार्य हेमचन्द्र[६], उपाध्याय यशोविजय जी[७], विनयविजय जी[८], देवचन्द्र जी[९] आदि श्वेताम्बर विज्ञो ने दोनो पक्षो का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द[१०], पूज्यपाद[११], भट्टारक अकलकदेव[१२], विद्यानन्द स्वामी[१३] आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते है।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य हैं वे सभी पर्याय-विशेष के सकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष है। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनो अपने-अपने पर्याय रूप मे स्वत ही परिणत हुआ करते है अत जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप मे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है।[१४]

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वय ही गति करते है और स्वय ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति मे निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते

---

१ प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३

२ तत्त्वार्थसूत्र ५।३८-३९ देखें भाष्य व्याख्या सिद्धसेन कृत

३ द्वात्रिंशिका

४ विशेषावश्यक भाष्य ९२६ और २०६८

५ धर्मसग्रहणी गाथा ३२, मलयगिरि टीका

६ योगशास्त्र

७ द्रव्यगुणपर्याय रास, देखें प्रकरण रत्नाकर भा० १ गा० १०

८ लोकप्रकाश

९ नयचक्रसार और आगमसार ग्रन्थ देखें

१० प्रवचनसार अ० २, गा० ४६-४७

११ तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ५।३८-३९

१२ तत्त्वार्थ० राजवार्तिक ५।३८-३९

१३ तत्त्वार्थ० श्लोकवार्तिक ५।३८-३९

१४ दर्शन और चिन्तन पृ० ३३१, प० सुखलालजी

है वैसे ही जीव और अजीव मे पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।[1]

उक्त दोनो कथन परस्पर विरोधी नही किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहारदृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक है। इन्ही के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति आदि के लिए होता है। समय आवलिका रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नही है, उन्ही की पर्याय है।

निश्चयदृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नही है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है[2] एव उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।[3]

जैन साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कही पर षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है[4] तो कही पर पचास्तिकायमय लोक कहा है।[5] पण्डित दलसुख मालवणिया का अभिमत है कि उत्तराध्ययन मे जो षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है वह अपवाद रूप ही समझना चाहिए।[6]

---

१ वही, पृ० ३३२

२ (क) भगवती २।१०।१२०, ११।११।४२४, १३।४।४८२-४८३, २५।४ इत्यादि
(ख) प्रज्ञापना पद १
(ग) उत्तराध्ययन २८।१०

३ स्थानाङ्ग सूत्र ९५

४ धम्मो अधम्मो आगास कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदसिहिं॥
—उत्तराध्ययन २८।७

५ (क) किमिय भंते! लोएत्ति पवुच्चइ? गोयमा, पचत्थिकाया।
—भगवती १३।४।४८१
(ख) पचास्तिकाय गा० ३

६ आगमयुग का जैनदर्शन पृ० २१४

प्रज्ञापना[1] आदि मे काल सम्बन्धी दोनो मान्यताओ का उल्लेख है। उसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति[2], सिद्धसेन दिवाकर[3], जिनभद्रगणी क्षमा श्रमण[4], हरिभद्र सूरि[5], आचार्य हेमचन्द्र[6], उपाध्याय यशोविजय जी[7], विनयविजय जी[8], देवचन्द्र जी[9] आदि श्वेताम्बर विज्ञो ने दोनो पक्षो का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द[10], पूज्यपाद[11], भट्टारक अकलकदेव[12], विद्यानन्द स्वामी[13] आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत का अभिमत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य है वे सभी पर्याय-विशेष के सकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया विशेष है। जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के अतिरिक्त होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनो अपने-अपने पर्याय रूप मे स्वत ही परिणत हुआ करते है अत जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने आप मे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है।[14]

द्वितीय मत का अभिमत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वय ही गति करते हैं और स्वय ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति मे निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते

---

१ प्रज्ञापना पद १ सूत्र ३
२ तत्त्वार्थसूत्र ५।३८-३९ देखें भाष्य व्याख्या सिद्धसेन कृत
३ द्वात्रिंशिका
४ विशेषावश्यक भाष्य ९२६ और २०६८
५ धर्मसग्रहणी गाथा ३२, मलयगिरि टीका
६ योगशास्त्र
७ द्रव्यगुणपर्याय रास, देखें प्रकरण रत्नाकर भा० १ गा० १०
८ लोकप्रकाश
९ नयचक्रसार और आगमसार ग्रन्थ देखें
१० प्रवचनसार अ० २, गा० ४६-४७
११ तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ५।३८-३९
१२ तत्त्वार्थ० राजवार्तिक ५।३८-३९
१३ तत्त्वार्थ० श्लोकवार्तिक ५।३८-३९
१४ दर्शन और चिन्तन पृ० ३३१, प० सुखलालजी

है वैसे ही जीव और अजीव मे पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्त कारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।[1]

उक्त दोनो कथन परस्पर विरोधी नही किन्तु सापेक्ष है। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहारदृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक है। इन्ही के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति आदि के लिए होता है। समय आवलिका रूप काल जीव-अजीव से पृथक् नही है, उन्ही की पर्याय है।

निश्चयदृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नही है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते है। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है[2] एव उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।[3]

जैन साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कही पर षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है[4] तो कही पर पचास्तिकायमय लोक कहा है।[5] पण्डित दलसुख मालवणिया का अभिमत है कि उत्तराध्ययन मे जो षट्द्रव्यात्मक लोक कहा है वह अपवाद रूप ही समझना चाहिए।[6]

---

१ वही, पृ० ३३२

२ (क) भगवती २।१०।१२०, ११।११।४२४, १३।४।४८२-४८३, २५।४ इत्यादि
(ख) प्रज्ञापना पद १
(ग) उत्तराध्ययन २८।१०

३ स्थानाङ्ग सूत्र ९५

४ धम्मो अधम्मो आगास कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदसिहिं ॥
—उत्तराध्ययन २८।७

५ (क) किमिय भते ! लोएत्ति पवुच्चइ ? गोयमा, पचत्थिकाया।
—भगवती १३।४।४८१
(ख) पचास्तिकाय गा० ३

६ आगमयुग का जैनदर्शन पृ० २१४

स्थानाङ्ग[1], जीवाभिगम[2], भगवती[3], पचास्तिकाय[4] आदि श्वेताम्वर दिगम्वर ग्रन्थो मे सर्वत्र लोक को पचास्तिकायमय कहा है।

उत्तराध्ययन[5] धर्मसग्रहणी आदि मे काल को ढाई-द्वीप प्रमाण कहा है। अर्थात् काल मनुष्य-क्षेत्रमात्र मे—ज्योतिष-चक्र के गति-क्षेत्र मे—वर्तमान है। वह मनुष्य क्षेत्र प्रमाण होकर के भी सम्पूर्ण लोक के परिवर्तनो का निमित्त बनता है। वह अपना कार्य ज्योतिष चक्र की गति की सहायता से करता है। एतदर्थ मनुष्य क्षेत्र से वाहर काल द्रव्य न मानकर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण माना है।

दिगम्वर ग्रन्थो मे काल को केवल मनुष्य क्षेत्र-वर्ती ही नही किन्तु लोकव्यापी माना है। लोकव्यापी होने पर भी वह धर्मास्तिकाय आदि के समान स्कन्ध रूप नही है किन्तु अणु रूप है।[6] इसके अणुओ की सख्या लोकाकाश के प्रदेशो के वरावर है। ये अणु गतिहीन हैं अत लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थिर रहते हैं किन्तु इनका कोई भी स्कन्ध नही वनता। इनमे तिर्यक्-प्रचय (स्कन्ध) होने की शक्ति नही है, एतदर्थ काल-द्रव्य को अस्तिकाय के अन्तर्गत नही गिना है। तिर्यक्-प्रचय न होने पर भी ऊर्ध्व-प्रचय है। कालशक्ति व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है, इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नही होता। धर्म आदि पाँचो द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की दृष्टि से होता है और ऊर्ध्व-प्रचय काल की दृष्टि से होता है। उनके प्रदेश समूह होता है इसलिए वे फैलते है और काल का निमित्त मिलने से उनमे पौर्वापर्य का क्रमागत प्रसार होता है। समयो का जो प्रचय है वही कालद्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय कहलाता है। काल स्वय समय रूप है।

काल के अतीत समय तो विनष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते है, वह स्वय एक समय का है, इसलिए उसके स्कन्ध नही

---

१ स्थानाङ्ग ५।३।४४१

२ जीवाभिगम ४

३ भगवती १३।४।४८१

४ पचास्तिकाय गा० ३

५ धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्ता वियाहिए।
लोगालोगे य आगासे समये समयखेत्तिए॥ —उत्तरा० ३६।७

६ द्रव्यसग्रह, २२

बनते। वह एक समय का होने से उसका तिर्यक्-प्रचय (तिरछा फैलाव) नही होता। काल का स्कन्ध व तिर्यक् प्रचय नही होने से उसे अस्तिकाय मे नही गिना है।

काल के प्रकार

स्थानाङ्ग सूत्र[1] मे काल के चार प्रकार बताये है—(१) प्रमाणकाल (२) यथायुनिर्वृत्ति काल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।

काल के द्वारा पदार्थ का माप किया जाता है अत वह प्रमाण काल कहलाता है।

जीवन और मृत्यु ये दोनो काल सापेक्ष है। जीवन का अवस्थान यथायुनिर्वृत्ति काल कहलाता है और मृत्यु मरण-काल कहलाता है।

चन्द्रमा और सूर्य की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का मुख्य रूप अद्धाकाल ही है। अन्य तीनो इसी के विशेष रूप हैं। अद्धाकाल व्यावहारिक है। वह मनुष्य लोक मे ही होता है, एतदर्थ मनुष्य-लोक को समय-क्षेत्र कहते हैं। हम पूर्व लिख चुके हैं कि निश्चय-काल जीव-अजीव की पर्याय है, वह लोक-अलोकव्यापी है। उसके विभाग नही होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्तन तक के जितने भी विभाग किये जाते है वे सभी अद्धा-काल के हैं।[2] काल का सबसे सूक्ष्म विभाग समय कहलाता है। वह अविभाज्य है। इसका निरूपण कमलपत्र-भेद और वस्त्र-विदारण की क्रिया के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

एक कमल-पत्र पर दूसरा और यो सौ कमलपत्र एक दूसरे के ऊपर रखे हुए है। कोई शक्तिसम्पन्न व्यक्ति एक साथ सुई से छेद देता है, तब ऐसा ज्ञात होता है कि सभी कमल-पत्र एक साथ छेद दिये गये है, किन्तु ऐसा नही होता। जिस समय प्रथम कमल-पत्र छिदा उस समय दूसरा नही छिदा, इस प्रकार सभी का छेदन क्रमश होता है।

एक युवक व बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को इतनी शीघ्रता से फाड देता है कि दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है कि सारा वस्त्र एक साथ फाड दिया गया है। किन्तु ऐसा नही होता, वस्त्र अनेकानेक तन्तुओ से निर्मित होता है। जब तक ऊपर के तन्तु नही फटते, तब तक नीचे के

---

१ स्थानाङ्ग ४

२ भगवती ११।११

तन्तु कदापि फट नही सकते, इसलिए यह निश्चित है वस्त्र फटने मे काल भेद होता है।

साराश यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओ से बनता है और प्रत्येक तन्तु मे अनेक रूए होते हैं उनमे से सर्वप्रथम प्रथम रूआ छिदता है, उसके पश्चात् दूसरे रूएँ। अनन्त परमाणुओ के मिलन को सघात कहते हैं। अनन्त मघातो का एक समुदाय होता है और अनन्त समुदायो की एक समिति होती है। इस प्रकार अनन्त समितियो के सगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआ तैयार होता है। इनका छेदन अनुक्रम से होता है। तन्तु के प्रथम रुएँ के छेदन मे जितना समय लगता है उसका वहुत ही सूक्ष्म अश यानी असख्यातवाँ भाग 'समय' कहलाता है।

जिसका विभाग न हो सके	—एक समय
असख्यात समय	—एक आवलिका
२५६ आवलिका	—एक क्षुल्लक भव (सबसे कम आयु)
$२२२३\frac{१२२९}{३७७३}$ आवलिका	—एक उच्छ्वास-नि श्वास
$४४४६\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका या साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	—एक प्राण
७ प्राण	—एक स्तोक
७ स्तोक	—एक लव
$३८\frac{१}{२}$ लव	—एक घडी (२४ मिनट)
७७ लव	—दो घडी अथवा
	—६५५३६ क्षुल्लक भव या
	—१६७७७२१६ आवलिका या
	—३७७३ प्राण अथवा
	—एक मुहूर्त (४८ मिनट)
३० मुहूर्त	—एक अहोरात्रि
१५ दिन	—एक पक्ष
२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन

२ अयन	—एक वर्ष
५ वर्ष	—एक युग
७० क्रोडाक्रोड, ५६ लाख क्रोडवर्ष	—एक पूर्व
असख्य वर्ष	—एक पल्योपम
१० क्रोडाक्रोड पल्लोपम	—एक सागर
२० क्रोडाक्रोड सागर	—एक कालचक्र
अनन्त काल-चक्र	—एक पुद्गल परावर्तन

वैदिक दर्शन में काल का स्वरूप

वेद और उपनिषदो मे काल शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो पर हुआ है[1] किन्तु काल के सम्बन्ध मे वेद और उपनिपदो का क्या मन्तव्य है यह उससे स्पष्ट नही होता है।

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद ने कालतत्त्व के सम्बन्ध मे चार सूत्रो की रचना की। उनका यह मन्तव्य है कि काल एक द्रव्य है, नित्य है, एक है और सम्पूर्ण कार्यो का निमित्त है।[2]

न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम ने कणाद की भाँति कालतत्त्व को सिद्ध करने के लिए स्वतन्त्र सूत्रो की रचना नही की। प्रसगवश एक स्थल पर दिशा और काल को निमित्त कारण के रूप मे वर्णन किया है,[3] जो वैशेषिकदर्शन से मिलता है। न्यायदर्शन ने काल के सम्बन्ध मे वैशेषिक दर्शन का ही अनुसरण किया है।

पूर्वमीमासा के प्रणेता जैमिनि ने कालतत्त्व के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का उल्लेख नही किया है तथापि पूर्वमीमासा के प्रामाणिक और समर्थ व्याख्याता पार्थसारथि मिश्र की शास्त्र दीपिका पर 'युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका' मे पण्डित रामकृष्ण ने[4] काल-तत्त्व सम्बन्धी

---

१ देखें—उपनिषद् वाक्य कोश

२ अपरस्मिन्नपर युगपच्चिर क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥
द्रव्यत्व नित्यत्वे वायुना व्याख्यात। तत्त्व भावेन। नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति।
—वैशेपिक दर्शन २।२।६ से ६

३ दिग्देशकालाकाशेष्वप्येव प्रसग — पचाध्यायी २।१।२३

४ नास्माक वैशेषिका देवदप्रत्यक्ष काल, किन्तु प्रत्यक्ष एव, अस्मिन्क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात्। अरूपस्याऽप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्व भविष्यति।
—युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका १।१।५।५

मीमासक मत बताते हुए वैशेषिकदर्शन की मान्यता को स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना ही है कि वैशेषिक काल को परोक्ष मानते हैं और मीमासक काल को प्रत्यक्ष मानते है। इस प्रकार वैशेषिक न्याय और पूर्व मीमासा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते है।

साख्यदशन मे प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व माने गये हैं। आकाश, दिशा, मन आदि भी साख्यदर्शन मे प्रकृति के विकार माने गये है।[1] साख्यदर्शन मे काल नामक कोई भी स्वतन्त्र तत्त्व नही माना गया है किन्तु काल एक प्राकृतिक परिणमन है, प्रकृति नित्य होने पर भी परिणमनशील है, यह स्थूल और सूक्ष्म जड जगत प्रकृति का विकार है।

योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतजलि ने योगदर्शन मे कही पर भी काल-तत्त्व के सम्बन्ध मे सूचन नही किया है, पर योगदर्शन के महान् भाष्यकार व्यास ऋषि ने तृतीय पाद के बावनवे सूत्र पर भाष्य करते हुए काल-तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—मुहूर्त, प्रहर, दिवस, आदि लौकिक काल-व्यवहार बुद्धिकृत है, काल्पनिक है। कल्पना से बुद्धिकृत छोटे और बडे विभाग किये जाते हैं, वे सभी क्षण पर अवलम्बित है। क्षण ही वास्तविक है परन्तु वह मूलतत्त्व के रूप मे नही है। किसी भी मूलतत्त्व के परिणामरूप मे वह सत्य है। जिस परिणाम का बुद्धि से द्वितीय विभाग न हो सके उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम का नाम क्षण है। उस क्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया है कि एक परमाणु को अपना क्षेत्र छोडकर दूसरा क्षेत्र प्राप्त करने मे जितना समय व्यतीत होता है उसे क्षण कहते हैं। यह क्रिया के अविभाज्य अश का सकेत है। योगदर्शन मे साख्यदर्शनसम्मत जड प्रकृति तत्त्व ही क्रियाशील माना जाता है। उसकी क्रियाशीलता स्वाभाविक होने से उसे क्रिया करने मे अन्य तत्त्व की अपेक्षा नही है। उससे योगदर्शन या साख्यदर्शन क्रिया के निमित्त कारण रूप मे वैशेषिकदर्शन के समान काल-तत्त्व को प्रकृति से भिन्न या स्वतन्त्र नही मानता।[2]

उत्तरमीमासादर्शन ही वेदान्तदर्शन और औपनिषदिकदर्शन के

---

१ दिक्कालावाकाशादिभ्य —सांख्यप्रवचन २।१२

२ दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृ० १०२८ —योगदर्शन पा० ३, सूत्र ५२ का भाष्य

नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के प्रणेता बादरायण ने कही भी अपने ग्रन्थ मे काल-तत्त्व के सम्बन्ध मे वर्णन नही किया है, किन्तु प्रस्तुत दर्शन के समर्थ भाष्यकार आचार्य शकर ने मात्र ब्रह्म को ही मूल और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया है "ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या"। इस सिद्धान्त के अनुसार तो आकाश, परमाणु आदि किसी भी तत्त्व को स्वतन्त्र स्थान नही दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्तदर्शन के अन्य व्याख्याकार रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ आदि कितने ही मुख्य विषयो मे आचार्य शकर से पृथक् विचारधारा रखते हैं। उनकी पृथक् विचारधारा का केन्द्र आत्मा का स्वरूप, विश्व की सत्यता और असत्यता है पर किसी ने भी काल-तत्त्व को स्वतन्त्र नही माना है। इसमे सभी वेदान्त दर्शन के व्याख्याकार एकमत है। इस प्रकार साख्य, योग और उत्तर-मीमासा ये अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है। जैनदर्शन मे जैसे कालतत्त्व के सम्बन्ध मे दो विचाराधाएँ है वैसे ही वैदिकदर्शन मे भी एक स्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है और दूसरा अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है।

बौद्धदर्शन में काल

बौद्धदर्शन मे काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित है। काल कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नही है प्रज्ञप्ति मात्र है[1], किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के बिना नही हो सकते। जैसे कि बालक मे शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव मे ही होता है वैसे ही सम्पूर्ण कालिक व्यवहार मुख्य काल द्रव्य के बिना नही हो सकते।

---

१ अट्ठशालिनी १।३।१६

मीमासक मत वताते हुए वैशेपिकदर्शन की मान्यता को स्वीकार किया है, अन्तर केवल इतना ही है कि वैशेषिक काल को परोक्ष मानते हैं और मीमासक काल को प्रत्यक्ष मानते हैं। इस प्रकार वैशेषिक न्याय और पूर्व मीमासा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते है।

साख्यदर्शन मे प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व माने गये हैं। आकाश, दिशा, मन आदि भी साख्यदर्शन मे प्रकृति के विकार माने गये है।[1] साख्यदर्शन मे काल नामक कोई भी स्वतन्त्र तत्त्व नही माना गया है किन्तु काल एक प्राकृतिक परिणमन है, प्रकृति नित्य होने पर भी परिणमनशील है, यह स्थूल और सूक्ष्म जड जगत प्रकृति का विकार है।

योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतजलि ने योगदर्शन मे कही पर भी काल-तत्त्व के सम्बन्ध मे सूचन नही किया है, पर योगदर्शन के महान् भाष्यकार व्यास ऋषि ने तृतीय पाद के वावनवें सूत्र पर भाष्य करते हुए काल-तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—मुहूर्त, प्रहर, दिवस, आदि लौकिक काल-व्यवहार बुद्धिकृत है, काल्पनिक है। कल्पना से बुद्धिकृत छोटे और बडे विभाग किये जाते हैं, वे सभी क्षण पर अवलम्बित है। क्षण ही वास्तविक है परन्तु वह मूलतत्त्व के रूप मे नही है। किसी भी मूलतत्त्व के परिणामरूप मे वह सत्य है। जिस परिणाम का बुद्धि से द्वितीय विभाग न हो सके उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम का नाम क्षण है। उस क्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वताया है कि एक परमाणु को अपना क्षेत्र छोडकर दूसरा क्षेत्र प्राप्त करने मे जितना समय व्यतीत होता है उसे क्षण कहते हैं। यह क्रिया के अविभाज्य अश का सकेत है। योगदर्शन मे साख्यदर्शनसम्मत जड प्रकृति तत्त्व ही क्रियाशील माना जाता है। उसकी क्रियाशीलता स्वाभाविक होने से उसे क्रिया करने मे अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। उससे योगदर्शन या साख्यदर्शन क्रिया के निमित्त कारण रूप मे वैशेषिकदर्शन के समान काल-तत्त्व को प्रकृति से भिन्न या स्वतन्त्र नही मानता।[2]

उत्तरमीमासादर्शन हो वेदान्तदर्शन और औपनिपदिकदर्शन के

---

१ दिक्कालावाकाशादिभ्य —साख्यप्रवचन २।१२

२ दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृ० १०२८ —योगदर्शन पा० ३, सूत्र ५२ का भाष्य

नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के प्रणेता वादरायण ने कही भी अपने ग्रन्थ मे काल-तत्त्व के सम्वन्ध मे वर्णन नही किया है, किन्तु प्रस्तुत दर्शन के समर्थ भाष्यकार आचार्य शकर ने मात्र ब्रह्म को ही मूल और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया है "ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या"। इस सिद्धान्त के अनुसार तो आकाश, परमाणु आदि किसी भी तत्त्व को स्वतन्त्र स्थान नही दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्तदर्शन के अन्य व्याख्याकार रामानुज, निम्वार्क, मध्व और वल्लभ आदि कितने ही मुख्य विषयो मे आचार्य शकर से पृथक् विचारधारा रखते है। उनकी पृथक् विचारधारा का केन्द्र आत्मा का स्वरूप, विश्व की सत्यता और असत्यता है पर किसी ने भी काल-तत्त्व को स्वतन्त्र नही माना है। इसमे सभी वेदान्त दर्शन के व्याख्याकार एकमत है। इस प्रकार साख्य, योग और उत्तर-मीमासा ये अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है। जैनदर्शन मे जैसे कालतत्त्व के सम्वन्ध मे दो विचाराधाएँ है वैसे ही वैदिकदर्शन मे भी एक स्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है और दूसरा अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी है।

बौद्धदर्शन में काल

बौद्धदर्शन मे काल केवल व्यवहार के लिए कल्पित है। काल कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नही है प्रज्ञप्ति मात्र है[1], किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के विना नही हो सकते। जैसे कि वालक मे शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव मे ही होता है वैसे ही सम्पूर्ण कालिक व्यवहार मुख्य काल द्रव्य के विना नही हो सकते।

---

१ अट्ठशालिनी १।३।१६

☐ पुद्गल : एक चिन्तन

- पुद्गल क्या है ?
- पुद्गल की परिभाषा
- पुद्गल रूपी है
- पुद्गल के चार भेद
- स्कन्ध
- स्कन्ध देश
- स्कन्ध प्रदेश
- परमाणु
- परमाणुवाद की सर्वप्रथम चर्चा भारत मे
- परमाणु के दो भेद
- पुद्गल के गुण
- परमाणु के चार प्रकार
- परमाणु की अतीन्द्रियता
- परमाणु से स्कन्ध कैसे बनते हैं ?
- पुद्गल के भेद-प्रभेद
- पुद्गल के तीन भेद
- पुद्गल मे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य
- पुद्गल की परिणति
- पुद्गल कब से कब तक ?
- अप्रदेशित्व सप्रदेशित्व
- पुद्गल की गति
- परमाणु की गति सम्बन्धी कुछ मर्यादाएँ
- परमाणुओ का सूक्ष्म परिणामावगाहन
- वैज्ञानिक समर्थन
- पुद्गल के आकार-प्रकार
- पुद्गल की आठ वर्गणायें
- पुद्गल के कार्य
- शब्द
- बन्ध
- सौक्ष्म्य
- स्थौल्य
- सस्थान
- भेद
- तम
- छाया
- आतप
- उद्योत
- पुद्गल के उपकार

पुद्गल एक चिन्तन

पुद्गल क्या है ?

विज्ञान ने जिसे मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिकदर्शनो ने जिसे भौतिक तत्त्व कहा उसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल की सज्ञा प्रदान की। बौद्ध-दर्शन मे पुद्गल शब्द आलय, विज्ञान—चेतना-सतति के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। जैन आगम साहित्य मे भी अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है[1] किन्तु मुख्य रूप से पुद्गल का अर्थ मूर्त्त द्रव्य हैं। छह द्रव्यो मे काल के अतिरिक्त शेप पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं, अवयवी हैं, तथापि इन सबकी स्थिति एक सदृश नही है। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन चारो मे सयोग और विभाग नही होता। परमाणु द्वारा इनके अवयव कल्पित किये जाते हैं। कल्पना कीजिए—यदि हम इन चारो के परमाणु सदृश खण्ड करे तो जीव, धर्म, और अधर्म के असख्य खण्ड होगे और आकाश के अनन्त खण्ड होगे। किन्तु पुद्गल द्रव्य अखण्ड नही है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बडा रूप सम्पूर्ण विश्व-व्यापी अचित्त महास्कन्ध है।[2] इसीलिए पुद्गल को पूरण-गलन-धर्मी कहा है।

पुद्गल की परिभाषा

'पुद्गल' शब्द मे दो पद हैं—'पुद्' और 'गल'। 'पुद्' का अर्थ है पूरा होना या मिलना और 'गल' का अर्थ है—गलना या मिटना। जो द्रव्य प्रतिपल, प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, बनता-विगडता रहे, टूटता-जुडता रहे, वही पुद्गल है।[3] तत्त्वार्थ-राजवार्तिक[4] सिद्धसेनीया तत्त्वार्थ-

---

१ जीवेण ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि।

—भगवती ८।१०।३६१

२ केवली समुद्घात के पाँचवें समय मे आत्मा से छूटे हुए जो पुद्गल सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त होते है, उन्हें अचित्त-महास्कन्ध कहा गया है।

३ पूरणात् पुद् गलयतीति गल। —शब्दकल्पद्रुमकोष

४ पूरणगलनान्वर्थसज्ञत्वात् पुद्गला —तत्त्वार्थराजवार्तिक ५।१।२४

वृत्ति[1], धवला[2], हरिवशपुराण[3] प्रभृति अनेक ग्रन्थो मे गलन-मिलन, स्वभाव के कारण पदार्थ को पुद्गल कहा है। पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन परस्पर सम्बद्ध भी। पुद्गल की सबसे बडी पहचान यह है कि उसे छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूँघा जा सकता है और देखा जा सकता है। उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारो अनिवार्य रूप से पाये जाते है।[4]

इस प्रकार पुद्गल विविध ज्ञानेन्द्रियो का विषय बनता है। अत उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के कारण वह 'रूपी' अथवा 'रूपवान्' कहा गया है। 'रूपी' पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी इन्द्रियाँ समर्थ है। पुद्गलेतर पदार्थ अर्थात् अरूप अथवा अरूपी पदार्थ इन्द्रिय-ज्ञान के विषय नही होते। अतएव जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी हैं। इनका ज्ञान इन्द्रियो से नही हो सकता।

प्रश्न है—वर्णादि गुण वस्तुत पुद्गल मे है या हमारी इन्द्रियो का पदार्थो के साथ सम्बन्ध होने पर वर्णादि गुण की प्रतीति होती है? दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है—वर्णादि गुण पुद्गल के स्वय के गुण है या हम उन गुणो का पुद्गल मे आरोप करते हैं?

उत्तर है—पुद्गल मे वर्णादि गुणो का अभाव नही है। हमारी इन्द्रियाँ उन गुणो का पुद्गल मे आरोप नही करती। वर्णादि पुद्गल के स्वभाव ही है। वर्ण आदि के अभाव मे पुद्गल भी पुद्गल नही रहेगा। जब पुद्गल का ही अभाव हो जायेगा तो वर्णादि की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही हो सकेगा। यह ठीक है कि इन्द्रियो का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर वर्णादि की प्रतीति होती है, पर इसका तात्पर्य यह नही है कि इन्द्रियाँ वर्णादि गुणो को उत्पन्न करती है। इन्द्रियाँ और वर्णादि गुणो मे

---

१ (क) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला —तत्त्वार्थवृत्ति ५।१

(ख) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गला —न्यायकोष पृ० ५०२

२ छव्विहसठाण बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला।

३ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श —पूरण गलन च यत्।
कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गला परमाणव॥ —हरिवशपुराण ७।३६

४ (क) भगवती २।१०

(ख) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला —तत्त्वार्थसूत्र ५।२३

कारण और कार्य का नही, किन्तु ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध है। इन्द्रियों की उत्पत्ति मे वर्णादि कारण नही है और वर्णादि की उत्पत्ति मे इन्द्रियाँ कारण नही है। दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। हाँ, एक दूसरे को वे प्रभावित अवश्य कर सकते हैं।

प्रश्न है—वस्तुत वर्णादि गुण पदार्थ मे है, तो उनके प्रतिभास मे अन्तर क्यो दृष्टिगोचर होता है ? सभी को वर्णादि की समान प्रतीति क्यो नही होती ? वर्णादि के प्रतिभास मे देशगत कालगत, और व्यक्तिगत अन्तर क्यो होता है ?

उत्तर है—प्रस्तुत अन्तर के दो कारण है, आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक कारण मे इन्द्रियभेद, इन्द्रियदोष आदि है और वाह्य कारण मे अनेक परिस्थितियाँ हैं। इन दो कारणो से ही वर्णादि के प्रतिभास मे अन्तर आता है। तथापि इतना निश्चित है कि पुद्गल मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श किसी न किसी रूप मे अवश्य होता ही है। जो गुण जिसका न हो, उसका हमेशा आरोप ही नही हो सकता। नही तो फिर कोई भी गुण वास्तविक नही रह जाएगा। यह सत्य है कि वर्णादि के प्रतिभास मे यत्-किञ्चित् अन्तर पड सकता है। एक वस्तु एक व्यक्ति को अधिक लाल दिखाई दे सकती है तो दूसरे को कम। इसका अर्थ यह कदापि नही कि वस्तु का लाल वर्ण ही नही है। यदि ऐसा ही होता तो प्रत्येक वस्तु लाल दिखाई देनी चाहिए। अत वर्णादि गुणो को वस्तुगत ही मानना उचित है। उसकी प्रतीति के लिए कुछ कारण हो सकते हैं किन्तु उसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि वे गुण अपने आपमे कुछ नही है। गुण स्वतन्त्र रूप से यथार्थ हैं। गुणो की सत्ता से आवश्यक कारण अयथार्थ नही हो सकते और कारणो के अभाव मे गुण की सत्ता का अभाव नही हो सकता। दोनो का अस्तित्व स्वतन्त्र है।

पुद्गल के चार भेद

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश, (३) स्कन्ध प्रदेश और (४) परमाणु।[1]

---

१ (क) भगवती २।१०।६६
(ख) उत्तरज्झयणाणि ३६।१०

वृत्ति[1], धवला[2] हरिवंशपुराण[3] प्रभृति अनेक ग्रन्थो मे गलन-मिलन, स्वभाव के कारण पदार्थ को पुद्गल कहा है। पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन परस्पर सम्बद्ध भी। पुद्गल की सबसे बडी पहचान यह है कि उसे छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूंघा जा सकता है और देखा जा सकता है। उसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारो अनिवार्य रूप से पाये जाते है।[4]

इस प्रकार पुद्गल विविध ज्ञानेन्द्रियो का विषय बनता है। अत उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के कारण वह 'रूपी' अथवा 'रूपवान्' कहा गया है। 'रूपी' पदार्थो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी इन्द्रियाँ समर्थ है। पुद्गलेतर पदार्थ अर्थात् अरूप अथवा अरूपी पदार्थ इन्द्रिय-ज्ञान के विषय नही होते। अतएव जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अरूपी है। इनका ज्ञान इन्द्रियो से नही हो सकता।

प्रश्न है—वर्णादि गुण वस्तुत पुद्गल मे है या हमारी इन्द्रियो का पदार्थो के साथ सम्बन्ध होने पर वर्णादि गुण की प्रतीति होती है ? दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है—वर्णादि गुण पुद्गल के स्वय के गुण है या हम उन गुणो का पुद्गल मे आरोप करते हैं ?

उत्तर है—पुद्गल मे वर्णादि गुणो का अभाव नही है। हमारी इन्द्रियाँ उन गुणो का पुद्गल मे आरोप नही करती। वर्णादि पुद्गल के स्वभाव ही है। वर्ण आदि के अभाव मे पुद्गल भी पुद्गल नही रहेगा। जब पुद्गल का ही अभाव हो जायेगा तो वर्णादि की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही हो सकेगा। यह ठीक है कि इन्द्रियो का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर वर्णादि की प्रतीति होती है, पर इसका तात्पर्य यह नही है कि इन्द्रियाँ वर्णादि गुणो को उत्पन्न करती है। इन्द्रियाँ और वर्णादि गुणो मे

---

१ (क) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला —तत्त्वार्थवृत्ति ५।१
(ख) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गला —न्यायकोष पृ० ५०२

२ छव्विहसठाण बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला।

३ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शै —पूरण गलन च यत्।
कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गला परमाणव ॥ —हरिवंशपुराण ७।३६

४ (क) भगवती २।१०
(ख) स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला —तत्त्वार्थसूत्र ५।२३

कारण और कार्य का नही, किन्तु ज्ञान और ज्ञेय का सम्वन्ध है। इन्द्रियो की उत्पत्ति मे वर्णादि कारण नही है और वर्णादि की उत्पत्ति मे इन्द्रियाँ कारण नही है। दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व है। हाँ, एक दूसरे को वे प्रभावित अवश्य कर सकते है।

प्रश्न है—वस्तुत वर्णादि गुण पदार्थ मे है, तो उनके प्रतिभास मे अन्तर क्यो दृष्टिगोचर होता है ? सभी को वर्णादि की समान प्रतीति क्यो नही होती ? वर्णादि के प्रतिभास मे देशगत कालगत, और व्यक्तिगत अन्तर क्यो होता है ?

उत्तर है—प्रस्तुत अन्तर के दो कारण है, आन्तरिक और वाह्य। आन्तरिक कारण मे इन्द्रियभेद, इन्द्रियदोप आदि है और वाह्य कारण मे अनेक परिस्थितियाँ हैं। इन दो कारणो से ही वर्णादि के प्रतिभास मे अन्तर आता है। तथापि इतना निश्चित है कि पुद्गल मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श किसी न किसी रूप मे अवश्य होता ही है। जो गुण जिसका न हो, उसका हमेशा आरोप ही नही हो सकता। नही तो फिर कोई भी गुण वास्तविक नही रह जाएगा। यह सत्य है कि वर्णादि के प्रतिभास मे यत्-किञ्चित् अन्तर पड सकता है। एक वस्तु एक व्यक्ति को अधिक लाल दिखाई दे सकती है तो दूसरे को कम। इसका अर्थ यह कदापि नही कि वस्तु का लाल वर्ण ही नही है। यदि ऐसा ही होता तो प्रत्येक वस्तु लाल दिखाई देनी चाहिए। अत वर्णादि गुणो को वस्तुगत ही मानना उचित है। उसकी प्रतीति के लिए कुछ कारण हो सकते है किन्तु उसका अर्थ यह कदापि नही हो सकता कि वे गुण अपने आपमे कुछ नही है। गुण स्वतन्त्र रूप से यथार्थ हैं। गुणो की सत्ता से आवश्यक कारण अयथार्थ नही हो सकते और कारणो के अभाव मे गुण की सत्ता का अभाव नही हो सकता। दोनो का अस्तित्व स्वतन्त्र है।

पुद्गल के चार भेद

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध देश, (३) स्कन्ध प्रदेश और (४) परमाणु।[1]

---

१ (क) भगवती २।१०।६६
(ख) उत्तरज्झयणाणि ३६।१०

स्कन्ध

मूर्त्त द्रव्यो की एक इकाई स्कन्ध है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि दो मे लेकर अनन्त परमाणुओ का एकीभाव स्कन्ध है। इसके साथ ही इसमे इतना और मिलाना होगा कि विभिन्न परमाणुओ का एक होना जिस प्रकार स्कन्ध है, वैसे ही विभिन्न स्कन्धो का एक होना एव एक स्कन्ध का एक से अधिक परमाणुओ की इकाई मे पृथक् होने का परिणाम भी एक स्वतन्त्र स्कन्ध है। कम मे कम दो परमाणु पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके पृथक् होने मे दो विकल्प हो सकते है—तीन परमाणु या एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के मिलने से चतु प्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद से चार विकल्प हो सकते हैं—

(१) एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध
(२) दो द्विप्रदेशी स्कन्ध
(३) दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।
(४) चारो पृथक्-पृथक् परमाणु।

कभी-कभी अनन्त परमाणुओ के स्वाभाविक मिलन से एक लोक व्यापी महास्कन्ध भी बन जाता है।

अणुओ का समुदाय स्कन्ध है। स्कन्ध तीन प्रकार से बनता है (१) भेदपूर्वक, (२) सघातपूर्वक, (३) भेद और सघातपूर्वक।[1]

आभ्यन्तर और बाह्य, इन दो कारणो से भेद होता है।[2] आभ्यन्तर कारण से जो एक स्कन्ध का भेद होकर दूसरा स्कन्ध बनता है, उसके लिए अन्य किसी बाह्य कारण की अपेक्षा नही होती। स्कन्ध मे स्वय विदारण होता है। बाह्य कारण से जो भेद होता है, उसमे स्कन्ध के अलावा भी अन्य कारणो की आवश्यकता होती है। उस कारण के होने पर पैदा होने वाले भेद को बाह्य कारणपूर्वक कहा है।

---

१ भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते —तत्त्वार्थसूत्र ५।२६
२ सर्वार्थसिद्धि ५।२६

पृथक् भूतो का एकीभाव सघात है। यह वाह्य और आभ्यन्तर कारणजन्य होने से दो प्रकार का है। दो पृथक्-पृथक् अणुओ का सयोग सघात है।

भेद और सघात जब दोनो एक साथ होते है तब जो स्कन्ध होता है उसे भेद और सघातपूर्वक होने वाला स्कन्ध कहते है। उदाहरण के रूप मे एक स्कन्ध का एक विभाग पृथक् हुआ और उसी क्षण उस स्कन्ध मे दूसरा स्कन्ध आकर मिल गया, जिससे एक नवीन स्कन्ध बन गया। यह नवीन स्कन्ध, भेद और सघात उभयपूर्वक है।

इस प्रकार स्कन्ध के निर्माण के तीन प्रकार है। इन तीन प्रकारो मे से किसी भी एक प्रकार से स्कन्ध बन सकता है। कभी केवल भेद से ही स्कन्ध बनता है, कभी केवल सघातपूर्वक ही स्कन्ध का निर्माण होता है तो कभी भेद और सघात उभयपूर्वक स्कन्ध बनता है।

आधुनिक विज्ञान मे भी स्कन्ध (Molecule) की गहराई मे चर्चा की गई है। वहाँ बताया गया है कि पदार्थ स्कन्धो से निर्मित है। वे स्कन्ध, गैस आदि पदार्थों मे अत्यन्त शीघ्र गति से सब दिशाओ मे गति करते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से स्कन्ध वह है जैसे कि एक चॉक का टुकडा, जिसके दो टुकडे किये जाएँ, दो के फिर चार, इसी क्रम से असख्य (Infinite) तक टुकडे करते जायँ, जब तक चॉक, चॉक के रूप मे रहे। उसका सूक्ष्मतम विभाग भी स्कन्ध कहलायेगा। बात यह है कि किसी भी पदार्थ के हम टुकडे करते जायेंगे तो एक रेखा ऐसी आयेगी जहाँ से वह पदार्थ अपनी मौलिकता खोए बिना टूट नही सकेगा। इसलिए उस पदार्थ का मूल रूप स्थिर रखते हुए जो उसका अन्तिम विभाग है, वह भी स्कन्ध है। जैन-दर्शन और आधुनिक विज्ञान की स्कन्ध की परिभाषा मे कुछ समानता है तो कुछ भेद है। जैनदर्शन मे पदार्थ की एक इकाई को स्कन्ध कहा है—जैसे घडा, चटाई, मेज, पुस्तक आदि। घडे के दो टुकडे हो गये तो दो स्कन्ध हो गये और हजार टुकडे हो गये तो हजार स्कन्ध। यदि उसे पीस कर चूर्ण बनालें तो उसका एक-एक (कण) एक-एक स्कन्ध है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से घडे का वह अणु ही स्कन्ध है, यदि उसे फिर तोडा जाय तो वह अपने स्वभाव को खोकर किसी अन्य पदार्थ मे परिणत हो जायेगा। किन्तु जैनदृष्टि से उस घट का अन्तिम अणु भी स्कन्ध है। पदार्थ-स्वरूप के बदलने की अपेक्षा न रखते हुए जब तक वह तोडा जा

सकता है, जब तक वह परमाणु के रूप मे नही पहुंच जाता वहाँ तक वह स्कन्ध है एव उसके सहवर्ती जितने भी विभाग है, वे सभी स्कन्ध हैं।

स्कन्ध-देश

स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई से बुद्धि-कल्पित एक विभाग स्कन्ध-देश कहलाता है। जब हम कल्पना करते है कि यह इस पेन्सिल का आधा भाग है, या इस पुस्तक का एक पृष्ठ है, तब वह उस समग्र स्कन्ध रूप पेन्सिल या पुस्तक का एकदेश कहलाता है। साराश यह है कि हम जिसे देश कहेगे, वह स्कन्ध से पृथक् नही होगा। पृथग्भूत होने पर तो वह स्वतन्त्र स्कन्ध बन जायेगा।

स्कन्ध-प्रदेश

स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अश स्कन्ध प्रदेश है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है—परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्ध-प्रदेश कहलाता है। वह अविभागी अश है, सूक्ष्मतम है, जिसका फिर अश नही बन पाता।

परमाणु

स्कन्ध से पृथक् निरश-तत्त्व परमाणु है। जब तक वह स्कन्धगत है, प्रदेश कहलाता है और अपनी पृथक् अवस्था मे वह परमाणु कहलाता है। शास्त्रकारो ने परमाणु के स्वरूप को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है। परमाणु पुद्गल[1] अविभाज्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है और अग्राह्य है। किसी भी उपाय, उपचार या उपाधि से उसका विभाग नही हो सकता। किसी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र अथवा अस्त्र से उसका क्रमण या भाग नही हो सकता। वह तलवार की तीक्ष्ण अनी पर भी रह सकता है। पर वहाँ पर भी उसका छेदन-भेदन नही हो सकता। जाज्वल्यमान अग्नि उसे जला नहीं सकती, पुष्करावर्त महामेघ उसे आर्द्र नही कर सकता। गगा महानदी के प्रतिस्रोत मे यदि वह प्रविष्ट हो जाय तो उसे वह बहा नही सकती। परमाणु पुद्गल अनार्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्ध नही है, समध्य नही है, सप्रदेशी नही है।[2] परमाणु न लम्बा है, न चौडा है, न

---

१ भगवती ५।७

२ परमाणु पोग्गलेण भन्ते किं सअड्ढे, समज्झे, सपऐसे उदाहु—अणड्ढे अमज्झे अपऐसे ? गोयमा ! अणड्ढे, अमज्झे, अपऐसे, नो सअड्ढे, नो समज्झे, नो सपऐसे।

—भगवती ५।७

गहरा है। वह इकाई रूप है। सूक्ष्मता के कारण वह स्वय आदि है, स्वय मध्य है और स्वय अन्त है।[1] जिसका आदि, मध्य, अन्त एक ही है, इन्द्रिय ग्राह्य नही है, अविभागी है, ऐसा द्रव्य परमाणु है।[2] पञ्चास्तिकाय मे परमाणु की कुछ अन्य विशेषताएँ इस प्रकार प्रतिपादित की गई हैं— परमाणु वह है जिसमे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, दो स्पर्श हो। जो शब्द का कारण हो पर स्वय शब्द न हो और स्कन्ध से अतिरिक्त हो।[3] परमाणु मे चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अश रूप से मिलते हैं किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय का विषय उसमे उपलब्ध नही होता। चूंकि शब्द स्कन्धो का ही ध्वनि रूप परिणाम है। परमाणु तो केवल शब्द के कारणभूत ही कहे जा सकते है, यद्यपि किसी एक परमाणु के वर्ण, गन्ध आदि इन्द्रिय के विषय नही हो सकते तथापि ये परमाणु के मूल गुण हैं।

प्रदेश और परमाणु मे केवल स्कन्ध से अपृथग्भाव और पृथग्भाव का अन्तर है।

परमाणु की चर्चा सर्वप्रथम भारत में

जैन आगम साहित्य मे परमाणुओ के सम्बन्ध मे विस्तार से चर्चा की गई है। आगम साहित्य का बहुभाग परमाणु की चर्चा से सम्बन्धित है। परमाणु के सम्बन्ध मे जैनदर्शन का मन्तव्य है कि इस विराट् विश्व मे जितना सायोगिक परिवर्तन होता है वह परमाणुओ के परस्पर सयोग-वियोग और जीव और परमाणुओ के सयोग-वियोग से होता है।

कितने ही पाश्चात्य विज्ञो का अभिमत है कि भारत मे परमाणुवाद यूनान से आया है। परन्तु प्रस्तुत कथन सत्य व तथ्यपूर्ण नही है। यूनान मे परमाणुवाद का जन्मदाता डिमोक्रिट्स हुआ है। डिमोक्रिट्स का समय

---

१ सौक्ष्म्याद्य आत्ममध्या आत्मान्ताश्च। —राजवार्तिक ५।२५।१

२ *अन्तादि अन्तमज्झ अन्ततेणेव इन्दिएगेज्झ।*
ज दव्व अविभागी त परमाणु विजानीहि॥
—सर्वार्थसिद्धि टीका—सूत्र ५।२५

३ एक रस, वर्ण, गन्ध, द्विस्पर्श शब्दकारणमशब्दम्।
स्कन्धान्तरित द्रव्य, परमाणु त विजानीहि॥
—पञ्चास्तिकाय

ईस्वी पूर्व ४६०-३७१ है।[1] डिमोक्रिट्स के परमाणुवाद से जैनो का परमाणुवाद बहुताश मे पृथक् भी है। मौलिकता की दृष्टि से तो वह बिल्कुल ही भिन्न है। जैनदर्शन के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिट्स का मत है कि आत्मा सूक्ष्म परमाणुओ का ही विकार है।

शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—परमाणुवाद वैशेषिकदर्शन की ही विशेषता है। उसका प्रारम्भ उपनिषदो से होता है। जैन, आजीवक आदि द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया है।[2] किन्तु हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करे तो वैशेषिको का परमाणुवाद जैन परमाणुवाद से पूर्व का नही है और न जैनो के समान वैशेषिको ने उसके विभिन्न पहलुओ पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश ही डाला है। उपनिषद् मे अणु शब्द का प्रयोग हुआ है। "अणोरणीयान् महतो महीयान्" किन्तु परमाणु शब्द का प्रयोग नही हुआ है और न परमाणुवाद के नाम की कोई वस्तु ही उसमे है।

डाक्टर हरमन जेकोबी का अभिमत है कि "ब्राह्मणो की प्राचीनतम दार्शनिक मान्यताओ मे, जो उपनिषदो मे वर्णित है, हम अणु सिद्धान्त का उल्लेख तक नही पाते हैं और इसलिए वेदान्त सूत्र मे जो उपनिषदो की शिक्षाओ को व्यवस्थित रूप से बताने का दावा करते है, इसका खण्डन किया गया है। साख्य और योग दर्शनो मे भी इसे स्वीकार नही किया गया है, जो वेदो के समान ही प्राचीन होने का दावा करते हैं। क्योकि वेदान्त-सूत्र भी इन्हे स्मृति के नाम से पुकारते है किन्तु अणु सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का अविभाज्य अग है और न्याय ने भी इसे स्वीकार किया है। ये दोनो ब्राह्मण परम्परा के दर्शन हैं। जिनका प्रादुर्भाव साम्प्रदायिक विद्वानो द्वारा हुआ है न कि दैवी व धार्मिक व्यक्तियो द्वारा। वेद-विरोधी मतो ने, जैनो ने इसे ग्रहण किया है और आजीविको ने भी ।हम जैनो को प्रथम स्थान देते हैं क्योकि उन्होने पुद्गल के सम्बन्ध मे अतीव प्राचीन मतो के आधार पर ही अपनी पद्धति को सस्थापित किया है।"[3]

---

१ पश्चिमी दर्शन—डा० दीवानचन्द

२ भारतीय सस्कृति पृ० २२६

३ एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृ० १९९-२००

विद्वानो ने आज यह मान लिया है कि भारतवर्ष मे परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैनदर्शन को मिलना चाहिए।[1]

परमाणु के दो भेद

हमने उपर्युक्त पक्तियो मे जैनदृष्टि से अच्छेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु लिखा है। परमाणु के इन उपलक्षणो मे आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को सन्देह होना स्वाभाविक है। चूंकि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रो मे परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नही है।

यदि परमाणु अविभाज्य नही हो तो हम उसे परम+अणु नही कह सकते। विज्ञान जिसे परमाणु मानता है वह टूटता है। इसे हम इनकार नही कर सकते। प्रस्तुत समस्या का समाधान 'अनुयोग द्वार' से हो जाता है। वहाँ पर परमाणु के दो भेद बताये हैं—

(१) सूक्ष्म परमाणु

(२) व्यावहारिक परमाणु[2]

जो हमने पहले परमाणु का स्वरूप बताया है, वह सूक्ष्म परमाणु का है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओ के समुदाय से बनता है।[3] वस्तुत वह स्वय परमाणु-पिण्ड है तथापि साधारण दृष्टि से ग्राह्य नही होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोडा नही जा सकता। उसकी परिणति सूक्ष्म होने से व्यावहारिक रूप से उसे परमाणु कहा जाता है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात जैनदृष्टि भी एक सीमा तक मानती है।

पुद्गल के गुण

पुद्गल के मुख्य चार गुण हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु मे ये चारो गुण होते हैं। इन चार गुणो के परिणमनस्वरूप पुद्गल के बीस गुण होते है, जो इस प्रकार है—

स्पर्श—शीत, उष्ण, रुक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कठोर।

रस—अम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

---

१ दर्शनशास्त्र का इतिहास पृ० १२६

२ परमाणु दुविहे पन्नत्ते, त जहा—सुहुमेय, ववहारियेय।
—अनुयोगद्वार (प्रमाण द्वार)

३ अणताण सुहुमपरमाणु पोग्गलाण समुदयसमिति समागयेण ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जति —अनुयोगद्वार (प्रमाणद्वार)

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, और श्वेत।

यद्यपि सस्थान, परिमण्डल, वृत्त त्र्यश, चतुरश, और आयत पुद्गल मे ही होता है, तथापि वह पुद्गल का गुण नही है।[1] किन्तु स्कन्ध का आकार रूप पर्याय हैं।

पुद्गल के जो वीस गुण वताये है उनके तर-तमता की दृष्टि से सख्यात, असख्यात, और अनन्त भेदो मे विभाजन हो सकता है।[2]

द्रव्य रूप मे सूक्ष्म परमाणु निरवयव और अविभाज्य होने पर भी पर्यायदृष्टि से वैसा नही है। उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं।[3] पूर्व बता चुके हैं कि एक परमाणु मे एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस, और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, इन युगलो मे से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से अनन्त गुणवाला परमाणु एक गुणवाला हो जाता है और एक गुणवाला परमाणु अनन्त गुणवाला हो जाता है। जैनदृष्टि से एक परमाणु वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर वाला हो सकता है।

एक गुणवाला पुद्गल यदि उसी रूप मे रहे तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असख्यात काल तक रह सकता है।[4] द्विगुण से लेकर अनन्त-गुण तक के परमाणु पुद्गलो के लिए भी यही विधान है। उसके पश्चात् उसमे परिवर्तन अनिवार्य रूप से होता है। यह नियम जैसे वर्ण के सम्वन्ध मे है वैसा ही गन्ध, रस और स्पर्श के सम्वन्ध मे भी समझना चाहिए।

परमाणु के चार प्रकार

सामान्यतया अविभाज्य स्वतत्र पुद्गल परमाणु है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है किन्तु कही-कही अन्य द्रव्यो के भी सूक्ष्मतम बुद्धिकल्पित भाग को परमाणु कह दिया गया है। इस दृष्टि से परमाणु के चार प्रकार ये है[5]—

---

१ भगवती २५।३

२ सर्वार्थसिद्धि ५।२३

३ चउविहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, त जहा—वण्णपरिणामे, गधपरिणामे, रस परिणामे, फासपरिणामे —स्थानाङ्ग ४।१३५

४ भगवती ५।७

५ चउव्विहे परमाणु पण्णत्ते, त जहा—दव्व परमाणु खेत्तपरमाणु, कालपरमाणु, भाव परमाणु। —भगवती २०।५।१२

(१) द्रव्य परमाणु—पुद्गल परमाणु
(२) क्षेत्र परमाणु—आकाश परमाणु
(३) काल परमाणु—समय
(४) भाव परमाणु—गुण

भाव परमाणु चार प्रकार का है—(१) वर्ण-गुण, (२) गन्ध-गुण, (३) रस-गुण, तथा (४) स्पर्श-गुण।

इन चार के १६ उपभेद हैं (१) एक गुण कृष्ण, (२) एक गुण नील, (३) एक गुण रक्त, (४) एक गुण पीत, (५) एक गुण श्वेत, (६) एक गुण सुगन्ध, (७) एक गुण दुर्गन्ध (८) एक गुण तिक्त, (९) एक गुण मधुर, (१०) एक गुण कटुक, (११) एक गुण कषाय, (१२) एक गुण तीक्ष्ण, (१३) एक गुण उष्ण, (१४) एक गुण शीत, (१५) एक गुण रुक्ष तथा (१६) एक गुण स्निग्ध। साराश यह है कि जैनदर्शन मे प्रतिपादित परमाणु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवान है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नही है, तथापि अमूर्त नही है। वह रूपी है। परमाणु इतना सूक्ष्म है कि मूर्त होने पर भी दृष्टिगोचर नही होता। वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष से ही देखा जा सकता है।

केवल-ज्ञानी मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकार के पदार्थ को जानते हैं इसलिए वे परमाणु को जानते ही हैं। छद्मस्थ या क्षायोपशमिक ज्ञानी (जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है) परमाणु को जान भी सकते हैं और नही भी। अवधिज्ञानी (रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञानी) उसे जान सकता है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति उसे नही जान सकता।[1]

परमाणु से स्कन्ध कैसे बनते हैं ?

कल्पना कीजिए—प्रत्येक-परमाणु ईंट के समान एक स्वतत्र इकाई है तो वे परस्पर मिलकर महाकाय स्कन्धो के रूप मे किस प्रकार परिणत हो जाते हैं। मकान-निर्माण करते समय ईंटो के परस्पर जोड के लिए चूना, सीमेन्ट आदि सयोजक द्रव्य व किसी सयोजक व्यक्ति की आवश्यकता होती हैं परन्तु अनन्त ब्रह्माण्ड मे स्कन्धो का सघटन-विघटन प्रतिपल-प्रतिक्षण अपने आप होता रहता है। निर्मल आकाश किञ्चित् समय मे उमड-घुमड कर

---

१ भगवती १८।८

आने वाली घटाओ से भर जाता है। वहाँ पर बादल रूप स्कन्धो का जमघट हो जाता है और कुछ ही क्षणो मे वे बिखर भी जाते है । इस प्रकार स्वाभाविक स्कन्धो के निर्माण का क्या हेतु है ?

यह दृश्य जगत्, जो पौद्‌गलिक है, परमाणु-सघटित है। परमाणुओ से स्कन्ध का निर्माण होता है और स्कन्धो से स्थूल पदार्थ बनता है। पुद्‌गल मे सघातक और विघातक ये दोनो शक्तियाँ है।[1] परमाणुओ के मेल से स्कन्ध का निर्माण होता है और एक स्कन्ध के विभक्त होने पर अनेक स्कन्ध हो जाते है। यह गलन और मिलन की जो प्रक्रिया है, वह प्राणी के प्रयोग से भी होती है और स्वाभाविक भी होती है। कारण यह है कि पुद्‌गल की अवस्थाये अनादि-अनन्त नही किन्तु सादि-सान्त है। यदि पुद्‌गल मे वियोजन शक्ति का अभाव होता तो सब अणुओ का एक पिण्ड हो जाता और यदि सयोजन शक्ति का अभाव होता तो एक-एक अणु पृथक-पृथक रह कर कुछ भी नही कर सकते। अनन्त परमाणु का स्कन्ध ही प्राणियो के लिए उपयोगी है।

जैन दार्शनिको ने स्कन्ध-निर्माण की एक सुव्यवस्थित रासायनिक व्यवस्था प्रस्तुत की है, उसका रहस्य इस प्रकार है—

(१) परमाणु की स्कन्ध रूप परिणति मे परमाणुओ की स्निग्धता और रुक्षता एक मात्र कारण है।

(२) स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने पर स्कन्ध-निर्माण होता है। (यदि उन दोनो परमाणुओ की स्निग्धता मे कम से कम दो अशो से अधिक अन्तर हो तो)

(३) रुक्ष परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ मेल होने से स्कन्ध-निर्माण होता है। (यदि उन दोनो परमाणुओ की रुक्षता मे कम से कम दो अशो से अधिक अन्तर हो तो)

(४) स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओ के मिलन से तो स्कन्ध निर्माण निश्चित रूप से होता ही है, भले ही वे विषम अश वाले हो या सम अश वाले हो।

---

१ दोहि ठाणेहि पोग्गला साहन्नति-सय वा पोग्गला साहन्नति, परेण वा पोग्गला साहन्नति, एव भिज्जति परिसडति, परिवडति विद्धसति।

—स्थानाङ्ग २।२२१-२२५

इन चार सविधानो मे केवल अपवाद इतना ही है कि कोई भी परमाणु एक अश रुक्ष या एक अश स्निग्ध नही होना चाहिए।

दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि—

(१) जघन्य गुण वाले अवयवो का वध नही होता।

(२) समान गुण होने पर सदृश—स्निग्ध से स्निग्ध, व रुक्ष से रुक्ष अवयवो का भी बध नही होता।

(३) द्व्याधिकादि गुण वाले अवयवो का वध होता है।[1]

परमाणुओ के बध के सम्वन्ध मे श्वेताम्वर और दिगम्वर परम्परा मे मतैक्य नही है। श्वेताम्वर परम्परा के अनुसार दो परमाणु जव जघन्य गुण वाले हो तभी उनका वध नही होता यदि एक परमाणु जघन्य गुणवाला हो और दूसरा जघन्य गुणवाला न हो तो उसका वध हो सकता है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार जघन्य गुणवाले एक भी परमाणु के रहते हुए वध नही होता। श्वेताम्वर मान्यतानुसार एक अवयव से दूसरे अवयव मे स्निग्धत्व या रुक्षत्व के दो, तीन, चार, यावत् अनन्त गुण अधिक होने पर भी बन्ध हो जाता है, केवल एक अश अधिक होने पर वध नही हो सकता। दिगम्वर परम्परानुसार केवल दो गुण अधिक होने पर ही वध होता है। एक अवयव से दूसरे अवयव मे स्निग्धत्व या रुक्षत्व दो तीन चार यावत् अनन्त गुण अधिक होने पर बध नही माना जाता। श्वेताम्वर के अनुसार दो, तीन आदि गुणो के अधिक होने पर जो बध का विधान किया है, वह सदृश अवयवो के लिए है, विसदृश अवयवो के लिए नही। किन्तु दिगम्वर धारणा के अनुसार प्रस्तुत विधान सदृश और असदृश दोनो प्रकार के अवयवो के लिए है। श्वेताम्वर और दिगम्बर परम्पराओ के वन्ध सम्वन्धी मतभेद का साराश इस प्रकार है[2]—

---

१ स्निग्धरुक्षत्वाद् वन्ध ।
न जघन्यगुणानाम् ।
गुणसाम्ये सदृशानाम् ।
द्व्यधिकादि गुणाना तु ।
—तत्त्वार्थसूत्र ५।३२-३५

२ (क) तत्त्वार्थसूत्र प० सुखलालजी सघवी पृ २०२-२०३
(ख) जैनधर्मदर्शन पृ० १६५

श्वेताम्बर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१ जघन्य+जघन्य	नही	नही
२. जघन्य+एकाधिक	नही	है
३ जघन्य+(द्व्यधिक)	है	है
४ जघन्य+(त्र्यधिक)	है	है
५ जघन्येतर+समजघन्येतर	नही	है
६ जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नही	है
७ जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर+त्र्यधिकादि जघन्येतर	है	है

दिगम्बर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१ जघन्य+जघन्य	नही	नही
२ जघन्य+एकाधिक	नही	नही
३ जघन्य+द्व्यधिक	नही	नही
४ जघन्य+त्र्यधिक	नही	नही
५ जघन्येतर+समजघन्येतर	नही	नही
६ जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नही	नही
७ जघन्येतर+द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर+त्र्यधिकादि जघन्येतर	नही	नही

बध हो जाने के पश्चात् कौन से परमाणु किन परमाणुओ मे परिणत होते हैं ? सदृश और विसदृश परमाणुओ मे से कौन किसको अपने मे परिणत करता है ? समान गुणवाले सदृश अवयवो का बध नही होता। विसदृश बध के समय कभी एक सम दूसरे सम को अपने रूप मे परिणत कर लेता है और कभी द्वितीय सम प्रथम सम को अपने रूप मे परिवर्तित कर लेता है। द्रव्य, क्षेत्र आदि का जिस प्रकार सयोग होता है, उसी प्रकार हो जाता है। इस तरह का बध एक प्रकार का मध्यम बध है। अधिक गुण और हीन गुण बध के समय अधिक गुणवाला हीन गुणवाले को अपने रूप मे बदल देता है।[1]

---

१ बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ —तत्त्वार्थसूत्र ५।३६

जिस परम्परा मे समान गुण का पारस्परिक वध विलकुल नही होता, वहाँ पर अधिकगुण हीनगुण को अपने रूप मे परिवर्तित कर देता है,[1] यही मानना पर्याप्त है।

पुद्गल के भेद-प्रभेद

पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध ये दो प्रमुख भेद हैं। इनके आधार से छह भेद होते हैं। वे इस प्रकार है[2]—

(१) स्थूलस्थूल—मिट्टी, पत्थर, काष्ठ, आदि ठोस पदार्थ इस विभाग मे आते हैं।

(२) स्थूल—दूध, दही, मक्खन, पानी, तैल आदि प्रवाही पदार्थ इस श्रेणी मे आते हैं।

(३) स्थूल-सूक्ष्म—प्रकाश, विद्युत, उष्णता, अभिव्यक्तियाँ स्थूल-सूक्ष्म विभाग के अन्तर्गत है।

(४) सूक्ष्मस्थूल—पवन, वाष्प, सूक्ष्मस्थूल कोटि मे आते है।

(५) सूक्ष्म—मनोवर्गणा आदि अचाक्षुष (जो चक्षु आदि इन्द्रियो के विषय नही है) स्कन्ध सूक्ष्म हैं।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म—अन्तिम निरश पुद्गल परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

जो पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुष है, वह भेद और सघात से चाक्षुष होता है। जब कोई स्कन्ध सूक्ष्म से मिटकर स्थूल होता है, तब उस स्कन्ध मे कुछ नूतन परमाणु अवश्य मिलते है और कुछ परमाणु उससे पृथक् भी हो जाते हैं। मिलना और पृथक् होना यही सघात और भेद कहलाता है। अचाक्षुष से चाक्षुष होने के लिए भेद और सघात इन दोनो की अनिवार्य आवश्यकता है।

---

१ बन्धेऽधिको पारिणामिकौ —तत्त्वार्थसूत्र ५।३७

१ (क) अतिस्थूलस्थूला स्थूला, स्थूलसूक्ष्माश्च सूक्ष्मस्थूलाश्च।
सूक्ष्मा, 'अतिसूक्ष्मा इतिधरादयो भवन्ति षड् भेदा॥
—नियमसार २१, कुन्दकुन्दाचाय

(ख) बादरबादर बादर बादरसुहुम च सुहुम थूलच।
सुहुम च सुहुमसुहुम च धरादिय होदि छब्भेय॥
—गोम्मटसार, जीवकाड ६०२

पुद्गल के तीन भेद

जीव और पुद्गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्गल के तीन भेद भी किये गये है[1]—

(१) प्रयोग परिणत—जो पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये गये है, वे प्रयोग परिणित हैं जैसे—इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, माँस आदि के पुद्गल।

(२) मिश्र परिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा परिणत होकर पुन मुक्त हो चुके हैं, वे मिश्र परिणत है। जैसे—कटे हुए नाखून, केश, श्लेष्म, मल-मूत्र आदि।

(३) विस्रसा परिणत—ऐसे पुद्गल जिनमे जीव का सहाय नही और स्वय परिणत है, उन्हे विस्रसा परिणत पुद्गल कहते हैं। जैसे वादल, इन्द्र-धनुप, आदि।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।[2] वह द्रव्य रूप से शाश्वत है और पर्याय रूप से अशाश्वत है। द्रव्य की अपेक्षा परमाणु पुद्गल अचरम है अर्थात् परमाणु सघात रूप मे परिणत होकर भी पुन परमाणु हो जाता है। इस कारण से वह द्रव्य की दृष्टि से चरम नही है किन्तु क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से वह चरम भी है और अचरम भी है।[3]

पुद्गल की परिणति

पुद्गल की परिणति सूक्ष्म और वादर रूप मे दो प्रकार की होती है।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जहाँ तक सूक्ष्म परिणति मे रहता है, वहाँ तक वह इन्द्रियग्राह्य नही होता। सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुस्पर्शी होते है। उनमे शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष ये चार स्पर्श ही होते है। गुरु, लघु, मृदु और कठिन ये चार स्पर्श वादर परिणाम वाले चार स्कन्धो मे ही होते हैं। गुरु-लघु, और मृदु-कठिन ये स्पर्श पहले वाले चार स्पर्शो के सापेक्ष सयोग से निर्मित होते है। जब रुक्ष स्पर्श की वहुलता होती है तव लघु

---

१ तिविहा पोग्गला पण्णत्ता—पओगपरिणया, मिससा परिणया, विससा परिणया। —भगवती ८।१।१

२ भगवती १४।४

३ भगवती १४।४

स्पर्श होता है और जब स्निग्ध की बहुलता होती है तब गुरु होता है। जब शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता होती है, तो मृदु स्पर्श होता है और जब उष्ण और रुक्ष की बहुलता होती है, तो कर्कश स्पर्श होता है। साराश यह है कि जब सूक्ष्म परिणति मिटती है और स्थूल परिणति होती है, वहाँ पर चार स्पर्श भी बढ जाते है।[1]

पुद्गल कब से कब तक ?

स्कन्ध और परमाणु प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अपर्यवसित है, चूँकि अनादिकाल से इसकी सन्तति चली आ रही है और चलती भी रहेगी। स्थिति की दृष्टि से यह सादि-सपर्यवसित भी है। जिस प्रकार परमाणुओ से स्कन्ध का निर्माण होता है और स्कन्ध-भेद होने पर परमाणु हो जाते है।

परमाणु, परमाणु के रूप मे कम से कम रहे तो एक समय तक रहता है और अधिक से अधिक रहे तो असख्यात काल तक रह सकता है। इसी प्रकार स्कन्ध-स्कन्ध के रूप मे रहे, तो कम से कम एक समय तक रहता है और अधिक से अधिक असख्यात काल तक।[2] उसके पश्चात् उसमे परिवर्तन अनिवार्य रूप से होता है।

परमाणु और स्कन्ध क्षेत्र की दृष्टि से एक क्षेत्र मे कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल तक रह सकते हैं।

एक परमाणु स्कन्ध रूप मे परिणत होकर पुन परमाणु हो जाय तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल लग सकता है।[3] द्व्यणुकादि व त्र्यणुकादि स्कन्ध रूप मे परिणत होने के पश्चात् वह परमाणु पुन परमाणु रूप मे आये तो कम मे कम एक समय और अधिक से अधिक अनन्तकाल लग सकता है।[4]

एक परमाणु या स्कन्ध जिस आकाश प्रदेश मे है, वहाँ से वह किसी कारणवश चल देता है तो पुन उस आकाश प्रदेश मे कम से कम वह एक समय मे आ सकता है और अधिक मे अधिक अनन्तकाल के पश्चात आता

---

१ जैनदर्शन मनन और मीमासा पृ १७५

२ भगवती ५।८

३ भगवती ५।८

४ भगवती ५।८

पुद्गल के तीन भेद

जीव और पुद्‌गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्‌गल के तीन भेद भी किये गये हैं[1]—

(१) प्रयोग परिणत—जो पुद्‌गल जीव द्वारा ग्रहण किये गये हैं, वे प्रयोग परिणित हैं जैसे—इन्द्रियाँ, शरीर, रक्त, माँस आदि के पुद्‌गल।

(२) मिश्र परिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा परिणत होकर पुन मुक्त हो चुके है, वे मिश्र परिणत हैं। जैसे—कटे हुए नाखून, केश, श्लेष्म, मल-मूत्र आदि।

(३) विस्रसा परिणत—ऐसे पुद्‌गल जिनमे जीव का सहाय नही और स्वय परिणत हैं, उन्हे विस्रसा परिणत पुद्‌गल कहते हैं। जैसे बादल, इन्द्र-धनुष, आदि।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्‌गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।[2] वह द्रव्य रूप से शाश्वत है और पर्याय रूप से अशाश्वत है। द्रव्य की अपेक्षा परमाणु पुद्‌गल अचरम है अर्थात् परमाणु सघात रूप मे परिणत होकर भी पुन परमाणु हो जाता है। इस कारण से वह द्रव्य की दृष्टि से चरम नही है किन्तु क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से वह चरम भी है और अचरम भी है।[3]

पुद्गल की परिणति

पुद्‌गल की परिणति सूक्ष्म और बादर रूप मे दो प्रकार की होती है।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जहाँ तक सूक्ष्म परिणति मे रहता है, वहाँ तक वह इन्द्रियग्राह्य नही होता। सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुस्पर्शी होते हैं। उनमे शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष ये चार स्पर्श ही होते हैं। गुरु, लघु, मृदु और कठिन ये चार स्पर्श बादर परिणाम वाले चार स्कन्धो मे ही होते है। गुरु-लघु, और मृदु-कठिन ये स्पर्श पहले वाले चार स्पर्शो के सापेक्ष सयोग से निर्मित होते हैं। जब रुक्ष स्पर्श की बहुलता होती है तब लघु

---

१ तिविहा पोग्गला पण्णत्ता—पओगपरिणया, मिससा परिणया, विससा परिणया।
—भगवती ८।१।१

२ भगवती १४।४

३ भगवती १४।४

स्पर्श होता है और जब स्निग्ध की बहुलता होती है तब गुरु होता है। जब शीत और स्निग्ध स्पर्श की बहुलता होती है, तो मृदु स्पर्श होता है और जब उष्ण और रूक्ष की बहुलता होती है, तो कर्कश स्पर्श होता है। साराश यह है कि जब सूक्ष्म परिणति मिटती है और स्थूल परिणति होती है, वहाँ पर चार स्पर्श भी बढ जाते है।[1]

पुद्गल कब से कब तक ?

स्कन्ध और परमाणु प्रवाह की दृष्टि से अनादि-अपर्यवसित है, चूंकि अनादिकाल से इसकी सन्तति चली आ रही है और चलती भी रहेगी। स्थिति की दृष्टि से यह सादि-सपर्यवसित भी है। जिस प्रकार परमाणुओ से स्कन्ध का निर्माण होता है और स्कन्ध-भेद होने पर परमाणु हो जाते है।

परमाणु, परमाणु के रूप मे कम से कम रहे तो एक समय तक रहता है और अधिक से अधिक रहे तो असख्यात काल तक रह सकता है। इसी प्रकार स्कन्ध-स्कन्ध के रूप मे रहे, तो कम से कम एक समय तक रहता है और अधिक से अधिक असख्यात काल तक।[2] उसके पश्चात् उसमे परिवर्तन अनिवार्य रूप से होता है।

परमाणु और स्कन्ध क्षेत्र की दृष्टि से एक क्षेत्र मे कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल तक रह सकते हैं।

एक परमाणु स्कन्ध रूप मे परिणत होकर पुन परमाणु हो जाय तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असख्यात काल लग सकता है।[3] द्वयणुकादि व त्र्यणुकादि स्कन्ध रूप मे परिणत होने के पश्चात् वह परमाणु पुन परमाणु रूप मे आये तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अनन्तकाल लग सकता है।[4]

एक परमाणु या स्कन्ध जिस आकाश प्रदेश मे है, वहाँ से वह किसी कारणवश चल देता है तो पुन उस आकाश प्रदेश मे कम से कम वह एक समय मे आ सकता है और अधिक मे अधिक अनन्तकाल के पश्चात आता

---

१ जैनदर्शन मनन और मीमामा पृ १७५
२ भगवती ५।८
३ भगवती ५।८
४ भगवती ५।८

है।[1] परमाणु आकाश के एक प्रदेश को अवगाहन करके ही रहता है, किन्तु स्कन्ध एक, दो, सख्यात, असख्यात, यावत् समूचे लोकाकाश तक फैल सकता है। हम पहले लिख चुके है कि सम्पूर्ण लोक मे फैलने वाले स्कन्ध को अचित्त महास्कन्ध कहते है।

अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

परमाणु द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से अप्रदेशी है, काल की दृष्टि से एक समय की स्थितिवाला परमाणु अप्रदेशी है और उससे अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी है। भाव की दृष्टि से एक गुणवाला अप्रदेशी है और अधिक गुणवाला सप्रदेशी है।

स्कन्ध द्रव्य की दृष्टि से सप्रदेशी है। जिस स्कन्ध मे जितने परमाणु होते हैं, वह स्कन्ध तत्परिमाण प्रदेशी कहलाता है।

स्कन्ध क्षेत्र की दृष्टि से सप्रदेशी भी है और अप्रदेशी भी है। जो स्कन्ध एक आकाश प्रदेश को अवगाहन कर रहा है, वह अप्रदेशी है और दो से अधिक आकाश प्रदेश को अवगाहन कर रहता है, वह सप्रदेशी है।

स्कन्ध काल की दृष्टि से जो एक समय की स्थिति वाला है वह अप्रदेशी है और उससे अधिक स्थितवाला सप्रदेशी है।

स्कन्ध भाव की दृष्टि से एक गुणवाला है, वह अप्रदेशी है और अधिक गुणवाला सप्रदेशी है।[2]

पुद्गल की गति

परमाणु जड होने पर भी गतिशील है। उसकी गति प्रेरित भी होती है, और अप्रेरित भी होती है। वह सर्वदा ही गति करता हो, ऐसी बात नही है। वह कभी गति करता है और कभी नही करता है। वह एक समय मे लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, जो असख्य योजन की दूरी पर है, जा सकता है। उसका गति-परिमाण स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नही किन्तु सहायक है।[3]

प्रश्न है—"परमाणु मे गति अपने आप होती है या जीव के द्वारा प्रेरणा देने पर होती है?"

---

१ भगवती ५।८
२ भगवती ५।८
३ भगवती १६।८

उत्तर है—"परमाणु मे जीवनिमित्तक कोई क्रिया और गति नही होती चूँकि परमाणु जीव द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता और पुद्गल को ग्रहण किये बिना पुद्गल मे परिणमन कराने की जीव मे सामर्थ्य नही है।"

परमाणु सकम्प भी होता है[1] और अकम्प भी होता है। कदाचित् वह चचल भी होता है और नही भी होता है। उसमे निरन्तर कम्प-भाव रहता ही हो, यह बात भी नही है और निरन्तर अकम्प-भाव रहता हो, यह बात भी नही है।

द्व्यणुक-स्कन्ध मे कदाचित् कम्पन और कदाचित् अकम्पन दोनो होते हैं। उनके द्व्य श होने से उनमे देश-कम्प और देश-अकम्प दोनो प्रकार की स्थिति होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध मे भी द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान कम्प-अकम्प की स्थिति होती है। केवल देश-कम्प मे एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पो का अन्तर होता है। जिस प्रकार एक देश मे कम्प होता है, देश मे कम्प नही होता है। देश मे कम्प होता है, देशो (दो) मे कम्प नही होता। देशो मे कम्प होता है, देश मे कम्प नही होता।

चतु प्रदेशी स्कन्ध मे, देश मे कम्प, देश मे अकम्प, देश मे कम्प और देशो (दो) मे अकम्प, देशो (दो) मे अकम्प और देश मे अकम्प, देश मे कम्प और देशो मे अकम्प होता है।

पाँच प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक यही बात है।

परमाणु की गति सम्बन्धी कुछ मर्यादायें

परमाणु की गति के सम्बन्ध मे और कुछ ज्ञातव्य बाते हैं। परमाणु की स्वाभाविक गति सरल रेखा मे होती है। जब अन्य पुद्गल का उसमे सहकार होता है तब परमाणु की गति मे वक्रता आती है। परमाणु की गति मे जीव प्रत्यक्ष कारण नही हो सकता, चूकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। जीव छोटे या बडे स्कन्धो को ही प्रभावित कर सकता है। जैसे परमाणु की उत्कृष्ट गति का वर्णन किया गया है, वैसे ही उसकी अल्पतम गति का निर्देश भी आगम साहित्य मे मिलता है। मन्द गति से परमाणु एक समय मे आकाश के एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश मे जा सकता है। आकाश का एक प्रदेश उतना ही छोटा है जितना एक परमाणु है।

---

१ भगवती ५।७

पूर्व बताया जा चुका है कि परमाणु की गति अपने आप भी होती है और अन्य पुद्गलो की प्रेरणा से भी होती है। निष्क्रिय परमाणु कब गति करेगा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, किन्तु यह निश्चित है कि वह असख्यात काल के पश्चात् अवश्य ही गति करेगा। सक्रिय परमाणु कब गति और क्रिया बन्द करेगा, यह अनियत है। एक समय से लेकर आवलिका[1] के असख्यात भाग समय मे, किसी भी समय वह गति एव क्रिया बन्द कर सकता है। किन्तु आवलिका के असख्यात भाग उपरान्त वह निश्चित रूप से गति क्रिया प्रारम्भ करेगा।

परमाणु-पुद्गल अप्रतिघाती है। वह सगीन लोह से निर्मित दीवाल को सहज रूप से पार कर सकता है। सुमेरु जैसे महान पर्वत भी उसके मार्ग मे बाधक नही बनते। यहाँ तक कि वह वज्र को भी सहज रूप से पार कर सकता है। वह कभी-कभी प्रतिहत होता है तो इस स्थिति मे कि विस्रसा (स्वाभाविक) परिणाम से सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल का यदि किसी अन्य विस्त्रसा परिणाम से सवेग गति करते हुए परमाणु पुद्गल से आयतन सयोग हो तो ऐसी स्थिति मे वह स्वय भी प्रतिहत हो सकता है और साथ ही अपने प्रतिपक्षी परमाणु को भी प्रतिहत कर सकता है।[2]

परमाणुओ का सूक्ष्म परिणामावगाहन

परमाणु की सबसे विलक्षण शक्ति यह है कि जिस आकाश प्रदेश को एक परमाणु ने भर दिया है, उसी आकाश प्रदेश मे दूसरा परमाणु पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ रह सकता है और उसी आकाश प्रदेश मे सूक्ष्म रूप से परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी रह सकता है। परमाणुओ की सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति का ही यह चमत्कार है। आचार्य पूज्यपाद ने प्रस्तुत विषय मे शका उपस्थित कर फिर उसका सम्यक् समाधान इस प्रकार किया है—'यह असख्य प्रदेशी लोकाकाश अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धो का अधिकरण किस प्रकार हो सकता है? इसमे किसी भी प्रकार की आपत्ति नही है। सूक्ष्म परिणामावगाहन शक्ति के योग से परमाणु आदि

---

१ ४८ मिनिट परिमाण मुहूर्त के १६७७७२१६ वें भाग को आवलिका कहते है।

२ जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ० ३७

सूक्ष्म भाव मे परिणत हो जाते है। इसलिए एक-एक आकाश प्रदेश मे अनन्तानन्त परमाणु व स्कन्धो का निवास निर्विरोध हो सकता है।[1]

उदाहरणार्थ, एक कमरे मे एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है किन्तु उसमे सैकडो दीपको का प्रकाश भी समा सकता है। अथवा एक दीपक का प्रकाश किसी विशाल कमरे मे फैला रहता है। वह लघु वर्तन से आच्छादित करने पर उसी मे समा जाता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल के प्रकाश-परमाणुओ के सकोच-विस्तार रूप मे भी परिणमन शक्ति है। पुद्गल के प्रत्येक परमाणु की यही स्थिति है। परमाणु के समान स्कन्धो मे भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति रही हुई है। अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु या स्कन्ध जितने स्थान मे अवस्थित होता है उसी स्थान मे अन्य परमाणु और स्कन्ध भी सहज रूप से रह सकने हैं।[3]

सूक्ष्म परिणमन का अर्थ यह है कि परमाणु मे सकोच हो सकता है, उसका घन-फल कम हो सकता है।

वैज्ञानिक समर्थन

प्रस्तुत सूक्ष्म परिणमन क्रिया का वैज्ञानिक दृष्टि से भी मेल हो जाता है। अणु (Atom) के दो अग है, एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसमे उद्युत्कण और विद्यु त्कण होते हैं और दूसरा बाह्यकक्षीय कवच (Orbital Shells) जिसमे विद्यु दणु चक्कर लगाते हैं। न्यष्टि का घनफल सम्पूर्ण अणु के घनफल से बहुत ही न्यून होता है और जब कुछ कक्षीय कवच (Orbital Shells) अणु से विच्छिन्न हो जाते हैं, तो अणु का घनफल न्यून हो जाता है। ये अणु विच्छिन्न अणु कहलाते है। अनुसधाताओ से यह परिज्ञात होता है

---

१ स्यादेतदसख्यातप्रदेशो लोक, अनन्तप्रदेशस्थानन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्याधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्त्यामिति। नैष दोष। सूक्ष्म-परिणामावगाह्य शक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्ममानेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता व्यवतिष्ठन्ते, अवगाहन शक्तिश्चैषामव्याहताऽस्ति, तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तावस्थान न विरुध्यते।
—सर्वार्थसिद्धि ५।१६, पूज्यपाद

२ प्रदेशसहारविसर्गाभ्या प्रदीपवत्
—तत्त्वार्थसूत्र ५।१६

३ जावदिय आयास अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्ध।
त तु पदेस जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिह॥
—द्रव्यसग्रह

कि कुछ तारे ऐसे है, जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओ से भी २०० गुणित है। एक स्थान पर एडिग्टन ने लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (Nuclear Matter) हमारी वास्केट की जेब मे समा सकता है। वैज्ञानिको ने ऐसे तारे का अनुसधान किया है जिसका घनत्व ६२० टन (१७३६० मन) प्रति घन इच है। इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि वह तारा विच्छिन्न अणुओ (Stripped Atoms) से निर्मित है, उसके अणुओ मे केवल व्यष्टियाँ ही है। कक्षीय कवच (Orbital Shells) नही। जैनदर्शन की भाषा मे अणुओ का सूक्ष्म परिणमन ही इसका मूल कारण है।[1]

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से परमाणु कितना सूक्ष्म है, इसका अनुमान इससे लग सकता है कि पचास शख परमाणुओ का भार केवल ढाई तोले के लगभग होता है। इसका व्यास एक इच का दस करोडवाँ हिस्सा है।

सिगरेट को लपेटने के पतले कागज की मोटाई मे एक से एक को सटा कर रखने पर एक लाख परमाणु आ जायेंगे।

धूल के एक नन्हे से कण मे दस पदम से अधिक परमाणु होते है।

सोडावाटर को ग्लास मे डालने पर उसमे जो नन्ही-नन्ही बूंदें निकलती हैं उनमे से एक के परमाणुओ की परिगणना करने के लिए विश्व के तीन अरब व्यक्तियो को बिठा दें और वे निरन्तर बिना खाये, पीये और सोये प्रति मिनिट यदि तीन सौ की रफ्तार से परिगणना करें तो उस नन्ही बूंद के परमाणुओ की समूची सख्या को पूर्ण करने मे चार महीने का समय लग जायेगा।

बारीक केश को उखाडते समय उसकी जड पर जो रक्त की सूक्ष्म बूंद लगी रहेगी, उसे अणुवीक्षण यन्त्र के माध्यम से इतना बडा रूप दिया जा सकता है कि वह बूंद छह या सात फीट के व्यास वृत्त मे दिखलायी दे तो भी उसके भीतर के परमाणु का व्यास [illegible] इच ही हो सकेगा।[2]

---

१ मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ३७४

२ जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान पृ० ४७

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य एव अप्रदेश होते है।

द्विप्रदेशी-स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य एव सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य एव सप्रदेश होते हैं।

समसख्यक परमाणु-स्कन्धो की स्थिति, द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान होती है और विषमसख्यक परमाणु-स्कन्धो की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध के समान होती है।

भगवती सूत्र मे पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति वताई गई है।[1]

(१) द्रव्य स्थानायु—परमाणु, परमाणु रूप मे और स्कन्ध, स्कन्ध रूप मे अवस्थित है।

(२) क्षेत्र-स्थानायु—जिस आकाश-प्रदेश मे परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं।

(३) अवगाहन स्थानायु—परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण मे जो अवगाहन होता है।

क्षेत्र और अवगाहन मे यह अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशो से है, वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ होता है और अवगाहन का सम्बन्ध पुद्गल द्रव्य से है। उसका अमुक परिमाण क्षेत्र मे फैलता है।

(४) भाव स्थानायु—परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति

ु की आठ वर्गणाएँ

परमाणुओ की मुख्य आठ वर्गणाएँ हैं—

(१) औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस जीवो के शरीर-निर्माण करने योग्य पुद्गल-समूह।

(२) वैक्रिय वर्गणा—लघु-विराट्, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य, आदि विभिन्न क्रियाये करने मे सशक्त शरीर के योग्य पुद्गलो का समूह।

---

१ भगवती ५।७

(३) आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह ।

(४) तैजस वर्गणा—विद्यु त-परमाणुओ का समूह ।

(५) कार्मण वर्गणा—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गलो का समूह, जिससे कार्मण नामक सूक्ष्म शरीर वनता है ।

(६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण के योग्य पुद्गल-समूह ।

(७) वचन-वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह ।

(८) मनोवर्गणा—चिन्तन मे सहायक होने वाला पुद्गल-समूह ।

वर्गणा से अभिप्राय है एक जाति के पुद्गलो का समूह । पुद्गलो मे ऐसी जातियाँ अनन्त हैं । यहाँ उनकी प्रमुख आठ जातियो का ही निर्देश किया गया है । इन वर्गणाओ के अवयव क्रमश सूक्ष्म होते है और अति-प्रचय वाले होते है । एक पौद्गलिक पदार्थ अन्य पौद्गलिक पदार्थ के रूप मे वदल जाता है ।

जैन दृष्टि से वर्गणा का वर्गणान्तर रूप मे परिवर्तन भी हो जाता है ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस ये चार वर्गणाये अष्ट स्पर्शी स्थूल स्कन्ध हैं । वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती है । कार्मण, भाषा और मन ये तीन वर्गणाये चतु स्पर्शी हैं—सूक्ष्म स्कन्ध हैं । इनमे शीत, उष्ण, स्निग्ध रूक्ष—ये चार स्पर्श होते हैं । श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतु स्पर्शी और अष्ट-स्पर्शी दोनो प्रकार की होती हैं ।[1]

पुद्गल के कार्य

जैनदर्शन ने पुद्गल के कुछ ऐसे भेद-प्रभेद माने हैं, जिन्हे प्राचीन युग के अन्य दार्शनिक पुद्गल के रूप मे नही मानते थे । आधुनिक विज्ञान ने उनमे से वहुतो को पुद्गल के रूप मे मान लिया है । जैनदर्शन के अनुसार पुद्गल के वे कार्य ये हैं—(१) शब्द, (२) वन्ध, (३) सौक्ष्म्य, (४) स्थौल्य,

---

१　भगवती २।१

(५) सस्थान, (६) भेद, (७) तम, (८) छाया, (६), आतप, (१०) उद्योत ।[1]

शब्द

एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि समुत्पन्न होती है, वह शब्द है ।[2] शब्द श्रोत्र इन्द्रिय का विपय है ।

वैशेषिकदर्शन ने शब्द को पुद्गल का पर्याय न मानकर आकाश द्रव्य का गुण माना है। साख्य-दर्शन शब्द-तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति मानता है। जैनदर्शन की मान्यता वैशेषिक और साख्यदर्शन मत से सर्वथा भिन्न है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि शब्द पौद्गलिक है क्योकि वह इन्द्रियो का विषय वनता है। आकाश जो पौद्गलिक नही है, वह शब्द को किस प्रकार उत्पन्न कर सकता है ? शब्द तन्मात्र से भी आकाश की उत्पत्ति सभव नही है, चूँकि शब्द पौद्गलिक है इसलिए शब्द तन्मात्र भी पौद्गलिक ही होनी चाहिए। यदि शब्द-तन्मात्र पौद्गलिक है तो उससे समुत्पन्न होने वाला आकाश भी पौद्गलिक होना चाहिए, किन्तु आकाश पौद्गलिक नही है। इसलिए शब्द तन्मात्र से आकाश उत्पन्न नही हो सकता ।

दूसरी वात यह है कि आकाश द्रव्य अमूर्तिक है। उसमे स्पर्श आदि कुछ भी नही है, जबकि शब्द मूर्तिक है, उसमे स्पर्श आदि है, उसे पकडा भी जाता है। अमूर्तिक द्रव्य का गुण भी अमूर्तिक ही होना चाहिए, मूर्तिक नही। आकाश का गुण मानने से शब्द को भी अमूर्तिक माने तो मूर्तिक इन्द्रिय उसे ग्रहण नही कर सकेगी। अमूर्तिक विषय को मूर्तिक इन्द्रिय किस प्रकार जान सकेगी। तृतीय वात यह है कि शब्द टकराता है, उसकी प्रतिध्वनि होती है। यदि वह अमूर्तिक आकाश का ही गुण होता तो जिस प्रकार आकाश नही टकराता वैसे शब्द भी नही टकराना चाहिए। चौथी बात—शब्द को रोका और बाँधा भी जा सकता है, यदि वह आकाश का गुण है तो रोकने

---

१ (क) शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-सस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४

(ख) द्रव्य सग्रह गा० १६, आचाय नेमिचन्द्र

२ सद्दो खधप्पभावो खधो परमाणुसगसघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ।।

—पञ्चास्तिकाय गा० ७१

और बाँधने की चर्चा ही उपहासास्पद प्रतीत होगी। पाँचवी बात—शब्द गतिमान है, जब कि आकाश गति-हीन है, निष्क्रिय है। छठी बात यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्द ऐसे आकाश मे गमन नही कर सकता जहाँ किसी भी प्रकार का पुद्गल मैटर (Matter) न हो। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो वह आकाश के हर एक कौने मे जा सकता था। चूँकि गुण अपने गुणी के प्रत्येक अश मे रहता ही है, वहाँ पर पुद्गल के होने या नही होने का प्रश्न ही उपस्थित नही हो सकता।[१]

जैन आगम साहित्य मे शब्द को पौद्गलिक कहने के साथ ही उसकी उत्पत्ति, शीघ्रगति, लोक-व्यापित्व, स्थायित्व आदि विभिन्न पहलुओ पर भी अच्छी तरह से प्रकाश डाला है।[२] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार सुघोषा घण्टा का शब्द तार से सम्बन्धित न होने पर भी असख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओ मे प्रतिध्वनि उत्पन्न करता है। यह वर्णन उस समय का है जब 'रेडियो' वायरलैस आदि किसी भी यन्त्र का अनुसधान नही हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र मे लोकव्यापी बन जाता है। यह सिद्धान्त भगवान महावीर ने आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले प्रतिपादित किया था।[3]

हम पूर्व बता चुके है कि पुद्गल-स्कन्धो के सघात और भेद से शब्द उत्पन्न होता है। वह शब्द दो प्रकार का है—(१) प्रायोगिक और (२) वैस्रसिक।

प्रायोगिक—जिसका उच्चारण प्रयत्न पूर्वक हो। वह दो प्रकार का है—(१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक।

भाषात्मक—अर्थ प्रतिपादकवाणी।

अभाषात्मक—जिस ध्वनि से किसी भाषा की अभिव्यक्ति न होती हो। यह चार प्रकार का है—तत, वितत, घन और सौपिर।

चर्म से बने वाद्य मृदग, पटह आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द 'तत' कहलाता है।

---

१ मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ३८१

२ प्रज्ञापना, पद ११

३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

तार वाले वाद्य वीणा, सारगी आदि से पैदा होने वाला शब्द वितत है।

घटा ताल आदि से उत्पन्न शब्द घन कहलाता है।

फूंक कर वजाये जाने वाले शख, वसी आदि से पैदा होने वाला शब्द सौषिर कहलाता है।[1]

वैस्रसिक शब्द बिना किसी आत्म-प्रयत्न के उत्पन्न होता है। वादलो की गर्जना आदि वैस्रसिक हैं।

बोलने से पहले वक्ता समस्त लोक मे व्याप्त भाषा-परमाणुओ को ग्रहण करता है, उनका भाषा के रूप मे परिणमन करता है और उसके पश्चात उनका उत्सर्जन करता है। उत्सर्जन से जो भाषा-पुद्गल वाहर निकलते हैं, वे आकाश मे प्रसारित होते है। यदि वक्ता का प्रयत्न मन्द है, तो वे पुद्गल अभिन्न रहकर जल-तरग-वत् असख्य योजन तक फैलकर शक्ति रहित हो जाते है। यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र हुआ, तो वे भिन्न होकर दूसरे असख्य स्कन्धो को ग्रहण करते-करते एक ही समय मे लोकान्त तक चले जाते हैं।

जिस शब्द को हम सुनते हैं, वह वक्ता का मूल शब्द नही होता। वक्ता का शब्द श्रेणियो अर्थात आकाश-प्रदेश की पक्तियो मे प्रसारित होता है। वक्ता के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची और नीची—छहो दिशाओ मे ये श्रेणियाँ हैं।

जब हम शब्द की सम-श्रेणी मे होते है, तब हमे मिश्र शब्द सुनाई देता है। अर्थात् वक्ता द्वारा उत्सर्जन किये गये शब्द-द्रव्यो और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यो को सुनते हैं।

हम यदि विश्रेणी मे होते है तो केवल वासित शब्द ही सुन सकते हैं।[2]

वन्ध

वन्ध शब्द का अर्थ है बँधना, जुडना, मिलना, सयुक्त होना। दो या

---

१ (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५। २४, २-६
(ख) सर्वार्थसिद्धि ५।२४

२ (क) प्रज्ञापना, पद ११
(ख) भासासमसेढीओ, सद्द ज सुणइ मीसिय सुणइ।
वीसेढी पुण सद्द, सुणेइ नियमा पराघाए॥ —नन्दी सूत्र

दो से अधिक परमाणुओ का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धो का भी। इसी प्रकार एक या एक से अधिक परमाणुओ का एक या एक से अधिक स्कन्धो के साथ भी बन्ध होता है। सयोग मे केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है, किन्तु बन्ध मे एकत्व होता है।

बन्ध दो प्रकार का है—(१) वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य बन्ध (२) प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य बन्ध।

वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि दोनो प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलो का होता है। द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते है, वह सादि बन्ध है। स्निग्ध और रुक्ष गुण-निर्मित विद्युत, उल्का, जलधारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि विषयक बन्ध सादि है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है—(१) अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक। जतु-काष्ठादि (लाख, चपडी आदि) का बन्ध अजीव विषयक है। जीवाजीवविषयक बन्ध कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि का आठ प्रकार का बन्ध कर्म-बन्ध है। औदारिकादि शरीर-विषयक बन्ध नोकर्म बन्ध है।[1]

सौक्ष्म्य

सूक्ष्मता का अर्थ छोटापन है। वह दो प्रकार का है—(१) अन्त्य सूक्ष्मता और (२) आपेक्षिक सूक्ष्मता।[2] अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओ मे ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है। जैसे आम से आँवला छोटा है और आँवले से अगूर छोटा है।

स्थौल्य

स्थूलता का अर्थ मोटापन है। वह भी दो प्रकार का है[3] (१) अन्त्य स्थूलता जो जगद्व्यापी अचित्त-महास्कन्ध मे पाई जाती है और (२) आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है[3] जैसे अगूर, आँवला, आम आदि का स्थौल्य आपेक्षिक है।

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५। २४, १०-१३

२ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१४

३ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१५

सस्थान

सस्थान का अर्थ, आकार, रचना-विशेष, है। सस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम प्रकार मे उसके दो भेद है—(१) इत्थ सस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, आदि नाम देते हैं और (२) अनित्थ सस्थान, जिसे हम अनगढ भी कह सकते है।[1] उसका कोई विशेष नाम नही दिया जा सकता, तथापि उसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है—उत्कार, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन।

सस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण जीवो के शरीर की दृष्टि से भी किया गया है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादिक, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

भेद

स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होना भेद कहलाता है।

तम (अन्धकार)

जो देखने मे बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो, वह अन्धकार है।[2]

नैयायिक आदि दार्शनिको ने अन्धकार को भावात्मक द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभाव माना है किन्तु जैनदार्शनिको ने अन्धकार को अभाव मात्र ही नही, अपितु प्रकाश की ही भाँति भावात्मक द्रव्य माना है। जैसे प्रकाश मे रूप है, वैसे ही अन्धकार मे भी रूप है, इसलिए अन्धकार प्रकाश के समान ही भावरूप है।

आधुनिक विज्ञान भी अन्धकार को प्रकाश का अभाव रूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अन्धकार मे भी उपस्तु किरणो (Infra-red heat rays) का सद्भाव है, जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखें तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic Plates) प्रभावित होते हैं। इससे भी सिद्ध है, कि अन्धकार का अस्तित्व है और वह प्रकाश (Visible Light) से अलग है।[3]

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१६

२ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारण प्रकाशविरोधि —सर्वार्थसिद्धि ५।२४

३ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ३८५

दो से अधिक परमाणुओ का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धो का भी। इसी प्रकार एक या एक से अधिक परमाणुओ का एक या एक से अधिक स्कन्धो के साथ भी बन्ध होता है। सयोग मे केवल अन्तर-रहित अवस्थान होता है, किन्तु बन्ध मे एकत्व होता है।

बन्ध दो प्रकार का है—(१) वैस्रसिक—स्वभाव-जन्य बन्ध (२) प्रायोगिक—प्रयोग-जन्य बन्ध।

वैस्रसिक बन्ध सादि और अनादि दोनो प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय का बन्ध अनादि है। सादि बन्ध केवल पुद्गलो का होता है। द्वयणुक आदि स्कन्ध बनते है, वह सादि बन्ध है। स्निग्ध और रूक्ष गुण-निर्मित विद्युत, उल्का, जलधारा, अग्नि, इन्द्रधनुष आदि विषयक बन्ध सादि है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का है—(१) अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक। जतु काष्ठादि (लाख, चपडी आदि) का बन्ध अजीव विषयक है। जीवाजीवविषयक बन्ध कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि का आठ प्रकार का बन्ध कर्म-बन्ध है। औदारिकादि शरीर-विषयक बन्ध नोकर्म बन्ध हैं।[1]

सौक्ष्म्य

सूक्ष्मता का अर्थ छोटापन है। वह दो प्रकार का है—(१) अन्त्य सूक्ष्मता और (२) आपेक्षिक सूक्ष्मता।[2] अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओ मे ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है। जैसे आम से आँवला छोटा है और आँवले से अगूर छोटा है।

स्थौल्य

स्थूलता का अर्थ मोटापन है। वह भी दो प्रकार का है[2] (१) अन्त्य स्थूलता जो जगद्व्यापी अचित्त-महास्कन्ध मे पाई जाती है और (२) आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है[3] जैसे अगूर, आँवला, आम आदि का स्थौल्य आपेक्षिक है।

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५। २४, १०-१३

२ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१४

३ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१५

सस्थान

सस्थान का अर्थ, आकार, रचना-विशेष, है। सस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है। प्रथम प्रकार मे उसके दो भेद है—(१) इत्थ सस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, आदि नाम देते हैं और (२) अनित्थ सस्थान, जिसे हम अनगढ भी कह सकते है।[1] उसका कोई विशेष नाम नही दिया जा सकता, तथापि उसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन।

सस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण जीवो के शरीर की दृष्टि से भी किया गया है। समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादिक, वामन, कुब्ज और हुण्डक।

भेद

स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होना भेद कहलाता है।

तम (अन्धकार)

जो देखने मे बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो, वह अन्धकार है।[2]

नैयायिक आदि दार्शनिको ने अन्धकार को भावात्मक द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभाव माना है किन्तु जैनदार्शनिको ने अन्धकार को अभाव मात्र ही नही, अपितु प्रकाश की ही भाँति भावात्मक द्रव्य माना है। जैसे प्रकाश मे रूप है, वैसे ही अन्धकार मे भी रूप है, इसलिए अन्धकार प्रकाश के समान ही भावरूप है।

आधुनिक विज्ञान भी अन्धकार को प्रकाश का अभाव रूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अन्धकार मे भी उपस्तु किरणो (Infra-red heat rays) का सद्भाव है, जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखे तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic Plates) प्रभावित होते हैं। इससे भी सिद्ध है, कि अन्धकार का अस्तित्व है और वह प्रकाश (Visible Light) से अलग है।[3]

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५।२४।१६

२ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारण प्रकाशविरोधि —सर्वार्थसिद्धि ५।२४

३ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ० ३८५

छाया

प्रकाश पर आवरण पड जाने पर छाया उत्पन्न होती है।[1] प्रकाश-पथ मे अपारदर्शक कायो (Opaque bodies) का आ जाना आवरण है। छाया को अन्धकार के अन्तर्गत रख सकते हैं, इस तरह वह प्रकाश का अभाव रूप नही, अपितु पुद्गल की पर्याय ही सिद्ध होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार अणुवीक्षो और दर्पणो से बना हुआ प्रतिविम्व भी दो प्रकार का होता है, वास्तविक और अवास्तविक। इनके निर्माण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ऊर्जा प्रकाश के रूपान्तर है। ऊर्जा ही छाया (Shadows) और वास्तविक एव अवास्तविक प्रतिविम्वो के रूप मे परिलक्षित होती है। व्यतिकरण पट्टियो (Interference bands) पर गणनायन्त्र (Counting Machine) यदि चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) मे से भी प्रकाश विद्युत रीति से विद्युदणुओ (Electrons) का सम्यक् प्रकार से निकलना सिद्ध होता है। साराश यह है कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभाव रूप नही, उसमे भी ऊर्जा है और इसी कारण उससे विद्युदणु नि सरित होते है। काली पट्टियो के रूप मे जो छाया है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है।

प्रकाश के मार्ग मे दर्पणो और अणुवीक्षो का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण है। इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रति विम्व होते हैं। ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं, (१) वर्णादि-विकार परिणत और (२) प्रतिविम्वमात्रात्मक।[2] वर्णादि-विकारपरिणत छाया मे विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जाते है। जो विपर्यस्त (Inverted) हो जाते है, और जिनका प्रमाण परिवर्तित हो जाता है ये प्रतिबिम्ब प्रकाश-रश्मियो के वस्तुत मिलने से होते हैं और प्रकाश के ही पर्याय होने से स्पष्ट रूप से पौद्गलिक है। प्रतिविम्बमात्रात्मिका छाया मे विज्ञान द्वारा प्ररूपित अवास्तविक प्रतिबिम्ब रख सकते हैं।

---

१ छाया प्रकाशावरणनिमित्ता

—सर्वार्थसिद्धि ५।२४

२ (क) राजवार्तिक ५।२४, २०-२१

(ख) सर्वार्थसिद्धि ५।२४

आतप

यह उष्ण प्रकाश का ताप किरण है।[1] यह स्वय ठण्डा होता है और उसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत

यह शीत प्रकाश का ताप-किरण है।' यह स्वय ठडा होता है और इसकी प्रभा भी ठडी होती है।

अग्नि आतप से भिन्न है। यह स्वय गरम होती है और इसकी प्रभा भी गरम होती है।

जैनदार्शनिको ने प्रकाश के आतप और उद्योत ये दो विभाग किये हैं। यह विभाजन बडा ही वैज्ञानिक है। जैनदार्शनिको की यह सूक्ष्म दृष्टि और भेद-शक्ति (Discriminative Power) वस्तुत आश्चर्यजनक है।

वैज्ञानिको ने प्रकाश को निरन्तर गतिशील माना है। उन्होने लोक (ब्रह्माण्ड) मे घूमने वाले आकाशीय पिण्डो की गति, दूरी, आदि को मापने के लिए प्रकाश-किरण को ही अपना माप-दण्ड मान रखा है चूंकि उसकी गति सदा समान रहती है। प्रकाश मे पहले भार नही माना जाता था, किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह शक्ति का भेद होने पर भी भार-वान है। वैज्ञानिक अनुसधान से यह भी पता चला है कि विद्युत-चुम्बकीय तत्त्व है, वह एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रति मिनिट आधी छटाक मात्रा मे सूर्य से गिरता है।

हम ताप को उष्णता या पुद्‌गल के उष्ण स्पर्श गुण का पर्याय कह सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से परमाणु मे धनाणु और ऋणाणु निरन्तर गति-शील रहते हैं। इसी प्रकार अणु मे स्वय परमाणु और अणुगुच्छको मे अणु निरन्तर गतिशील रहते हैं। यह आन्तरिक गति जब अत्यन्त तीव्र हो जाती है और सूक्ष्मकण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौडने लगते हैं तब वे ताप के रूप मे दिखलाई देते है।

साधारण रूप से हम विद्युत को घन विद्युत और जल विद्युत के

१ आतप आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाश लक्षण —

—सर्वार्थसिद्धि ५।२४

रूप मे देखते है। इन दोनो का वैज्ञानिक आधार एक है और दोनो पुद्गल की पर्याय हैं।

वैज्ञानिको ने विद्युत के धन और ऋण ये दो रूप माने है। धन का आधार उद्युत्कण (Proton) और ऋण का आधार विद्युत्कण (Electron) है।

किसी कारणवश जब किसी परमाणु से विद्युत्कण और उद्युत्कण जो उसके मूलभूत कण हैं वे पृथक् होते है तब बम विस्फोट की भाँति धडाके की आवाज होती है और साथ ही उससे एक प्रकार की लौ निकलती है, जो प्रकाश की भाँति आगे-आगे बढती जाती है। इसी लौ के प्रसरण को रेडियो क्रियातत्त्व या किरण-प्रसरण कहते है।

पुराने वैज्ञानिक यह मानते थे कि उनका तथाकथित परमाणु विच्छिन्न नही होता किन्तु वर्तमान की वैज्ञानिक प्रगति ने उनके प्रस्तुत कथन को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। यह अन्वेषण हो चुका है कि परमाणुओ के बीजाणुओ की इकाई मे महान शक्ति रही हुई है। यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओ का विकिरण हो सकता है। अणुबम को जन्म देने का यही मूल आधार रहा है।

यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओ के विकिकरण से अणु विस्फोट होता है, वह पुद्गल द्रव्य का ही पर्याय है।

कहना न होगा कि उद्जन बम का सिद्धान्त अणुबम के सिद्धान्त से बिल्कुल विपरीत है। अणुबम अणुओ के विभाजन का परिणाम है, जबकि उद्जन बम उनके सयोग का। वह भी स्पष्ट रूप से पुद्गल का ही पर्याय है।

रेडियो, ट्राजिस्टर, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, बेतार का तार, ग्रामोफोन, और टेपरिकार्डर, प्रभृति अनेकानेक यन्त्र विज्ञान की देन माने जाते हैं, किन्तु इन सभी के मूलभूत सिद्धान्तो पर गहराई से चिन्तन करने पर इस निष्कर्ष पर आते है कि यह सब शब्द की अद्भुत शक्ति व तीव्र गति का परिणाम है। शब्द पुद्गल का पर्याय है।

जिस प्रकार रेडियो यन्त्र-गृहीत शब्दो को विद्युत्प्रवाह से आगे बढाकर हजारो मील दूर ज्यो-का-त्यो प्रगट करता है, उसी प्रकार टेलीविजन भी प्रसरणशील प्रतिच्छाया को हजारो मील दूर उसी रूप मे व्यक्त करता है।

जैन साहित्य के अध्ययन से परिज्ञात होता है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और वह विश्व मे फैल जाती है। जहाँ उसको प्रभावित करने वाले पदार्थ—दर्पण, जल, आदि का योग होता है वहाँ वह प्रभावित होती है। टेलीविजन का आविष्कार इसका ज्वलन्त प्रमाण है। टेलीविजन का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय मे कर सकते हैं।

एक्स-रेज भी विज्ञान जगत की एक महत्त्वपूर्ण देन है। प्रकाश-किरणो की अबाध गति और अत्यन्त सूक्ष्मता ही प्रस्तुत आविष्कार का मूल है। इसलिए पुद्गल के प्रकाश नामक पर्याय के अन्तर्गत एक्स-रेज को रख सकते हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व मे जो कुछ भी स्पर्श, स्वाद, सूंघने, देखने और सुनने मे आता है, वह सब पुद्गल की पर्याय हैं।

पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भापा, और मन ये छह जीव की प्रमुख क्रियाएँ हैं। इनसे प्राणी की चेतना का स्थूल परिज्ञान होता है। आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, और भाषा ये सभी पौद्गलिक हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है कि 'पुद्गल शरीर-निर्माण का कारण है। औदारिक वर्गणा से औदारिक शरीर, वैक्रिय वर्गणा से वैक्रिय शरीर एव आहारक वर्गणा से आहारक शरीर बनता है और श्वासोच्छ्वास का निर्माण होता है। तेजोवगणा से तैजस् शरीर बनता है। भाषावर्गणा वाणी का निर्माण करती है। मनोवर्गणा से मन का निर्माण होता है। कर्म वर्गणा से कार्मण शरीर बनता है।[2]

आहार, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा के सम्बन्ध मे विशेष परिचय देने की आवश्यकता नही। जैनदर्शन ने औदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस और कार्मण ये शरीर के पाँच प्रकार बताये हैं। इन्द्रियो से केवल औदारिक शरीर देखा जा सकता है किन्तु शेष चार शरीर इतने सूक्ष्म है कि उन्हें इन्द्रियाँ ग्रहण नही कर सकती। ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है।[3]

तैजस् और कार्मण शरीर का किसी से प्रतिघात नही होता। वे

---

१ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ
२ गोम्मटसार—जीवकाण्ड गाथा ६०६-६०८
३ तत्त्वार्थसूत्र २।३८

लोकाकाश मे जहां कही भी अपनी शक्ति के अनुसार जा सकते हैं। किसी भी प्रकार का वाह्य वधन नही है। दोनो शरीरो का ससारी आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। वे प्रत्येक जीव के साथ रहते है। अधिक से अधिक एक साथ चार शरीर हो सकते हैं।[1] किन्तु पाँच शरीर एक साथ नही होते चूंकि वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का प्रयोग एक साथ नही हो सकता। वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय नियमत प्रमत्तदशा होती है।[2] किन्तु आहारक के सम्बन्ध मे यह वात नही है। आहारकलब्धि का प्रयोग तो प्रमत्तदशा मे होता है किन्तु आहारक शरीर वना लेने के पश्चात शुद्ध अध्यवसाय होने से अप्रमत्त अवस्था रहती है। अत इन दो शरीरो का एक साथ रहना सम्भव नही है। आहारकलब्धि और वैक्रियलब्धि साथ रह सकती है किन्तु दोनो की अभिव्यक्ति एक साथ नही हो सकती।

मानसिक चिन्तन भी विना पुद्गल की सहायता से नही होता। चिंतन करने वाला, चिन्तन के पहले क्षण मे मनोवर्गणा के स्कन्धो को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ निर्मित हो जाती है। पूर्व चिन्तन से अपर चिन्तन मे सक्रान्त होते समय पहले की आकृतियाँ वाहर निकलती हैं और नवीन-नवीन आकृतियाँ निर्मित होती है। जो आकृतियाँ मुक्त हो गई हैं, वे आकाश-मण्डल मे फैल जाती है। उनमे से कुछ आकृतियाँ किञ्चित् काल के पश्चात् परिवर्तित हो जाती हैं और कुछ आकृतियाँ सुदीर्घ काल तक भी परिवर्तित नही होती, यहाँ तक कि वे असख्य काल तक भी रह जाती हैं। इन मनोवर्गणा के स्कन्धो का प्राणी के शरीर पर अनुकूल और प्रतिकूल परिणाम होता है।

साराश यह है कि ससारी आत्मा पुद्गल के बिना नही रह सकता। जब तक जीव ससार मे भ्रमण करता है तव तक पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है। विश्व के प्राणी-जगत् पर पुद्गल का अकथनीय उपकार है।

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र २।४१-४४

२ तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति २।४४

□ पुण्य और पाप तत्त्व : एक परिचय

- पुण्य और पाप तत्त्व
- पुण्य और पाप तत्त्व में भेद
- पुण्य के दो प्रकार
- पाप के दो प्रकार

पुण्य और पाप तत्त्व : एक परिचय

पुण्य और पाप तत्त्व

पुण्य शुभ कर्म पुद्गल है और पाप अशुभ कर्म पुद्गल है। ये दोनो अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते है।

जिज्ञासा हो सकती है कि जिन शुभ और अशुभ कर्मो को अजीव कहा गया है वे तो आत्मा की शुभ-अशुभ भाव रूप प्रवृत्तियाँ है। जीव की आन्तरिक भावरूप प्रवृत्तियाँ जीव रूप ही होती हैं अजीव रूप नही, अत पुण्य-पाप को अजीव के अन्तर्गत क्यो रखा गया है ?

समाधान है—आत्मा की शुभ रूप वृत्ति और प्रवृत्ति को तो मन, वचन और काय रूप योग-आश्रव के अन्तर्गत रखा गया है।[1] यहाँ पर पुण्य-पाप से इतना ही तात्पर्य है कि मन, वचन काय की शुभ और अशुभ प्रवृत्ति से जिन कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ सम्वन्ध होता है वे कर्म पुद्गल यदि शुभ हैं तो पुण्य हैं और अशुभ हैं तो पाप हैं। आत्मा की शुभाशुभ भाव रूप प्रवृत्ति भाव पुण्य और भाव पाप है। प्रवृत्ति के पश्चात् जो आत्मा के साथ कर्म पुद्गलो का सम्वन्ध होता है वह द्रव्य पुण्य-पाप है। इस प्रकार जो भाव रूप पुण्य पाप हैं वे जीव के विचार हैं और द्रव्य रूप पुण्य-पाप पुद्गल रूप अजीव हैं।

आत्मा की वृत्तियाँ विविध हैं, अत पुण्य-पाप के कारण भी विविध है। यदि शुभ प्रवृत्ति है तो पुण्य है और अशुभ प्रवृत्ति है तो पाप है। तथापि व्यावहारिक दृष्टि से स्थानाङ्ग आदि आगम साहित्य मे कुछ कारणो का निर्देश किया गया है।

पुण्य-पाप तत्त्व मे भेद

शुभ कर्मो को या उदय मे आये हुए शुभ पुद्गलो को पुण्य कहते हैं। दीन दु खी पर करुणा करना, उनकी सेवा शुश्रूषा करना, गुणी जनो पर

---

१ कायवाङ्मन कर्मयोग स आश्रव। —तत्त्वार्थसूत्र ६।१, २

प्रमोद भावना रखना, परोपकार करना आदि अनेक प्रकार से पुण्योपार्जन किया जाता है। शास्त्र मे जो पुण्योपार्जन के नौ भेद बताये हैं, वे ये है—(१) अन्न पुण्य, (२) पान पुण्य, (३) लयन (स्थान) पुण्य, (४) शयन (शैया) पुण्य, (५) वस्त्र पुण्य, (६) मन पुण्य, (७) वचन पुण्य, (८) काय पुण्य (९) नमस्कार पुण्य। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो अन्न, जल, औषध आदि वस्तुओ का दान करना, ठहरने के लिए स्थान देना, मन से प्रशस्त भावना भाना, वचन से मधुर, सत्य और हितकारी निर्दोष बोलना, शरीर से शुभ कार्य करना, देव, गुरु, धर्म व अभिभावक आदि को नमस्कार करना, इन सभी से पुण्य होता है।

आचार्य उमास्वाति ने मन, वचन काय के शुभयोग की प्रवृत्ति को पुण्य कहा है[1]। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ है। शुभ कर्म पुद्गल का नाम पुण्य है।[2]

अशुभ कर्म और उदय मे आये हुए अशुभ कर्म पुद्गलो को पाप कहते है।[3] दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जो शुभ से रक्षा करता है—उत्तम कार्य करने मे प्रवृत्त नही होने देता है वह पाप कहलाता है।[4]

पाप के कारण भी अनेक हैं, तथापि सक्षेप मे पाप उपार्जन के अठारह कारण माने गये है। उन्हे पापस्थान भी कहते है। उनके नाम इस प्रकार हैं

---

१ शुभ पुण्यस्य। —तत्त्वार्थ सूत्र ६।३

२ (क) पुण्य शुभकर्मप्रकृतिलक्षणम्।
—सूत्रकृताङ्ग शी० वृ० २, ५, १६, पृ० १२७।

(ख) मूलाचार वृत्ति —वसुनद्याचार्य, ५।६

(ग) समवायाङ्ग अभय० १, पृ० ६

(घ) षड्दर्शन समुच्चय, गुण० वृ० ४७, पृ० १३७

३ (क) अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्त कर्मपरिणाम पुद्गलाना च पापम्।
—पञ्चास्तिकाय वृत्ति, अमृतचन्द्राचार्य १०८

(ख) पापम् अशुभ कर्म। —समवायाग अभय० १, पृ० ६

(ग) षड्दर्शन समुच्चय गुण० वृति ४७, पृ० १३७

४ (क) पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम्। —सर्वार्थसिद्धि ६।३

(ख) पात्यवति रक्षति आत्मान कल्याणादिति पापम्।
—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीया वृत्ति ६।३

(१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) अब्रह्मचर्य, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा आरोप लगाना, दोपारोपण करना) (१४) पैशुन्य (चुगली), (१५) परनिन्दा, (१६) रति-अरति (पाप मे रुचि और धर्म मे अरुचि, (१७) माया-मृषावाद (कपट सहित झूठ वोलना) और (१८) मिथ्यादर्शन।

अध्यात्म की दृष्टि से पुण्य और पाप ये दोनो वन्धन हैं। भारतीय चिन्तको ने पुण्य-पाप के सम्वन्ध मे विस्तार से लिखा है। मीमासक दर्शन ने पुण्य-साधना पर अत्यधिक वल दिया। उन्होने पुण्य को जीवन का ध्येय माना है। किन्तु जैनदर्शन ने पुण्य को अपेक्षा दृष्टि से हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनो माना है, जैसा कि पूर्व लिख चुके है। निश्चयनय की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनो हेय है। पुण्य सुहावना है और पाप असुहावना है। लोहे की वेडी काली होने से भद्दी लगती है और सोने की वेडी चमकदार होने से सुहावनी लगती है। सोने की वेडी मे चमक-दमक होने पर भी बन्धन तो है ही। वह व्यक्ति को वाँधकर रखती है। तलवार स्वर्ण की वनी हुई है, इतने मात्र से उसमे कोई अन्तर नही आता क्योकि स्वर्ण की होने पर भी प्राण-नाशक तो है ही। पुण्य को आज की भाषा मे प्रथम श्रेणी का कारावास कह सकते है, और पाप को कठोर कारावास। मोक्ष प्राप्ति के लिए दोनो त्याज्य हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठ है। चूंकि पाप से नरक आदि दारुण वेदनाएँ प्राप्त होती हैं, लोक मे निन्दा, अपयश और कष्ट प्राप्त होता है जब कि पुण्य से स्वर्गीय एव कमनीय सुखो की उपलब्धि होती है, इस लोक मे भी यश आदि मिलता है। जैसे विश्राम करने के लिए चिल-चिलाती धूप मे बैठने के बजाय वृक्ष की शीतल छाया मे बैठना सुखदायी होता है वैसे ही जीवन मे पाप की अपेक्षा पुण्य श्रेष्ठ है।

पुण्य के दो प्रकार

आचार्यों ने पुण्य के दो प्रकार बताये हैं—

(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य।

(२) पापानुवन्धी पुण्य।

जो पुण्य, पुण्य की परम्परा को चला सके, अर्थात् जिस पुण्य को भोगते

हुए नवीन पुण्य का बन्ध हो वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। उदाहरणार्थ, एक मानव को पूर्व भव के पुण्य से सभी प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हुए तथापि मोह से उसमे पागल न बनकर आत्म-हित के उद्देश्य से वह मुक्ति की अभिलाषा रखता है, पूर्व पुण्य का उपभोग करता हुआ नवीन पुण्यो का बन्ध करता है वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है।

जो पुण्य नवीन पाप बन्ध का कारण हो वह पापानुबन्धी पुण्य है अर्थात् पूर्वभव की पुण्यवानी से सभी सुखोपभोग के साधन उपलब्ध हुए परन्तु मोह की प्रवलता से असदाचारी बनकर पाप करना। वह पाप वध का कारण होने से पापानुबन्धी पुण्य है।

जैन साहित्य मे पुण्यानुबन्धी पुण्य को पथप्रदर्शक की उपमा दी गयी है। वह पथप्रदर्शक के समान मोक्ष का मार्ग वताकर चला जाता है।

पापानुबन्धी पुण्य को डाकू की उपमा दी गयी है। जैसे डाकू सम्पूर्ण सम्पत्ति लूटकर भिखारी बना देता है वैसे पापानुबन्धी पुण्य भी जीव को भिखारी के समान वना देता है। पुण्य की सारी सम्पत्ति लूट लेता है। इस दृष्टि से पुण्य उपादेय माना गया है और पाप हेय माना गया है।

पाप के दो प्रकार

पुण्य के समान पाप के भी दो प्रकार बताये है—

(१) पापानुबन्धी पाप।

(२) पुण्यानुबन्धी पाप।

जिस पाप को भोगते समय नया पाप बँधता है वह पापानुबन्धी पाप है, जैसे कसाई, धीवर आदि ने पूर्वभव मे पाप किया जिससे इस भव मे दरिद्रता आदि कष्ट उन्हे प्राप्त हो रहा है और इस पाप को भोगते समय नवीन पापो का वन्ध कर रहे है अत वह पापानुबन्धी पाप है।

जिस पाप को भोगते समय नवीन पुण्योपार्जन होता है उसे पुण्यानुबन्धी पाप कहते हैं। जो जीव पूर्वभव मे किये हुए पाप के कारण इस समय दरिद्रता आदि का दुख भोग रहे हैं, किन्तु सत्सग आदि के कारण विवेक पूर्वक कार्य करके पुण्योपार्जन करते हैं वे पुण्यानुबन्धी पाप वाले कहलाते।

आस्रव तत्त्व : एक विवेचन

- आस्रव तत्त्व
- आस्रव के पांच प्रकार
- आस्रव के दो भेद
- बौद्ध साहित्य मे आस्रव

आस्रव तत्त्व : एक विवेचन

आस्रव तत्त्व

जैन आगम एव जैनदर्शन मे आस्रव की परिभाषा इस प्रकार की गई है—जिस क्रिया से, जिस वचन से और जिस भावना से कर्म वर्गणा के पुद्गल आते है वह आस्रव है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो काय, वचन और मन की क्रियारूप योग आस्रव है।[1] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, चेतन है, शुद्ध है और पुद्गल जड है, चेतना रहित है, ज्ञान शून्य है। दोनो एक दूसरे से विपरीत स्वभाव वाले हैं। जब आत्मा अपने स्वभाव मे परिणत होता है तब कर्म नही आते है। किन्तु जब स्वभाव को छोडकर मोह के कारण विभाव मे परिणत होता है तब कार्मण वर्गणा के पुद्गल—जिन्हे कर्म कहते हैं वे आते हैं। इन वैभाविक परिणति से आने वाले कर्म के द्वार को आस्रव कहते है। आस्रव द्वारा ही आत्मा कर्मो को ग्रहण करती है। जैसे एक तालाब है, उसमे नाली से आकर जल भरता रहता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी तालाब मे मिथ्यात्व आदि पाप कार्य रूप नाली द्वारा कर्म रूप जल भरता रहता है। यानी आत्मा मे कर्म के आने का मार्ग आस्रव है।

आस्रव के पाँच प्रकार

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच बध के कारण हैं। इन्हे आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावो से कर्मो का आस्रव होता है वह भावास्रव कहलाता है और कर्म द्रव्य का आना द्रव्यास्रव है। पुद्गलो मे कर्म पर्याय का आविर्भाव होना, आत्म प्रदेशो तक उनका आना द्रव्यास्रव

---

१ (क) योग प्रणालिकयात्मान कम आस्रवतीतियोग आस्रव ।

—सर्वार्थसिद्धि ६।२

(ख) आस्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूप आस्रव कर्मोपादान-कारणम् ।

—सूत्रकृताङ्ग शीला० वृत्ति २।५।१७ पृ० १२८

(ग) आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति मल० हेम० हि० पृ० ८४

(घ) अध्यात्मसार १८।१३१

कहलाता है। मिथ्यात्व आदि भावो को भावबध कहा है किन्तु प्रथम क्षण-भावी ये भाव कर्मो को आकर्षित करने की साक्षात् कारणभूत योगक्रिया मे निमित्त होते है एतदर्थं इन्हे भावास्रव कहते है, और अग्रिम क्षणभावी भाव भावबध है। भावास्रव जिस प्रकार मन्द, मध्यम और तीव्र होता है तज्जन्य आत्म-प्रदेशो का परिस्पन्द अर्थात् योगक्रिया मे कर्म भी उसी प्रकार आते हैं और आत्म-प्रदेशो से बँधते है।

आत्मा मे कर्म के आने के द्वार रूप आस्रव के मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद बताये है। उनका सक्षेप मे स्वरूप इस प्रकार है—

मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा या तत्त्व ज्ञान का अभाव। विपरीत श्रद्धा के कारण शरीर आदि जड पदार्थो मे चैतन्य बुद्धि, अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि और अधर्म मे धर्म बुद्धि आदि विपरीत भावना या प्ररूपणा की जाती है। मिथ्यात्व के कारण स्वपर-विवेक नही होता। पदार्थो के स्वरूप मे भ्रान्ति बनी रहती है। कल्याणमार्ग मे सही श्रद्धा नही होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकार का होता है। दोनो प्रकार के मिथ्यात्व मे तत्त्व रुचि जागृत नही होती। जीव कुदेव को, कुगुरु को और लोक मूढताओ को धर्म मानता है। मिथ्यात्व सब दोषो का मूल है। इससे अनन्त ससार का बन्ध होता है।

अविरति—इन्द्रिय-विषयो का त्याग न करना और त्याग की भावना का अभाव होना, त्याग के प्रति अनुत्साह और भोग मे उत्साह अविरति है। कदाचित् मानव चाहे तो भी कषायो का ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र ग्रहण कर सकता है, और न देशचारित्र ही।

प्रमाद—असावधानी को प्रमाद कहते हैं। आत्म-कल्याण व सद्प्रवृत्ति मे उत्साह न होना एव अनादर का भाव होना प्रमाद है। पाँचो इन्द्रियो के विषय मे तल्लीन होने के कारण स्त्री कथा, भुक्ति कथा, देश कथा और राज कथा आदि विकथाओ मे रस लेने से क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायो से कलुषित होने के कारण और निद्रा व प्रणय आदि मे मग्न होने के कारण कुशल मार्ग मे अनादर का भाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार असावधानी से कुशलकर्म के प्रति अनास्था भी उत्पन्न होती है और हिंसा की भूमिका भी तैयार होती है। हिंसा का मुख्य कारण प्रमाद है। चाहे दूसरे प्राणी का घात

हो या न हो, तथापि प्रमादी व्यक्ति को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है। अत भगवान महावीर ने कहा—"समय गोयम मा पमायए"—हे गौतम! क्षणमात्र का भी प्रमाद न कर।

कषाय—कषाय शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है। वे दो शब्द है—'कष' और 'आय'। कष का अर्थ ससार है, क्योकि इसमे प्राणी विविध दु खो के द्वारा कष्ट पाते है, पीडित होते हैं, आय का अर्थ है—लाभ। बहुव्रीहि समास के द्वारा दोनो शब्दो का सम्मिलित अर्थ होता है—जिनके द्वारा ससार की प्राप्ति हो, वे क्रोधादि कषाय।[1]

वस्तुत कषायो का वेग बहुत ही प्रबल है। जन्म-मरणरूप यह ससार वृक्ष कषायो से हरा-भरा रहता है। यदि कषाय का अभाव हो तो जन्म-मरण की परम्परा का विष-वृक्ष स्वय ही सूखकर नष्ट हो जाय। एतदर्थ ही आचार्य शय्यभव ने कहा है, 'अनिगृहीत कषाय पुनर्भव के मूल को सीचते रहते हैं, उसे शुष्क नही होने देते।'[2]

कषाय अध्यात्म दोष हैं। चाहे वे प्रकट हो, चाहे अप्रकट हो, आत्मा के ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप शुद्धस्वरूप को मलीन करते है। कर्म रग से आत्मा को रग देते हैं और दीर्घकाल तक आत्मा की सुख-शान्ति को छिन्न-भिन्न कर देते है। कषाय कर्मो का उत्पादक है और कर्मो से दु ख होता है। जब कषाय नही होगा तो कर्म भी नही होगा। आचार्य वीरसेन ने कषायो की कर्मोत्पादकता के सम्बन्ध मे धवला ग्रन्थ मे लिखा है, जो दु ख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्मरूपी खेत को कर्षण करते है, फल वाले करते है वे क्रोधमान आदि कषाय कहलाते है।[3]

क्रोध और मान ये दोनो कषाय द्वेष है, माया और लोभ ये राग है। अन्य आचार्यो ने क्रोधादि कषायो का अन्य रूप से भी राग और द्वेष मे वर्गीकरण किया है। कुछ भी हो, ये राग-द्वेष प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र,

---

१ कष्यन्ते प्राणी विविधदु खैरस्मिन्निति कष ससार तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषाया। —प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति आचार्य नमि

२ सिंचति मूलाइ पुणब्भवस्स। —दशवै० ८।

३ दु ख शस्य कर्मक्षेत्र कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषाया। —धवला

गीता और पाली त्रिपिटक साहित्य मे भी इस राग-द्वेष के द्वन्द्व को पाप का मूल कहा है।

योग—मन, वचन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो मे जो परिस्पन्द होता है वह 'योग' है। योगभाष्य आदि ग्रथो मे चित्तवृत्ति के निरोध रूप ध्यान के अर्थ मे योग शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु जैनदर्शन मे मन, वचन और काय से होने वाली आत्मा की क्रिया, कर्म परमाणुओ के साथ आत्मा का योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है एतदर्थ इसे योग कहा है और इसके निरोध को ध्यान कहा है। आत्मा सक्रिय है उसके प्रदेशो मे मन, वचन और काय के निमित्त से परिस्पन्द होता रहता है। प्रस्तुत क्रिया तेरहवे गुणस्थान मे भी होती रहती है। चौदहवे गुणस्थान मे अयोग अवस्था होती है। मन, वचन और काय की क्रिया का पूर्ण रूप से निरोध होता है और आत्मा निर्मल व निश्चल बन जाता है। कर्मजन्य मलिनता और योग जन्य चचलता नष्ट होने पर मोक्ष होता है। योग आस्रव है, इससे कर्मों का आगमन होता है। शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है और अशुभ योग से पाप का।

आस्रव के दो भेद

सामान्य रूप से आस्रव के दो भेद हैं, एक कषायानुरजित होने से साम्परायिक आस्रव है जो बन्धन का हेतु है। दूसरा योग से होने वाला ईर्यापथ आस्रव, जिसमे कषाय का पूर्ण अभाव होने से बन्धन का पूर्ण अभाव है अर्थात् कर्म आते तो हैं मगर टिकते नही है उनका स्थिति बन्ध नही होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय ये आन्तरिक दोष है। इनके द्वारा कर्म का सतत बन्ध होता रहता है। योग आस्रव प्रवृत्त्यात्मक है वह अशुभ और शुभ दोनो प्रकार का होता है।

बौद्ध साहित्य में आश्रव

आस्रव शब्द का पाली भाषा मे 'आसव' ऐसा रूपान्तर होता है। आसव पर प्रकाश डालते हुए कहा है—कोई भी वस्तु स्थिर नही होने पर भी उसको स्थिर वस्तु के रूप मे स्वीकार करने का कारण जो अनादि दोष है उसका नाम 'अविद्या' है। यह अविद्या आसव के निमित्त से प्रकट होती है। उस आसव के चार प्रकार हैं

(१) कामासव—शब्दादि विषयो को प्राप्त करने की इच्छा।

(२) भवासव—पचस्कन्ध अर्थात् सचेतन देह मे जीने की इच्छा।

(३) दृष्यासव—बौद्ध दृष्टि से विपरीत दृष्टि सेवन का वेग।

(४) अविद्यासव—अस्थिर अथवा अनित्य पदार्थो मे स्थिरता या नित्यता की बुद्धि। आसव इन अविद्या के सामान्य विकार हैं और क्लेश अविद्या का विशिष्ट विकार है।[1]

प्रो० याकोवी ने लिखा है आस्रव, सवर और निर्जरा ये तीनो शब्द जैनधर्म के समान ही प्राचीन हैं। वौद्धो ने उनमे से अधिक महत्त्वशाली शब्द 'आस्रव' को उधार लिया है। वे इसका उपयोग लगभग इसी भाव मे करते हैं, परन्तु उसके शब्दार्थ मे नही करते, क्योंकि वे कर्म को एक वास्तविक पदार्थ नही मानते हैं और आत्मा को अस्वीकार करते हैं जिसमे आस्रव का होना सम्भव है। एतदर्थ यह तर्क साथ-साथ यह भी सिद्ध करता है कि कर्मवाद जैनो का एक मौलिक व महत्त्वपूर्ण वाद है और वह बौद्धधर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।[2]

---

१ (क) अगुत्तर निकाय मे (३।५८, ६, ६३) मे आस्रव के कामास्रव, भवास्रव, और अविद्यास्रव ये तीन भेद किये हैं।

(ख) जैनधर्म सार पृ० १२१

२ Encyclopedia of Religion and Ethics, पृ० ४७२

संवर एव निर्जरा तत्त्व : एक मीमांसा

- सवर तत्त्व एक अनुदृष्टि
- सवर के प्रकार
- बोद्धदर्शन मे सवर
- निर्जरा तत्त्व
- निर्जरा तत्त्व के भेद
- अनशन
- ऊनोदरी
- भिक्षाचरी
- रसपरित्याग
- कायक्लेश
- प्रतिसलीनता
- प्रायश्चित्त
- विनय
- वैय्यावृत्य
- स्वाध्याय
- ध्यान
- कायोत्सर्ग

संवर एव निर्जरा तत्व : एक मीमांसा

सवर तत्त्व . एक अनुदृष्टि

कर्म आने के द्वार को रोकना सवर है। सवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। वह आते हुए कर्मो को रोकता है। आस्रव कर्म रूप जल के आने की नाली के सदृश है और उसी नाली को रोककर कर्म रूप जल के आने का रास्ता बन्द कर देना सवर है। आत्मा की राग-द्वेष मूलक अशुद्ध प्रवृत्तियो को रोकना सवर का कार्य है।

सवर आस्रव निरोध की क्रिया है।[1] उससे नवीन कर्मो का आगमन नही होता।

सवर के द्रव्य सवर और भाव सवर ये दो भेद है।[2] इनमे कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्य सवर है और ससार वृद्धि मे कारणभूत क्रियाओ का त्याग करना, आत्मा का शुद्धोपयोग अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भाव सवर हैं।

एक उदाहरण से प्रस्तुत विषय स्पष्ट रूप से समझ मे आ सकता है। कल्पना कीजिए—एक व्यक्ति किसी तालाव को खाली करने के लिए

---

१ (क) आस्रव निरोध सवर। —तत्त्वार्थसूत्र ९।१
(ख) सर्वेषामास्रवाणा तु निरोध सवर स्मृत। —योगशास्त्र ७९, पृ० ४

२ (क) स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभावविभेदत।
य कर्म पुद्गलादानच्छेद स द्रव्यसवर।
भवहेतुक्रियात्याग स पुनर्भावसवर। —योग शास्त्र ७९-८०

(ख) स्थानाग १।१४ की टीका
(ग) सप्ततत्त्वप्रकरण हेमचन्द्र सूरि ११२
(घ) तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ९।१
(ङ) द्रव्यसग्रह २।३४
(च) पचास्तिकाय २।१४२ अमृतचन्द्र वृत्ति
(छ) पचास्तिकाय २।१४२ जयसेन वृत्ति

उसका पानी उलीच-उलीच कर बाहर फेंक रहा है। दिन-रात अत्यधिक परिश्रम करता है। वह एक ओर से पानी निकाल रहा है दूसरी ओर से नाली के द्वारा पानी का प्रवाह चालू है। इस प्रकार दिन-रात के परिश्रम से जितना तालाव खाली होता है उसके बराबर या उससे अधिक पानी तालाव मे भरता भी जा रहा है। इस स्थिति मे कितना भी प्रयत्न या परिश्रम किया जाय किन्तु तालाव खाली होने की सभावना नही है। जब नालो को बन्द करके पानी उलीचा जायेगा, तभी तालाब खाली हो सकेगा।

प्रस्तुत रूपक सवर के लिए समझना चाहिये। आत्मा एक तालाब के सदृश है। उसमे कर्म रूपी पानी भरा है। आस्रव रूप नालो से उसमे दिन-रात कर्म रूप पानी भरता ही रहता है। साधक तप आदि साधनो के द्वारा कर्म रूपी जल को उलीच-उलीच कर निकालने का प्रयास करता है। किन्तु जब तक कर्मों के आने के द्वार को बन्द नही करता तब तक कर्म जल से आत्म-सरोवर खाली नही हो सकता। उन नालो को बन्द करना सवर तत्त्व है।

सवर के प्रकार

सवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र से होती है।[1] नवतत्त्व प्रकरण मे सवर की सिद्धि के लिए इन्ही वस्तुओ का निर्देश किया है,[2] किन्तु क्रम मे कुछ अन्तर है।

सवर की सख्या की अनेक परम्पराएँ प्राप्त हैं जैसे—

मुख्य रूप से सवर के पाँच भेद है[3]—

सम्यक्त्व—विपरीत मान्यता से मुक्त होना।

व्रत—अठारह प्रकार के पापो का सर्वथा त्याग करना।

अप्रमाद—धर्म के प्रति पूर्ण उत्साह होना।

अकषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो का शम या उपशम होना।

---

१ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै। —तत्त्वार्थ सूत्र ९।२

२ समिई गुत्ति परिसह-जइधम्मो भावणा चरित्ताणि।
पणतिदुवीसदसबार-पचभेएहिं सगवन्ना॥ —नवतत्त्वप्रकरण २५

३ (क) स्थानाग ५।२।४१८
(ख) समवायाग ५

अयोग—मन वचन काय की क्रियाओ का रुक जाना।

इनके अतिरिक्त हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से निवृत्ति लेना, श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन आदि पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करना। मन, वचन, काय का सयम रखने आदि की दृष्टि से सवर के वीस भेद भी होते है।[1]

देवेन्द्र सूरि ने पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, वारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह जय, पाँच चारित्र—इस तरह कुल मिलाकर सवर के सत्तावन भेद किये हैं।[2]

द्वादशानुप्रेक्षा मे (१) सम्यक्त्व सवर (२) देशव्रत-महाव्रतरूप विरति सवर (३) कषाय सवर (४) योगाभाव सवर—ये चार सवर के भेद बताये हैं।[3]

समयसार मे मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग आस्रव के निरोध रूप चार सवर बताये हैं।[4]

सास्रव अवस्था मे जीव के प्रदेशो मे परिस्पन्दन होता रहता है। आस्रवो के निरोध से जीव के चचल प्रदेश स्थिर होते है। आत्म-प्रदेश की चचलता आस्रव है और उसकी स्थिरता सवर है। आस्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं। सवर से नये कर्मो का प्रवेश रुक जाता है।[5] इसलिए ससार का प्रधान हेतु आस्रव और बध है और मोक्ष का प्रधान हेतु सवर और निर्जरा है।[6]

---

१ प्रश्न व्याकरण सवरद्वार मे ५ महाव्रतो का उल्लेख स्थानाग ५।२, ४१८, व स्थानाग १०।१।७०९

२ तत्थ परीसह समिई गुत्ती भावण चरित्त धम्मेहिं।
बावीसपणतिवारसपण दसभेएहि जहसख॥ —नवतत्त्व प्रकरण ४२

३ सम्मत्त, देसवय महव्वय तह जओ कसायाण।
एदे सवरमाणा, जोगाभावो तहच्चेव॥ —द्वादशानुप्रेक्षा मे सवरानुप्रेक्षा ९५

४ मिच्छत्त अण्णाण अविरयभावो य जोगो य।
हेउ अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो॥ —समयसार १९०-१९१

५ अभिनवकर्मादानहेतुरास्रवो तस्य निरोध सवर इत्युच्यते।
—तत्त्वार्थ, सर्वार्थसिद्धि ९।१

६ ससारस्य प्रधानहेतुरास्रवो बन्धश्च।
मोक्षस्य प्रधानहेतु सवरो निर्जरा च। —तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि १।४

बौद्ध दर्शन में सवर

तथागत बुद्ध ने अगुत्तर निकाय मे आस्रव का निरोध सवर से वताया है, उसका विभाग इस प्रकार है—

(१) सवर से इन्द्रियाँ मुक्त हो तो इन्द्रियो का सवर करने से—गुप्तेन्द्रिय होने से तज्जन्य आस्रव नही होता।

(२) प्रतिसेवना—पान-भोजन, वस्त्र, चिकित्सा, आदि जो न की जाय तो मन प्रसन्न नही होता और कर्म बध होता है। इसलिए मन को स्वस्थ रखने के लिए इनका उपयोग करने से आस्रव का निरोध होता है किन्तु पान-भोजन स्वाद आदि के लिए किया जाता है तो आस्रव का ही कारण बनता है।

(३) अधिवासना—सहन करने से—किसी को शारीरिक कष्ट सहन करना पसन्द हो तो उसे, जिससे शरीर सुख मिलता है ऐसी अवस्था पसन्द नही आती है। एतदर्थ उसे कष्ट सहन से आस्रव निरोध होता है।

(४) परिवर्जन से—त्याग से, चण्ड ऐसे हाथी, अश्व प्रभृति पशु, सर्प, विच्छू आदि जन्तु, खड्डा, कटकाकीर्ण स्थान, पापमित्र ये सभी दु खदायक हैं। एतदर्थ उन्हे छोडने मे आस्रव का निरोध होता है।

(५) विनोदना से—निकालने से, हिंसा-वितर्क, पाप-वितर्क, काम-वितर्क आदि बधक वितर्कों की भजना न करने से तज्जन्य आस्रवो का निरोध होता है।

(६) भावना से—शुभ भावना से भी आस्रव का निरोध होता है। यदि शुभ भावनाएँ न की जाएँ तो विपरीत कर्म बन्धन होता है। उसे रोकने के लिए प्रशस्त भावना करनी चाहिए।[1]

अगुत्तर निकाय मे अविद्या का निरोध यह आस्रव का निरोध है, ऐसा भी कहा है।[2]

निर्जरा तत्त्व

सवर के पश्चात् निर्जरा तत्त्व का स्थान है। सवर नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता है तो निर्जरा द्वारा पहले से आत्मा के साथ बँधे हुए कर्मो का क्षय होता है। जिस प्रकार तालाब के जल के आगमन द्वार को रोक

---

१ अगुत्तर निकाय ६।५८

२ अगुत्तर निकाय ६।६३

देने पर सूर्य के ताप आदि से धीरे-धीरे जल सूख जाता है। वैसे ही कर्मों के आस्रव को सवर द्वारा रोक देने पर तप आदि कारणो से आत्मा के साथ पहले से बँधे हुए कर्म शनै शनै क्षीण होते जाते है। इस दृष्टि से निर्जरा का अर्थ है कर्म वर्गणा का आशिक रूप से आत्मा से छूटना[1]। द्वादशानुप्रेक्षा मे कहा है—बँधे हुए कर्मों के प्रदेश पिण्ड के गलने का नाम निर्जरा है।[2] तत्त्वार्थभाष्य मे कहा है—परिपाक से अथवा तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है।[3]

बोलचाल की भाषा मे यो कह सकते है कि मैले कपडे मे साबुन लगाते ही मैल साफ नही हो जाता। जैसे-जैसे साबुन का झाग कपडे के तार-तार मे पहुँचता है वैसे-वैसे धीरे-धीरे मैल दूर होना प्रारम्भ हो जाता है। प्रस्तुत बात निर्जरा के लिए भी समझनी चाहिए। साधक ने तप आदि की साधना की, सवर से नवीन कर्मो को आने से रोक दिया किन्तु पूर्ववद्ध कर्म मल की मलीनता शनै-शनै दूर होती हैं। पूर्ण शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाना मोक्ष कहलाता हैं।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग मे सीढियो के समान है। सीढियो पर क्रम-क्रम से कदम रखने पर मजिल पर पहुँचा जाता है। वैसे ही क्रमश निर्जरा कर मोक्ष अवस्था प्राप्त की जाती है।

निर्जरा के दो प्रकार हैं—सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा। जो व्रत के उपक्रम से होती है वह सकाम निर्जरा है और जो जीवो के कर्मों के स्वत विपाक से होती है वह अकाम निर्जरा है।[4]

---

१ (क) एकदेशकर्म सक्षय लक्षणा निर्जरा। —सर्वार्थसिद्धि १।४
(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक अकलक १।४।१७

२ वद्धपदेसग्गलण णिज्जरण इदि जिणेहिं पण्णत्त। —द्वादशानुप्रेक्षा ६६

३ कर्मणा विपाकतस्तपसा व शाटो निर्जरा।
—तत्त्वार्थभाष्य हरिभद्रीय वृत्ति १।४

४ निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया सकामाकामभेदत ॥
सकामा स्मृता जैनैर्या व्रतोपक्रमै कृता।
अकामा स्वविपाकेन यथा श्वभ्रादिवासिनाम्।
—धर्मशर्माभ्युदयम् २१।१२२-१२३

वाचक उमास्वाति लिखते हैं—निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमे से नरकादि गतियो में कर्मो के फल का अनुभवन किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के बिना हुआ करता है उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते हैं। तप और परीषहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है।[1]

स्वामी कार्तिकेय कहते है—ज्ञानावरणादि आठ कर्मो की फल देने की शक्ति को विपाक—अनुभाग कहते है। उदय के पश्चात् फल देकर कर्मो के झड जाने को निर्जरा कहते है। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकाल प्राप्त और (२) तप कृत। उनमे प्रथम स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारो ही गति के जीवो मे होती है और वह सदैव होती रहती है। दूसरी तप द्वारा की जाने वाली निर्जरा व्रतयुक्त जीवो के होती है।[2]

चन्द्रप्रभचरित मे कहा है—कर्मक्षपण लक्षण वाली निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक काल-कृत और दूसरी उपक्रमकृत। नारकादि जीवो में कर्म-भुक्ति से जो निर्जरा होती है वह कालजा निर्जरा है और जो तप से होती है, वह उपक्रम कृत निर्जरा है।[3]

तत्त्वार्थसार मे लिखा है "कर्मो के फल देकर झडने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मो को तप की शक्ति से उदयावलि मे लाकर वेदन करने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है।[4]

अकाम निर्जरा सहज निर्जरा है। वह विना उपाय के बिना चेष्टा और बिना प्रयत्न के होती है। वह इच्छाकृत नही, स्वयभूत है। स्वकाल प्राप्त, विपाकजा प्रभृति निर्जरा के जो विशेषण हैं वे इस बात को सिद्ध करते हैं। वह सभी जीवो के होती है इसमे सभी चिन्तक एकमत हैं। सकाम निर्जरा के सम्बन्ध मे मतभेद हैं।

---

१ तत्त्वार्थ भाष्य ९।७

२ द्वादशानुप्रेक्षा—निर्जरा अनुप्रेक्षा १०३-१०४

३ चन्द्रप्रभचरितम् १८।१०९-११०

४ तत्त्वार्थसार ७।२-४

हेमचन्द्र सूरि का मन्तव्य है कि सकाम निर्जरा यमियो-सयमियो के ही होती है और अकाम निर्जरा दूसरे प्राणियो के।[1]

स्वामी कार्तिकेय का मत है—प्रथम निर्जरा चार गतियो के जीवो के होती है और दूसरी व्रतियो के।[2] 'अविपाका मुनीन्द्राना सविपाकाखिलात्मनाम्' भी प्रस्तुत बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यग्दृष्टि के होती है, मिथ्यादृष्टि के नही।

प० खूबचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री का अभिमत है—यथाकाल निर्जरा सभी ससारी जीवो के और सदाकाल हुआ करती है क्योकि बँधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा तत्त्व मे नही समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग के द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा तत्त्व है और इसीलिए मोक्ष का कारण है। इस प्रकार दोनो के हेतु मे और फल मे अन्तर है।[3]

साराश यह है कि आत्मशुद्धि की दृष्टि से जो तप आदि साधना की जाती है उससे सकाम निर्जरा होती है। जैसे धूप मे कपडा फैलाकर डालने से शीघ्र सूख जाता है लेकिन उसी कपडे मे पानी अधिक हो और उसको अच्छी तरह से फैलाया न जाय तो सूखने मे देर लगती है। इसी प्रकार कर्म निर्जरा के लिए जब विवेकपूर्वक तप आदि की साधना की जाती है तब वह सकाम निर्जरा है। बिना ज्ञान एव सयम के जो तप आदि क्रियाएँ की जाती हैं उनसे होने वाली तथा कर्म का स्थितिपाक होने पर उनकी जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है।

बिना विवेक और सयम के जो तप किया जाता है वह बाल तप है। बाल तप से भी कर्म निर्जरा होती है। साथ ही उससे पुण्य होने से सासारिक सुख, समृद्धि, इष्ट वस्तुओ एव इन्द्रियो के सुख आदि की प्राप्ति भी हो सकती है पर अज्ञान तप से आत्मशुद्धि नही होती।

साधक का एकमात्र लक्ष्य अनादिकाल से चले आ रहे कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है और सासारिक सुखादि की यत्किंचित् प्राप्ति की अभिलाषा मे न उलझकर सिद्धि के लिए प्रयास करना है। एतदर्थ ही कहा

---

१ ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्यदेहिनाम्। —सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२८

२ चादुगदीण पढमा, वयजुत्ताण हवे विदिया।—द्वादशानुप्रेक्षा, निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४

३ सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र पृ० ३७८

वाचक उमास्वाति लिखते हैं—निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशलमूल। इनमे से नरकादि गतियो मे जो कर्मों के फल का अनुभवन किसी तरह के बुद्धिपूर्वक प्रयोग के बिना हुआ करता है उसको अबुद्धिपूर्वक निर्जरा कहते है। तप और परीषहजय कृत निर्जरा कुशलमूल है।[1]

स्वामी कार्तिकेय कहते है—ज्ञानावरणादि आठ कर्मो की फल देने की शक्ति को विपाक—अनुभाग कहते हैं। उदय के पश्चात् फल देकर कर्मो के झड जाने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—(१) स्वकाल प्राप्त और (२) तप कृत। उनमे प्रथम स्वकाल प्राप्त निर्जरा तो चारो ही गति के जीवो मे होती है और वह सदैव होती रहती है। दूसरी तप द्वारा की जाने वाली निर्जरा व्रतयुक्त जीवो के होती है।[2]

चन्द्रप्रभचरित मे कहा है—कर्मक्षपण लक्षण वाली निर्जरा दो प्रकार की होती है—एक काल-कृत और दूसरी उपक्रमकृत। नारकादि जीवो के कर्म-भुक्ति से जो निर्जरा होती है वह कालजा निर्जरा है और जो तप से होती है, वह उपक्रम कृत निर्जरा है।[3]

तत्त्वार्थसार मे लिखा है "कर्मो के फल देकर झडने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मो को तप की शक्ति से उदयावलि मे लाकर वेदन करने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है।[4]

अकाम निर्जरा सहज निर्जरा है। वह विना उपाय के बिना चेष्टा और बिना प्रयत्न के होती है। वह इच्छाकृत नही, स्वयभूत है। स्वकाल प्राप्त, विपाकजा प्रभृति निर्जरा के जो विशेषण हैं वे इस बात को सिद्ध करते है। वह सभी जीवो के होती है इसमे सभी चिन्तक एकमत हैं। सकाम निर्जरा के सम्बन्ध मे मतभेद हैं।

---

१ तत्त्वार्थ भाष्य ९।७

२ द्वादशानुप्रेक्षा—निर्जरा अनुप्रेक्षा १०३-१०४

३ चन्द्रप्रभचरितम् १८।१०९-११०

४ तत्त्वार्थसार ७।२-४

हेमचन्द्र सूरि का मन्तव्य है कि सकाम निर्जरा यमियो-सयमियो के ही होती है और अकाम निर्जरा दूसरे प्राणियो के।[1]

स्वामी कार्तिकेय का मत है—प्रथम निर्जरा चार गतियो के जीवो के होती है और दूसरी व्रतियो के।[2] 'अविपाका मुनीन्द्राना सविपाकाखिलात्मनाम्' भी प्रस्तुत बात को प्रकट करता है। एक मत यह भी है कि सकाम निर्जरा सम्यग्दृष्टि के होती है, मिथ्यादृष्टि के नही।

प० खूबचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री का अभिमत है—यथाकाल निर्जरा सभी ससारी जीवो के और सदाकाल हुआ करती है क्योकि बँधे हुए कर्म अपने समय पर फल देकर निर्जीर्ण होते ही रहते हैं। अतएव इसको निर्जरा तत्त्व मे नही समझना चाहिये। दूसरी तरह की निर्जरा तप आदि के प्रयोग के द्वारा हुआ करती है। यह निर्जरा तत्त्व है और इसीलिए मोक्ष का कारण है। इस प्रकार दोनो के हेतु मे और फल मे अन्तर है।[3]

साराश यह है कि आत्मशुद्धि की दृष्टि से जो तप आदि साधना की जाती है उससे सकाम निर्जरा होती है। जैसे धूप मे कपडा फैलाकर डालने से शीघ्र सूख जाता है लेकिन उसी कपडे मे पानी अधिक हो और उसको अच्छी तरह से फैलाया न जाय तो सूखने मे देर लगती है। इसी प्रकार कर्म निर्जरा के लिए जब विवेकपूर्वक तप आदि की साधना की जाती है तब वह सकाम निर्जरा है। बिना ज्ञान एव सयम के जो तप आदि क्रियाएँ की जाती हैं उनसे होने वाली तथा कर्म का स्थितिपाक होने पर उनकी जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है।

बिना विवेक और सयम के जो तप किया जाता है वह बाल तप है। बाल तप से भी कर्म निर्जरा होती है। साथ ही उससे पुण्य होने से सासारिक सुख, समृद्धि, इष्ट वस्तुओ एव इन्द्रियो के सुख आदि की प्राप्ति भी हो सकती है पर अज्ञान तप से आत्मशुद्धि नही होती।

साधक का एकमात्र लक्ष्य अनादिकाल से चले आ रहे कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना है और सासारिक सुखादि की यत्किचित् प्राप्ति की अभिलाषा मे न उलझकर सिद्धि के लिए प्रयास करना है। एतदर्थ ही कहा

---

१ ज्ञेया सकामा यमिनामकामान्यदेहिनाम्। —सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १२८

२ चादुगदीण पढमा, वयजुत्ताण हवे विदिया।—द्वादशानुप्रेक्षा, निर्जरा अनुप्रेक्षा १०४

३ समाध्य तत्त्वार्थसूत्र पृ० ३७८

गया है कि 'यश, कीर्ति, सुख एव परलोक मे वैभव आदि पाने के लिए तपस्या, ध्यान, ज्ञान आदि नही करना चाहिए किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तप करना चाहिए।'[1]

निर्जरा तत्त्व के भेद

आत्मा के ऊपर जो कर्म का आवरण है उसे तप आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। कर्मक्षय का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहा है।[2]

स्थानाग सूत्र मे एगा णिज्जरा[3]—एक निर्जरा है ऐसा सामान्य की अपेक्षा कथन किया गया है किन्तु अन्य स्थानो पर निर्जरा निमित्त भेद से बारह प्रकार की बतायी गयी है।

जैसे अग्नि एक रूप होने पर भी निमित्त के भेद से काष्ठाग्नि, पाषाणाग्नि—इस प्रकार पृथक्-पृथक् सज्ञा को प्राप्त हो अनेक प्रकार की होती है, वैसे ही कर्मपरिशाटन रूप निर्जरा वास्तव मे एक ही है पर हेतुओ की अपेक्षा से बारह प्रकार की कही जाती है।[4]

तप के कनकावलि आदि अनेक भेद है। इस दृष्टि से निर्जरा के और भी अनेक भेद हो सकते हैं।[5]

आचार्य अभयदेव स्थानाङ्ग वृत्ति मे लिखते है—अष्टविध कर्मो की अपेक्षा निर्जरा आठ प्रकार की है। द्वादश विध तपो से उत्पन्न होने के कारण निर्जरा बारह प्रकार की है। अकाम—क्षुधा, पिपासा शीत, आतप, दश-मशक और मल-सहन, ब्रह्मचर्य-धारण आदि अनेक विध कारणजनित होने से निर्जरा अनेक प्रकार की है।[6]

---

१ दशवैकालिक ६३

२ जम्हा निकाइयाणऽवि कम्माण तवेण होइ निज्जरण।
तम्हा उवयाराओ, तवो इह निज्जरा भणिया॥
—नवतत्त्वप्रकरण १/ भाष्य ६० देवगुप्तसूरि प्रणीत

३ स्थानाग ६।१६

४ काष्ठोपलादिरूपाणा निदानाना विभेदत।
वह्निर्यथैकरूपोऽपि पृथग्रूपो विवक्ष्यते॥
निर्जरापि द्वादशधा तपोभेदैस्तथोदिता।
कर्मनिर्जरणात्मा तु सेकरूपैव वस्तुत॥
—शान्तसुधारस निर्जरा भावना २-३ विनयविजयजी

५ नवतत्त्व-प्रकरण ११ देवगुप्तसूरिप्रणीत

६ स्थानाङ्ग १।१६ टीका

मुख्य रूप से तप के बारह भेद होने से निर्जरा के भी बारह प्रकार हैं। वे सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

अनशन

अनशन को बाह्य तपो मे प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। यह अन्य तपो से अधिक कठोर और दुर्धर्ष है। अनशन मे भूख पर विजय प्राप्त करनी होती है और भूख विश्व मे दुर्जेय है। भूख से अनेक अन्याय होते हैं। भूख को जीतना और मन का निग्रह करना अनशन तप है। अनशन से शारीरिक शुद्धि भी होती है। वह शरीर का सबसे बडा चिकित्सक है—'लघन परमौषधम्' कहा गया है।

उपवास से तन की ही नही मन की भी शुद्धि होती है। गीता मे कहा है—आहार का त्याग करने से इन्द्रियो के विषय-विकार दूर हो जाते हैं और फिर मन भी पवित्र हो जाता है।[1] एतदर्थ ही एक वैदिक ऋषि ने कहा—अनशन से वढकर और कोई तप नही है। साधारण मानव के लिए यह तप बडा ही दुर्धर्ष—सहन करना और वहन करना कठिन है, कठिनतम है।[2] यह अग्निस्नान है। जो इसमे कूद पडेगा उसका समस्त मल दूर हो जायेगा, वह निखर उठेगा, चमक उठेगा।

गणधर गौतम ने प्रश्न किया—आहार त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है? भगवान महावीर ने कहा—आहार त्याग करने से जीवन की आशसा—अर्थात् शरीर एव प्राणो का मोह छूट जाता है।[3] तपस्वी को न शरीर का मोह रहता है और न प्राणो का।

एक चिन्तक ने कहा—उपवास मे (१) ब्रह्मचर्य का पालन, (२) शास्त्र का पठन (३) और आत्म-स्वरूप का चिन्तन ये तीन कार्य करो पर (१) क्रोध,(२) अहकार (३) विषय प्रमाद का सेवन, ये तीन कार्य न करो।

अनशन का सीधा अर्थ आहार-त्याग है। वह कम से कम एक दिन-रात्रि का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छह महीने का व विशिष्ट अवस्था

---

१ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन । —भगवद्गीता २।५९

२ तपो नानशनात् पर ।
यद्धि पर तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम् । —मैत्रायणी आरण्यक १०।६२

३ उत्तराध्ययन २९।३५

मे जीवन-पर्यन्त का भी। उसके इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए, और यावत्-कथिक—जीवन पर्यन्त के लिए, ये दो भेद है।[१]

इत्वरिक तप मे समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकाक्षा रहती हैं। इसलिए इस तप को सावकाक्ष तप भी कहा है और यावत्कथिक तप मे भोजन की कोई आकाक्षा शेष नही रहती इसलिए इसे निरवकाक्ष तप भी कहा है।[२]

इत्वरिक तप के नवकारसी, पौरसी, पूर्वार्ध, एकाशन एकस्थान, आयविल, दिवस चरिम, रात्रिभोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थभक्त, छट्ठभक्त आदि अनेकानेक भेद है।[३]

यावत्कालिक अनशन के पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दो भेद है।[४] भक्त प्रत्याख्यान मे आहार के त्याग के साथ सतत स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन मे समय विताया जाता है। साधक के मन मे सक्लेश नही होता। सदा समाधि व प्रसन्नता का भाव मुख पर जगमगाता रहता है। पादपोपगमन मे टूटे हुए वृक्ष की भाँति अचचल-चेष्टा रहित, एक ही स्थान पर जिस मुद्रा मे प्रारम्भ मे स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा मे स्थिर रहना, यदि आँख खुली है तो उसे वन्द नही करना। पादपोपगम सथारा वही कर सकता है जिसका वज्रऋषभनाराच सहनन हो, अनशन स्वीकार कर पर्वत शिखर के समान निश्चल रहना सरल नही है। अत सामान्य सहनन वाला इसे नही कर सकता। चौदह पूर्वों का विच्छेद होने के पश्चात् पादपोपगम अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।[५]

ऊनोदरी

निर्जरा का दूसरा भेद ऊनोदरी है। ऊन—कम, उदर—पेट, भूख से कम खाना ऊनोदरी है। कही-कही इसे अवमौदर्य भी कहा है। इसे अल्प-आहार या परिमित-आहार भी कह सकते हैं। आहार के समान कपाय,

---

१ भगवती सूत्र २५।७
२ उत्तराध्ययन ३०।६
३ जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेपण [मुनि श्री मिश्रीमल जो] पृ० १८१-१६६
४ आवकहिए दुविहे पण्णत्ते—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य। —उववाई सूत्र
५ पढमम्मि अ सघयणे वट्टतो सेलकुट्ट समाणो।
तेसि पि अ वुच्छेक चउद्दसपुव्वीण वुच्छेए॥ —उववाई सूत्र, तप अधिकार

उपकरण आदि की भी ऊनोदरी होती है। ऊनोदरी के द्रव्य और भाव ये दो भेद हैं। द्रव्य के अवान्तर अनेक भेद बताये हैं। भाव ऊनोदरी मे क्रोध को कम करना, मान को कम करना, माया और लोभ को कम करना, शब्दो का प्रयोग कम करना, कलह कम करना आदि है। द्रव्य ऊनोदरी मे साधक-जीवन को बाहर से हलका, स्वस्थ व प्रसन्न रखने का मार्ग बताया गया है और भाव ऊनोदरी मे अन्तरग प्रसन्नता, आन्तरिक लघुता और सद्गुणो के विकास का पथ प्रशस्त किया गया है।

भिक्षाचरी

भिक्षाचरी विविध प्रकार के अभिग्रह करके आहार की गवेषणा करना है। आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं—दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्वसम्पत्करी।[1] जो अनाथ, अपग, आपद्ग्रस्त, दरिद्र व्यक्ति माँग कर खाते हैं वह दीनवृत्ति भिक्षा है। श्रम करने मे समर्थ होकर के भी, कमाने की शक्ति होने पर भी माँग कर खाना पौरुषघ्नी भिक्षा है। ऐसे भिक्षुक देश के लिए भारस्वरूप हैं। जो त्यागी, अहिंसक, सन्तोषी श्रमण अपने उदरनिर्वाह के लिए, शुद्ध और निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं वह सर्व-सम्पत्करी भिक्षावान् हैं। भिक्षा देने वाला और लेने वाला दोनो ही सद्गति मे जाते है। सर्वसम्पत्करी भिक्षा ही वस्तुत कल्याणकारिणी भिक्षा है। भिक्षाचरी के अनेक भेद-प्रभेदो का उल्लेख है।[2] भिक्षुक को अनेक दोषो को टालकर भिक्षा लेनी होती है।[3]

रस-परित्याग

रस का अर्थ है—प्रीति बढाने वाला—"रस प्रीतिविवर्धनम्" जिससे भोजन मे, वस्तु मे, प्रीति उत्पन्न होती हो उसे 'रस' कहते हैं। भोजन सम्बन्धी रस ६ माने गये हैं—(१) कटु-कडवा, (२) मधुर-मीठा, (३) आम्ल-खट्टा, (४) तिक्त-तीखा, (५) काषाय-कसैला (६) लवण-नमकीन।

इन रसो के सयोग से भोजन मधुर व स्वादिष्ट बनता है और सरस होने से अधिक खाया भी जाता है। अत कहा है—रस प्राय दीप्ति-

---

१ अष्टक प्रकरण ५।१

२ (क) उत्तराध्ययन ३०।२५
(ख) स्थानाङ्ग ६

३ (क) उत्तराध्ययन २४।११-१२
(ख) पिण्डनिर्युक्ति ९२-९३

मे जीवन-पर्यन्त का भी। उसके इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए, और यावत्-कथिक—जीवन पर्यन्त के लिए, ये दो भेद हैं।[1]

इत्वरिक तप मे समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकाक्षा रहती है। इसलिए इस तप को सावकाक्ष तप भी कहा है और यावत्कथिक तप मे भोजन की कोई आकाक्षा शेष नही रहती इसलिए इसे निरवकाक्ष तप भी कहा है।[2]

इत्वरिक तप के नवकारसी, पौरसी, पूर्वार्ध, एकाशन एकस्थान, आयविल, दिवस चरिम, रात्रिभोजन त्याग, अभिग्रह, चतुर्थभक्त, छट्ठभक्त आदि अनेकानेक भेद है।[3]

यावत्कालिक अनशन के पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान ये दो भेद है।[4] भक्त प्रत्याख्यान मे आहार के त्याग के साथ सतत स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन मे समय बिताया जाता है। साधक के मन मे सक्लेश नही होता। सदा समाधि व प्रसन्नता का भाव मुख पर जगमगाता रहता है। पादपोपगमन मे टूटे हुए वृक्ष की भाँति अचचल-चेष्टा रहित, एक ही स्थान पर जिस मुद्रा मे प्रारम्भ मे स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा मे स्थिर रहना, यदि आँख खुली है तो उसे बन्द नही करना। पादपोपगम सथारा वही कर सकता है जिसका वज्रऋषभनाराच सहनन हो, अनशन स्वीकार कर पर्वत शिखर के समान निश्चल रहना सरल नही है। अत सामान्य सहनन वाला इसे नही कर सकता। चौदह पूर्वों का विच्छेद होने के पश्चात् पादपोपगम अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।[5]

ऊनोदरी

निर्जरा का दूसरा भेद ऊनोदरी है। ऊन—कम, उदर—पेट, भूख से कम खाना ऊनोदरी है। *कही-कही इसे अवमौदर्य भी कहा है।* इसे *अल्प*-आहार या परिमित-आहार भी कह सकते हैं। आहार के समान कषाय,

---

१ भगवती सूत्र २५।७

२ उत्तराध्ययन ३०।६

३ जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेषण [मुनि श्री मिश्रीमल जी] पृ० १८१-१६६

४ आवकहिए दुविहे पण्णत्ते—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य। —उववाई सूत्र

५ पढमम्मि अ सघयणे वट्टतो सेलकुट्ट समाणो।
तेसिं पि अ वुच्छेऊ चउद्दसपुव्वीण वुच्छेए॥ —उववाई सूत्र, तप अधिकार

उपकरण आदि की भी ऊनोदरी होती है। ऊनोदरी के द्रव्य और भाव ये दो भेद है। द्रव्य के अवान्तर अनेक भेद बताये हैं। भाव ऊनोदरी मे क्रोध को कम करना, मान को कम करना, माया और लोभ को कम करना, शब्दो का प्रयोग कम करना, कलह कम करना आदि है। द्रव्य ऊनोदरी मे साधक-जीवन को बाहर से हलका, स्वस्थ व प्रसन्न रखने का मार्ग बताया गया है और भाव ऊनोदरी मे अन्तरग प्रसन्नता, आन्तरिक लघुता और सद्गुणो के विकास का पथ प्रशस्त किया गया है।

भिक्षाचरी

भिक्षाचरी विविध प्रकार के अभिग्रह करके आहार की गवेषणा करना है। आचार्य हरिभद्र ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं—दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्वसम्पत्करी।[1] जो अनाथ, अपग, आपद्ग्रस्त, दरिद्र व्यक्ति माँग कर खाते है वह दीनवृत्ति भिक्षा है। श्रम करने मे समर्थ होकर के भी, कमाने की शक्ति होने पर भी माँग कर खाना पौरुषघ्नी भिक्षा है। ऐसे भिक्षुक देश के लिए भारस्वरूप है। जो त्यागी, अहिंसक, सन्तोषी श्रमण अपने उदरनिर्वाह के लिए, शुद्ध और निर्दोष आहार ग्रहण करते है वह सर्वसम्पत्करी भिक्षावान् हैं। भिक्षा देने वाला और लेने वाला दोनो ही सद्गति मे जाते हैं। सर्वसम्पत्करी भिक्षा ही वस्तुत कल्याणकारिणी भिक्षा है। भिक्षाचरी के अनेक भेद-प्रभेदो का उल्लेख है।[2] भिक्षुक को अनेक दोषो को टालकर भिक्षा लेनी होती है।[3]

रस-परित्याग

रस का अर्थ है—प्रीति बढाने वाला—"रस प्रीतिविवर्धनम्" जिससे भोजन मे, वस्तु मे, प्रीति उत्पन्न होती हो उसे 'रस' कहते हैं। भोजन सम्बन्धी रस ६ माने गये हैं—(१) कटु-कडवा, (२) मधुर-मीठा, (३) आम्ल-खट्टा, (४) तिक्त-तीखा, (५) काषाय-कसैला (६) लवण-नमकीन।

इन रसो के सयोग से भोजन मधुर व स्वादिष्ट बनता है और सरस होने से अधिक खाया भी जाता है। अत कहा है—रस प्राय दीप्ति-

---

१ अष्टक प्रकरण ५।१

२ (क) उत्तराध्ययन ३०।२५

(ख) स्थानाङ्ग ६

३ (क) उत्तराध्ययन २४।११-१२

(ख) पिण्डनिर्युक्ति ९२-९३

उत्तेजना पैदा करने वाले होते है।[1] दूध, दही आदि रसो को विगय भी कहा है।

दूध, दही, घी आदि विगय क्यो हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—इनके खाने से विकार पैदा होते है। उससे मनुष्य सयम से भ्रष्ट होकर विगति (दुर्गति) मे जाता है। अत ये पदार्थ सेवन करने वाले मे विकृति एव विगति दोनो के हेतु है। इस कारण इन्हे विगइ कहा जाता है।[2]

साधक के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्ज्य नही है। वह आवश्यकतानुसार विगय आदि का सेवन भी करता है किन्तु वह उस रस का स्वाद नही लेता। स्वाद के लिए आहार को चबाना, चूसना आदि दोष हैं।[3] रस-त्याग के भी विविध रूप बताये है।

कायक्लेश

कायक्लेश का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। एक कष्ट स्वकृत होता है और दूसरा परकृत होता है। साधक शरीर पर आसक्त नही होता, वह आत्मा और शरीर को पृथक मानता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा—'यह शरीर अन्य है आत्मा अन्य है। साधक इस प्रकार की तत्त्वबुद्धि के द्वारा दु ख और क्लेश देने वाली शरीर की ममता का त्याग करता है।[4]

आत्मवादी साधक यह चिन्तन करता है—"जो दु ख है, कष्ट है, वह सब शरीर को है, आत्मा को नही। कष्ट से शरीर को पीडा हो सकती है, वध आदि से शरीर का नाश हो सकता है—आत्मा का नही—नत्थि जीवस्स नासु त्ति"।[5] आत्मा का ज्ञानदर्शनमय—चिन्मय रूप है। उसको कभी कोई शक्ति नष्ट नही कर सकती। उसका कभी नाश नही हो सकता, वह मेरा स्वरूप है। इस प्रकार कष्ट आने पर वह निज स्वरूप मे रह कर उन कष्टो को शान्ति से सहन करता है।

---

१ उत्तराध्ययन ३२।१०
२ (क) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति—प्रत्याख्यानद्वार (ख) योगशास्त्र ३ प्रकाशवृत्ति
३ (क) भगवती ७।१ (ख) आचाराग ८।६
४ आवश्यक निर्युक्ति १५४७
५ उत्तराध्ययन २।२७

स्थानाङ्ग मे कायक्लेश के प्रकार बतलाते हुए कहा है—कायोत्सर्ग करना, उत्कटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन, करना, निषद्या-स्वाध्याय आदि के लिए पालथी मारकर बैठना, दण्डायत होकर खडे रहना, लकडी की भाँति खडे होकर ध्यान करना।[1] उववाई सूत्र मे कायक्लेश के प्रकारान्तर से चौदह भेद भी बताये है।[2]

प्रतिसलीनता

परभाव मे लीन आत्मा को स्वभाव मे लीन बनाने की प्रक्रिया ही वस्तुत प्रतिसलीनता है। इसलिए सलीनता को स्व-लीनता भी कह सकते हैं। इन्द्रियो को, कषायो को, मन-वचन आदि योगो को बाहर से हटाकर भीतर मे गुप्त करना—छुपाना सलीनता है।

भगवती सूत्र मे प्रतिसलीनता के इन्द्रिय प्रतिसलीनता, कषाय प्रतिसलीनता, योग-प्रतिसलीनता और विविक्तशयासन सेवना आदि चार भेद किये है।[3]

निर्जरा के अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, और प्रतिसलीनता, इन छह भेदो को बाह्य तप भी कहा गया है।

प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त मे दो शब्दो का योग है—प्राय -चित्त। आचार्य ने कहा—प्राय का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना, अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है।[4]

आचार्य अकलक[5] के अनुसार अपराध का नाम प्राय है और चित्त का अर्थ शोधन। जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।

प्राकृत भाषा मे प्रायश्चित्त को 'पायच्छित्त' कहा है। आचार्य पायच्छित्त शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं—पाय अर्थात पाप का जो छेदन करता है अर्थात् पाप को दूर कर देता है उसे पायच्छित्त कहते है।[6]

---

१ स्थानाङ्ग ७, सूत्र ५५४
२ उववाई समवसरण अधिकार
३ भगवती २५।७
४ प्राय· पाप विनिर्दिष्ट चित्त तस्य विशोधनम्। —धर्मसग्रह ३, अधिकार
५ अपराधो वा प्राय चित्त शुद्धि। प्रायस्-चित्त—प्रायश्चित्त—अपराध विशुद्धि। —राजवार्तिक ६।२२।१
६ पाव छिंदइ जम्हा पायच्छित ति भण्णइ तेण —पचाशक सटीक विवरण १६।३

प्रायश्चित्त और दण्ड मे अन्तर है। प्रमादवश अनुचित कार्य कर लेने पर मन मे पश्चात्ताप होना और उसकी शुद्धि के लिए गुरुजनो के सामने स्वय का दोष प्रकट कर उसकी शुद्धि की प्रार्थना करना और गुरु जो शुद्धि बताये उसके अनुसार तपश्चरण आदि करना प्रायश्चित्त है। राजनीति मे अपराधी को दण्ड दिया जाता है। प्रथम तो वह अपराध स्वीकार नही करता और कदाचित स्वीकार भी कर ले तो उसके मन मे उसके प्रति पश्चात्ताप और ग्लानि नही होती। यदि दण्ड मिल भी जाता है तो प्रसन्नतापूर्वक उसका पालन नही करता।

प्रायश्चित्त के स्थानाङ्ग मे दस प्रकार बताये हैं।[1] प्रायश्चित्त से दोषो का प्रक्षालन होता है, हृदय विशुद्ध होता है। प्रायश्चित्त वही लेता है जिसका हृदय सरल होता है।

विनय

विनय का सम्बन्ध हृदय से है। वह आत्मिक गुण है। जैन साहित्य मे विनय शब्द तीन अर्थों मे व्यवहृत हुआ है।

(१) विनय—अनुशासन।
(२) विनय—आत्मसयम—शील—सदाचार।
(३) विनय—नम्रता एव सद्व्यवहार।

स्थानाग वृत्ति मे आचार्य अभयदेव ने लिखा है—जिससे आठ कर्म का वि—नय (विनय-दूर होना) होता है, अर्थात विनय आठो कर्मों को दूर करता है उससे चार गति का अन्त होकर मोक्ष गति प्राप्त होती है।[2]

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति मे लिखा है—विनयति क्लेशकारकमष्ट-प्रकार कर्म इति विनय" क्लेश पैदा करने वाले अष्टकर्म शत्रुओ को जो दूर करे, वह विनय है।

भगवती आदि आगम साहित्य मे ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र-विनय, मनविनय, वचनविनय, कायविनय और लोकोपचार विनय आदि विनय के सात प्रकार बताये हैं।[3]

---

१ (क) स्थानाङ्ग सूत्र १०
(ख) भगवती सूत्र २५।७
२ स्थानाङ्ग ६ टीका
३ (क) भगवती २५।७, (ख) स्थानाङ्ग ७, (ग) औपपातिक तपवर्णन

विनय और चापलूसी मे दिन-रात का अन्तर है। विनय मे सद्‌गुणो के प्रति सन्मान की वृत्ति और मन मे सरलता होती है किन्तु चापलूसी मे कपट की प्रधानता होती है।

वैयावृत्य

वैयावृत्य का अर्थ है—धर्म-साधना मे सहयोग करने वाली आहार आदि वस्तुओ से शुश्रुषा करना—वैयावृत्य है। वैयावृत्य से तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन होता है।[1] रोगी, नवदीक्षित, आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधक महानिर्जरा और महापर्यवसान—परममुक्तिपद को प्राप्त करता है।[2] सेवा मुक्तिदायिनी है।

स्थानाङ्ग मे आठ जो शिक्षाएँ दी गई हैं उनमे दो शिक्षाएँ सेवा के सम्वन्ध मे है[3]।

भगवती आदि मे वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं।[4]

एक कवि ने तो यहाँ तक कहा है कि सेवा धर्म परम गहन है, इसकी वारीकियो को योगी लोग भी नही समझ पाते।

स्वाध्याय

सत्‌शास्त्रो को मर्यादापूर्वक पढना, विधिसहित अध्ययन करना स्वाध्याय है।[5] दूसरा अर्थ है—अपना अपने ही भीतर अध्ययन—अर्थात् आत्मचिन्तन-मनन, स्वाध्याय है[6]।

अध्ययन से बुद्धि का विकास होता है। जैसे शरीर के लिए भोजन और व्यायाम आवश्यक है वैसे ही बुद्धि के विकास के लिए अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता है, उससे नया विचार, नया चिन्तन उद्‌बुद्ध होता है।

गलत तरीके से किया गया व्यायाम जैसे शरीर के लिए हानिप्रद है। अपथ्य भोजन शरीर मे रोग पैदा करता है। वैसे ही सेक्स प्रधान

---

१ उत्तराध्यन २९।३

२ स्थानाङ्ग ५।१

३ स्थानाङ्ग ८।

४ (क) भगवती ३५।७
   (ख) स्थानाङ्ग १०

५ सुष्ठु आ—मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय
—स्थानाङ्ग अभयदेव वृत्ति ५।३।४६५

६ स्वस्य स्वस्मिन् अध्याय -अध्ययन-स्वाध्याय ।

विचारोत्तेजक पुस्तको का पठन भी लाभप्रद नही अपितु हानिकर है। उस से मन दूषित होता है और जीवन विकृत होता है। अत पढते समय विवेक की आवश्यकता है। कम पढो किन्तु सुन्दर पढो जिससे सद्विचार जागृत हो।

स्वाध्याय से समस्त दु खो से मुक्ति मिलती है।[1] जन्म-जन्मान्तरो के सचित कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते है।[2] स्वाध्याय अपने आप मे बहुत बडी तपस्या है। आचार्य सघदासगणी ने कहा है—स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है। इसके समान तप न अतीत मे कभी हुआ है, न वर्तमान मे है और न भविष्य मे कभी होगा।[3]

वैदिक ऋषि ने भी कहा है—'तपोहि स्वाध्याय'[4] स्वाध्याय तप है। स्वाध्याय मे कभी भी प्रमाद न करो।[5] दीवाल को पुन पुन घुटाई करने पर वह चिकनी हो जाती है उसके सामने जो भी प्रतिविम्ब आता है वह उसमे झलकने लगता है, वैसे ही सतत स्वाध्याय से मन इतना निर्मल और पारदर्शी हो जाता है कि शास्त्रो का रहस्य उसमे प्रतिबिम्बित होने लगता है। आचार्य पतजलि ने तो यहाँ तक कहा है कि 'स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात्कार होने लगता है।[6]

स्वाध्याय के वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ये पाँच भेद बताए हैं।[7]

ध्यान

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—अपने विषय मे (ध्येय मे) मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।[8] आचार्य

---

१ सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो। —उत्तरा० २६।१०

२ बहुभवे सचिय खलु सज्झाएण खणे खवइ। —चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

३ (क) न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय सम तवोकम्म।—बृहत्कल्पभाष्य ११६९
(ख) चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र ८९

४ तैत्तिरीय आरण्यक २।१४

५ तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।१

६ स्वाध्यायादिष्ट देवता सप्रयोग —योगदर्शन २।४४

७ (क) भगवती २५।७
(ख) स्थानाङ्ग ५।

८ ध्यान तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसतति। —अभिधान चिन्तामणि कोष १।४८

भद्रबाहु ने भी यही बात कही है—कि चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।[1]

ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो प्रकार का होता है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान हैं। अप्रशस्त ध्यान का निषेध किया गया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तो ध्यान की परिभाषा करते हुए कहा—'शुभैक प्रत्ययो ध्यानम्'[2] शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है। कहा गया है कि समाधि एव शान्ति की कामना रखने वाला आर्त्त एव रौद्रध्यान का त्याग करके धर्म और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करे।[3]

पवित्र विचारो मे मन को स्थिर करना धर्म ध्यान है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा का, आत्मा के द्वारा आत्मा के विषय मे सोचना, चिन्तन करना ध्यान है।[4] इस प्रकार ध्यान से आत्मा पर-वस्तु से हटकर स्वलीन हो जाता है। अपने सम्बन्ध मे चिन्तन करते-करते आत्म-स्वरूप का दर्शन कर लेता है। ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी काष्ठ जलकर भस्म हो जाता है और आत्मा शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध-निरजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग मे दो शब्द है—'वि और उत्सर्ग'। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ त्याग है। विशिष्ट त्याग—त्याग करने की विशिष्ट विधि—व्युत्सर्ग है।

आचार्य अकलक ने व्युत्सर्ग की परिभाषा की है—नि सगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग। व्युत्सर्ग इसी आधार पर टिका हुआ है। धर्म के लिए, आत्म-साधना के लिए अपने-आपको उत्सर्ग करने की विधि ही व्युत्सर्ग है।[5]

---

१ चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण। —आवश्यक निर्युक्ति १४५६

२ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १८।११

३ अट्ट रुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म सुक्काइ झाणाइ झाण त तु बुहावए॥

४ तत्त्वानुशासन ७४

५ नि सग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्ग।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक ६।२६।१०

व्युत्सर्ग के गण व्युत्सर्ग, शरीर व्युत्सर्ग, उपधिव्युत्सर्ग और भक्त-पान व्युत्सर्ग ये चार भेद हैं।[1]

शरीर व्युत्सर्ग का नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग मे साधक प्रमाद वश हुई भूलो के लिए प्रायश्चित्त करता है, मन मे पश्चात्ताप करता है और शरीर की ममता को त्यागकर उन दोषो को दूर करने के लिए कृत-सकल्प होता है। उस दृढ सकल्प और पश्चात्ताप से कर्मो का भार हलका हो जाता है। उसके भीतर प्रशस्त ध्यान की शीतल धारा बहने लगती है, प्रसन्नता की उर्मियाँ उठने लगती है। आत्मा अपने-आपको बडा ही सुखमय एव आनन्दमय अनुभव करने लगता है।

कायोत्सर्ग की साधना करते समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग भी हो सकते है, साधक उन उपसर्गो को सम्यक् प्रकार से सहन करे तभी उसका कायोत्सर्ग शुद्ध हो सकता है।[2]

कायोत्सर्ग जीवन की प्रतिदिन की साधना है, वह आवश्यक है। उसमे क्षण-क्षण मे कायोत्सर्ग की भावना करनी चाहिए। भगवान ने कहा—'अभिक्खण काउस्सग्गकारी'—अभीक्ष्ण पुन पुन कायोत्सर्ग करता रहे। वह प्रति समय यह अभ्यास करे कि शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। प्रकारान्तर से कायोत्सर्ग के दो भेद हैं—(१) द्रव्य कायोत्सर्ग (२) भाव कायोत्सर्ग।[3] द्रव्य मे काय चेष्टा का निरोध होता है और भाव मे धर्म एव शुक्ल ध्यान मे रमण होता है।

कायोत्सर्ग तप मे सबसे प्रमुख है। यही कारण है कि आगम साहित्य मे काउस्सग्ग को ही पूर्ण व्युत्सर्ग तप बता दिया है। कायोत्सर्ग मे जो साधक सिद्ध हो जाता है वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप मे भी सिद्ध हो जाता है।[4]

अनशन से लेकर व्युत्सर्ग तक यह बारह तपो का एक अस्खलित क्रम है—तपधारा का यह एक निर्मल प्रवाह है जो निरन्तर विकास पाता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म का तप कायदण्ड रूप नही है, अपितु उसने मानसिक शुद्धि पर भी उतना ही बल दिया है।

●

---

१ भगवती सूत्र २५।७

२ आवश्यक निर्युक्ति १५४६

३ सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो भवतो काउस्सग्गो झाण॥ —आवश्यक चूर्णि

४ जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेषण पृ० ५२३

□ बन्ध और मोक्ष तत्त्व : एक विश्लेषण

- वन्धतत्त्व
- वन्ध के प्रकार
- मोक्ष
- वौद्ध दृष्टि से
- ज्ञानादि गुणो का उच्छेद नहीं
- निर्वाण
- मोक्ष का सुख

बन्ध और मोक्ष तत्त्व : एक विश्लेषण

बन्ध तत्त्व

दो पदार्थो के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते है । बन्ध के दो प्रकार हैं—द्रव्य-बन्ध और भाव बन्ध । कर्म पुद्गलो का आत्म-प्रदेशो से सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध है । जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावो से कर्म का बन्धन होता है वे भाव भावबन्ध हैं । द्रव्य बन्ध मे आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध होता है । यह सत्य-तथ्य है कि दो द्रव्यो का सयोग हो सकता है, एकत्व नही । दो मिलकर एक दिखलाई दे किन्तु एक की सत्ता मिटकर एक शेष नही रहता । पुद्गलाणुओ का परस्पर बन्ध होता है तो वे एक विशेष प्रकार के सयोग को प्राप्त करते हैं । स्निग्धता और रुक्षता के कारण उनमे एक रासायनिक मिश्रण होता है जिससे उस स्कन्ध के अन्तर्गत सभी परमाणुओ की पर्याय परिवर्तित होती है और वे ऐसी स्थिति मे आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सब की एक जैसी पर्याय हो जाती है । स्कन्ध अपने आप मे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है किन्तु वह परमाणुओ की अवस्था विशेष है । पुद्गलो के बन्ध मे एक रासायनिकता है कि उस अवस्था मे उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन न होकर प्राय एक सदृश परिणमन होता है । किन्तु आत्मा और कर्म पुद्गलो का ऐसा रासायनिक मिश्रण कदापि नही हो सकता । यह सत्य है कि कर्म स्कन्ध से आत्मा के परिणमन मे विलक्षणता आती है और आत्मा के निमित्त से कर्म स्कन्ध की परिणति विलक्षण होती है । किन्तु इतने से इन दोनो के सम्बन्ध को रासायनिक मिश्रण की सज्ञा नही दे सकते । चूंकि जीव और कर्म के बन्ध मे दोनो की एक सदृश पर्याय नही होती । जीव की पर्याय चेतन रूप है और पुद्गल अचेतन रूप है । जीव का परिणमन चैतन्य के विकास के रूप मे होता है और पुद्गल का रूप, रस, गध, और स्पर्शादि के रूप मे ।

बन्ध के प्रकार

बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग-

बन्ध और प्रदेशबन्ध। तत्त्वार्थ सूत्र में अनुभाग के स्थान पर अनुभाव शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रकृति कर्म का स्वभाव है, स्थिति कर्म की आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा है, अनुभाग कर्म का शुभाशुभ रस और प्रदेश कर्म के दलिको का समूह। इनके सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से कर्मवाद मे लिखा गया है।

कर्म साहित्य मे प्रस्तुत विषय को मोदक के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है। जैसे किसी लड्डू का स्वभाव वायु को दूर करने का होता है, किसी का कफ को दूर करने का होता है और किसी का पित्त को दूर करने का होता है। वैसे ही किसी कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण डालने का होता है। किसी का स्वभाव आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डालने का होता है। किसी का स्वभाव साता और असाता उत्पन्न करने का होता है, तो किसी का स्वभाव मोह उत्पन्न करने का होता है।

कोई मोदक दस दिन तक ठीक रहता है, उसके पश्चात् उसके गुण नष्ट हो जाते हैं। कोई मोदक बीस और पच्चीस दिन भी रह सकता है। इसी प्रकार कोई कर्म आत्मा के साथ अमुक-समय तक रहता है, कोई अमुक समय तक। इस प्रकार प्रत्येक कर्म की काल मर्यादा भी अलग-अलग है।

कोई मोदक अत्यन्त मधुर होता है, कोई उससे कम मधुर होता है, कोई तिक्त होता है और कोई कटुक होता है। इसी प्रकार कर्म का विपाक भी तीव्र, तीव्रतम, मन्द, मन्दतम भी होता है।

कोई मोदक आधा पाव का, कोई पाव सेर का, और कोई एक किलो का होता है। इसी प्रकार कर्म दलिको का समूह भी है—उसकी भी मात्रा कम और अधिक होती है।

प्रकृति और प्रदेश वध का कारण योग है, स्थिति और रस का कारण कषाय है। कषायो की तीव्रता और मन्दता के कारण कर्म पुद्गल मे स्थिति और फल देने की शक्ति पडती है। यह स्थिति वन्ध और अनुभाग बन्ध कहलाता है। ये दोनो बन्ध कषाय से होते हैं। उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और केवली भगवान को कषायोदय नही होता अत उनके योग के द्वारा जो कर्म पुद्गल आते हैं वे द्वितीय समय मे झड जाते है, उनका स्थिति वन्ध और अनुभाग वन्ध नही होता।

बन्ध तत्त्व शुभ और अशुभ—दो प्रकार का होता है। शुभ बन्ध पुण्य है और अशुभ बन्ध पाप है। जब तक कर्म उदय मे नही आते, अर्थात् अपना फल नही देते तब तक वे सत्ता मे रहते हैं और जब कर्म फल देने लगते हैं तब पुण्य पाप कहलाने लगते हैं। कर्मो के फल देने से पूर्व स्थिति का नाम बन्ध है। कर्मो का अनुदय काल बन्ध है, उदयकाल पुण्य-पाप है।

मोक्ष

नव तत्त्वो मे मोक्ष तत्त्व अन्तिम तत्त्व है। वह जीवमात्र का चरम और परम लक्ष्य है। जिसने समस्त कर्मो का क्षय करके अपने साध्य को सिद्ध कर लिया, उसने पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली। कर्म बन्धन से मुक्ति मिली कि जन्म-मरण रूप महान् दु खो के चक्र की गति रुक गई। सदा-सर्वदा के लिए सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई।

आचार्य पूज्यपाद ने मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी है—'कृत्स्न-कर्मवियोगलक्षणो मोक्ष ।'[1] सम्पूर्ण कर्म का वियोग मोक्ष है। बन्धन-मुक्ति को मोक्ष कहते हैं। बन्ध के कारणो का अभाव होने से, सचित कर्मो की निर्जरा होने से समस्त कर्मो का सम्पूर्ण रूप से उच्छेद होना मोक्ष है। ससार अवस्था मे आत्मा की वैभाविक शक्ति का विभाव रूप मे परिणमन होता है, उस विभाव परिणमन के निमित्त नष्ट हो जाने से मोक्ष मे उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। विभाव के कारण से आत्मा के गुण जो विकृत हो रहे थे, वे स्वाभाविक दशा मे आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दशन हो जाता है, अज्ञान ज्ञान हो जाता है, अचारित्र चारित्र हो जाता है। आत्मा का सम्पूर्ण नक्शा ही परिवर्तित हो जाता है। वह निर्मल और निश्चल हो जाता है। वह निस्तरग समुद्र के समान निर्विकल्प होता है। स्मरण रखना चाहिए कि निर्वाण दशा मे आत्मा का अभाव नही होता और न वह अचेतन ही होता है। आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। इसके अभाव और उच्छेद की कल्पना करना ही अनुचित है। चाहे कितना भी परिवर्तन क्यो न हो, द्रव्य का समूल उच्छेद कभी नही हो सकता।

बौद्ध दृष्टि से

तथागत बुद्ध से प्रश्न किया गया कि—'मरने के पश्चात् तथागत

---

1 सर्वार्थसिद्धि १।४

होते हैं या नही ?' उन्होने प्रस्तुत प्रश्न को अव्याकृत कहकर टाल दिया। यही कारण है कि बुद्ध के शिष्य-प्रशिष्यो ने निर्वाण के सम्बन्ध मे विविध कल्पनाएँ की। एक कल्पना यह है कि जिसमे चित्तसतति निरास्रव हो जाती है, चित्त का मैल साफ हो जाता है। यह 'सोपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। दूसरी कल्पना यह है कि जिसमे दीपक के समान चित्तसतति भी बुझ जाती है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार इन पच स्कन्ध रूप आत्मा मानने का यह परिणाम है कि निर्वाण दशा मे उसके अस्तित्व का अभाव है। बुद्ध ने निर्वाण और आत्मा के परलोकगामित्व का निर्णय नही किया। वे केवल दु खनिवृत्ति के सर्वाङ्गीण औचित्य का समर्थन करते है।

प्रश्न है कि निर्वाण अवस्था मे चित्तसतति का निरोध हो जाता है वह दीपक की लौ के समान बुझ जाती है, तो क्या इससे बुद्ध को उच्छेदवाद का दोष नही लगा ? तथागत बुद्ध के मन मे यह आशका थी कि आत्मा का नास्तित्व माना जाय तो चार्वाक के समान उच्छेदवाद का प्रसग उपस्थित हो जायेगा। तात्त्विक दृष्टि से निर्वाण अवस्था मे उच्छेद मानने मे और मरने के पश्चात् उच्छेद मानने मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है। चित्तसतति भौतिक नही है। वह परलोक मे भी साथ मे जाती है तब निर्वाण अवस्था मे उसका समूलोच्छेद किस प्रकार होता है ? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है।

आचार्य कमलशील ने तत्त्वसग्रहपञ्जिका मे ससार और निर्वाण के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला एक श्लोक उधृद्त किया है, जिसका भाव यह है कि रागादि क्लेश और वासनामय चित्त को ससार कहते हैं और जव वह चित्त रागादि क्लेश और वासनाओ से मुक्त हो जाता है तव उसे भवान्त—निर्वाण कहते हैं।[1] प्रस्तुत श्लोक मे प्रतिपादित ससार और मोक्ष का स्वरूप युक्ति-युक्त है। चित्त की रागादियुक्त अवस्था ससार है और उसकी रागादि रहित अवस्था मोक्ष है।[2] इसलिए सम्पूर्ण कर्मो के क्षय से

---

१ चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तम् भवान्त इति कथ्यते॥ —तत्वसग्रहपञ्जिका पृ० १०४

२ मुक्तिनिर्मलता धिय। —तत्व सग्रह पृ० १८४

होने वाला स्वरूप लाभ ही मोक्ष है।[१] आत्मा का अभाव या चैतन्य का उच्छेद कदापि मोक्ष नही हो सकता। रोग की निवृत्ति का अर्थ आरोग्य-लाभ है न कि रोगी की निवृत्ति या समाप्ति है।

ज्ञानादि गुणो का सर्वथा उच्छेद नहीं

वैशेपिकदर्शन बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार इन नव विशेष गुणो के उच्छेद को मोक्ष मानता है। उसका यह मन्तव्य है कि इन विशेष गुणो की उत्पत्ति आत्मा और मन के सयोग से होती है। मन के सयोग के नष्ट हो जाने से वे गुण मोक्ष अवस्था मे समुत्पन्न नही होते जिससे वह निर्गुण हो जाता है। इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार और सासारिक सुख-दु ख से सभी कर्मजन्य अवस्थाएँ है। अत मोक्ष मे इनकी सत्ता नही रहती किन्तु बुद्धि—ज्ञान, जो आत्मा का निजगुण है उसका सम्पूर्ण रूप से उच्छेद किस प्रकार माना जा सकता है। जो ससार अवस्था मे मन और इन्द्रिय के सयोग से स्वल्प ज्ञान होता था वह मोक्ष मे नही होता किन्तु जो स्वरूप भूत चैतन्य है, इन्द्रिय और मन से परे है उसका उच्छेद किसी भी प्रकार नही हो सकता। वैशेषिकदर्शन निर्वाण अवस्था मे आत्मा की स्वरूपस्थिति मानता है और वह स्वरूप उसका इन्द्रियातीत चैतन्य है। ससार अवस्था मे वही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदि के निमित्त से विविध विषय वाली बुद्धि के रूप मे परिणति करता है पर जब उन उपाधियो से मुक्त हो जाता है तो स्व-स्वरूप मे लीन होना स्वाभाविक है। जैनदर्शन भी कर्म के क्षयोपशम से समुत्पन्न क्षायोपशमिक ज्ञान और कर्मजन्य सुख-दु खादि का विनाश मोक्ष अवस्था मे मानता है किन्तु ज्ञानादि गुण का नही।[२]

निर्वाण

जैन-परम्परा मे मोक्ष शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। उसका सीधा और सरल अर्थ मुक्त होना है। अनादि काल से जिन कर्मो से आत्मा आबद्ध है उस बन्धन मे मुक्त होना मोक्ष है। बन्धन के कट जाने पर आत्मा पूर्ण शुद्ध, निर्मल और स्वतन्त्र हो जाता है। बौद्ध परम्परा मे निर्वाण शब्द व्यवहृत

---

१ आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम्॥ —सिद्धिविनिश्चय पृ० ३८४

२ जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार जैन, पृ० २३३।

हुआ है। निर्वाण का अर्थ दीपक की भाँति बुझ जाना है। निर्वाण शब्द का प्रयोग होने से वौद्धदर्शन मे मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट नही हो सका। उन्होने क्लेशो के बुझने के स्थान पर आत्मा का बुझना मान लिया। कर्मो के नाश करने का तात्पर्य यह है कि कर्म पुद्‌गल आत्मा से भिन्न हो जाते है, उनका विनाश नही होता। किसी भी सत् का कभी भी विनाश नही होता। जैसे आत्मा कर्म-बन्धन से छूटकर शुद्ध हो जाता है वैसे ही कर्म पुद्‌गल भी अपनी कर्मत्व पर्याय से मुक्त हो जाते हैं। सिद्धालय मे भी सिद्ध आत्माओ के साथ पुद्‌गलो का सम्वन्ध होता है किन्तु उन पुद्‌गलो का बन्ध नही होता। मोक्ष मे दोनो द्रव्य अपने-अपने निज स्वरूप मे वने रहते हैं।

मोक्ष का सुख

मोक्ष के सुख का वर्णन करते हुए उमास्वाति ने लिखा है—मुक्तात्माओ के सुख विषयो से अतीत, अव्यय और अव्यावाध है। ससार के सुख विषयो की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मो के इष्ट फलरूप है, जव कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परमसुख रूप है। सारे लोक मे ऐसा कोई पदार्थ नही जिसकी उपमा सिद्धो के सुख के साथ दी जा सके। वह प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नही है, इसलिए निरुपम है। वह अर्हन्त भगवान के ही प्रत्यक्ष है और स्वानुभवगम्य है। अन्य विद्वान उन्ही के कहे अनुसार उसका ग्रहण करते हैं और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मोक्ष-सुख छद्‌मस्थो की परीक्षा का विषय नही है।

औपपातिक सूत्र मे वर्णन है—सिद्ध शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से सयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से सयुक्त होने पर सर्वभाव गुण-पर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवलदृष्टि से सर्वभाव देखते हैं। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सव देवो को जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धो को होता है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषताओ को देखने पर भी उपमा न मिलने से उसका वर्णन नही कर सकता। इसी तरह सिद्धो का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नही हो सकती। जैसे कोई मनुष्य सर्वप्रकार के, पाँचो इन्द्रियो को सुख उत्पन्न करने वाला भोजन कर, क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त होता है वैसे ही अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदाकाल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखो

होने वाला स्वरूप लाभ ही मोक्ष है।[1] आत्मा का अभाव या चैतन्य का उच्छेद कदापि मोक्ष नही हो सकता। रोग की निवृत्ति का अर्थ आरोग्य-लाभ है न कि रोगी की निवृत्ति या समाप्ति है।

ज्ञानादि गुणो का सर्वथा उच्छेद नहीं

वैशेषिकदर्शन बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और सस्कार इन नव विशेष गुणो के उच्छेद को मोक्ष मानता है। उसका यह मन्तव्य है कि इन विशेष गुणो की उत्पत्ति आत्मा और मन के सयोग से होती है। मन के सयोग के नष्ट हो जाने से वे गुण मोक्ष अवस्था मे समुत्पन्न नही होते जिससे वह निर्गुण हो जाता है। इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार और सासारिक सुख-दुख से सभी कर्मजन्य अवस्थाएँ है। अत मोक्ष मे इनकी सत्ता नही रहती किन्तु बुद्धि—ज्ञान, जो आत्मा का निजगुण है उसका सम्पूर्ण रूप से उच्छेद किस प्रकार माना जा सकता है। जो ससार अवस्था मे मन और इन्द्रिय के सयोग से स्वल्प ज्ञान होता था वह मोक्ष मे नही होता किन्तु जो स्वरूप भूत चैतन्य है, इन्द्रिय और मन से परे है उसका उच्छेद किसी भी प्रकार नही हो सकता। वैशेषिकदर्शन निर्वाण अवस्था मे आत्मा की स्वरूपस्थिति मानता है और वह स्वरूप उसका इन्द्रियातीत चैतन्य है। ससार अवस्था मे वही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदि के निमित्त से विविध विषय वाली बुद्धि के रूप मे परिणति करता है पर जब उन उपाधियो से मुक्त हो जाता है तो स्व-स्वरूप मे लीन होना स्वाभाविक है। जैनदर्शन भी कर्म के क्षयोपशम से समुत्पन्न क्षायोपशमिक ज्ञान और कर्मजन्य सुख-दुखादि का विनाश मोक्ष अवस्था मे मानता है किन्तु ज्ञानादि गुण का नही।[2]

निर्वाण

जैन-परम्परा मे मोक्ष शब्द का अधिक प्रयोग हुआ है। उसका सीधा और सरल अर्थ मुक्त होना है। अनादि काल से जिन कर्मो से आत्मा आबद्ध है उस बन्धन से मुक्त होना मोक्ष है। बन्धन के कट जाने पर आत्मा पूर्ण शुद्ध, निर्मल और स्वतन्त्र हो जाता है। बौद्ध परम्परा मे निर्वाण शब्द व्यवहृत

---

१ आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम्॥ —सिद्धिविनिश्चय पृ० ३८४

२ जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार जैन, पृ० २३३।

हुआ है। निर्वाण का अर्थ दीपक की भाँति बुझ जाना है। निर्वाण शब्द का प्रयोग होने से बौद्धदर्शन मे मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट नही हो सका। उन्होने क्लेशो के बुझने के स्थान पर आत्मा का बुझना मान लिया। कर्मों के नाश करने का तात्पर्य यह है कि कर्म पुद्गल आत्मा से भिन्न हो जाते है, उनका विनाश नही होता। किसी भी सत् का कभी भी विनाश नही होता। जैसे आत्मा कर्म-बन्धन से छूटकर शुद्ध हो जाता है वैसे ही कर्म पुद्गल भी अपनी कर्मत्व पर्याय से मुक्त हो जाते हैं। सिद्धालय मे भी सिद्ध आत्माओ के साथ पुद्गलो का सम्बन्ध होता है किन्तु उन पुद्गलो का बन्ध नही होता। मोक्ष मे दोनो द्रव्य अपने-अपने निज स्वरूप मे बने रहते हैं।

मोक्ष का सुख

मोक्ष के सुख का वर्णन करते हुए उमास्वाति ने लिखा है—मुक्तात्माओ के सुख विषयो से अतीत, अव्यय और अव्याबाध हैं। ससार के सुख विषयो की पूर्ति, वेदना के अभाव, पुण्य कर्मो के इष्ट फलरूप है, जब कि मोक्ष के सुख कर्मक्लेश के क्षय से उत्पन्न परमसुख रूप है। सारे लोक मे ऐसा कोई पदार्थ नही जिसकी उपमा सिद्धो के सुख के साथ दी जा सके। वह प्रमाण, अनुमान और उपमान के विषय नही है, इसलिए निरुपम है। वह अर्हन्त भगवान के ही प्रत्यक्ष है और स्वानुभवगम्य है। अन्य विद्वान उन्ही के कहे अनुसार उसका ग्रहण करते हैं और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मोक्ष-सुख छद्मस्थो की परीक्षा का विषय नही है।

औपपातिक सूत्र मे वर्णन है—सिद्ध शरीर रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान, केवलदर्शन से सयुक्त होते हैं। साकार और अनाकार उपयोग उनके लक्षण हैं। सिद्ध केवलज्ञान से सयुक्त होने पर सर्वभाव गुण-पर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवलदृष्टि से सर्वभाव देखते है। न मनुष्य को ऐसा सुख होता है और न सब देवो को जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धो को होता है। जैसे कोई म्लेच्छ नगर की अनेक विध विशेषताओ को देखने पर भी उपमा न मिलने से उसका वर्णन नही कर सकता। इसी तरह सिद्धो का सुख अनुपम होता है। उसकी तुलना नही हो सकती। जैसे कोई मनुष्य सर्वप्रकार के, पाँचो इन्द्रियो को सुख उत्पन्न करने वाला भोजन कर, क्षुधा और प्यास से रहित हो अमृत पीकर तृप्त होता है वैसे ही अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदाकाल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखो

को प्राप्त कर अव्याबाध सुख के धनी होते हैं। सम्पूर्ण कार्य सिद्ध करने के कारण वे सिद्ध हैं। सर्वतत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं। ससार समुद्र को पार करने के कारण पारगत हैं। हमेशा सिद्ध रहेगे अत परम्परागत है। जन्म-जरा-मरण के बन्धन से मुक्त हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कहा है कि लोक के अग्रभाग पर पहुँचकर जीव परम सुखी होता है।

मोक्ष आत्म-विकास की चरम एव पूर्ण अवस्था है। पूर्णता मे किसी प्रकार का भेद नही होता, अत मुक्तात्माओ मे भी कोई भेद नही है। प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन और अनन्तगुणो से परिपूर्ण है। सिद्धो मे जो पन्द्रह भेदो की कल्पना की गई है वह केवल लोक-व्यवहार की दृष्टि से है, किन्तु मुक्त जीवो मे किसी प्रकार का भेद नही है।

[प्रमाण चर्चा]

□ जैनदर्शन का आधार : स्याद्वाद

- स्याद्वाद क्या है
- समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग
- अन्य दर्शनों पर अनेकान्त की छाप
- नित्यानित्यता
- आत्मा का शरीर से भेदाभेद
- सत्ता और असत्ता
- सप्तभंगी
- भ्रम निवारण
- स्याद्वाद संशयवाद नहीं
- विरोध का निराकरण
- नयवाद

जैनदर्शन का आधार : स्याद्वाद

स्याद्वाद क्या है ?

दार्शनिक जगत को जैनदर्शन ने जो मौलिक एव असाधारण देन दी है उसमे अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है। अनेकान्तवाद जैन-परम्परा की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने मे सहायक है। अनेकान्त का प्रतिपादक सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।

'स्याद्वाद' पद मे दो शब्द है—स्यात् और वाद। स्यात् शब्द तिङन्त पद जैसा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव मे यह एक अव्यय है जो 'कथचित्, किसी अपेक्षा से, अमुक दृष्टि से इस अर्थ का द्योतक है।'[1] 'वाद' शब्द का अर्थ सिद्धान्त, मत, या प्रतिपादन करना होता है।

इस प्रकार स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ सापेक्ष-सिद्धान्त, अपेक्षावाद कथचित्वाद या वह सिद्धान्त, जो विविध दृष्टिविन्दुओ से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है।

जैनाचार्यो ने स्याद्वाद को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। चिन्तन की यह पद्धति हमे एकागी विचार और निश्चय से बचाकर सर्वाङ्गीण विचार के लिए प्रेरित करती है और इसका परिणाम यह होता है कि हम सत्य के प्रत्येक पहलू से परिचित हो जाते है। वस्तुत समग्र सत्य को समझने के लिए स्याद्वाद दृष्टि ही एकमात्र साधन है। स्याद्वाद पद्धति को अपनाये बिना विराट् सत्य का साक्षात्कार होना सम्भव नही। जो विचारक वस्तु के अनेक धर्मो को अपनी दृष्टि से ओझल करके किसी एक ही धर्म को पकडकर अटक जाता है वह सत्य को नही पा सकता।[2] इसीलिए

---

१ (क) स्यादिति शब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधि विचार प्रश्नादिद्योती तथा विवक्षापायात्।
—अष्टसहस्री पृ० २९६

(ख) सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतक कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपात।
—पञ्चास्तिकाय टीका श्री अमृतचन्द

२ एयन्ते निरवेक्खे नो सिज्झइ विविहयावग दव्व।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—'स्यात्' शब्द सत्य का प्रतीक है।[1] और इसी कारण जैनाचार्यों का यह कथन है कि जहाँ कही स्यात् शब्द का प्रयोग न दृष्टिगोचर हो वहाँ भी उसे अनुस्यूत ही समझ लेना चाहिये।[2]

स्याद्वाद-दृष्टि विविध अपेक्षाओ से एक ही वस्तु मे नित्यता-अनित्यता, सदृशता-विसदृशता, वाच्यता-अवाच्यता, सत्ता-असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर एव बुद्धिसगत समन्वय प्रस्तुत करती है।[3]

साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कह दिया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनो मे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है। अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।[4] इस प्रकार स्याद्वाद श्रुत है और अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट किया है—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक है। भेद इतना ही है कि केवलज्ञान वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है जब कि स्याद्वाद श्रुत होने से असाक्षात् ज्ञान कराता है।[5]

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

जगत् की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओ मे जो परस्पर विरुद्ध विचार प्रस्तुत किये गये हैं, उनका अध्ययन करने पर जिज्ञासु को घोर निराशा होना स्वाभाविक है। उन विचारो मे एक पूर्व की ओर जाता है तो दूसरा पश्चिम की ओर। ऐसी स्थिति मे जिज्ञासु अपनी आस्था स्थिर करे तो किस पर? किसे वास्तविक और किसे अवास्तविक स्वीकार करे? आखिर ये दार्शनिक किसी भी विषय मे एकमत नही होते। आत्मा जैसे मूलतत्त्व के सम्बन्ध मे भी इनके दृष्टिकोणो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। चार्वाकदर्शन आत्म-

---

१ स्याकार सत्यलाञ्छन।

२ सोऽप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते। —लघीयस्त्रय, श्लो० २२

३ स्यान्नाशि नित्य सदृश विरूप, वाच्य न वाच्य सदसत्तदेव।
—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक २५, आचार्य हेमचन्द्र

४ अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद। —लघीयस्त्रय, श्लो० ६२, अकलक

५ स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यत्तम भवेत्॥ —आप्तमीमासा, १०५

तत्त्व की सत्ता को ही अस्वीकार करता है। जो दर्शन उसे स्वीकार करते है उनमे भी एकमत नही। साख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य एव अविकारी कहता है।[1] उसके मन्तव्य के अनुसार आत्मा अकर्ता है, निर्गुण है। नैयायिक-वैशेषिको ने परिवर्तन तो माना, पर उसे गुणो तक ही सीमित रक्खा। मीमासक अवस्थाओ मे परिवर्तन मानकर भी द्रव्य को नित्य मानते है। बुद्ध के समक्ष जब आत्मा विषयक प्रश्न उपस्थित किया गया तो उन्होने उसे अव्याकृत प्रश्न कह कर मौन धारण कर लिया।[2]

इसी प्रकार जब आत्मा के परिमाण के विषय मे विचार किया गया तो किसी ने उसे आकाश की भाँति सर्वव्यापी माना, किसी ने अणु परिमाण, किसी ने अगुष्ठ परिमाण तो किसी ने श्यामाक के बराबर कहा।

एक कहता है कि—चेतना भूतो से उत्पन्न या व्यक्त होती है। दूसरे का कथन है कि चेतना आत्मा का धर्म नही, जड प्रकृति से प्रादुर्भूत तत्त्व है। तीसरा दर्शन विधान करता है कि चेतना आत्मा का गुण तो नही है, किन्तु समवाय सम्बन्ध से आत्मा मे रहती है।

इस प्रकार जब आत्मा जैसे तत्त्व के विषय मे भी ये विचारक किसी एक तथ्य पर नही टिक पाते तो अन्य पदार्थो के विषय मे क्या कहा जाय।

दर्शनो और दार्शनिको की बात जाने दीजिये और अपनी ही विचारधाराओ को जरा गहराई से देखिये। जब हमारा दृष्टिकोण अभेद प्रधान होता है तो प्रत्येक प्राणी मे चेतना की दृष्टि से समानता प्रतीत होती है, और चेतना से आगे बढकर जब सत्ता को आधार बताते है, तो चेतन और और अचेतन सभी विद्यमान पदार्थ सत्स्वरूप मे एकाकार भासित होने लगते हैं। इसके विपरीत, जब हमारे दृष्टिकोण मे भेद की प्रधानता होती है तो अधिक से अधिक सदृश प्रतीत हो रहे दो पदार्थो मे भी भिन्नता प्रतीत हुए बिना नही रहती। इस प्रकार हम स्वय अपने ही विरोधी विचारो मे खो जाते हैं और सोचने लगते हैं—सत्य अज्ञेय है, उसका पता लगाना असम्भव है। इस निराशापूर्ण भावना ने ही अज्ञेयवादी दर्शन को जन्म दिया है।

अनेकान्तवाद का आलोक हमे निराशा के इस अन्धकार से बचाता है। वह हमे ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है, जहाँ सभी प्रकार के विरोधो

---

१ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूप नित्यम्।

२ मज्झिमनिकाय, चूल मालुक्य सुत्त ६३।

का उपशमन हो जाता है। अनेकान्तवाद समस्त दार्शनिक समस्याओ, उलझनो और भ्रमणाओ के निवारण का समाधान प्रस्तुत करता है। अपेक्षा विशेष से पिता को पुत्र, पुत्र को भी पिता, छोटे को भी बडा, वडे को भी छोटा यदि कहा जा सकता है तो अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर ही। अनेकान्तवाद वह न्यायाधीश है जो परस्पर-विरोधी दावेदारो का फैसला बडे ही सुन्दर ढग से करता है और जिससे वादी और प्रतिवादी दोनो को ही न्याय मिलता है। पूर्वकालीन महान् दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, हरिभद्र आदि ने अनेकान्तदृष्टि का अवलम्बन करके ही सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विरोधी वादो का तर्कसगत समन्वय किया और विचार की एक शुद्ध, व्यापक, बुद्धिसगत और निष्पक्ष दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टि से देखने पर खडित एव एकागी वस्तु के स्थान पर हमे सर्वाङ्गीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोचर होने लगती है। अनेकान्तदृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, इसी कारण वह पूर्ण सत्य की ओर ले जाती है।

अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयगम करके ही जैन-दार्शनिको ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। वस्तुत वह समस्त दार्शनिको का जीवन है, प्राण है। जैनाचार्यो ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए कहा है—एकान्त वस्तुगत धर्म नही, किन्तु बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तो एकान्त का नामनिशान नही रहता। दार्शनिको की भी समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त दृष्टि मे उसी प्रकार विलीन हो जाती है जैसे विभिन्न दिशाओ से आने वाली सरिताएँ सागर मे एकाकार हो जाती हैं।[1]

प्रसिद्ध विद्वान उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दो मे कहा जा सकता है—'सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही कर सकता। वह एकनयात्मक दर्शनो को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता हैं। अनेकान्तवादी न किसी को न्यून और न किसी को अधिक समझता है—उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव मे सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है जो अनेकान्तवाद का अव-

---

१ उदधाविव सर्वसिन्धव, समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, अविभक्तासु सरित्स्विवोदधि॥ —सिद्धसेन

लम्बन लेकर समस्त दर्शनो पर समभाव रखता हो। मध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रो को पढ लेने पर भी कोई लाभ नही होता।[1]

हरिभद्र सूरि ने लिखा है—"आग्रहशील व्यक्ति युक्तियो को उसी जगह खीचतान करके ले जाना चाहता है जहाँ पहले से उसकी बुद्धि जमी हुई है, मगर पक्षपात से रहित मध्यस्थ पुरुष अपनी बुद्धि का निवेश वही करता है जहाँ युक्तियाँ उसे ले जाती है।"[2] अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तुस्वरूप को ही शुद्ध बुद्धि से स्वीकार करना चाहिए। बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरे सत्याश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नही है, वह तत्त्व रूपी नवनीत नही पा सकता।

"गोपी नवनीत तभी पाती है जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खीचती और दूसरे छोर को ढीला छोडती है। अगर वह एक ही छोर को खीचे और दूसरे को ढीला न छोडे तो नवनीत नही निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से विकसित किया जाता है, तभी सत्य का अमृत हाथ लगता है।[3] अतएव

---

१ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्याऽनेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोदेशा विशेषेण, य पश्यति स शास्त्रवित्॥
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
स एव धर्मवाद स्यादन्यद् वालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहित ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिवृथैवान्या तथा चोक्त महात्मना॥

—ज्ञानसार उपाध्याय यशोविजय

२ आग्रही बत निनीषति युक्ति,
यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति',
यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

३ एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

एकान्त के गन्दले पोखर से दूर रहकर अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर मे अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनो का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य ाो पर अनेकान्त की छाप

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भारतीय दार्शनिको ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनो पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप मे अकित हुई है। असल मे यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वथा उपेक्षा की ही नही जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् मे आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है—'तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य बाह्यत।' अर्थात् आत्मा चलती भी है और नही भी चलती है, दूर भी है, समीप भी है, वह सव के अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

क्या ये उद्‌गार स्याद्वाद से प्रभावित नही है ? भले ही शकराचार्य और रामानुजाचार्य एक वस्तु मे अनेक धर्मो का अस्तित्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते हैं, मगर जब वे अपने मन्तव्य का निरूपण करने चलते हैं तब स्याद्वाद के असर मे वे भी नही बच पाते। उन्हे भी अनन्यगत्या स्याद्वाद का आधार लेना पडता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रूप की कल्पना मे अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने सत्य की परमार्थसत्य, व्यवहारसत्य और प्रतिभाससत्य के रूप मे जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे अनेकान्त की पुष्टि ही होती है। वे कहते हैं—'दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।' अर्थात् इस लोक मे दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण है। आशय यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु मे किसी अपेक्षा से दोष हैं तो किसी अपेक्षा से गुण भी हैं। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का रूप नही तो क्या है ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया—'आप विद्वान् हैं या अविद्वान् ?' स्वामी जी ने कहा—'दार्शनिक क्षेत्र मे विद्वान् और व्यापारिक क्षेत्र मे अविद्वान्।' यह अनेकान्तवाद नही तो क्या है ?

बुद्ध का विभज्यवाद एक प्रकार का अनेकान्तवाद है। उनका मध्यम मार्ग भी अनेकान्त से प्रतिफलित होने वाला वाद ही है।

साख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मानकर अनेकान्त को ही अगीकार करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थों को सत् और असत् इन दो मे समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता वतलाते हुए जगत् की विविधता सिद्ध की है।

आइन्स्टीन का सापेक्षसिद्धान्त स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।

इन कतिपय उदाहरणो से पाठक समझ सकेंगे कि अनेकान्तवाद एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है कि दार्शनिक जगत् मे उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन को उसका आश्रय लेना ही पडता है।

सामान्य रूप से अनेकान्त के सम्वन्ध मे इतना ही जान लेने के पश्चात् अब हमे अनेकान्त के प्रकाश मे प्रतिफलित होने वाले कतिपय मुख्यवादो का विचार भी कर लेना चाहिए। वे वाद इस प्रकार हैं।

नित्यानित्यता

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है, या यो कहा जा सकता है कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायो के अभाव मे द्रव्य का और द्रव्य के अभाव मे पर्याय का कोई अस्तित्व सम्भव नही है। जहाँ जीवद्रव्य है वहाँ उसके कोई न कोई पर्याय भी अवश्य होते है। जो जीव है वह मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर अथवा सिद्ध मे से कुछ अवश्य होगा और जो मनुष्य आदि किसी पर्याय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है वह जीव अवश्य होता है।

द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य है, क्योंकि जीव द्रव्य का कभी विनाश नही हो सकता, मगर पर्यायो का परिवर्त्तन सदैव होता रहता है। इस दृष्टि मे ध्यान देने योग्य वात यह है कि इससे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद—दोनो का समन्वय हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत है किन्तु उसके पर्यायो का उच्छेद होता रहता है। यहाँ यह नही भूलना चाहिए कि द्रव्य और उसके पर्याय पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नही हैं। उनमे वस्तुगत कोई भेद

एकान्त के गन्दले पोखर से दूर रहकर अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर मे अवगाहन करना ही उचित है।

स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनो का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य दर्शनो पर अनेकान्त की छाप

अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भारतीय दार्शनिको ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है, मगर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शनो पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप मे अंकित हुई है। असल मे यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धिसगत सिद्धान्त है कि इसकी सर्वथा उपेक्षा की ही नही जा सकती।

ईशावास्योपनिषद् मे आत्मा के सम्बन्ध मे कहा गया है—'तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तदन्तिके, तदन्तरस्यसर्वस्य, तद् सर्वस्यास्य वाह्यत।' अर्थात् आत्मा चलती भी है और नही भी चलती है, दूर भी है, समीप भी है, वह सव के अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

क्या ये उद्‌गार स्याद्वाद से प्रभावित नही हैं? भले ही शकराचार्य और रामानुजाचार्य एक वस्तु मे अनेक धर्मो का अस्तित्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते हैं, मगर जव वे अपने मन्तव्य का निरूपण करने चलते हैं तब स्याद्वाद के असर से वे भी नही वच पाते। उन्हे भी अनन्यगत्या स्याद्वाद का आधार लेना पडता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रूप की कल्पना मे अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने सत्य की परमार्थसत्य, व्यवहारसत्य और प्रतिभाससत्य के रूप मे जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे अनेकान्त की पुष्टि ही होती है। वे कहते हैं—'दृष्ट किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।' अर्थात् इस लोक मे दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण है। आशय यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु मे किसी अपेक्षा से दोष हैं तो किसी अपेक्षा से गुण भी हैं। यह अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद का रूप नही तो क्या है?

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया—'आप विद्वान् हैं या अविद्वान्?' स्वामी जी ने कहा—'दार्शनिक क्षेत्र मे विद्वान् और व्यापारिक क्षेत्र मे अविद्वान्।' यह अनेकान्तवाद नही तो क्या है?

बुद्ध का विभज्यवाद एक प्रकार का अनेकान्तवाद है। उनका मध्यम मार्ग भी अनेकान्त से प्रतिफलित होने वाला वाद ही है।

साख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणमयी मानकर अनेकान्त को ही अगीकार करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थों को सत् और असत् इन दो मे समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता वतलाते हुए जगत् की विविधता सिद्ध की है।

आइन्स्टीन का सापेक्षसिद्धान्त स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।

इन कतिपय उदाहरणो से पाठक समझ सकेगे कि अनेकान्तवाद एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है कि दार्शनिक जगत् मे उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन को उसका आश्रय लेना ही पडता है।

सामान्य रूप से अनेकान्त के सम्बन्ध मे इतना ही जान लेने के पश्चात् अब हमे अनेकान्त के प्रकाश मे प्रतिफलित होने वाले कतिपय मुख्य-वादो का विचार भी कर लेना चाहिए। वे वाद इस प्रकार हैं।

नित्यानित्यता

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है, या यो कहा जा सकता है कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायो के अभाव मे द्रव्य का और द्रव्य के अभाव मे पर्याय का कोई अस्तित्व सम्भव नही है। जहाँ जीवद्रव्य है वहाँ उसके कोई न कोई पर्याय भी अवश्य होते है। जो जीव है वह मनुष्य, पशु, पक्षी, स्थावर अथवा सिद्ध मे से कुछ अवश्य होगा और जो मनुष्य आदि किसी पर्याय के रूप मे दृष्टिगोचर होता है वह जीव अवश्य होता है।

द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य है, क्योकि जीव द्रव्य का कभी विनाश नही हो सकता, मगर पर्यायो का परिवर्त्तन सदैव होता रहता है। इस दृष्टि मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि इससे शाश्वतवाद और उच्छेद-वाद—दोनो का समन्वय हो जाता है। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत है किन्तु उसके पर्यायो का उच्छेद होता रहता है। यहाँ यह नही भूलना चाहिए कि द्रव्य और उसके पर्याय पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नही हैं। उनमे वस्तुगत कोई भेद

नही है, केवल विवक्षाभेद है। अनेकान्तदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नही है।[1]

जब कभी कोई पूर्व परिचित व्यक्ति हमारे समक्ष उपस्थित होता है तब हम कहते है 'यह वही है।' वर्षा होते ही भूमि शस्य-श्यामला हो जाती है, तब हम कहते हैं—हरियाली उत्पन्न हो गई। हमारे हाथ मे कपूर है, यह देखते-ही देखते उड जाता है, तब हम कहते हैं, वह नष्ट हो गया। 'यह वही है'—यह नित्यता का सिद्धान्त है। 'हरियाली उत्पन्न हो गई'—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है और 'वह नष्ट हो गया'—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे परिणामवाद, आरम्भवाद और समूहवाद आदि अनेक विचार है। उसके विनाश के सम्बन्ध मे भी रूपान्तरवाद विच्छेदवाद आदि अनेअ अभिमत हैं। साख्यदर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण मे सत् मानता है। सत् कर्मवाद के अभिमतानुसार जो असत् है उसकी उत्पत्ति नही होती और जो सत् है उसका विनाश नही होता, किन्तु केवल रूपान्तर होता है। उत्पत्ति का तात्पर्य है—सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है— सत् की अव्यक्ति। न्याय-वैशेषिकदर्शन आरम्भवादी है। वह कार्य को अपने कारण मे सत् नही मानता। असत् कार्यवाद के मतानुसार असत् की उत्पत्ति होती है और सत् का विनाश होता है। एतदर्थ ही नैयायिक ईश्वर को कूटस्थनित्य और दीपक को सर्वथा अनित्य मानते हैं। वौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवो का समूह है, तथा द्रव्य क्षणविनश्वर है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नही है। जो दर्शन एकान्त नित्यवाद को मानते हैं वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष है उस परिवर्तन की उपेक्षा नही कर सकते। और जो दर्शन एकान्त अनित्यवाद को मानते है वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं उस स्थिति की उपेक्षा नही कर सकते। एतदर्थ ही नैयायिको ने दृश्य वस्तुओ को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की विवक्षा की और बौद्धो ने सन्तति मानकर उनके प्रवाह की विवेचना की।

आधुनिक वैज्ञानिक रूपान्तरवाद के सिद्धान्त को एकमत से स्वीकार करते हैं। जैसे एक मोमबत्ती है, जलाने पर कुछ ही क्षणो मे उसका पूर्ण

---

१ सद् द्रव्य लक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्। —तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५

नाश हो जाता है। प्रयोगो के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि मोमबत्ती के नाश होने पर अन्य वस्तुओ की उत्पत्ति होती है।[1]

इसी प्रकार पानी को एक वर्तन मे रखा जाये, और उस वर्तन मे दो छिद्र कर तथा उनमे कार्क लगाकर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ उस पानी मे खडी कर दी जाये और प्रत्येक पत्ती पर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाय तथा प्लेटिनम की पत्तियो का सम्बन्ध तार से विजली की वैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय मे पानी गायव हो जायेगा। साथ ही उन प्लेटिनम की पत्तियो पर अवस्थित ट्यूवो पर ध्यान केन्द्रित किया जायेगा तो दोनो मे एक-एक तरह की गैस प्राप्त होगी, जो आक्सीजन और हाइड्रोजन के नाम से पहचानी जाती है।[2]

वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि पुद्‌गल शक्ति मे और शक्ति पुद्‌गल मे परिवर्तित हो सकती है।[3] सापेक्षवाद की दृष्टि से पुद्‌गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम मे समाविष्ट कर देना चाहिए। उसकी सज्ञा 'पुद्‌गल और शक्ति के स्थायित्व का नियम' इस प्रकार कर देनी चाहिए।[4]

स्याद्वाद की दृष्टि से सत् कभी विनष्ट नही होता और असत् की कभी उत्पत्ति नही होती।[5] ऐसी कोई स्थिति नही जिसके साथ उत्पाद और विनाश न रहा हो अर्थात् जिनकी पृष्ठभूमि मे स्थिति है उनका उत्पाद और विनाश अवश्य होता है।

सभी द्रव्य उभय-स्वभावी है। उनके स्वभाव की विवेचना एक ही प्रकार की नही हो सकती। असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का कभी नाश नही होता। इस द्रव्यनयात्मक सिद्धान्त से द्रव्यो की ही विवेचना हो सकती है, पर्यायो की नही। उनकी विवेचना—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनो को एक शब्द मे परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमे स्थायित्व और परिवर्तन की सापेक्ष रूप

---

1 A Text Book of Inorganic Chemistry by J R Parting, p 15.
2 A Text Book of Inorganic Chemistry by G S Neuth, p 237
3 General Chemistry by Finus Pauling, pp 4-5
4 General and Inorganic Chemistry by J Durrant, p 18
५ भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो। —पचास्तिकाय, १५

से विवेचना है। इस विश्व मे ऐसा द्रव्य नही जो सर्वथा ध्रुव हो, और ऐसा भी द्रव्य नही है जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। दीपक, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव जो स्थायी है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और दीपक मे कोई अन्तर नही है।[1]

केवल स्थिति ही होती तो सभी द्रव्यो का एक ही रूप रहता, उनमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता। केवल उत्पाद और व्यय ही होता तो केवल उनका क्रम होता किन्तु स्थायी आधार के अभाव मे उनका कुछ भी रूप नही होता। कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई विवेचना नही होती। स्याद्वाद की दृष्टि से परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है। परिवर्तनरहित किसी भी प्रकार का स्थायित्व नही है और स्थायित्व रहित किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही है। अर्थात् परिवर्तन स्थायी मे होता है और स्थायी वही हो सकता है जिसमे परिवर्तन हो। साराश यह है कि निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है उसे ही द्रव्य कहा गया है। अपने केन्द्र मे प्रत्येक द्रव्य ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारो ओर परिवर्तन की एक शृङ्खला है जिसे हम परमाणु की रचना से समझ सकते हैं। विज्ञान के अनुसार अणु की रचना तीन प्रकार के कणो से मानी गई है—(१) प्रोटोन (२) इलेक्ट्रोन (३) न्यूट्रोन। धनात्मक कण प्रोटोन है। परमाणु का वह मध्यबिन्दु होता है। ऋणात्मक कण इलेक्ट्रोन है। यह धनाणु के चारो ओर परिक्रमा करता है। उदासीन कण न्यूट्रोन है।

आत्मा का शरीर से भेदाभेद

आत्मा शरीर से भिन्न है अथवा अभिन्न है, इस विषय मे भी दर्शन-शास्त्रो के मन्तव्य विविध प्रकार के उपलब्ध होते है। चार्वाकदर्शन आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नही करता। वह शरीर से चेतना की उत्पत्ति मानता है और शरीर का विनाश होने पर चेतना का भी विनाश हो जाना

१　आदीपमाव्योमसमस्वभाव
　　स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।
　तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य—
　　दिति त्वदाज्ञाद्विषता प्रलापा॥　　—अन्ययोग व्यवच्छेदिका, श्लो० ५

स्वीकार करता है।[1] सूत्रकृताग सूत्र मे तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख मिलता है। वह चार्वाक मत से किंचित् भिन्न होता हुआ भी एक ही वस्तु को जीव और शरीर के रूप मे स्वीकार करता है।[2] अनेक दर्शन आत्मा का शरीर से एकान्त भिन्नत्व स्वीकार करते है। इस समस्या को सुलझाते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा कथचित् शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।[3] आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व न माना जाय और दोनो का एकत्व स्वीकार किया जाय तो शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानना होगा और उस स्थिति मे पुनर्जन्म एव मुक्ति की कल्पना निराधार हो जायगी। किन्तु युक्ति और आगम आदि प्रमाणो से पुनर्जन्म आदि की सिद्धि होती है, अत आत्मा को शरीर से पृथक् मानना ही समीचीन है। साथ ही, अनादि काल से आत्मा शरीर के साथ ही रहा हुआ है और कृत कर्मो का फलोपभोग शरीर के द्वारा ही होता है। शरीर पर प्रहार होता है तो दु ख की अनुभूति आत्मा को होती है। देवदत्त पर प्रहार किया जाय तो जिनदत्त को दु खानुभव नही होता, क्योकि देवदत्त के शरीर से जिनदत्त की आत्मा भिन्न है। इसी प्रकार यदि देवदत्त की आत्मा देवदत्त के शरीर से भी सर्वथा भिन्न हो तो उसे भी दुख का अनुभव नही होना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैसा देवदत्त के शरीर और जिनदत्त की आत्मा मे भेद है, वैसा भेद देवदत्त के शरीर और देवदत्त की आत्मा मे नही है। यही देह और आत्मा का अभेद है।

सत्ता और असत्ता

जब यह निश्चित हो जाता है कि वस्तुतत्त्व सापेक्ष है और स्याद्वाद-पद्धति से ही उसका ठीक तरह से प्रतिपादन हो सकता है, तो वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय मे भी हमे अनेकान्त को लागू करके देखना होगा। जैन दार्शनिको ने बडी ही खूबी के साथ इस विषय पर ऊहापोह किया है और स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के द्वारा अस्तित्व-नास्तित्व की समस्या का समाधान खोजा है।

---

१ भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ?

२ पत्तेय कसिणे आया, जे बाला जे अ पडिया।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया॥ —सूत्रकृताग, १।१।११

३ आया भन्ते ! काये, अन्ने काये ? गोयमा ! आया वि काये, अन्ने वि काये।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये चारो चतुष्टय कहलाते है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान् है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।[1]

उदाहरण के लिए एक स्वर्णघट को लीजिए। वह स्वर्ण का बना है, यह स्वद्रव्य की अपेक्षा अस्तित्व है। वह जिस क्षेत्र अर्थात् स्थान मे रक्खा है, उस क्षेत्र की अपेक्षा से है। जिस काल मे उसकी सत्ता है, उस काल की अपेक्षा से है। उसमे जो पीत वर्ण आदि अनेक पर्याय विद्यमान हैं, उनकी अपेक्षा से है। किन्तु वही घट मृत्तिकाद्रव्य की अपेक्षा नही है। अन्य क्षेत्र की अपेक्षा से भी नही है। कालान्तर की अपेक्षा से भी नही है। कृष्णवर्ण आदि पर्यायो से भी उसमे अस्तित्व नही है। इसी प्रकार स्वर्णघट सोने का है, मृत्तिका आदि का नही है। अमुक क्षेत्र मे है, अन्य क्षेत्र मे नही है जिस काल मे है उसके अतिरिक्त अन्य काल की अपेक्षा से नही है। वह अपने स्वपर्यायो से है, पर-पर्यायो से नही है। इस प्रकार स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा उसमे अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते हैं।

कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझ कर एक ही वस्तु मे दोनो का समन्वय असम्भव मानते हैं। मगर वे भूल जाते है कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाय तभी उनमे विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओ से विधान करने मे कोई विरोध नही होता। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह कहना कि यह मनुष्य है, मनुष्येतर नही है, भारतीय है, पाश्चात्य नही है, वर्तमान मे है, सदा से या सदा रहने वाला नही है, विद्वान् है, मूर्ख नही है, तो क्या हम उस व्यक्ति के विषय मे परस्परविरुद्ध विधान करते है? नही। यह विधान न केवल तर्कसगत है, अपितु व्यवहारसगत भी है। हम प्रतिदिन इसी प्रकार व्यवहार करते हैं। ऐसा व्यवहार किये विना किसी वस्तु का निश्चय हो भी नही सकता। 'यह पुस्तक है' ऐसा निश्चय तो तभी सभव है, जब हम यह जान लें कि यह पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है।

इन उदाहरणो से प्रत्येक पदार्थ सत् और असत् किस प्रकार है, यह समझ मे आ जाता है। मगर जैनाचार्यो ने इस विचार को सुस्पष्ट करने

---

१ सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ —आप्तमीमासा, श्लोक १६

के लिए सप्तभगी का विधान किया है, जिससे वस्तु मे प्रत्येक धर्म की सगति एकदम निर्विवाद हो जाती है।

सप्तभगी

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मो मे से प्रत्येक धर्म की ठीक-ठीक सगति बिठलाने के लिए विधि, निपेध आदि की विवक्षा से सात भग होते है। यही सप्तभगी है।[1] जिस पर अगले अध्याय मे विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

पाठक समझ सकेगे कि स्याद्वाद सिद्धान्त मे वस्तुस्वरूप की विवेचना सापेक्ष दृष्टि से की गई है। सातो भगो का आधार काल्पनिक नही वरन् वस्तु का विराट् और विविधरूप स्वरूप ही है। स्याद्वाद सिद्धान्त की चमत्कारिक शक्ति और व्यापक प्रभाव को हृदयगम करके डॉ० हर्मन जैकोबी ने कहा था—'स्याद्वाद से सब सत्यविचारो का द्वार खुल जाता है।'

अभी हाल ही मे अमेरिका के विश्रुत दार्शनिक प्रोफेसर आर्चि० जे० बह्न ने स्याद्वाद का अध्ययन करके जैनो को ये प्रेरणाप्रद शब्द कहे है—विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए जैनो को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद सिद्धान्त का अत्यधिक प्रचार करना उचित है। महात्मा गाधी को भी यह सिद्धान्त बडा प्रिय था और आचार्य विनोबा जैसे शान्तिप्रसारक सन्त इसके महत्त्व को मुक्त-कठ से स्वीकार करते हैं।

भ्रम निवारण

सप्तभगी सिद्धान्त के विषय मे कतिपय पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानो की जो गलत धारणा है, उसका उल्लेख यहाँ कर देना प्रासगिक न होगा।

प्राचीन जैन आगमो मे सप्तभगी बीज रूप मे उपलब्ध होती है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने कुछ ही भगो का उल्लेख किया है।[3] किन्तु इनके

---

१ सप्तभि प्रकारैर्वचन-विन्यास सप्तभङ्गीतिगीयते।
—स्याद्वाद मजरी, का० २३ टीका

२ जीवाण भते ! किं सासया, असासया ?
गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया। दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।
—भगवती, ७।२।७७३

३ सिय अत्थि णत्थि उहय—
—पचास्तिकाय, प्रवचनसार

पश्चाद्वर्त्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, विद्यानन्द, हेमचन्द्र, वादिदेव आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रतिपादन-क्रम को कुछ विद्वानो ने स्याद्वाद या सप्तभगी का विकासक्रम समझ लिया है किन्तु तथ्य यह है कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञमूलक है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्करो के ज्ञान मे जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उनके प्रधान शिष्य शब्दबद्ध करते हैं[1] और फिर उनके शिष्य-प्रशिष्य उसके एक-एक अग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थो की रचना करते हैं। इस प्रकार तत्त्वविवेचन का क्रम आगे वढता है। इस विवेचनक्रम को तत्त्व का विकासक्रम समझ लेना युक्तिसगत नही है।

इस युग मे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हुए हैं। उन्होने जो उपदेश किया वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थङ्करो ने किया। वही उपदेश कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यो द्वारा जैन साहित्य मे लिपिबद्ध किया गया है। किसी भी विषय का सक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसके लेखक की सक्षेपरुचि अथवा विस्ताररुचि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। खासतौर से दार्शनिक साहित्य मे ऐसा भी होता है कि कोई लेखक जव किसी विषय के ग्रन्थ की रचना करता है तो अपने समय तक के विरोधी विचारो का उसमे उल्लेख करता है और अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी करता है। जैन दार्शनिक साहित्य मे भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रतिपादनक्रम को अगर कोई मूल तत्त्व का विकासक्रम समझ वैठे तो यह उसकी भूल ही कही जाएगी।

अमरीकी विद्वान आर्चि० जे० वन्ह इसी भूल के शिकार हुए है। उन्होने स्याद्वाद के निरूपणक्रम को स्याद्वाद का विकासक्रम समझ लिया है। एक भूल अनेक भूलो की सृष्टि कर देती है। जव उन्होने स्याद्वाद के क्रम-विकास की भ्रान्त कल्पना की तो दूसरी भूल यह हो गयी कि वे सप्तभगी को बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध का अनुकरण अथवा विकास समझने लगे, यद्यपि उन दोनो मे वहुत अधिक अन्तर है।

---

१ अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गुथति गणहरा निउण। —भद्रवाहु।

सर्वप्रथम हमे इतिहास द्वारा निर्णीत इस तथ्य को ध्यान मे रखना चाहिए कि जैनधर्म, बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है।[1] महात्मा बुद्ध से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके थे। तेईसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ उनसे लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होने स्याद्वाद सिद्धान्त का निरुपण किया था। सजय वेलट्ठिपुत्त, जो बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं, उन्होने स्याद्वाद को ठीक तरह न समझ कर सशयवाद की प्ररूपणा की थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद सिद्धान्त का बुद्ध से पहले ही अस्तित्व था। ऐसी स्थिति मे यह समझना कि सप्तभगी सिद्धान्त बौद्धो के चतुष्कोटिप्रतिषेध का विकसित रूपान्तर है, सर्वथा निराधार है। चतुष्कोटिप्रतिषेध का सिद्धान्त तो बुद्ध के भी बाद मे प्रचलित हुआ है। इसके अतिरिक्त सप्तभगी और चतुष्कोटि-प्रतिषेध के आशय मे भी बहुत अन्तर है। बौद्धो का चतुष्कोटि-प्रतिषेध यो है—

१—वस्तु है, ऐसा नही है।
२—वस्तु नही है, ऐसा भी नही हे।
३—वस्तु है और नही है, ऐसा भी नही है।
४—वस्तु है और नही है, ऐसा नही है, यह भी नही है।[2]

सप्तभगी के स्वरूप का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सप्तभगी मे और प्रस्तुत चतुष्कोटिप्रतिषेध मे वस्तुत कोई समानता नही है। सप्त-भगी मे वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व आदि का प्रतिपादन है, जब कि इस प्रतिषेध मे अस्तित्व को कोई स्थान नही है, केवल नास्तित्व का ही निरूपण पाया जाता है। सप्तभगी मे जो अस्तित्व और नास्तित्व का विधान है, वह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के आधार पर है और क्षण-क्षण मे होने वाला हमारा अनुभव उसका समर्थन करता है। सप्तभगी के अनुसार मनुष्य मनुष्य है, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर नही है। किन्तु चतुष्कोटिप्रतिषेध का कहना है कि मनुष्य-मनुष्य नही है, मनुष्येतर भी नही है, उभयरूप भी नही है, अनुभय रूप भी नही है। वह कुछ भी नही है और वह कुछ भी नही है, ऐसा भी नही है। इस प्रकार यहाँ न कोई अपेक्षाभेद है और न अस्तित्व का कोई स्थान ही है।

---

१ देखिये, डा० हर्मन जैकोबी द्वारा लिखित जैन सूत्राज की भूमिका।

२ नासन्नसन्न सदसन्न नाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, तत्त्व माध्यमिका विदु ॥

सप्तभगी मे पदार्थों के अस्तित्व से इन्कार नही किया गया है, सिर्फ उसके स्वरूप की नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है कि वह पर-रूप मे नही है। सप्तभगीवाद हमे सतरगी पुष्पो से सुशोभित विचार-वाटिका मे विहार कराता है, तो बौद्धो का निषेधवाद पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार कर के शून्य के घोर एकान्त अन्धकार मे ले जाता है। अनु-भव उसको कोई आधार प्रदान नही करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि सप्तभगी का बौद्धो के चतुष्कोटिनिषेध के साथ लेशमात्र भी सरोकार नही है।

स्याद्वाद सशयवाद नहीं

जैनदर्शन की यह मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है।[1] अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना ही सम्भव नही है किन्तु एक साथ अनन्त धर्मो का निर्वचन नही हो सकता। दूसरे धर्मों का विधान और निषेध न करते हुए किसी एक धर्म का विधान करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमे यह प्रदर्शित किया गया है कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चित है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन मे सशय को कोई स्थान नही है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई मे न उतरने वाले कुछ लोग, यह भ्रमपूर्ण धारणा बना लेते है कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्ररूपणा करता है।

वस्तुत 'स्यात्' शब्द का अर्थ न 'शायद' है, न 'सम्भवत' है और न 'कदाचित्' जैसा ही है। वह तो एक सुनिश्चित सापेक्ष दृष्टिकोण का द्योतक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'अनेकान्तवाद सशयवाद नही है।' परन्तु वे उसे 'सम्भवत' के अर्थ मे प्रयुक्त करना चाहते हैं, मगर यह भी सगत नही है।

शकराचार्य ने अपने भाष्य मे स्याद्वाद को सशयवाद कहकर जो भ्रान्त धारणा उत्पन्न की थी, उसकी परम्परा अब भी बहुत अशो मे चल रही है। किन्तु प्रोफेसर फणिभूषण अधिकारी ने आचार्य शकर की धारणा के सम्बन्ध मे लिखा है—"जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत

---

१ अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व,
अतोऽन्यथा सत्वमसूपपादम्। —अन्ययोग व्यवच्छेदिका, द्वा० त्रिशिका

समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नही। यहाँ तक कि शकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नही है। उन्होने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय ही किया है। यह वात अल्पज्ञ पुरुपो के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पडता है कि उन्होने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थो के अध्ययन की परवाह नही की।"

स्पष्ट है कि स्याद्वाद सशयवाद नही है। सभी दर्शन किसी न किसी रूप मे इसे स्वीकार करते हुए भी इसका नाम लेने मे हिचकते है।

पाश्चात्य विद्वान् थामस का यह कथन ठीक ही हे कि—"स्याद्वाद सिद्धान्त वडा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् मे वहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुत स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया है। स्यात् शव्द को एक प्रहरी के रूप मे स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चारित धर्म को इधर-उधर नही जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मो का सरक्षक है, सशयादि शत्रुओ का सरोधक व भिन्न दार्शनिको का सपोषक है।

जिन दार्शनिको की भाषा स्याद्वादानुगत है, उन्हे कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र मे नही फँसा सकता।

एक वार भगवान् महावीर के समक्ष प्रश्न उपस्थित हुआ, साधु को किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना चाहिए? उत्तर मे भगवान् ने कहा—साधु को विभज्यवाद[1] का प्रयोग करना चाहिए। टीकाकार ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद किया है। क्या सशयात्मक वाणी का प्रयोग करके कोई दर्शन जीवित रह सकता है?

विरोध का निराकरण

शकराचार्य ने अपने शाकरभाष्य मे स्याद्वाद के निरसन का प्रयत्न करते हुए यह भी कहा है—शीत और उष्ण की तरह एक धर्मी मे परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्व आदि धर्मो का एक साथ समावेश नही हो

---

१ भिक्खू विभज्जवाय च वियागरेज्जा। —सूत्रकृताग, १।१४।२२

सकता ।[1] किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समक्ष यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—'आप कौन हैं ?' तो वे उत्तर देते—'मैं सन्यासी हूँ।' पुन प्रश्न किया जाता—'आप गृहस्थ हैं या नही ?' तो वे कहते—'मैं गृहस्थ नही हूँ।' अव तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप 'हूँ' भी और 'नही हूँ' भी कहते है, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है ? तव आचार्य को अनन्यगत्या यही कहना पडता—"सन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नही हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरो मे विरोध नही है।"

बस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएँ तो परस्पर विरोधी होते है, किन्तु स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करने मे किसी प्रकार का विरोध नही है, जैसे—मैं सन्यासी हूँ और सन्यासी नही हूँ, यह कहना विरुद्ध है, किन्तु मै सन्यासी हूँ, गृहस्थ नही हूँ, ऐसा कहने मे कोई विरोध नही है।

नयवाद

नयवाद को स्याद्वाद का स्तम्भ कहना चाहिए। स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणो का अभिव्यजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभापा मे नय के नाम से अभिहित होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन अनन्त धर्मो मे से किसी एक धर्म का वोधक अभिप्राय या ज्ञान नय है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मो का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का।[2] किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मो का न निपेध करता है और न विधान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है।[3] विधान करने पर प्रमाण की कोटि मे परिगणित हो जाता है। नय, प्रमाण और अप्रमाण दोनो से भिन्न प्रमाण का एक अश है, जैसे समुद्र का

---

१ न हि एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेश सम्भवति शीतोष्णवत्। —शाकरभाष्य

२ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण तदशधी।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृति ॥

३ स्वाभिप्रेतादशादितराशापलापी पुनर्नयाभास। —प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादिदेव

अश न समुद्र है, न असमुद्र है, वरन् समुद्राश है।[1] नय का ग्राह्य भी वस्त्वश ही होता है। विश्व के सभी एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकागी होता है। वे भूल जाते है कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाला विचार भी सगत हो सकता है। इसी कारण वे एकागी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नही कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वचित रह जाते हैं। नयवाद अनेक दृष्टिकोणो से वस्तु को निरखने-परखने की कला सिखलाता है।

बौद्धदर्शन वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है। साख्यदर्शन नित्यत्व को अगीकार करके पर्याय की दृष्टि से विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करता है। इस प्रकार ये दोनो दर्शन अपने-अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रहशील होकर एक-दूसरे को मिथ्या कहते है। वे नही जानते कि दूसरे को मिथ्यावादी कहने के कारण वे स्वय मिथ्यावादी वन जाते हैं। अगर उन्होने दूसरे को सच्चा माना होता तो वे स्वय सच्चे हो जाते, क्योकि वस्तु मे द्रव्यत नित्यत्व और पर्यायत अनित्यत्व धर्म रहता है।

इस प्रकार नयवाद द्वैत-अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल-स्वभाव-नियति, यदृच्छा-पुरुषार्थ आदि वादो का सुन्दर और समीचीन समन्वय करता है।

नयवाद दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशालता और हृदय को उदारता प्रदान करता है। वह वस्तु के विविध रूपो का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा—"हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार विविध रसो द्वारा सुसस्कृत लोह स्वर्ण आदि धातु पौष्टिकता और स्वास्थ्य आदि अभीष्ट फल प्रदान करती हैं, उसी प्रकार 'स्यात्' पद से अकित आपके नय मनोवाछित फल के प्रदाता हैं, अतएव हितैषी आर्य पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

कहा जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की प्रक्रिया निरन्तर चालू है। स्वर्णपिण्ड से एक कलाकार घट बनाता है, फिर

---

१ नासमुद्र समुद्रो वा समुद्राशो यथैव हि।
नाय वस्तु न चावस्तु, वस्त्वशो कथ्यते बुधै। —श्लोकवार्त्तिक, विद्यानन्दि

सकता ।[1] किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समक्ष यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता—'आप कौन है ?' तो वे उत्तर देते—'मैं सन्यासी हूँ।' पुन प्रश्न किया जाता—'आप गृहस्थ है या नही ?' तो वे कहते—'मैं गृहस्थ नही हूँ।' अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता—आप 'हूँ' भी और 'नही हूँ' भी कहते हैं, इस परस्पर विरोधी कथन का क्या आधार है ? तब आचार्य को अनन्यगत्या यही कहना पडता—"सन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नही हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरो मे विरोध नही है।"

बस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्त्व और असत्त्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किये जाएँ तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वरूप से सत्त्व और पररूप से असत्त्व स्वीकार करने मे किसी प्रकार का विरोध नही है, जैसे—मैं सन्यासी हूँ और सन्यासी नही हूँ, यह कहना विरुद्ध है, किन्तु मै सन्यासी हूँ, गृहस्थ नही हूँ, ऐसा कहने मे कोई विरोध नही है।

नयवाद

नयवाद को स्याद्वाद का स्तम्भ कहना चाहिए। स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणो का अभिव्यजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा मे नय के नाम से अभिहित होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन अनन्त धर्मो मे से किसी एक धर्म का बोधक अभिप्राय या ज्ञान नय है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मो का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का।[2] किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मो का न निषेध करता है और न विधान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है।[3] विधान करने पर प्रमाण की कोटि मे परिगणित हो जाता है। नय, प्रमाण और अप्रमाण दोनो से भिन्न प्रमाण का एक अश है, जैसे समुद्र का

---

१ न हि एकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेश सम्भवति शीतोष्णवत्। —शाकरभाष्य

२ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण तदशधी ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृति ॥

३ स्वाभिप्रेतादशादितराशापलापी पुनर्नयाभास । —प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादिदेव

अश न समुद्र है, न असमुद्र है, वरन् समुद्राश है।[1] नय का ग्राह्य भी वस्त्वश ही होता है। विश्व के सभी एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकागी होता है। वे भूल जाते है कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाला विचार भी सगत हो सकता है। इसी कारण वे एकागी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते है और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नही कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वचित रह जाते हैं। नयवाद अनेक दृष्टिकोणो से वस्तु को निरखने-परखने की कला सिखलाता है।

बौद्धदर्शन वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है। साख्यदर्शन नित्यत्व को अगीकार करके पर्याय की दृष्टि से विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करता है। इस प्रकार ये दोनो दर्शन अपने-अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रह-शील होकर एक-दूसरे को मिथ्या कहते है। वे नही जानते कि दूसरे को मिथ्यावादी कहने के कारण वे स्वय मिथ्यावादी बन जाते है। अगर उन्होने दूसरे को सच्चा माना होता तो वे स्वय सच्चे हो जाते, क्योकि वस्तु मे द्रव्यत नित्यत्व और पर्यायत अनित्यत्व धर्म रहता है।

इस प्रकार नयवाद द्वैत-अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल-स्वभाव-नियति, यदृच्छा-पुरुषार्थ आदि वादो का सुन्दर और समीचीन समन्वय करता है।

नयवाद दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशालता और हृदय को उदारता प्रदान करता है। वह वस्तु के विविध रूपो का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा—"हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार विविध रसो द्वारा सुसस्कृत लोह स्वर्ण आदि धातु पौष्टिकता और स्वास्थ्य आदि अभीष्ट फल प्रदान करती है, उसी प्रकार 'स्यात्' पद से अकित आपके नय मनोवाछित फल के प्रदाता है, अतएव हितैषी आर्य पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

कहा जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की प्रक्रिया निरन्तर चालू है। स्वर्णपिण्ड से एक कलाकार घट बनाता है, फिर

---

१ नासमुद्र समुद्रो वा समुद्राशो यथैव हि।
नाय वस्तु न चावस्तु, वस्त्वशो कथ्यते बुधै। —श्लोकवार्त्तिक, विद्यानन्दि

उस स्वर्णघट को तोडकर मुकुट बनाता है। यहाँ प्रथम पिण्ड के विनाश से घट की और घट के विनाश से मुकुट की उत्पत्ति होती है, मगर स्वर्णद्रव्य सब अवस्थाओ मे विद्यमान रहता है।[१] यह द्रव्य से नित्यता और पर्याय से अनित्यता है। जिसने दूध ही ग्रहण करने का नियम अगीकार किया है वह दधि नही खाता। दधि खाने का नियम लेने वाला दूध का सेवन नही करता। किन्तु गोरस का त्याग कर देने वाला दोनो का सेवन नही करता।[२] इससे स्पष्ट है कि दुग्ध का विनाश, दधि की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता होने से वस्तु का पर्याय से उत्पाद-विनाश होने पर भी द्रव्य से ध्रौव्य रहता है। इस उदाहरण से वस्तु की सामान्य-विशेषात्मकता भी प्रमाणित हो जाती है।

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु के दो मुख्य अश हैं—द्रव्य और पर्याय। अतएव द्रव्य को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक नय और पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है। यद्यपि वस्तुगत अनन्त धर्मों को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त होते हैं, और इस कारण नयो की सख्या का अवधारण नही किया जा सकता,[३] तथापि उन सबका समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयो मे ही हो जाता है। जिस दृष्टिकोण मे द्रव्य की प्रधानता हो वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जिसमे पर्याय की मुख्यता हो वह पर्यायार्थिक नय है।[४] जैन साहित्य मे नयविषयक अनेक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। अधिक जानकारी के लिए पाठको को उन ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिए। विस्तार भय से यहाँ अधिक नही लिखा गया है।

---

१ घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम्॥ —आचार्य समन्तभद्र

२ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोत्ति दधिव्रत।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम्॥ —आचार्य समन्तभद्र

३ जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुति नयवाया। —सन्मतितर्क, आचार्य सिद्धसेन

४ व्यासतोऽनेकविकल्प। समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकश्च।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक अ० ७।४।५

□ सप्तभंगी : स्वरूप और दर्शन

- ○ सप्तभंगी
- ○ सप्तभंगी और अनेकान्त
- ○ स्याद्वाद के भंगों का आगमकालीन रूप
- ○ भंग कथन-पद्धति
- ○ प्रथम भंग
- ○ द्वितीय भंग
- ○ तृतीय भंग
- ○ चतुर्थ भंग
- ○ पाँचवाँ भंग
- ○ छठा भंग
- ○ सातवाँ भंग
- ○ चतुष्टय की परिभाषा
- ○ स्यात् शब्द का प्रयोग
- ○ अन्य दर्शनों मे
- ○ प्रमाण-सप्तभंगी
- ○ नय-सप्तभंगी
- ○ काल आदि की दृष्टि से
- ○ व्याप्य-व्यापक भाव
- ○ अनन्त भंगी नहीं
- ○ सप्तभंगी का इतिहास

सप्तभंगी : स्वरूप और दर्शन

अनेकान्तवाद जैनदर्शन की चिन्तन-धारा का मूल स्रोत है, जैन-दर्शन का हृदय है, जैन-वाङ्मय का एक भी ऐसा वाक्य नही जिसमे अनेकान्तवाद का प्राण-तत्त्व न रहा हो। यदि यह कह दिया जाय तो तनिक भी अतिशयोक्ति नही होगी कि जहाँ पर जैनधर्म है वहाँ पर अनेकान्तवाद है और जहाँ पर अनेकान्तवाद है वहाँ पर जैनधर्म है। जैनधर्म और अनेकान्तवाद एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति प्रकरण ग्रन्थ मे अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का, अखिल ब्रह्माण्ड का गुरु कहा है। अनेकान्त के बिना ससार का कोई भी व्यवहार समीचीन रूप मे सिद्ध नही हो सकता।[1]

साख्यदर्शन का पूर्ण विकास प्रकृति और पुरुषवाद मे हुआ है। वेदात दर्शन का उत्कृष्ट विकास चिद् अद्वैत मे हुआ है। बौद्धदर्शन का महान् विकास विज्ञानवाद मे हुआ है। वैसे ही जैनदर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद एव स्याद्वाद मे हुआ है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद को समझने के पूर्व प्रमाण और नय को समझना चाहिए। प्रमाण और नय तभी अच्छी तरह से समझ मे आ सकते हैं जब सप्तभगी को ठीक तरह से समझा जाय। प्रमाण और नय की विवक्षा वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए है और सप्तभगी की व्यवस्था तत्प्रतिपादक वचन पद्धति के परिज्ञान के लिए है। प्रमाण और नय के सम्बन्ध मे अन्यत्र विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है, अत यहाँ सप्तभगी के सम्बन्ध मे विवेचन करेंगे।

सप्तभगी

प्रश्न है—सप्तभगी क्या है ? उसका क्या प्रयोजन है ? उसका क्या उपयोग है ?

---

१ जेण विणा लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा ण णिवडइ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो, णमो अणेगत-वायस्स॥
—सन्मति प्रकरण काण्ड ३, गा० ६९

इन सभी प्रश्नो के उत्तर जैनाचार्यों ने दिये हैं। ससार की प्रत्येक वस्तु के किसी भी एक धर्म के स्वरूप-कथन मे सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है। इसी को सप्तभगी कहते है।[1]

वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए नय और प्रमाण की नितान्त आवश्यकता है। नय और प्रमाण से ही यथार्थ ज्ञान होता है।[2] अधिगम भी स्वार्थ और परार्थ रूप से दो प्रकार का है। ज्ञानात्मक स्वार्थ है और शब्दात्मक परार्थ है। दूसरो के परिज्ञान के लिए शब्दो का प्रयोग किया जाता है अत भग का प्रयोग परार्थ है। परार्थ अधिगम भी प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्य के रूप मे दो प्रकार का है। इसी आधार से प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगी ये दो भेद किये गये हैं।[3] प्रमाण-वाक्य सकलादेश है क्योकि उससे समग्र धर्मात्मक वस्तु का प्रधान रूप से वोध होता है। नय-वाक्य विकलादेश है क्योकि उससे वस्तु के एक धर्म का ही वोध होता है। जैनदृष्टि से वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।[4]

मल्लिषेण ने स्याद्वादमजरी मे वस्तु की परिभाषा करते हुए लिखा—जिसमे गुण और पर्याय रहते हो, वह वस्तु है। तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य ये वस्तु के पर्यायवाची है।[5]

आचार्य अकलक ने सप्तभगी की परिभाषा इस प्रकार की है—'प्रश्न समुत्पन्न होने पर एक वस्तु मे अविरोध भाव से जो एक धर्म विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है उसे सप्तभगी कहा जाता है।[6]

---

१ (क) सप्तभि प्रकारैर्वचन-विन्यास सप्तभङ्गीतिगीयते

—स्याद्वाद मजरी का०, २३ की टीका

(ख) सप्ताना-भङ्गाना-वाक्याना, समाहार समूह, सप्तभङ्गीति।

—सप्तभगीतरगिणी पृ० १

२ तत्त्वार्थसूत्र १।६

३ अधिगमो द्विविधि स्वार्थ परार्थश्चेति। स्वार्थाधिगमो ज्ञानात्मको परार्थाधिगम शब्दरूप। स च द्विविध प्रमाणात्मको नयात्मकश्चेति इयमेव प्रमाणसप्तभगी च कथ्यते।

—सप्तभगीतरगिणी पृ० १

४ अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्, —अन्ययोग व्यवच्छेदिका कारिका २२

५ वसन्ति गुण-पर्याया अस्मिन्निति वस्तु-धर्माधर्माऽकाश-पुद्गलकालजीवलक्षण द्रव्यषट्कम्।

—स्याद्वाद मजरी कारिका २३ वृत्ति

६ प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि-प्रतिषेध विकल्पना सप्तभगी।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।६।५१

वस्तु के एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से हो सकते है, इसलिए भग भी सात ही है। जिज्ञासा सात ही प्रकार की होती है इसलिए प्रश्न भी सात ही प्रकार के होते है। शकाएँ भी सात ही प्रकार की होती है, इसलिए जिज्ञासाएँ भी सात ही प्रकार की होती है। किसी भी एक ही धर्म के विषय मे सात ही भग होने से इसे सप्तभगी कहते हैं। गणित के नियम के अनुसार भी तीन मूल वचनो के सयोगी, असयोगी और अपुनरुक्त ये सात भग ही हो सकते हैं, न अधिक होते है न कम। भग का अर्थ विकल्प, प्रकार और भेद है।

सप्तभगी और अनेकान्त

वस्तु अनेकान्तात्मक है और उसको प्रतिपादित करने वाली निर्दोष भाषा-पद्धति स्याद्वाद है। उसी मे सप्तभगी का रहस्य रहा हुआ है। अनेकान्तदृष्टि से हरएक वस्तु मे सामान्यरूप से, विशेषरूप से, भिन्नता की अपेक्षा से, अभिन्नता की अपेक्षा से, नित्यत्व की दृष्टि से, अनित्यत्व की दृष्टि से, सत्ता रूप से, असत्ता रूप से अनन्त धर्म है। प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु मे रहता है। दो प्रतिपक्षी धर्मो मे परस्पर विरोध नही होता, क्योकि वे अपेक्षा भेद से सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान ही अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है और स्याद्वाद या सप्तभगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा को सूचन करने वाली एक वचन पद्धति है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है, उसे समझाने का एक उपाय है। क्षेत्र की दृष्टि से अनेकान्त व्यापक है, विषय प्रतिपादन की दृष्टि से स्याद्वाद व्याप्य है। दोनो मे व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध रहा हुआ है।

स्याद्वाद के भगो का आगमकालीन रूप

आगम साहित्य मे जिस प्रकार स्याद्वाद का रूप बताया गया है उसी का हम यहाँ निरूपण करेंगे, जिससे यह ज्ञात हो सके कि सप्तभगी का रूप नूतन नही है किन्तु आगम साहित्य मे उस पर चर्चा की गई है। बाद के आचार्यो ने उन्ही भगो का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया है।

गौतम ने प्रश्न किया—भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है?

उत्तर मे भगवान् ने कहा—(१) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है।

(२) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा नही है।

(३) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् अवक्तव्य है।

इन तीनो भगो को सुनकर गौतम ने भगवान् से पुन प्रश्न किया कि आप एक ही पृथ्वी को इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते है ?

उत्तर मे भगवान् ने कहा—

(१) आत्मा के आदेश से आत्मा है ।

(२) पर के आदेश से आत्मा नही है ।

(३) उभय के आदेश से अवक्तव्य है ।[1]

गौतम ने रत्नप्रभा की भाँति अन्य पृथ्वियो, देवलोक और सिद्धशिला के सम्बन्ध मे पूछा है, और उत्तर भी उसी प्रकार प्राप्त हुआ । उसके बाद परमाणु के सम्बन्ध मे भी पूछा, पूर्ववत् ही उत्तर मिला । किन्तु जब उन्होने द्विप्रदेशिक स्कध के विषय मे पूछा, तब महावीर ने उत्तर इस प्रकार दिया । इसमे भगो का आधिक्य है । वह इस प्रकार है—

(१) द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा है ।

(२) द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् आत्मा नही है ।

(३) द्विप्रदेशी स्कन्ध स्यात् अवक्तव्य है ।

(४) द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और आत्मा नही है ?

(५) द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है ।

(६) द्विप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा नही है और अवक्तव्य है ।

इन भगो की योजना के अपेक्षा कारण के सम्बन्ध मे गौतम के प्रश्न के उत्तर मे महावीर ने कहा—

(१) द्विप्रदेशी स्कध आत्मा के आदेश से आत्मा है ।

(२) पर के आदेश से आत्मा नही है ।

(३) उभय के आदेश से अवक्तव्य है ।

(४) एकदेश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और दूसरा अश असद्भावपर्यायो से आदिष्ट है अत द्विप्रदेशी स्कध आत्मा है और आत्मा नही है ।[2]

(५) एकदेश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और एकदेश उभय पर्यायो से आदिष्ट है, अतएव द्विप्रदेशी स्कध आत्मा है और अवक्तव्य है ।

---

१ भगवती शतक १२, ३०१०

२ एक ही स्कन्ध के भिन्न-भिन्न अशो मे विवक्षा भेद का आश्रय लेने से चौथे से आगे सभी भग होते हैं । इन्ही विकलादेशी भगो को बताने की प्रक्रिया प्रस्तुत वाक्य से प्रारम्भ होती है ।

(६) एक देश असद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट है। अत द्विप्रदेशी स्कध आत्मा नही है और अवक्तव्य है।

उसके पश्चात् गौतम ने त्रिप्रदेशिक स्कध के विषय मे वैसा ही प्रश्न पूछा, उसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया—

(१) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है।

(२) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा नही है।

(२) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् अवक्तव्य है।

(४) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और आत्मा नही है।

(५) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और दो आत्मा नही हैं।

(६) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् (दो) आत्माएँ हैं और आत्मा नही है।

(७) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और अवक्तव्य है।

(८) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है और (दो) अवक्तव्य है।

(९) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् (दो) आत्माएँ है और अवक्तव्य है।

(१०) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा नही है और अवक्तव्य है।

(११) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा नही है और (दो) अवक्तव्य है।

(१२) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् (दो) आत्माएँ नही है और अवक्तव्य है।

(१३) त्रिप्रदेशी स्कध स्यात् आत्मा है, आत्मा नही है और अवक्तव्य है।

गौतम ने जब पूछा कि भगवन् आप ये भग किस अपेक्षा से बताते हैं? तब भगवान् ने उत्तर दिया—

(१) त्रिप्रदेशी स्कध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) त्रिप्रदेशी स्कध पर के आदेश मे आत्मा नही है।

(३) त्रिप्रदेशी स्कध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४) एकदेश सद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और एकदेश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है। इसलिए त्रिप्रदेशी स्कध आत्मा है और आत्मा नही है।

(५) एकदेश सद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और दो देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है अत त्रिप्रदेशी स्कध आत्मा है दो आत्माएँ नही हैं।

(६) दो देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और एक देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है, और आत्मा नही है ।

(७) एकदेश सद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और दूसरा देश तदुभय पर्यायो से आदिष्ट है अत त्रिप्रदेशी स्कध आत्मा है और अवक्तव्य है ।

(८) एक देश सद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और दो देश तदुभय पर्यायो से आदिष्ट है, अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (दो) अवक्तव्य है ।

(९) दो देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभय पर्यायो से आदिष्ट है इसलिए त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है और अवक्तव्य है ।

(१०) एक देश आदिष्ट है, असद्भावपर्यायो से और दूसरा देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायो से । अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा नही है और अवक्तव्य है ।

(११) एक देश आदिष्ट हैं, असद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट हैं तदुभय पर्यायो से । अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा नही है और (दो) अवक्तव्य है ।

(१२) दो देश असद्भावपर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभय पर्यायो से आदिष्ट है अत त्रिप्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्मायें नही है और अवक्तव्य है ।

(१३) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव-पर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभय पर्यायो से आदिष्ट है अतएव त्रिप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नही है और अवक्तव्य है ।

इसके पश्चात् गौतम ने चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के सम्बन्ध मे वही प्रश्न किया । उत्तर मे भगवान ने १९ भग किये । गौतम ने पुन अपेक्षा कारण के विषय मे पूछा, तब निम्न उत्तर प्रदान किया—

(१) चतुष्प्रदेशी स्कध आत्मा के आदेश से आत्मा है ।
(२) चतुष्प्रदेशी स्कध पर के आदेश से आत्मा नही है ।
(३) चतुष्प्रदेशी स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है ।
(४) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट

है असद्भावपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नही है।

(५) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) आत्माएँ नही है।

(६) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ है और आत्मा नही है।

(७) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है और (दो) आत्माएँ नही है।

(८) एक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और अवक्तव्य है।

(९) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है और (अनेक) अवक्तव्य है।

(१०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ है और अवक्तव्य है।

(११) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायो से, अत चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएं है और (दो) अवक्तव्य है।

(१२) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी आत्मा नही है और अवक्तव्य है।

(१३) एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और अनेक देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा नही है और (अनेक) अवक्तव्य है।

(१४) अनेक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्माएँ नही है और अवक्तव्य है।

(१५) दो देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अतएव चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ नही है और (दो) अवक्तव्य है।

(१६) एक देश सदभावपर्यायो से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभयर्पायो से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, नही है और अवक्तव्य है।

(१७) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव पर्यायो आदिष्ट है, और दो देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, नही है और (दो) अवक्तव्य है।

(१८) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, दो देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (दो) नही है और अवक्तव्य है।

(१९) दो देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव-पर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट है, इसलिए चतुष्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएं है, नही है और अवक्तव्य है।

इसके पश्चात् पच प्रदेशिक स्कन्ध के सम्वन्ध मे वे ही प्रश्न हैं, और भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ के साथ भगवान् २२ भगो मे उत्तर प्रदान करते हैं—

(१) पचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) पच प्रदेशी स्कन्ध पर के आदेश से आत्मा नही है।

(३) पचप्रदेशी स्कन्ध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४), (५), (६) ये तीन भग चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान हैं।

(७) दो या तीन देश आदिष्ट है, सद्भावपर्यायो से और दो या तीन देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से अतएव पचप्रदेशी स्कन्ध (दो या तीन) आत्माएँ हैं और (दो या तीन) आत्माएँ नही हैं। [सद्भाव-पर्यायो मे यदि दो देश लेने हो तो असद्भावपर्यायो मे तीन देश लेने चाहिए और सद्भावपर्यायो मे यदि तीन देश लेने हो तो असद्भावपर्यायो मे दो देश लेने चाहिए।]

(८), (९), (१०) ये तीन भग चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान हैं।

(११) दो या तीन देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायो से और दो या तीन देश आदिष्ट हैं तदुभयपर्यायो से, अतएव पचप्रदेशी स्कन्ध (दो या तीन) आत्मायें है और (दो या तीन) अवक्तव्य है।

(१२), (१३), (१४) ये तीन भग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान समझने चाहिए।

(१५) दो या तीन देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, और दो या तीन देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से, अतएव पचप्रदेशी स्कन्ध (दो या तीन) आत्मायें नही है और (दो या तीन) अवक्तव्य है।

(१६) यह भग भी चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान है।

(१७) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, एक देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और अनेक देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट हैं, अत पच प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है, आत्मा नही है और (अनेक) अवक्तव्य है।

(१८) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है अनेक देश असद्भाव पर्यायो से आदिष्ट है और एक देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट हैं, अत पच-प्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (अनेक) आत्माएँ नही हैं और अवक्तव्य है।

(१९) एक देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट है, दो देश असद्भावपर्यायो से आदिष्ट हैं और दो देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट है, अत पचप्रदेशी स्कन्ध आत्मा है (दो) आत्मायें नही है और (दो) अवक्तव्य है।

(२०) अनेक देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से, एक देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से। अत पचप्रदेशी स्कन्ध (अनेक) आत्मायें हैं, आत्मा नही है और अवक्तव्य है।

(२१) दो देश आदिष्ट हैं सद्भावपर्यायो से, एक देश आदिष्ट है असद्भावपर्यायो से और दो देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत दो आत्माएँ हैं, आत्मा नही है और (दो) अवक्तव्य है।

(२२) दो देश आदिष्ट है सद्भावपर्यायो से, दो देश आदिष्ट हैं असद्भावपर्यायो से और एक देश आदिष्ट है तदुभयपर्यायो से, अत पच प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्माएँ है, (दो) आत्माये नही है और अवक्तव्य है।

इसी प्रकार षट्प्रदेशी स्कन्ध के २३ भग किये गये है, बाईस भग तो पहले के समान ही है और २३ वाँ भग निम्न प्रकार है—

दो देश सद्भावपर्यायो से आदिष्ट हैं, दो देश असद्भावपर्यायो से आदिष्ट हैं और दो देश तदुभयपर्यायो से आदिष्ट हैं, इसलिए षट्प्रदेशी स्कन्ध (दो) आत्मायें हैं (दो) आत्मायें नही हैं और (दो) अवक्तव्य है।[1]

---

१ भगवती १२।१०।४६९

उपर्युक्त भगो का अवलोकन करने पर हम इस निश्चय पर पहुँचते है कि स्याद्वाद से फलित होने वाली सप्तभगी वाद के आचार्यो की देन नही है । प० दलसुख मालवणिया ने लिखा है[1]—

(१) विधिरूप और निषेधरूप इन्ही दोनो विरोधी धर्मो को स्वीकार करने मे ही स्याद्वाद के भगो का उत्थान है ।

(२) दो विरोधी धर्मो के आधार पर विवक्षाभेद से शेप भगो की रचना होती है ।

(३) मौलिक दो भगो के लिए और शेष सभी भगो के लिए अपेक्षा कारण अवश्य चाहिए । प्रत्येक भग के लिए स्वतन्त्र दृष्टि या अपेक्षा का होना आवश्यक है । प्रत्येक भङ्ग को स्वीकार क्यो किया जाता है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण जिससे हो वह अपेक्षा है, आदेश है, या दृष्टि है, या नय है ।

(४) इन्ही अपेक्षाओ को सूचन करने के लिए, प्रत्येक भग-वाक्य मे 'स्यात्' ऐसा पद रखा जाता है । इसी से यह वाद 'स्याद्वाद' कहलाता है, इस और अन्य सूत्र के आधार से इतना निश्चित है कि जिस वाक्य मे साक्षात् अपेक्षा का उपादान हो वहाँ 'स्यात्' का प्रयोग नही किया गया और जहाँ अपेक्षा का साक्षात् उपादान नही है, वहाँ स्यात् का प्रयोग किया गया है, अतएव अपेक्षा का द्योतन करने के लिए 'स्यात्' पद का प्रयोग करना चाहिए ।

(५) 'अवक्तव्य' यह भग तीसरा है । कुछ जैन दार्शनिको ने इस भग को चौथा स्थान दिया है । आगम मे अवक्तव्य का चौथा स्थान नही है । यह विचारणीय है कि अवक्तव्य को चौथा स्थान कब से, किसने और क्यो दिया ।

(६) स्याद्वाद के भगो मे सभी विरोधी धर्मयुगलो को लेकर सात ही भग होने चाहिए—न कम, न अधिक । इस प्रकार जो जैन दार्शनिको ने व्यवस्था की है, वह निर्मूल नही है । क्योकि त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कन्धो के भगो की सख्या जो प्रस्तुत सूत्र मे दी गयी है उससे यही मालूम होता है कि मूल भग सात वे ही हैं जो जैन दार्शनिको ने अपने सप्तभगी के विवेचन मे स्वीकृत किये हैं । जो अधिक भग सख्या सूत्र

---

१ आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० ११२-११३

मे निर्दिष्ट है वह मौलिक भगो के भेद के कारण नही है किन्तु एकवचन-बहुवचन भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत सख्यावृद्धि को निकाल दिया जाय तो मौलिक भग सात ही रह जाते हैं। अतएव जो यह कहा जाता है कि आगम मे सप्तभगी नही है, वह भ्रममूलक है।

(७) सकलादेश-विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभगी मे विद्यमान है। आगम के अनुसार प्रथम तीन भग सकलादेशी हैं और शेष चार भग विकलादेशी हैं।

भग कथन-पद्धति

शब्दशास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप से विधि और निषेध ये दो वाच्य होते हैं। प्रत्येक विधि के साथ निषेध और प्रत्येक निषेध के साथ विधि जुडी रहती है। एकान्त रूप से न कोई विधि सभव है और न कोई निषेध ही। इकरार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इकरार रहा हुआ है। विधि और निषेध को लेकर जो सप्तभगी बनती है। वह इस प्रकार है—

(१) स्याद् अस्ति।
(२) स्याद् नास्ति।
(३) स्याद् अस्ति-नास्ति।
(४) स्याद् अवक्तव्य।
(५) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य।
(६) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य।
(७) स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

इस सप्तभगी मे अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये मूल तीन भग है। इसमे तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी इस तरह चार भग मिलाने से सात भग होते हैं। अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य ये द्विसयोगी भङ्ग है। मूल तीन भग होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भगो का उल्लेख भी आगम साहित्य मे प्राप्त होता है। जैसा कि पूर्व मे भगवती सूत्र के उल्लेख से भग बताये हैं, उनमे सात भगो का प्रयोग हुआ है।[1] पचास्तिकाय मे आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी सात भगो का नाम बताकर सप्त-

---

१ भगवती सूत्र शतक १२, उ०१०, प्र० १९-२०

भग का प्रयोग किया है।[1] भगवती सूत्र[2] मे तथा विशेषावश्यक भाष्य[3] मे अवक्तव्य को तीसरा भग माना है। पचास्तिकाय[4] मे कुन्द-कुन्द ने चौथा भग माना है और प्रवचनसार[5] मे कुन्द-कुन्द ने ही तीसरा भग माना है। बाद के आचार्यों की रचनाओ मे दोनो क्रमो का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भग

सतभगी को घट मे घटाएगे। घट मे अनन्त धर्म है। उनमे एक धर्म सत्ता भी है। 'स्याद् अस्ति घट' घट कथचित् सत् है। घट मे अस्तित्व धर्म किस अपेक्षा से है, क्यो है और कैसे है ? इसका उत्तर प्रथम भग देता है।

कथञ्चित् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। हम जब यह कहते हैं कि घडा है तब हमारा उद्देश्य यही होता है कि घडा स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व-भाव की दृष्टि से है। घट के अस्तित्व की जो यहाँ पर विधि है वही भग है। स्व की अपेक्षा से अस्तित्व की विधि है। यदि किसी पदार्थ मे स्वरूप से अस्तित्व का होना स्वीकार न किया जाय तो उसकी सत्ता ही नही रह जाएगी। वह सर्वथा असत् हो जाएगा और इस प्रकार समग्र विश्व शून्यमय बन जाएगा। अतएव प्रत्येक पदार्थ मे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत्ता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु पर की अपेक्षा से वह नही है। कहा है—'सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च' ससार की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से होता ही है पर रूप से नही। यदि स्वय से भिन्न अन्य समग्र पर-स्वरूपो मे भी घट का अस्तित्व हो तो फिर घट, घट नही रह सकता। जलधारण आदि की क्रियाएँ घट मे ही होती हैं पट मे नही। पट का कार्य आच्छादन आदि करना है। स्मरण रखना चाहिए कि यदि वस्तुओ मे अपने स्वरूप के समान, पर-स्वरूप की

---

१ सिय अत्थि-णत्थि उहय अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदय।
दव्व खु सत्तभग आदेशवसेण सभवदि॥ —पचास्तिकाय गा० १४

२ भगवती सूत्र शतक १२, ३०१०, प्र० १९-२०

३ विशेषावश्यक भाष्य गा० २-३२

४ पचास्तिकाय गा० १४

५ अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्व।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्ण वा॥
—प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार गा० ११५

सत्ता भी मानी जाए[1] तो उनमे स्व-पर विभाग किसी प्रकार घटित नही हो सकेगा। उसके अभाव मे तो गुड और गोबर एक हो जायेगा, एतदर्थ प्रथम भग का अर्थ है घट की सत्ता सभी अपेक्षाओ से नही किन्तु एक अपेक्षा से है।

द्वितीय भग

'स्याद् नास्ति घट' यह द्वितीय भग है। प्रथम भग मे स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व का प्रतिपादन था, तो द्वितीय भग मे पर-चतुष्टय की अपेक्षा से निषेध किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी रहा हुआ है। विद्यानन्दी ने कहा है—सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाये तो घट नि स्वरूप हो जाए।[2] यदि नि स्वरूपता स्वीकार करें तो स्पष्ट रूप से सर्वशून्यता का दोष आजाएगा, इसलिए द्वितीय भग यह बताता है कि पर रूपेण ही घट कथञ्चित् नही है।

तृतीय भग

'स्याद् अस्तिनास्ति घट' यह तृतीय भङ्ग है। इसमे पहले विधि की और फिर निषेध की क्रमश विवक्षा की जाती है। इसमे स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्ता का और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से असत्ता का क्रमश कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भग मे विधि और निषेध का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया किन्तु तीसरे भग मे क्रमश दोनो का।

चतुर्थ भग

'स्याद् अवक्तव्यो घट' यह चतुर्थ भग है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, उस समय उसका निषेध रह जाता है और जिस समय निषेध का प्रतिपादन करते हैं तब विधि रह जाती है। विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन अस्ति, नास्ति के रूप मे प्रथम और दूसरे भग मे किया गया है, तीसरे

---

१ स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागाभावप्रसगात्[illegible] [illegible]।
—तत्त्वार्थ [illegible] [illegible]२

२ पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्वप्रसगात्।
—तत्त्वार्थ [illegible]

भग मे अस्ति, नास्ति का क्रमश उल्लेख किया गया है किन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता मे कठिनाई है। उसका समाधान अवक्तव्य शब्द के द्वारा किया गया है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग बताता है कि घट की वक्तव्यता युगपद् मे नही, क्रम मे ही होती है। स्याद् अवक्तव्य भग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व नास्तित्व का युगपद् वाचक कोई भी शब्द नही है, इसलिए विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नही है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो एकान्त अवक्तव्य का दोष पैदा होगा, जो मिथ्या होने से मान्य नही है। ऐसी स्थिति मे हम घट को घट शब्द से या किसी भी अन्य शब्द से, यहाँ तक कि अवक्तव्य शब्द से भी नही कह सकेंगे। वस्तु का शब्द द्वारा प्रतिपादन करना असभव हो जाएगा और वाच्य-वाचक भाव की कल्पना को कोई स्थान ही न रह जाएगा। इसलिए स्यात् अवक्तव्य भङ्ग सूचित करता है कि विधि-निषेध का युगपत्त्व अस्ति या नास्ति शब्द से अवक्तव्य है किन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा नही है। अवक्तव्य शब्द से तो वह युगपत्त्व वक्तव्य ही है।

पाँचवाँ भग

'स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घट' यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ पर पहले समय मे विधि और दूसरे समय मे युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा की गई है। इसमे पहले अस्ति के द्वारा स्वरूप से घट की सत्ता का कथन किया जाता है और दूसरे अवक्तव्य अश के द्वारा युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन किया जाता है। पाँचवे भङ्ग का अर्थ है घट है, और अवक्तव्य भी है।

छठा भग

'स्याद् नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर पहले समय मे निषेध और दूसरे समय मे एक साथ (युगपद्) विधि-निषेध की विवक्षा होने से घट नही है और वह अवक्तव्य है, यह कथन किया गया है।

सातवाँ भग

'स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर क्रम से पहले समय मे विधि, दूसरे समय मे निषेध और तीसरे समय मे एक साथ मे युगपद् विधि-निषेध की दृष्टि से घट है, घट नही है, घट अवक्तव्य है। इस प्रकार कहा गया है।

सत्ता भी मानी जाए[1] तो उनमे स्व-पर विभाग किसी प्रकार घटित नही हो सकेगा। उसके अभाव मे तो गुड और गोवर एक हो जायेगा, एतदर्थ प्रथम भग का अर्थ है घट की सत्ता सभी अपेक्षाओ से नही किन्तु एक अपेक्षा से है।

द्वितीय भग

'स्याद् नास्ति घट' यह द्वितीय भग है। प्रथम भग मे स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व का प्रतिपादन था, तो द्वितीय भग मे पर-चतुष्टय की अपेक्षा से निषेध किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी रहा हुआ है। विद्यानन्दी ने कहा है—सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाये तो घट नि स्वरूप हो जाए।[2] यदि नि स्वरूपता स्वीकार करें तो स्पष्ट रूप से सर्वशून्यता का दोष आजाएगा, इसलिए द्वितीय भग यह बताता है कि पर रूपेण ही घट कथचित् नही है।

तृतीय भग

'स्याद् अस्तिनास्ति घट' यह तृतीय भङ्ग है। इसमे पहले विधि की और फिर निषेध की क्रमश विवक्षा की जाती है। इसमे स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्ता का और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से असत्ता का क्रमश कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भग मे विधि और निषेध का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया किन्तु तीसरे भग मे क्रमश दोनो का।

चतुर्थ भग

'स्याद् अवक्तव्यो घट' यह चतुर्थ भग है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते है, उस समय उसका निषेध रह जाता है और जिस समय निषेध का प्रतिपादन करते है तब विधि रह जाती है। विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन अस्ति, नास्ति के रूप मे प्रथम और दूसरे भग मे किया गया है, किन्तु

---

1 [illegible]

—[illegible]

भग मे अस्ति, नास्ति का क्रमश उल्लेख किया गया है किन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता मे कठिनाई है। उसका समाधान अवक्तव्य शब्द के द्वारा किया गया है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग बताता है कि घट की वक्तव्यता युगपद् मे नही, क्रम मे ही होती है। स्याद् अवक्तव्य भग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व नास्तित्व का युगपद् वाचक कोई भी शब्द नही है, इसलिए विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नही है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो एकान्त अवक्तव्य का दोष पैदा होगा, जो मिथ्या होने से मान्य नही है। ऐसी स्थिति मे हम घट को घट शब्द से या किसी भी अन्य शब्द से, यहाँ तक कि अवक्तव्य शब्द से भी नही कह सकेगे। वस्तु का शब्द द्वारा प्रतिपादन करना असभव हो जाएगा और वाच्य-वाचक भाव की कल्पना को कोई स्थान ही न रह जाएगा। इसलिए स्यात् अवक्तव्य भङ्ग सूचित करता है कि विधि-निषेध का युगपत्त्व अस्ति या नास्ति शब्द से अवक्तव्य है किन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा नही है। अवक्तव्य शब्द से तो वह युगपत्त्व वक्तव्य ही है।

पाँचवाँ भग

'स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घट' यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ पर पहले समय मे विधि और दूसरे समय मे युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा की गई है। इसमे पहले अस्ति के द्वारा स्वरूप से घट की सत्ता का कथन किया जाता है और दूसरे अवक्तव्य अश के द्वारा युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन किया जाता है। पाँचवे भङ्ग का अर्थ है घट है, और अवक्तव्य भी है।

छठा भग

'स्याद् नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर पहले समय मे निषेध और दूसरे समय मे एक साथ (युगपद्) विधि-निषेध की विवक्षा होने से घट नही है और वह अवक्तव्य है, यह कथन किया गया है।

सातवाँ भग

'स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर क्रम से पहले समय मे विधि, दूसरे समय मे निषेध और तीसरे समय मे एक साथ मे युगपद् विधि-निषेध की दृष्टि से घट है, घट नही है, घट अवक्तव्य है। इस प्रकार कहा गया है।

सत्ता भी मानी जाए[1] तो उनमे स्व-पर विभाग किसी प्रकार घटित नही हो सकेगा। उसके अभाव मे तो गुड और गोबर एक हो जायेगा, एतदर्थ प्रथम भग का अर्थ है घट की सत्ता सभी अपेक्षाओ से नही किन्तु एक अपेक्षा से है।

द्वितीय भग

'स्याद् नास्ति घट' यह द्वितीय भग है। प्रथम भग मे स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व का प्रतिपादन था, तो द्वितीय भग मे पर-चतुष्टय की अपेक्षा से निषेध किया गया है। प्रत्येक पदार्थ का विधि रूप भी है और निषेध रूप भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी रहा हुआ है। विद्यानन्दी ने कहा है—सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाये तो घट नि स्वरूप हो जाए।[2] यदि नि स्वरूपता स्वीकार करे तो स्पष्ट रूप से सर्वशून्यता का दोष आजाएगा, इसलिए द्वितीय भग यह बताता है कि पर रूपेण ही घट कथचित् नही है।

तृतीय भग

'स्याद् अस्तिनास्ति घट' यह तृतीय भङ्ग है। इसमे पहले विधि की और फिर निषेध की क्रमश विवक्षा की जाती है। इसमे स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्ता का और पर-चतुष्टय की अपेक्षा से असत्ता का क्रमश कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भग मे विधि और निषेध का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया किन्तु तीसरे भग मे क्रमश दोनो का।

चतुर्थ भग

'स्याद् अवक्तव्यो घट' यह चतुर्थ भग है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, उस समय उसका निषेध रह जाता है और जिस समय निषेध का प्रतिपादन करते हैं तब विधि रह जाती है। विधि और निषेध का क्रमश प्रतिपादन अस्ति, नास्ति के रूप मे प्रथम और दूसरे भग मे किया गया है, तीसरे

---

१ स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागाभावप्रसगात्। स चायुक्त।
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५२

२ पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्वप्रसगात्।
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५२

भग मे अस्ति, नास्ति का क्रमश उल्लेख किया गया है किन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता मे कठिनाई है। उसका समाधान अवक्तव्य शब्द के द्वारा किया गया है। 'स्याद् अवक्तव्य' भग बताता है कि घट की वक्तव्यता युगपद् मे नही, क्रम मे ही होती है। स्याद् अवक्तव्य भग से यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व नास्तित्व का युगपद् वाचक कोई भी शब्द नही है, इसलिए विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नही है। यदि इस प्रकार माना जायेगा तो एकान्त अवक्तव्य का दोष पैदा होगा, जो मिथ्या होने से मान्य नही है। ऐसी स्थिति मे हम घट को घट शब्द से या किसी भी अन्य शब्द से, यहाँ तक कि अवक्तव्य शब्द से भी नही कह सकेंगे। वस्तु का शब्द द्वारा प्रतिपादन करना असभव हो जाएगा और वाच्य-वाचक भाव की कल्पना को कोई स्थान ही न रह जाएगा। इसलिए स्यात् अवक्तव्य भङ्ग सूचित करता है कि विधि-निषेध का युगपत्त्व अस्ति या नास्ति शब्द से अवक्तव्य है किन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा नही है। अवक्तव्य शब्द से तो वह युगपत्त्व वक्तव्य ही है।

पाँचवाँ भग

'स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घट' यह पाँचवाँ भङ्ग है। यहाँ पर पहले समय मे विधि और दूसरे समय मे युगपत् विधि-निषेध की विवक्षा की गई है। इसमे पहले अस्ति के द्वारा स्वरूप से घट की सत्ता का कथन किया जाता है और दूसरे अवक्तव्य अश के द्वारा युगपत् विधि-निषेध का प्रतिपादन किया जाता है। पाँचवे भङ्ग का अर्थ है घट है, और अवक्तव्य भी है।

छठा भग

'स्याद् नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर पहले समय मे निषेध और दूसरे समय मे एक साथ (युगपद्) विधि-निषेध की विवक्षा होने से घट नही है और वह अवक्तव्य है, यह कथन किया गया है।

सातवाँ भग

'स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्यो घट' यहाँ पर क्रम से पहले समय मे विधि, दूसरे समय मे निषेध और तीसरे समय मे एक साथ मे युगपद् विधि-निषेध की दृष्टि से घट है, घट नही है, घट अवक्तव्य है। इस प्रकार कहा गया है।

चतुष्टय की परिभाषा

विधि और निषेध से प्रत्येक वस्तु का नियत रूप मे परिज्ञान होता है। स्वचतुष्टय से जो वस्तु सत् है वही वस्तु पर-चतुष्टय से असत् है।[1] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह चतुष्टय है। स्व-द्रव्य रूप मे घट पुद्गल है, चेतन आदि पर-द्रव्य नही। स्व-क्षेत्र रूप मे कपालादि स्वावयवो मे है तन्तु आदि पर-अवयवो मे नही। स्वकाल रूप मे वह अपनी वर्तमान पर्यायो मे है, किन्तु पर-पदार्थों की पर्यायो मे नही है। स्वभाव रूप मे स्वय के लाल आदि गुणो मे है, पर-पदार्थों के गुणो मे नही है।

स्याद्वाद मजरी[2] मे व्यवहारदृष्टि को लक्ष्य मे रखकर द्रव्य की अपेक्षा पार्थिवत्व, क्षेत्र की अपेक्षा पाटलिपुत्रकत्व, काल की अपेक्षा शैशिरत्व और भाव की अपेक्षा श्यामत्व रूप लिखा है।

प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् है, पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव से असत् है। इस प्रकार एक ही वस्तु सत् और असत् होने से बाधा और विरोध नही है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नही है।

प्रत्येक भङ्ग निश्चयात्मक है, अनिश्चयात्मक नही। इसके लिए कई बार एव (ही) शब्द का प्रयोग भी होता है जैसे 'स्याद् घट अस्त्येव'। यहाँ पर 'एव' शब्द स्वचतुष्टय की अपेक्षा निश्चित रूप से घट का अस्तित्व प्रकट करता है। 'एव' का प्रयोग न होने पर भी प्रत्येक कथन को निश्चयात्मक ही समझना चाहिए। स्याद्वाद सन्देह और अनिश्चय का समर्थक नही है। चाहे 'एव' शब्द का प्रयोग हो या न हो किन्तु यदि कोई वचन-प्रयोग स्याद्वाद सम्बन्धी है तो वह निश्चित ही है, वह 'एव' पूर्वक ही है।

स्यात् शब्द का प्रयोग

सप्तभगी मे प्रत्येक भङ्ग मे स्वधर्म मुख्य होता है और अन्य धर्म गौण होते हैं। गौण और मुख्य की विवक्षा के लिए ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' शब्द जहाँ विवक्षित धर्म को मुख्य रूप से

---

१ अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्क च द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवापि भावेन। —पचाध्यायी १।२६३

२ स्याद्वादमजरी, कारिका २३

प्रतीति कराता है, वहाँ अविवक्षित धर्म का पूर्ण रूप से निषेध न कर उसका गौणरूप से उपस्थापन करता है। शब्दशक्ति और वस्तुस्वरूप की विवेचना मे वक्ता और श्रोता कुशल है तो 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रहती।[1] अनेकान्त का प्रकाशन उसके विना भी हो सकता है। उदाहरणार्थ—अहम् अस्मि—मैं हूँ। इस वाक्य मे अहम् और अस्मि ये दो पद हैं। इन दोनो मे से एक का प्रयोग होने से दूसरे का अर्थ अपने आप मालूम हो जाता है तथापि स्पष्टता की दृष्टि से यह प्रयोग किया जाता है। इसी तरह 'पार्थो धनुर्धर' मे एव का प्रयोग नही हुआ है किन्तु 'अर्जुन ही धनुर्धर है' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है।[2] यही वात यहाँ पर भी है। 'अस्ति घट' कहने पर भी किसी अपेक्षा से घट है ऐसा अर्थ स्वत निकल आता है किन्तु भ्रान्ति निवारणार्थ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र 'स्यात्' को अनेकान्त बोधक मानते हैं।[3] भट्ट अकलक स्यात् को सम्यग् अनेकान्त और सम्यग् एकान्त उभय का वाचक मानते है इसलिए उन्हे नय और प्रमाण दोनो मे स्यात् इष्ट है।[4]

अन्य दर्शनो मे

हमने पूर्व यह बताया कि अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन मूल भङ्ग है। अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और वैशेषिकदर्शन की दृष्टि से मूल तीन भङ्गो की योजना इस प्रकार की जा सकती है।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को ही एक मात्र तत्त्व मानता है। पर वह अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, सत्ता रूप होने पर भी वह वाणी के द्वारा कहा नही जा सकता। इसलिए वेदान्त मे ब्रह्म 'अस्ति' होकर भी अवक्तव्य है। बौद्धदर्शन मे अन्यापोह नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। कारण कि वाणी से अन्य का सर्वथा अपोह करने पर किसी भी विधिरूप वस्तु का परिज्ञान नही हो सकता। इसलिए बौद्धदर्शन का अन्यापोह 'नास्ति' होकर भी

---

१ अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।
विधौनिषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥६३॥ —लघीयस्त्रय प्रवचन प्रवेश

२ सोऽप्रयुक्तोऽपि तज्ज्ञै सर्वत्रार्थात्प्रतीयते,
तथैवकारो योगादिव्यवच्छेद प्रयोजन। —तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५६

३ स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम्। —स्याद्वाद मजरी का० ५

४ लघीयस्त्रय ६२

अवक्तव्य है। वैशेषिकदर्शन के अनुसार सामान्य और विशेष दोनो स्वतत्र है। अस्ति और नास्ति होकर भी अवक्तव्य है। वे दोनो किसी एक शब्द के वाच्य नही हो सकते और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष मे कोई अर्थ क्रिया ही हो सकती है। इस प्रकार जैनदर्शन सम्मत मूल भङ्गो की योजना अन्य दर्शनो मे भी देखी जा सकती है।

प्रमाण-सप्तभगी

प्रमाणवाक्य को सकलादेश और नयवाक्य को विकलादेश कहते हैं। ये सातो ही भङ्ग जब सकलादेशी होते है तब प्रमाणवाक्य और जब विकलादेशी होते है तब नयवाक्य कहलाते है। इसी आधार से सप्तभङ्गी के भी दो भेद हैं—प्रमाणसप्तभङ्गी और नयसप्तभङ्गी।

प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म हैं। किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप से परिज्ञान करने के लिए उन अनन्त शब्दो का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु यह न तो सभव है और न व्यवहार्य ही है। अनन्त शब्दो का प्रयोग करने के लिए अनन्तकाल चाहिए किन्तु मनुष्य का जीवन अनन्त नही है। अतएव समग्र जीवन मे भी वह एक भी वस्तु का पूर्ण प्रतिपादन नही कर सकता, इसलिए हमे एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ का बोध करना होता है। यद्यपि बाह्य दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि वह एक ही धर्म का कथन करता है किन्तु अभेदोपचार वृत्ति से वह अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन करता है। अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा साक्षात् एक धर्म का प्रतिपादन होने पर भी अखण्ड रूप से अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण धर्मों का युगपत् कथन हो जाता है। इसको प्रमाणसप्तभङ्गी कहते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि यह अभेदवृत्ति या अभेदोपचार क्या वस्तु है? वस्तु मे जबकि अनन्त धर्म हैं और वे परस्पर भिन्न हैं उन सबकी स्वरूपसत्ता अलग-अलग है, तब उसमे अभेद किस प्रकार माना जा सकता है? उसका मुख्य आधार क्या है?

समाधान यह है कि वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन की अभेद और भेद ये दो शैलियाँ है। अभेद-शैली भिन्नता मे भी अभिन्नता ढूँढती है और भेद शैली अभिन्नता मे भी भिन्नता की अन्वेषणा करती है। अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त धर्मों को काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग, और शब्द की दृष्टि से एक साथ

अखण्ड एक वस्तु के रूप मे उपस्थित करता है। इस प्रकार एक और अखण्ड वस्तु के रूप मे अनन्त धर्मों को एक साथ कथन करने वाले सकलादेश से वस्तु के सभी धर्मो का एक साथ समूहात्मक ज्ञान हो जाता है।

जीव आदि पदार्थ कथचित् अस्तिरूप है, इसलिए अस्तित्व कथन मे अभेदावच्छेदक काल आदि वातो को इस प्रकार घटाया जाता हैं—

(१) काल—जिस समय किसी वस्तु मे अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते है। घट मे जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व, कठिनत्व, आदि धर्म भी रहते है। इसलिए काल की अपेक्षा से अन्य धर्म अस्तित्व से अभिन्न है।

(२) आत्मरूप—जैसे अस्तित्व घट का स्वभाव है वैसे ही कृष्णत्व, कठिनत्व आदि भी घट के स्वभाव हैं। अस्तित्व के समान अन्य गुण भी घटात्मक ही हैं। इसलिए आत्मरूप की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेद है।

(३) अर्थ—जिस घट मे अस्तित्व है उसी घट मे कृष्णत्व, कठिनत्व आदि धर्म भी है। सभी धर्मो का स्थान एक ही है। इसलिए अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणो मे कोई भेद नही है।

(४) सम्बन्ध—जैसे अस्तित्व का घट से कथचित् तादात्म्य सम्वन्ध है वैसे ही अन्य धर्म भी घट से सम्वन्धित है। सम्बन्ध की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुण अभिन्न है।

(५) उपकार—अस्तित्व गुण घट का जो उपकार करता है, वही उपकार कृष्णत्व, कठिनत्व आदि गुण भी करते है। एतदर्थ यदि उपकार की दृष्टि से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेद है।

(६) गुणिदेश—जिस देश मे अस्तित्व रहता है उसी देश मे घट के अन्य गुण भी रहते हैं। घटरूप गुणी के देश की अपेक्षा से देखा जाय तो अस्तित्व और अन्य गुणो मे कोई भेद नही है, इसी को गुणिदेश कहते हैं।[1]

(७) ससर्ग—जैसे अस्तित्व गुण का घट से ससर्ग है, वैसे ही अन्य गुणो का भी घट से ससर्ग है। इसलिए ससर्ग की दृष्टि से देखने पर अस्तित्व

---

१ अर्थ पद से अखण्ड वस्तु पूर्णरूप से ग्रहण की जाती है और गुणि-देश से अखण्ड वस्तु के बुद्धि-परिकल्पित देशाश ग्रहण किये जाते हैं।

और अन्य गुणो मे कोई भेद दृष्टिगोचर नही होता। इसलिए ससर्ग की अपेक्षा से सभी धर्मो मे अभेद है।[1]

(८) शब्द—जैसे अस्तित्व का प्रतिपादन 'है' शब्द द्वारा होता है वैसे अन्य गुणो का प्रतिपादन भी 'है' शब्द से होता है। घट मे अस्तित्व है, घट मे कृष्णत्व है, घट मे कठिनत्व है। इन सब वाक्यो मे 'है' शब्द घट के विभिन्न धर्मो को प्रकट करता है। जिस 'है' शब्द से कृष्णत्व का प्रतिपादन होता है उस 'है' शब्द से कठिनत्व आदि धर्मो का भी प्रतिपादन होता है। इसलिए शब्द की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य धर्मो मे अभेद है।

काल आदि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्यायस्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। अभेद प्रमाण का मूल प्राण है। बिना अभेद के प्रमाण का स्वरूप सिद्ध नही हो सकता।

नय-सप्तभगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु शेष धर्मो का निषेध न कर उनके प्रति तटस्थ रहता है। इसी को 'सुनय' कहते हैं। नयसप्तभङ्गी सुनय मे होती है, दुर्नय मे नही। वस्तु के अनन्त धर्मो मे से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद की प्रधानता या भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। इसे नयसप्तभङ्गी कहते हैं। भेददृष्टि से नयसप्तभङ्गी मे वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है।

काल आदि की दृष्टि से

नयसप्तभगी मे गुणपिण्ड रूप द्रव्य पदार्थ को गौण और पर्याय स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है, इसलिए नयसप्तभगी भेद प्रधान है। जैसे प्रमाणसप्तभगी मे काल आदि के आधार पर एक गुण को अन्य गुणो से अभिन्न विवक्षित किया जाता है, वैसे ही नयसप्तभगी मे उन्ही काल आदि आधारो से एक गुण का दूसरे गुण से भेद विवक्षित किया जाता है। वह इस प्रकार है—

---

१ पूर्वोक्त सम्बन्ध और इस ससर्ग मे यह अन्तर है—तादात्म्य सम्बन्ध धर्मों की परस्पर योजना करने वाला है और ससर्ग एक वस्तु में अशेष धर्मो को बताने वाला है।

(१) काल—वस्तुगत गुण प्रतिपल-प्रतिक्षण विभिन्न रूपो मे परिणत होता रहता है। इसलिए जो अस्तित्व का काल है वह नास्तित्व आदि का काल नही है। विभिन्न धर्मो का विभिन्न काल होता है, एक नही। यदि सभी गुणो का एक ही काल माना जायेगा तो सभी पदार्थों का भी एक ही काल कहा जा सकेगा। इसलिए काल की दृष्टि से वस्तुगत धर्मो मे भेद है, अभेद नही।

(२) आत्मरूप—वस्तुगत गुणो का आत्मरूप भी पृथक्-पृथक् है। यदि अनेक गुणो का आत्म-रूप अलग न माना जाय, तो गुणो मे भेद की बुद्धि किस प्रकार होगी ? जब गुण अनेक हैं तो उनका आत्मरूप भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिये, क्योकि एक आत्मरूप वाले अनेक नही एक ही होगे। अत आत्मरूप से भी गुणो मे भेद ही सिद्ध होता है।

(३) अर्थ—विविध धर्मो का अपना-अपना आश्रय अर्थ भी विविध ही होता है। यदि विविध गुणो का आधारभूत पदार्थ अनेक न हो तो एक को ही अनेक गुणो का आश्रय मानना होगा, जो युक्तियुक्त नही है। एक का आधार एक ही होता है। इसलिए अर्थभेद से भी सब धर्मो मे भेद है।

(४) सम्बन्ध—सम्बन्धियो के भेद से सम्बन्ध मे भी भेद होना स्वाभाविक है। यह सम्भव नही कि सम्बन्धी तो अनेक हो और उन सबका सम्बन्ध एक हो। गुरुदत्त का अपने पुत्र से जो सम्बन्ध है, वही भाई, माता, पिता के साथ नही है। इसलिए भिन्न धर्मों मे सम्बन्ध की अपेक्षा से भेद ही सिद्ध होता है, अभेद नही।

(५) उपकार—उपकारक के भेद से उपकार मे भेद होता है। अत अनेक धर्मों के द्वारा होने वाला वस्तु का उपकार भी वस्तु मे पृथक-पृथक होने से अनेक रूप है, एक रूप नही। इसलिए उपकार की अपेक्षा से भी अनेक गुणो मे अभेद घटित नही होता।

(६) गुणिदेश—गुणी का क्षेत्र प्रत्येक भाग प्रति गुण के लिए भिन्न होना चाहिए नही तो दूसरे गुणी के गुणो का भी इस गुणिदेश से भेद नही हो सकेगा। अभिन्न नही मानने से एक व्यक्ति के सुख-दु ख और ज्ञानादि दूसरे व्यक्ति मे प्रविष्ट हो जायेंगे जो किसी भी प्रकार उचित नही है। इसलिए गुणिदेश से भी धर्मो का अभेद नही किन्तु भेद सिद्ध होता है।

(७) ससर्ग—ससर्ग भी प्रत्येक ससर्ग वाले के भेद से भिन्न ही मानना चाहिए। यदि ससर्गियो के भेद के होते हुए भी उनके ससर्ग मे अभेद

माना जाए तो ससर्गियो का भेद किस प्रकार घटित होगा। लोकदृष्टि से भी पान, सुपारी, इलायची और जिह्वा के साथ भिन्न प्रकार का ससर्ग होता है, एक नही। इसलिए ससर्ग से अभेद नही अपितु भेद ही सिद्ध होता है।

(८) शब्द—प्रत्येक धर्म का वाचक शब्द भी पृथक्-पृथक् ही होगा। यदि एक ही शब्द समस्त धर्मों का वाचक हो सकता हो तो सब पदार्थ भी एक शब्द के वाच्य बन जायेगे। ऐसी स्थिति मे दूसरे शब्दो की कोई आवश्यकता ही नही रहेगी, इसलिए वाचक शब्द की अपेक्षा से भी वस्तुगत अनेक धर्मों मे अभेदवृत्ति नही, भेदवृत्ति ही प्रमाणित होती है।

प्रत्येक पदार्थ गुण और पर्याय स्वरूप है। गुण और पर्याय दोनो मे परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है। जिस समय प्रमाण-सप्तभगी से पदार्थ का अधिगम किया जाता है उस समय गुण-पर्यायो मे कालादि से अभेद वृत्ति या अभेद का उपचार होता है और अस्ति अथवा नास्ति प्रभृति किसी एक शब्द से ही अनन्त गुण-पर्यायो के पिण्ड स्वरूप अखण्ड पदार्थ का युगपत् परिबोध होता है और जिस समय नयसप्तभ गी के द्वारा पदार्थ का अधिगम किया जाता है, उस समय गुण और पर्यायो मे कालादि के द्वारा भेदवृत्ति या भेदोपचार होता है[1] और अस्ति, नास्ति प्रभृति किसी शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण-पर्याय का मुख्य रूप से क्रमश निरूपण होता है। विकलादेश नय है और सकलादेश प्रमाण है। नय वस्तु के एक धर्म का निरूपण करता है और प्रमाण सम्पूर्ण धर्मो का युगपत् निरूपण करता है। नय और प्रमाण मे मुख्य रूप से यही अन्तर है। प्रमाणसप्तभङ्गी मे अभेदवृत्ति या अभेदोपचार का कथन होता है तो नयसप्तभङ्गी मे भेदवृत्ति या भेदोपचार का निरूपण होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमाणसप्तभ गी मे द्रव्यार्थिक भाव है, इसलिए अनेक धर्मो मे अभेदवृत्ति स्वत है और जहाँ पर पर्यायार्थिक भाव का आरोप किया जाता है वहाँ अनेक धर्मो मे एक अखण्ड अभेद प्रस्थापित (आरोपित) किया जाता है। जहाँ पर नयसप्तभगी मे द्रव्यार्थिकता है वहाँ पर अभेद मे भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्य रूप से निरूपण किया जाता है और जहाँ पर पर्यायार्थिकता है वहाँ पर अभेदवृत्ति अपने आप होने से उपचार की आवश्यकता नही होती।

---

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५४

व्याप्य-व्यापक भाव

स्याद्वाद और सप्तभङ्गी मे व्याप्य और व्यापक भाव सम्बन्ध है। स्याद्वाद 'व्याप्य' है और सप्तभङ्गी 'व्यापक' है। जो स्याद्वाद है वह निश्चितरूप से सप्तभङ्गी होता ही है किन्तु जो सप्तभङ्गी है वह स्याद्वाद है भी, नही भी है। नय स्याद्वाद नही है तथापि उसमे सप्तभङ्गीत्व एक व्यापक धर्म है। जो स्याद्वाद और नय दोनो मे रहता है।

अनन्तभगी नहीं

प्रतिपादन किया जा चुका है कि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म है, इसलिए सप्तभङ्गी के स्थान पर अनन्तभङ्गी क्यो न मानी जाय? उत्तर मे निवेदन है कि प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म है और प्रत्येक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभङ्गी बनती है अतएव अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभङ्गियो को जैनदर्शन स्वीकार करता है। यदि एक धर्म का एक भग होता तो अनन्त धर्मो की अनन्तभङ्गी हो सकती थी किन्तु ऐसा तो है नही। एक धर्माश्रित एक सप्तभगी स्वीकार करने के कारण अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभगियाँ ही सभव हो सकती है।[1]

आचार्य सिद्धसेन व अभयदेव सूरि का मन्तव्य है कि उक्त सप्तभङ्गी मे सत्, असत् और अवक्तव्य ये तीन भङ्ग सकलादेशी है और शेष चार भङ्ग विकलादेशी हैं।[2] आचार्य शान्ति सूरि ने न्यायावतार-सूत्रवार्तिक वृत्ति मे[3] अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य को सकलादेशी और अन्य चार को विकलादेशी कहा है। जैन तर्कभाषा मे उपाध्याय यशोविजय जी ने सातो ही भङ्गो को सकलादेशी और विकलादेशी दोनो माना है। दिगम्बराचार्य अकलक, विद्यानन्दी आदि सातो ही भङ्गो को सकलादेश और विकलादेश रूप ही मानते हैं।[4]

जो आचार्य सत्, असत् और अवक्तव्य भगो को सकलादेशी और शेष चार भगो को विकलादेशी मानते हैं उनका मन्तव्य है कि प्रथम भग

---

१ प्रतिपर्याय सप्तभगी वस्तुनि-इति वचनात् तथाऽनन्ता सप्तभग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम्। —तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६।५२

२ सन्मतितर्क, सटीक पृ० ४४६

३ प० दलसुख मालवणिया सम्पादित पृ० ९४

४ पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ पृ० १३३

मे द्रव्यार्थिक दृष्टि से 'सत्' रूप से अभेद होता है और उसमे सम्पूर्ण द्रव्य का ज्ञान हो जाता है। द्वितीय भग मे पर्यायार्थिक दृष्टि से समस्त पर्यायों मे अभेदोपचार से अभेद मानकर असत्रूप से भी सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण कर सकते है और तृतीय अवक्तव्य भग मे तो सामान्यरूप से भेद अविवक्षित ही है। इसलिए सम्पूर्ण द्रव्य के ग्रहण मे किसी भी प्रकार की कोई आपत्ति नही है।

अभेदरूप से सम्पूर्ण द्रव्य-ग्राही होने से तीनो भग सकलादेशी हैं और अन्य चार भग सावयव तथा अशग्राही होने से विकलादेशी है।

कितने ही विचारक उपर्युक्त विचारधारा को महत्त्व नही देते हैं। उनका कथन है कि यह तो एक विवक्षाभेद है। सत्त्व अथवा असत्त्व के द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण किया जा सकता है तव सत्त्वासत्त्वादिरूप से मिले हुए दो या तीन धर्मों के द्वारा भी अखण्ड वस्तु का परिज्ञान क्यो नही हो सकता ? इसलिए सातो ही भग सकलादेशी और विकलादेशी दोनो ही हो सकते हैं।

सप्तभगी का इतिहास

सुदूर अतीतकाल मे ही भारतीय दर्शनो मे विश्व के सम्वन्ध मे सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष चिन्तन के मुख्य विषय रहे हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे विश्व के सम्वन्ध मे सत्[1] और असत् रूप से दो विरोधी कल्पनाओ का उल्लेख है। उक्त सूक्त के ऋषि के सामने दो मत थे। कितने ही जगत् के आदिकारण को सत् कहते थे, दूसरे असत्। जब ऋषि के सामने यह प्रश्न आया तब उन्होने अपना तृतीय मत प्रदर्शित करते हुए कहा—सत् भी नही है, असत् भी नही है किन्तु अनुभय है। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष ऋग्वेद मे प्राप्त होते हैं।[2]

यही तथ्य उपनिषद् साहित्य मे भी प्राप्त होता है। वहाँ पर भी दो विरोधी पक्षो का समर्थन मिलता है। 'तदेजति तन्नैजति'[3] 'अणोरणीयान् महतो महीयान्,[4] सदसद्वरेण्यम्[5] आदि वाक्यो मे स्पष्ट रूप से दो विरोधी

---

१ एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।—ऋग्वेद १।१६४। ४६

२ सदसत् दोनो के लिए देखिये—ऋग्वेद १०।१२६

३ ईशोपनिषद्, ५

४ कठोपनिषद् १।२।२०

५ मुण्डकोपनिषद् २।२।१

धर्म स्वीकार किये गये हैं। इस परम्परा मे तृतीय पक्ष सदसत् अर्थात् उभय का बनता है और जहाँ सत् और असत् दोनो का निषेध किया गया है वहाँ अनुभय का चतुर्थ पक्ष बन गया। इस तरह उपनिषदो मे सत्,[1] असत्,[2] सदसत् और अनुभय ये चार पक्ष प्राप्त होते है। अनुभय पक्ष को अवक्तव्य भी कह सकते हैं[3]। अवक्तव्य के तीन अर्थ है—(१) सत् और असत् दोनो का निषेध करना, (२) सत्, असत् और सदसत् तीनो का निषेध करना (३) सत् और असत् दोनो को अक्रम अर्थात् युगपद् स्वीकार करना। अवक्तव्य तो उपनिषद् साहित्य का मुख्य सूत्र रहा है।[4] जहाँ पर अवक्तव्य को तृतीय स्थान दिया गया है वहाँ पर सत् और असत् दोनो का निषेध जानना चाहिए। जहाँ पर अवक्तव्य को चतुर्थ स्थान दिया गया है, वहाँ सत्, असत् और सदसत् तीनो का निषेध जानना चाहिए। अवक्तव्यता सापेक्ष और निरपेक्ष रूप से दो प्रकार की है। सापेक्ष अवक्तव्यता वह है जिसमे तत्त्व सत् असत् और सदसत् रूप से जो अवाच्य है, उसकी झलक होती है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन ने तो सत्, असत्, सदसत् और अनुभय इन चार दृष्टियो से तत्त्व को अवाच्य माना है। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि वस्तु चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। इस प्रकार सापेक्ष अवक्तव्यता एक, दो, तीन या चार पक्षो के निषेध पर खडी होती है। जहाँ पर तत्त्व न सत् हो सकता है, न असत् हो सकता है, न सत् और असत् उभयरूप हो सकता है, न अनुभय हो सकता है (ये चारो पक्ष एक साथ हो, या पृथक-पृथक हो) वहाँ पर सापेक्ष अवक्तव्यता है। पक्ष के रूप मे जो अवक्तव्यता है वह सापेक्ष अवक्तव्यता है। निरपेक्ष अवक्तव्यता वह है जहाँ पर तत्त्व को सीधा वचन से अगम्य कहा जाता है।

---

१ सदे ... न्दोग्योपनिषद् ६।२

२ अर ... ग्योपनिषद् ३।१६।१

३ यत ... —तैत्तिरीय० २।४

४ (क ... —केनोपनिषद् १।४

(र ... कठोपनिषद् २।६।१२

(ग ... प्रत्ययसार प्रपञ्चो-
पशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेय।

—माण्डूक्योपनिषद् ७

बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद मे भी उक्त चार पक्षो का उल्लेख मिलता है। सान्तता और अनन्तता, नित्यता और अनित्यता आदि प्रश्नो को बुद्ध ने अव्याकृत कहा है। उसी प्रकार इन चारो पक्षो को भी अव्याकृत कहा है। जैसे—

(१) होति तथागतो पर मरणाति ?
(२) न होति तथागतो पर मरणाति ?
(३) होति च न होति च तथागतो पर मरणाति ?
(४) नेव होति न न होति तथागतो पर मरणाति ?[1]

उक्त अव्याकृत प्रश्नो के अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटक मे ऐसे हैं, जो इन चार पक्षो को ही सिद्ध करते हैं—

(१) सयकत दुक्खति ?
(२) परकत दुक्खति ?
(३) सयकत परकत च दुक्खति ?
(४) असयकार अपरकार दुक्खति ?[2]

महावीरकालीन तत्त्वचिन्तक सजयवेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद मे भी उक्त चार पक्षो की उपलब्धि होती है। सजयवेलट्ठिपुत्त इन प्रश्नो का उत्तर न 'हाँ' मे देता था और न 'ना' मे देता था। किसी भी विषय मे उसका कुछ भी निश्चय नही था। बुद्ध के सामने जब इस प्रकार के प्रश्न आते तब वे अव्याकृत कह देते थे पर सजय उनसे एक कदम आगे था। वह न हाँ कहता, न 'ना' कहता, न अव्याकृत कहता, न व्याकृत कहता। किसी भी प्रकार का विशेषण प्रयोग करने मे उसे भय सा अनुभव होता था। वह किसी भी विषय मे अपना निश्चित मत प्रकट नही करता था। वह सशयवादी था। जो स्थान पाश्चात्य दर्शन मे 'ह्यूम' का है वही स्थान भारतीय दर्शन मे सजय का है। ह्यूम का भी यह मन्तव्य था कि हमारा ज्ञान निश्चित नही है इसलिए हम किसी अन्तिम तत्त्व का निर्णय नही कर सकते। सीमित अवस्था मे रहते हुए सीमा के बाहर तत्त्व का निर्णय करना हमारी

---

१ सयुक्त निकाय
२ सयुक्त निकाय

शक्ति से परे है। जिन प्रश्नो के विषय मे सजय ने विक्षेपवादी वृत्ति का परिचय दिया वे यह है। जैसे—[1]

(१) परलोक है ?
परलोक नही है ?
परलोक है और नही है ?
न परलोक है और न नही है ?

× ×

(२) औपपातिक है ?
औपपातिक नही है ?
औपपातिक है और नही है ?
औपपातिक न है, न नही है ?

× ×

(३) सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल नही है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल है, नही है ?
सुकृत दुष्कृत कर्म का फल न है, न नही है ?

× ×

(४) मरणानन्तर तथागत है ?
मरणानन्तर तथागत नही है ?
मरणानन्तर तथागत है और नही है ?
मरणानन्तर तथागत न है और न नही है ?

सजय के सशयवाद मे और स्याद्वाद मे यही अन्तर है कि स्याद्वाद निश्चयात्मक है किन्तु सजय का सशयवाद अनिश्चयात्मक है। श्रमण भगवान् महावीर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अपेक्षा की दृष्टि से निश्चित रूप से देते थे। उन्होने कभी भी तथागत बुद्ध की तरह किसी प्रश्न को अव्याकृत कहकर टालने का प्रयास नही किया और न सजय की तरह अनिश्चित ही उत्तर दिया। स्मरण रखना चाहिए स्याद्वाद सशयवाद नही है, न अज्ञानवाद है, न अस्थिरवाद है, न विक्षेपवाद है—वह तो निश्चयवाद है, ज्ञानवाद है।

---

१ दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त

भगवान् महावीर ने अपनी विशाल व तत्त्व-स्पर्शिनी दृष्टि से वस्तु के विराट् रूप को निहारकर कहा—वस्तु मे चार पक्ष ही नही होते किन्तु प्रत्येक वस्तु मे अनन्त पक्ष हैं, अनन्त विकल्प हैं, अनन्त धर्म हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए भगवान् महावीर ने उक्त चतुष्कोटि से विलक्षण, वस्तु मे रहे हुए प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभगी का वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया और अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्तभगी का प्रतिपादन करके वस्तुबोध का सर्वग्राही रूप जन-जन के सामने उपस्थित किया।

भगवान् महावीर से पूर्व उपनिषद् काल मे वस्तु-तत्त्व के सदसद्वाद को लेकर विचारणा चल रही थी किन्तु पूर्णरूप से निर्णय नही हो सका था। सजय ने उन ज्वलत प्रश्नो को अज्ञात कहकर टालने का प्रयास किया। बुद्ध ने कितनी ही बातो मे विभज्यवाद का कथन करके अन्य बातो को अव्याकृत कह दिया किन्तु महावीर ने स्पष्ट उद्घोषणा की कि चिन्तन के क्षेत्र मे किसी भी वस्तु को केवल अव्याकृत या अज्ञात कह देने से समाधान नही हो सकता। इसलिए उन्होने अपनी तात्त्विक व तर्क-मूलक दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन किया। सप्तभगीवाद, स्याद्वाद, उसी का प्रतिफल है।

●

☐ निक्षेपवाद : एक विश्लेषण

- ○ निक्षेप की परिभाषा
- ○ निक्षेप का फल
- ○ निक्षेप का आधार
- ○ निक्षेप पद्धति की उपयोगिता
- ○ नय और निक्षेप
- ○ नाम निक्षेप
- ○ स्थापना निक्षेप
- ○ द्रव्य निक्षेप
- ○ भाव निक्षेप

निक्षेपवाद : एक विश्लेषण

निक्षेप की परिभाषा

मानव अपने विचारो को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के वह अपने विचार सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नही कर सकता। मानव और पशु मे एक बहुत बडा अन्तर यही है कि दोनो मे अनुभूति होने पर भी पशु भाषा की स्पष्टता न होने से उसे व्यक्त नही कर पाता जब कि मानव अपने विचारो को भाषा के माध्यम से भली-भाँति व्यक्त कर सकता है।

विश्व का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नही सकता। परस्पर के व्यवहार को अच्छी तरह से चलाने के लिए भाषा का सहारा और शब्द-प्रयोग का माध्यम अनिवार्य है। विश्व मे हजारो भाषाएँ हैं, और उनके लाखो शब्द हैं। हरएक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं। भाषा के परिज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है, और शब्द-ज्ञान के लिए भाषा-ज्ञान जरूरी है। किसी भी भापा का सही प्रयोग तभी हो सकता है जब हम उन शब्दो का समुचित प्रयोग करना सीखे।

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का नियत अर्थ क्या है इसे ठीक रूप से समझ लेना जैनदर्शन की भाषा मे निक्षेपवाद कहा जाता है। निक्षेप का लक्षण जैन दार्शनिको ने इस प्रकार बताया है कि शब्दो का अर्थो मे और अर्थो का शब्दो मे आरोप करना, अर्थात् जो किसी एक निश्चय या निर्णय मे स्थापित करता है उसे निक्षेप कहते है।[1]

निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास है। तत्त्वार्थसूत्र मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे 'न्यासो निक्षेप' इन शब्दो के द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है।

---

१ णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ —धवला, षट्खण्डागम पु० १, पृ० १०

२ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यास । —तत्त्वार्थसूत्र १।५

निक्षेप का फल

अनुयोगद्वार की टीका मे कहा है कि निक्षेपपूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमे स्पष्टता आती है, इसलिए अर्थ की स्पष्टता उसका प्रकट फल है।[1] लघीयस्त्रय की स्वोपज्ञवृत्ति मे लिखा है कि अप्रस्तुत अर्थ को दूर कर प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करना निक्षेप का फल है।[2] उपाध्याय यशोविजयजी ने शब्द की अप्रतिपत्त्यादि व्यवच्छेदक अर्थरचना को निक्षेप कहा है।[3] अर्थात् निक्षेप का फल अप्रतिपत्ति का व्यवच्छेद है। यहाँ पर अप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ है अज्ञान, सशय और विपर्यय। अर्थात् निक्षेप का आश्रय लेने से अज्ञान दूर होता है, सशय नष्ट होता है और विपर्यय नही रहता है।

प्रश्न है—निक्षेपो के बिना प्रमाण और नय से तत्त्वार्थ का निश्चय होता है तब निक्षेपो की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर है—प्रमाण और नय से वस्तु या वस्तु-अश जाना जाता है जबकि निक्षेप शब्द के नियत अर्थ को समझने-समझाने की एक पद्धति है। शब्द का उच्चारण होने पर उसके अप्रकृत (अनभिप्रेत) अर्थ का निराकरण और प्रकृत अर्थ के निरूपण के लिए निक्षेप आवश्यक है। यदि प्रमाण और नय के द्वारा अप्रकृत अर्थ को जान लिया जाये तो वह व्यवहार मे उपयोगी नही हो सकता। मुख्य अर्थ और गौण अर्थ का विभाग होने से ही व्यवहार की सिद्धि होती है, और मुख्य तथा गौण का भेद समझना नाम आदि निक्षेप के बिना सम्भव नही है। इसलिए निक्षेप के बिना तत्त्वार्थ का ज्ञान नही हो सकता।[4]

---

१ आवश्यकादिशब्दानामर्थो निरूपणीय, स च निक्षेपपूर्वक एव स्पष्टतया निरूपिता भवति।
—अनुयोगद्वार वृत्ति

२ (क) अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थ व्याकरणाच्च निक्षेप फलवान्।
—लघीयस्त्रय० स्वो०। वृ० ७।२

(ख) अवगयणिवारणट्ठ, पयदस्स परूवणाणिमित्त च।
ससयविणासणट्ठ, तच्चत्थववारणट्ठ च ॥

३ प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादि व्यवच्छेदकयथास्थान विनियोगात् शब्दार्थरचना-विशेषा निक्षेपा।
—तर्कभाषा, तृतीय परिच्छेद

४ लघीयस्त्रय पृ० ९९

सिद्धिविनिश्चय मे भट्ट अकलक ने लिखा है[1] कि किसी धर्मी मे नय के द्वारा जाने हुए धर्मो की योजना करने को निक्षेप कहते है। निक्षेप के अनन्त भेद हैं किन्तु सक्षेप मे कहा जाय तो उसके चार भेद हैं। अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का निरूपण करना उसका उद्देश्य है। निक्षेप द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वो को जानने का कारण है। निक्षेप से केवल तत्त्वार्थ का ज्ञान ही नही होता अपितु सशय, विपर्यय आदि भी नष्ट हो जाते हैं। निक्षेप तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु इसलिए है कि वह शब्दो मे, यथाशक्ति उनके वाच्यो मे, भेद की रचना करता है, एतदर्थ ज्ञाता के श्रुतविषयक विकल्पो की उपलब्धि के उपयोग का नाम निक्षेप है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार—प्रधान, अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि-बिन्दु हैं। भाव अकल्पित दृष्टि है, एतदर्थ वह प्रधान होता है, शेष तीन निक्षेप कल्पित है, अत अप्रधान है।

नाम से वस्तु की पहचान होती है। स्थापना मे गुण की वृत्ति नही होती किन्तु आकार की भावना होती है। द्रव्य मे मूल वस्तु की पूर्व या उत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है, पर इसमे भी मौलिकता नही होती, एतदर्थ ये तीनो अमौलिक हैं।

निक्षेप पद्धति की उपयोगिता

निक्षेप मे शब्द और उसके वाच्य की मधुर सगति है। निक्षेप को बिना समझे भाषा के वास्तविक अर्थ को नही समझा जा सकता। अर्थ-सूचक शब्द के पीछे अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाला जो विशेषण लगता है यही निक्षेप पद्धति की विशेषता है। दूसरे शब्दो मे 'स-विशेषण भाषा प्रयोग' भी इसको कह सकते हैं। अर्थ के अनुरूप शब्द रचना या शब्द प्रयोग का ज्ञान वाणी-सत्य का महान् तत्त्व है। चाहे विशेपण का

---

१ निक्षेपोऽनन्तकल्पश्चतुरवरविधु प्रस्तुतव्याक्रियार्थ ।
तत्त्वार्थज्ञानहेतुर्द्वयनयविपय सशयच्छेदकारी ॥
शब्दार्थप्रत्ययाङ्ग विरचयतियतस्तद्यथाशक्तिभेदम् ।
वाच्याना वाचकेपु श्रुतविपयविकल्पोपलब्धेस्तत स ॥
—सिद्धिविनिश्चय, निक्षेपपद्धति १

प्रयोग न भी किया जाय तथापि वह विशेपण अन्तर्हित अवश्य रहता है। यदि अपेक्षादृष्टि का ध्यान नही रखा जायेगा तो कदम-कदम पर असत्य भाषा का प्रसग उपस्थित होगा। जो किसी समय न्यायाधीश था वह आज भी न्यायाधीश है—यह मिथ्या हो सकता है और भ्रमपूर्ण भी। एतदर्थ निक्षेपदृष्टि की अपेक्षा विस्मृत नही होना चाहिए, यह विधि जितनी व्यावहारिक है उतनी ही गम्भीरता को लिए हुए भी है।

नाम—एक निर्धन व्यक्ति का नाम लक्ष्मीनारायण होता है।

स्थापना—एक पाषाण की प्रतिमा को भी लोग 'देव' मानते है।

द्रव्य—जो किसी समय घी का घडा रहा था, उसे आज भी घी का घडा कहते है। जो भविष्य मे घी का घडा बनने वाला है वह भी घी का घडा कहलाता है। एक व्यक्ति वकालत मे निष्णात है किन्तु वर्तमान समय मे वह व्यापार मे लगा हुआ है तथापि लोग उसे वकील कहते है। भौतिक ऐश्वर्य का अधिपति ससार मे इन्द्र के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आत्म-ऐश्वर्य का अधिकारी लोकोत्तर जगत मे इन्द्र कहलाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवहार का कारण निक्षेप पद्धति है।

नय और निक्षेप

नय और निक्षेप का सम्बन्ध विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप ज्ञेयात्मक। शब्द और अर्थ मे वाच्य-वाचक का सम्बन्ध है तथा उसकी स्थापना की क्रिया का नाम निक्षेप है। नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप ये तीन द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं और भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है।[1]

नाम निक्षेप

व्यवहार की सुविधा के लिए वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार जो सज्ञा प्रदान की जाती है वह नाम निक्षेप है। नाम सार्थक और निरर्थक दोनो प्रकार का हो सकता है। सार्थक नाम 'इन्द्र' है और निरर्थक नाम 'डित्थ' है। किन्तु जो नामकरण केवल सकेत मात्र होता है जिसमे उस वस्तु की जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, आदि की अपेक्षा नही होती, वह नाम निक्षेप है। एक निरक्षर व्यक्ति का नाम विद्यासागर रख दिया। एक गरीब

---

१ नाम ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो॥ —सन्मति प्रकरण १।६

व्यक्ति का नाम लक्ष्मीपति रख दिया। विद्यासागर व लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिए वह उनमे नही मिलता। इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते है। विद्यासागर का अर्थ विद्या का समुद्र है और लक्ष्मीपति का अर्थ धन का मालिक है। विद्या का सागर होने से किसी को विद्यासागर कहना यह नाम निक्षेप नही है। जो ऐश्वर्य सम्पन्न हो उसे इसी कारण लक्ष्मीपति कहा जाय तो यह भी नाम निक्षेप नही है। गुण की विवक्षा न करके नामकरण करना नाम निक्षेप है। यदि नाम के साथ इसी प्रकार का गुण भी विवक्षित हो तो वह भाव निक्षेप हो जायेगा। यदि नाम निक्षेप नही होता तो हम 'विद्यासागर', 'लक्ष्मीपति' आदि नाम सुनकर अगाध विद्वत्तासम्पन्न एव धनाढ्य व्यक्ति की ही कल्पना करते, पर सर्वत्र ऐसा नही होता। इसलिए इन शब्दो का वाच्य जब अर्थानुकूल नही होता तब नाम निक्षेप ही विवक्षित समझना चाहिए।

नाम निक्षेप मे जो उसका मूल नाम है उसी से उसे पुकारा जाता है किन्तु उस नाम के पर्यायवाची शब्दो से उसका कथन नही हो सकता। जैसे किसी व्यक्ति का नाम यदि इन्द्र रखा गया हो तो उसे सुरेन्द्र, देवेन्द्र पुरन्दर, पाकशासन, शक्र आदि शब्दो से सम्बोधित नही किया जा सकता।

काल की अपेक्षा से भी नाम के दो भेद हैं—एक शाश्वत और दूसरा अशाश्वत। जो नाम हमेशा रहने वाले है वे शाश्वत है जैसे सूर्य, चन्द्र, मेरु, सिद्धशिला, लोक, अलोक आदि। जिन नामो मे परिवर्तन होता रहता है वे अशाश्वत नाम हैं जैसे जो लडकी मायके मे 'कमला' के नाम से प्रसिद्ध है उसी का ससुराल मे 'विमला' नाम रख दिया जाता है।

स्थापना निक्षेप

जो अर्थ तद्रूप नही है, उसे तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। अर्थात् किसी एक वस्तु की अन्य वस्तु मे यह परिकल्पना करना कि यह वह है, स्थापना निक्षेप कहा जाता है। स्थापना निक्षेप के दो भेद हैं—तदाकार स्थापना और अतदाकार स्थापना। इन्हे सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना भी कहते हैं। किसी वस्तु की उसी के आकार वाली दूसरी वस्तु मे स्थापना करना तदाकार स्थापना है। जैसे देवदत्त के चित्र को देवदत्त मानना। शतरज आदि के मोहरो मे अश्व, गज, आदि की, जो उस आकार

से रहित हैं कल्पना करना अतदाकार स्थापना है। नाम और स्थापना दोनो वास्तविक अर्थ से शून्य होते हैं।

द्रव्य निक्षेप

अतीत-व्यवस्था, भविष्यत् अवस्था और अनुयोग दशा—ये तीनो विवक्षित क्रिया मे परिणत नही होते, इसलिए इन्हे द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। वाणी व्यवहार विचित्र प्रकार का होता है। किसी समय भूतकालीन स्थिति का वर्तमान मे प्रयोग किया जाता है तो किसी समय भविष्यकालीन स्थिति का वर्तमान मे प्रयोग होता है।

किसी घडे मे किसी समय घी भरा जाता था, आज वह खाली पडा है। तथापि उसे घी का घडा कहना, या घी भरने के लिए घडा मंगवाया गया हो, अभी तक उसमे घी नही भरा हो तथापि उसे घी का घडा कहना द्रव्य निक्षेप है। इसी प्रकार जो भूतकाल मे न्यायाधीश था, अव निवृत्त हो चुका है उसे अव भी न्यायाधीश कहना अथवा भावी राजा को वर्त्तमान मे राजा कहना द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्य निक्षेप का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसमे ऐसे अनेक वाणी प्रयोग सभव हैं जैसे भावी मे राजा होने वाले को राजा कहा जाता है। राजा के मृत देह को भी राजा कहा जाता है।

द्रव्य निक्षेप के आगम द्रव्य निक्षेप और नो-आगम द्रव्य निक्षेप इस प्रकार दो भेद किये है। नो-आगम द्रव्य निक्षेप के (१) ज्ञ-शरीर (२) भव्य-शरीर और (३) तद्व्यतिरिक्त ये तीन भेद किये गये हैं।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा जानता था वह 'ज्ञ'-शरीर या ज्ञायक शरीर है। एक पण्डित के मृत शरीर को देखकर यह कहा जाय कि यह ज्ञानी था, तो यह ज्ञ-शरीर नो-आगम द्रव्य निक्षेप का प्रयोग हुआ।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा भविष्य मे जानने वाला है, वह भव्य-शरीर है। जैसे एक वालक के विलक्षण शारीरिक लक्षणो को देखकर कहना कि यह महान् ज्ञानी होगा, तो यह भव्य-शरीर नो-आगम द्रव्य निक्षेप है।

प्रथम दो भेदो मे शरीर का ग्रहण किया गया है, तृतीय भेद मे शरीर नही अपितु शारीरिक क्रिया ग्रहण की जाती है अत उसे तद्व्यतिरिक्त कहते है। जैसे किसी मुनिराज की धर्मोपदेश के समय होने वाली हस्तादि की चेष्टाएं।

आगम द्रव्य निक्षेप मे उपयोग रूप आगम-ज्ञान नही होता, लब्धिरूप (शक्तिरूप) होता है। नो-आगम द्रव्य निक्षेपो में दोनो प्रकार का आगम-ज्ञान नही होता, केवल आगम-ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। नो-आगम-तद्व्यतिरिक्त मे आगम-ज्ञान का पूर्णरूप से अभाव होता है। इसे क्रिया की अपेक्षा से द्रव्य कहा है। यह तीन प्रकार का है—लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।

(१) लौकिक मान्यतानुसार 'श्रीफल' मगल है।

(२) कुप्रावचनिक मान्यतानुसार 'विनायक' मगल है।

(३) लोकोत्तर मान्यतानुसार ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप धर्म मगल है।

इस प्रकार भाव-शून्यता, वर्तमान पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमे द्रव्यता का आरोप है, इसलिए इसे द्रव्य निक्षेप कहा है।

भाव निक्षेप

शब्द के द्वारा वर्तमान पर्याययुक्त वस्तु का ग्रहण होना भाव निक्षेप है।

(१) उपयुक्त ज्ञाता अर्थात् अध्यापक अध्यापक शब्द के अर्थ मे उपयुक्त हो तब वह आगम भाव निक्षेप से अध्यापक है।

(२) क्रिया प्रवृत्त ज्ञाता जो अध्यापक अध्यापन मे प्रवृत्त है उसकी क्रियाएँ नो-आगम से भाव निक्षेप है।

यहाँ पर 'नो' शब्द देश वाची है क्योंकि यहाँ अध्यापक का क्रिया रूप अश नो-आगम है। इसके भी तीन रूप हैं—(१) लौकिक, (१) कुप्रावचनीक और (३) लोकोत्तर।

नो-आगम तद्व्यतिरिक्त द्रव्य निक्षेप के लौकिक आदि तीन भेद कहे हैं और नो-आगम भाव के भी तीन रूप कहे हैं। पर इन दोनो मे अन्तर यही है कि द्रव्य मे 'नो' शब्द सर्वथा आगम का निषेध बताता है और भाव मे एकदेश से निषेध बताया गया है।[1] द्रव्य तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र केवल क्रिया है और भाव तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनो हैं। अध्यापक हाथ का सकेत आदि करता है, पुस्तक के पृष्ठ उलटता है, यह

---

१ आगम सव्व निसेहे, नो सद्दो अहव देस पडिसेहे।
—नो शब्द के दो अर्थ हैं सर्व-निषेध और देश-निषेध।

क्रियात्मक अश ज्ञान नही है, एतदर्थ भाव मे 'नो' शब्द देश निषेधवाची है। भाव निक्षेप का सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्याय से ही है अत इस निक्षेप मे द्रव्य-निक्षेप की तरह ज्ञायक-शरीर आदि भेद नही होते। इन दोनो निक्षेपो मे यही भेद है।

निक्षेप प्रत्येक वस्तु पर घटित किये जा सकते है, ऐसा नही कि किसी पर घटित हो और किसी पर नही। अलवत्ता इनकी सख्या कही अधिक और कही न्यून हो सकती है तथापि कम से कम चार निक्षेप तो सर्वत्र ही घटित होने हैं।

जितने भी पदार्थ है वे चतुष्पर्यायात्मक होते हैं। कोई भी वस्तु केवल नाममय, केवल स्थापनामय, केवल द्रव्यता-श्लिष्ट अथवा केवल भावात्मक नही होती। अतएव नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चारो एक ही वस्तु के अग भी माने जाते हैं। किसी भी वस्तु की जो सज्ञा है वह उसका नाम निक्षेप है। उसकी आकृति स्थापना निक्षेप है। उस वस्तु का मूल द्रव्य द्रव्यनिक्षेप है और उसकी वर्तमान पर्याय भावनिक्षेप है। यह अभेदवृत्तिक निक्षेप का स्वरूप है।
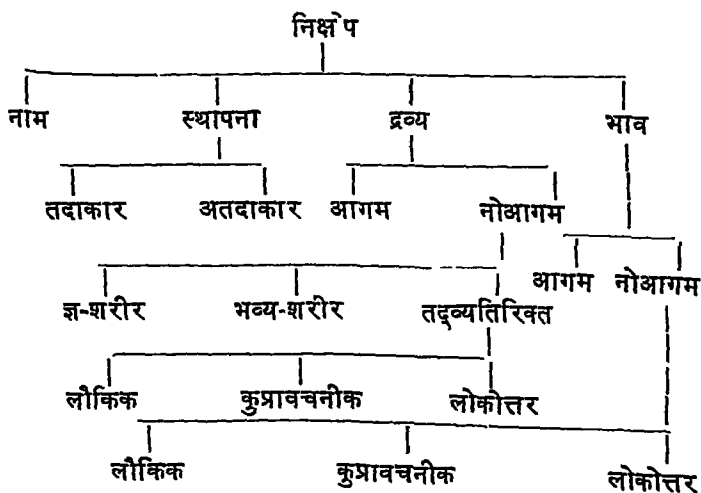
निक्षेप का विवेचन भाषा को नियतार्थक वनाने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसलिए यहाँ पर इस पर चिन्तन किया गया है।

नय-वाद : एक अध्ययन

- विचार की आधारभित्ति
- नय विभाग का आधार
- दो परम्पराएँ
- नैगमनय
- नैगमाभास
- सग्रहनय
- सग्रहाभास
- व्यवहारनय
- व्यवहाराभास
- ऋजुसूत्रनय
- ऋजुसूत्राभास
- शब्दनय
- शब्दनयाभास
- समभिरूढनय
- समभिरूढनयाभास
- एवभूतनय
- एवभूतनयाभास
- नयों का एक दूसरे से सम्बन्ध
- आध्यात्मिक दृष्टि से नय पर चिन्तन
- प्रमाण और नय
- द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि
- व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि
- अर्थनय और शब्दनय
- नय के प्रकार
- नय प्रमाण या अप्रमाण ?
- सुनय और दुर्नय
- जैनदर्शन की अखण्डता का रहस्य

नय-वाद : एक अध्ययन

विचार की आधारभित्ति

नयवाद जैनदर्शन का एक प्रधान और मौलिक वाद है। जड और चेतन जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह वाद एक सर्वागीण दृष्टि प्रस्तुत करता है और विभिन्न एकागी दृष्टियो मे सुन्दर एव साधार समन्वय स्थापित करता है। अनेकान्त सिद्धान्त का यही मूल आधार है। इस विषय मे यहाँ किंचित् विचार किया जाएगा।

नयो को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके मूल को समझने का प्रयत्न किया जाय। सामान्यतया इस जगत् मे विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी।

जो विचार सकल्प प्रधान होता है उसे ज्ञानाश्रयी कहते है। नैगम-नय ज्ञानाश्रयी विचार है।

जो अर्थ को प्रधान मानकर चलता है वह अर्थाश्रयी विचार है। सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थाश्रयी विचार हैं। ये नय अर्थ के भेद और अभेद की मीमासा करते है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का सग्रहनय मे अन्तर्भाव किया गया है। न्याय एव वैशेषिक आदि दर्शन के विचारो का व्यवहारनय मे समावेश किया गया है। क्षणिकवादी बौद्ध के विचार को ऋजुसूत्रनय मे आत्मसात् किया गया है।

शब्दाश्रयी विचार वह है जो शब्द की मीमासा करे। शब्द, समभिरूढ और एवभूत—ये तीनो शब्दाश्रयी विचार है। शब्दाश्रयी लोग भाषा-शास्त्री होते हैं जो अर्थ की ओर ध्यान न देकर प्रधानतया शब्द की ओर ध्यान देते हैं।

इनके आधार पर नयो की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—

(१) नैगम—सकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(२) सग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(३) व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होने वाला विचार।

☐ नय-वाद : एक अध्ययन

- ○ विचार की आधारभित्ति
- ○ नय विभाग का आधार
- ○ दो परम्पराएँ
- ○ नैगमनय
- ○ नैगमाभास
- ○ संग्रहनय
- ○ संग्रहाभास
- ○ व्यवहारनय
- ○ व्यवहाराभास
- ○ ऋजुसूत्रनय
- ○ ऋजुसूत्राभास
- ○ शब्दनय
- ○ शब्दनयाभास
- ○ समभिरूढनय
- ○ समभिरूढनयाभास
- ○ एवंभूतनय
- ○ एवंभूतनयाभास
- ○ नयों का एक दूसरे से सम्बन्ध
- ○ आध्यात्मिक दृष्टि से नय पर चिन्तन
- ○ प्रमाण और नय
- ○ द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि
- ○ व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि
- ○ अर्थनय और शब्दनय
- ○ नय के प्रकार
- ○ नय प्रमाण या अप्रमाण ?
- ○ सुनय और दुर्नय
- ○ जैनदर्शन की अखण्डता का रहस्य

नय-वाद : एक अध्ययन

विचार की आधारभित्ति

नयवाद जैनदर्शन का एक प्रधान और मौलिक वाद है। जड और चेतन जगत् के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए यह वाद एक सर्वागीण दृष्टि प्रस्तुत करता है और विभिन्न एकागी दृष्टियो मे सुन्दर एव साधार समन्वय स्थापित करता है। अनेकान्त सिद्धान्त का यही मूल आधार है। इस विषय मे यहाँ किंचित् विचार किया जाएगा।

नयो को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके मूल को समझने का प्रयत्न किया जाय। सामान्यतया इस जगत् मे विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते है—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी।

जो विचार सकल्प प्रधान होता है उसे ज्ञानाश्रयी कहते है। नैगम-नय ज्ञानाश्रयी विचार है।

जो अर्थ को प्रधान मानकर चलता है वह अर्थाश्रयी विचार है। सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये अर्थाश्रयी विचार हैं। ये नय अर्थ के भेद और अभेद की मीमासा करते है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का सग्रहनय मे अन्तर्भाव किया गया है। न्याय एव वैशेषिक आदि दर्शन के विचारो का व्यवहारनय मे समावेश किया गया है। क्षणिकवादी बौद्ध के विचार को ऋजुसूत्रनय मे आत्मसात् किया गया है।

शब्दाश्रयी विचार वह है जो शब्द की मीमासा करे। शब्द, समभिरूढ और एवभूत—ये तीनो शब्दाश्रयी विचार हैं। शब्दाश्रयी लोग भाषा-शास्त्री होते है जो अर्थ की ओर ध्यान न देकर प्रधानतया शब्द की ओर ध्यान देते हैं।

इनके आधार पर नयो की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—

(१) नैगम—सकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(२) सग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(३) व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(४) ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(५) शब्द—यथाकाल, यथाकारक, शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(६) समभिरूढ—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(७) एवम्भूत—वस्तु के कार्यानुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

नयविभाग का आधार

अभेद सग्रहदृष्टि का आधार है और भेद व्यवहारदृष्टि का। सग्रहनय भेद को नही मानता है और व्यवहारनय अभेद को स्वीकार नही करता है। नैगम नय का आधार है—अभेद और भेद ये दोनो एक पदार्थ मे रहते हैं, ये सर्वथा दो नही है परन्तु गौण—मुख्य भाव से दो है।[1] इस दृष्टि मे मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है पर गौण रूप से। कभी धर्मी मुख्य बनता है तो कभी धर्म। अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार क्रम मे परिवर्तन होता रहता है।

ऋजुसूत्रनय का आधार चरम भेद है। यह केवल वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है। पूर्व और पश्चात् की पर्यायो को नही।

शब्द भेद के अनुसार अर्थ का भेद होता है, यह शब्दनय की मूल भित्ति है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ पृथक्-पृथक् है। एक अर्थ के दो वाचक नही हो सकते यह समभिरूढनय का आधार है।

एवभूतनय के अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढनय अर्थ की क्रिया मे अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है। वह वाच्य और वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु एवभूत वाच्य-वाचक के प्रयोग को केवल वर्तमान मे ही स्वीकार करता है। इस दृष्टि से सात नयो के विषय इस प्रकार बनते हैं—

---

१ अन्यदेव हि सामान्यमभिन्नज्ञानकारणम्।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नय ॥

(१) नैगम—अर्थ का अभेद व भेद तथा दोनो।
(२) सग्रह—अभेद
(क) पर-सग्रह—चरम अभेद
(ख) अपर-सग्रह—अवान्तर अभेद
(३) व्यवहार—भेद, अवान्तर भेद
(४) ऋजुसूत्र—चरम भेद
(५) शब्द—भेद
(६) समभिरूढ—भेद
(७) एवभूत—भेद

इन सात नयो मे सग्रहनय की दृष्टि अभेद है, भेद दृष्टियाँ पाँच है और नैगमनय की दृष्टि भेद और अभेद दोनो से सयुक्त है। वह सयुक्त दृष्टि इस बात की सूचक है कि भेद मे ही अभेद और अभेद मे ही भेद है। जैनदर्शन को भेद के साथ ही अभेद भी मान्य रहा है। जड और चेतन ये दोनो पदार्थ सत् हैं अत सत्त्व धर्म की दृष्टि से अभिन्न है। पर दोनो मे स्वभाव भेद है इसलिए भिन्न हैं। वस्तुत भेद और अभेद दोनो तात्त्विक है, क्योकि भेदशून्य अभेद मे अर्थक्रिया नही होती। विशेष मे ही अर्थक्रिया होती है परन्तु अभेदशून्य भेद मे भी अर्थक्रिया नही होती। कारण और कार्य का सम्बन्ध नही मिलता। पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण का कारण तभी बन सकता है जब कि दोनो मे एक अन्वयी अर्थात् एक ध्रुव या अभेदाश माना जाये। एतदर्थ ही जैनदर्शन अभेदाश्रित भेद और भेदाश्रित अभेद को स्वीकार करता है।

दो परम्पराएँ

पूर्व मे यह बताया जा चुका है कि नय के दो भेद है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इस विभाग के सम्बन्ध मे दो परम्पराएँ है, एक सैद्धान्तिको की और दूसरी तार्किको की। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी हैं। उनके अभिमतानुसार नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक है। शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये पर्यायार्थिक नय हैं।

सिद्धसेन दिवाकर तार्किक परम्परा के प्रमुख हैं। उनके अनुसार पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक हैं।[1]

---

१ तार्किकाणा त्रयो भेदा, आद्या द्रव्यार्थतो मता।
सैद्धान्तिकाना चत्वार पर्यायार्थगता परे॥ —न्यायोपदेश १८

सैद्धान्तिक ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानते है। उसका आधार है अनुयोगद्वार का निम्न सूत्र—

"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सय पुहुत्त नेच्छइ।"[1]

इसका तात्पर्य यह है—ऋजुसूत्र की दृष्टि से एक उपयोगशून्य व्यक्ति एक द्रव्यावश्यक है। सैद्धान्तिक परम्परा का कथन है कि यदि ऋजु-सूत्र को द्रव्यग्राही न माना जाये तो प्रस्तुत सूत्र से विरोध आयेगा।

तार्किको का कथन है कि अनुयोगद्वार मे वर्तमान आवश्यक पर्याय मे द्रव्य पद का उपचार किया गया है।[2] अत यहाँ पर कोई विरोध नही है। सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसको द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप मे उपचार और वास्तविक दृष्टि मे वर्तमान पर्याय मानकर उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। मुख्य द्रव्य कोई नही मानता है। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनो मे अपेक्षा भेद है, तात्त्विक विरोध नही।

नय के मुख्य सात भेद है अत हम यहाँ पर उनके स्वरूप का विवेचन करेंगे।

नैगमनय

सामान्य-विशेष के सयुक्त रूप का निरूपण नैगम-नय है।[3] यह उभयग्राही दृष्टि है। सामान्य और विशेष ये दोनो इसके विषय हैं। इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एकदेश का बोध होता है। न्याय व वैशेषिक-दर्शन का मन्तव्य है कि सामान्य और विशेष स्वतत्र पदार्थ हैं[4] किन्तु जैन-दर्शन इस मन्तव्य को स्वीकार नही करता क्योकि सामान्यरहित विशेष की और विशेषरहित सामान्य की कही भी प्रतीति नही होती। ये दोनो पदार्थ के ही स्वभाव हैं। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल मे जो

---

१ अनुयोगद्वार १४

२ नयरहस्य पृ० १२

३ (क) देश-समग्र-ग्राही नैगम। —तत्त्वार्थभाष्य १।३५

(ख) नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम्।
निर्विशेष न सामान्य, विशेषोऽपि न तद् विना। —नयकर्णिका

(ग) णेगेहिं माणेहिं मिणइत्ति णेगमस्स य निरुत्ती। —अनुयोगद्वार सूत्र टीका

४ नैगमनयानुरोधिन कणादा आक्षपादाश्च —स्याद्वादमजरी श्लोक १४ की टीका

अनुवृत्ति होती है वह सामान्य अश है और जो व्यावृत्ति होती है वह विशेष अश है। कोई भी पदार्थ एकान्तरूप से अनुवृत्ति या व्यावृत्ति रूप नही है। जिस पदार्थ की जिस समय दूसरो से अनुवृत्ति होती है, उसकी उसी समय दूसरो से व्यावृत्ति भी होती है।

गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान्, क्रिया और कारक, आदि मे भेद और अभेद की विवक्षा करना नैगमनय है। गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान् आदि मे कथचित् भेद है और कथचित् अभेद है। किसी समय वक्ता की विवक्षा भेद की ओर होती है और किसी समय अभेद की ओर। जिस समय भेद की ओर विवक्षा होती है उस समय अभेद गौण हो जाता है और जिस समय अभेद का प्रयोजन होता है उस समय भेद गौण हो जाता है। भेद और अभेद को गौण या मुख्यभाव से ग्रहण करना नैगमनय है। अकलकदेव ने कहा है—जिस समय भेद को ग्रहण करना हो उस समय अभेद को गौण समझना और भेद को मुख्य मानना, और अभेद को ग्रहण करते समय भेद को गौण समझना और अभेद को मुख्य मानना नैगमनय है।[1] जैसे गुण और गुणी को लें। जीव गुणी है और सुख उसका गुण है। 'जीव सुखी है' इसमे किसी समय जीव और सुख के अभेद की प्रधानता होती है और भेद की अप्रधानता होती है। कभी भेद की प्रधानता होती है और अभेद की गौणता होती है। दोनो विवक्षाओ को ग्रहण करना नैगमनय है। यह ध्यान रखना चाहिए कि एक की ही प्रधानता होने पर नैगमनय नही होगा। कभी एक की तो कभी दूसरे की प्रधानता होनी ही चाहिए।

नैगमनय और सकलादेश मे यही अन्तर है कि सकलादेश समानरूप से सब धर्मो को ग्रहण करता है किन्तु नैगमनय वस्तु के धर्मो को प्रधान और गौण भाव से ग्रहण करता है।

निगम शब्द का अर्थ है—देश, सकल्प और उपचार। इनमे होने वाले अभिप्राय को नैगम कहते हैं। अर्थात् इसमे सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन तादात्म्य की अपेक्षा से किया जाता है।

---

१ अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात्।
नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इष्यते॥ —लघीयस्त्रय २।५।३९

निगम का अर्थ लोक है। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय नैगम है। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' नही परन्तु अनेक 'गम' बोधमार्ग है वह नैगम है। सभी वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनो धर्मो से युक्त होती है। उनमे जाति आदि सामान्य धर्म हैं और विशेष प्रकार के भेद करने वाले विशेष धर्म हैं। कल्पना कीजिए, सौ घडे पडे हुए हैं। उनमे 'ये सब घडे हैं' यह जो ऐक्य बुद्धि है वह सामान्य धर्म से होती है। 'यह मेरा घडा है' इस प्रकार सभी लोग अपने-अपने घडो को पहचान ले, यह विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणो से युक्त मानता है। उसका मन्तव्य है कि विशेप के विना सामान्य और सामान्य के विना विशेष नही होता।

किसी व्यक्ति से आपने पूछा—आप कहाँ पर रहते हैं?

उसने कहा—मै लोक मे रहता हूँ।

पुन जिज्ञासा प्रस्तुत की—लोक तो अत्यन्त विस्तृत है उसमे आप कहाँ रहते हैं?

उसने कहा—मध्य लोक मे।

मध्यलोक मे भी कहाँ रहते हैं?

जम्बूद्वीप मे।

जम्बूद्वीप मे भी अनेक क्षेत्र है, उनमे से आप किस क्षेत्र मे रहते हैं?

भरत क्षेत्र मे।

भरत क्षेत्र मे भी सैकडो प्रान्त हैं, देश हैं, उनमे आप कहाँ रहते हैं?

भारतवर्ष के राजस्थान प्रान्त मे।

राजस्थान मे भी अनेक शहर हैं उनमे आप किसमे रहते हो?

उदयपुर मे।

उसमे भी अनेक गलियाँ तथा मकान हैं, उनमे कहाँ रहते हो?

अमुक गली के अमुक नम्बर के मकान मे रहता हूँ।

मकान मे भी अनेक कमरे हैं, उनमे से किस कमरे मे रहते हो?

अमुक नम्बर के कमरे मे रहता हूँ।

कमरा भी तो काफी बडा है उसमे कहाँ रहते हो?

एक स्थान मे, फिर कहता है कि मैं अपने इस शरीर मे रहता हूँ।

इस प्रकार निवास के सम्वन्ध मे ये सारे उत्तर नैगमनय के अन्तर्गत हैं।[1] उनमे पूर्व-पूर्व के वाक्य सामान्य धर्म को और उत्तरवर्ती वाक्य विशेष धर्म को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सभी व्यवहारो मे नैगमनय की प्रधानता है।

कितने ही नैगमनय को सकल्पमात्र ग्राही मानते है।[2] जो कार्य करना है उसका सकल्प मात्र ही नैगमनय है। जैसे—एक व्यक्ति कुल्हाडी लेकर जगल मे जा रहा है। मार्ग मे अन्य व्यक्ति मिला। उसने पूछा—कहाँ जा रहे हो? उसने कहा—मैं प्रस्थ[3] लेने जा रहा हूँ। वस्तुत वह पुरुष लकडी काटने जा रहा है प्रस्थ तो पश्चात् वनेगा। किन्तु प्रस्थ के सकल्प को दृष्टि मे रखकर ही वह इस प्रकार कहता है[4]। उसका प्रस्तुत उत्तर नैगमनय की दृष्टि से ठीक है।

नैगमनय के तीन रूप वनते है—(१) भूत-नैगम, (२) भविष्य-नैगम, और (३) वर्तमान-नैगम। भूतकाल मे वर्तमान काल का आरोपण करना भूत-नैगम है। जैसे आज दीपावली के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। श्रमण भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त किये २५०० वर्ष हो गये है तथापि 'आज' शब्द के प्रयोग से वर्तमान काल का आरोप किया गया है। भविष्यकाल के विषय मे वर्तमान काल का आरोपण करना भविष्य-नैगम है, जैसे जिसे एक वार सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है वह अवश्य ही अर्धपुद्गल परावर्तन काल मे मुक्त होगा, अत वर्तमान मे उसे मुक्त कहना। किसी वस्तु को वनाना प्रारभ किया उसे वनाई हुई कहना यह वर्तमान नैगमनय है। जैसे रोटी पकानी शुरू की है। किसी ने पूछा—आज क्या पकाया है। उत्तर मिला—रोटी पकाई है। रोटी पकी नही है,

---

१ तत्र निलयन वसनमित्यनर्थान्तरम्। तद्दृष्टान्तो यथा—कश्चित् केनचित् पृष्ट क्व वसति भवान्? स प्राह लोके। तत्रापि जम्बूद्वीपे, तत्रापि भरतक्षेत्रे, तत्रापि मध्यखण्डे तत्राप्येकस्मिन् जनपदे नगरे गृहे इत्यादीन् सर्वानपि विकल्पान् नैगम इच्छति। —हरिभद्रीयावश्यकटिप्पणे, नयाधिकार

२ अर्थसकल्पमात्रग्राही नैगम। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।३५।२

३ धान्य को नापने के लिए पाँच सेर के परिमाण को प्रस्थ कहते है।

४ हरिभद्रीयावश्यकटिप्पणे, नयाधिकार

पक रही है तथापि वर्तमान नैगम की अपेक्षा से 'पकाई है' इस प्रकार कहना सत्य है।

नैगम नय के तीन भेद होते हैं—[1]

(१) द्रव्य-नैगम

(२) पर्याय-नैगम

(३) द्रव्य-पर्याय नैगम

इनके कार्य का क्रम इस प्रकार है—

(१) दो वस्तुओ का ग्रहण

(२) दो अवस्थाओ का ग्रहण

(३) एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगमनय अनेकान्तदृष्टि का प्रतीक है। जैनदृष्टि से नानात्व और एकत्व दोनो सत्य हैं। एकत्व-निरपेक्ष नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व ये दोनो मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की दृष्टि से सभी गायो मे एकत्व है। पशुत्व की दृष्टि से गायो और अन्य पशुओ मे एकत्व है। जीवत्व की दृष्टि से पशु और अन्य जीवो मे एकत्व है। द्रव्यत्व की दृष्टि से जीव और अजीव मे एकत्व है। अस्तित्व की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व एक है। आपेक्षिक सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर बढते हैं। तब हमारा दृष्टिकोण भेद-वादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहाँ पर अस्तित्व की अपेक्षा है वहाँ पर विश्व एक है परन्तु चैतन्य और अचैतन्य दो परस्पर-विरोधी धर्मों की अपेक्षा विश्व एक नही है। उसके (१) चेतन-विश्व और (२) अचेतन-विश्व ये दो रूप हैं। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु चैतन्य के भी अनन्त भेद है।

चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से उसमे भेद है, किन्तु द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परम्परानुगमत्व आदि असख्य अपेक्षाओ से उनमे अभेद है।

दूसरी दृष्टि से सर्वथा अभेद ही नही भेद भी है, उसमे स्वरूप भेद है। एतदर्थ उनकी अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमे अभेद भी है अत दोनो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक प्रभृति सम्बन्ध भी है।

---

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० २६९-२७०

नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि मे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है क्योकि गुण, गुणी से अलग अपनी सत्ता नही रखता और न गुणो से भिन्न गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अत इनमे कथचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना योग्य है। अवयव-अवयवी, किया-क्रियावान् आदि मे भी यही वात है। यदि गुण-गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतत्र पदार्थ हो तो उनमे नियत सम्बन्ध न होने से गुण-गुणीभाव नही वन सकेगा। कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध का अर्थ है—गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही है। वैशेषिकदर्शन गुण और गुणी मे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानता है जो नैगमाभास है।[1]

साख्य ज्ञान और सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानता है। उसका मन्तव्य है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सुख-ज्ञानादिक धर्म है। वे उसी मे आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृति के ससर्ग से पुरुष मे ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति प्रस्तुत ज्ञान, सुख आदि रूप व्यक्त कार्य की अपेक्षा से दृश्य है तथा अपने कारणरूप अव्यक्त स्वरूप से अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ नित्य है, वह बुद्धि से भिन्न है। इसलिए चेतन पुरुष का धर्म बुद्धि नही है। इस प्रकार साख्यदर्शन आत्मा और ज्ञान मे सर्वथा भेद मानता है जो नैगमाभास है क्योकि आत्मा और ज्ञान मे कोई भेद नही हैं। जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है।[2]

सग्रहनय

सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि सग्रहनय है।[3] स्व-जाति के विरोध के बिना समग्त पदार्थो का एकत्व मे सग्रह करना सग्रहनय कहलाता है। हरएक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, भेद-अभेदात्मक है इन दो धर्मो मे से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति

---

१ लघीयस्त्रयस्ववृत्ति श्लोक ३९

२ जे विन्नाया से आया जे आया से विन्नाया—आचाराग

३ (क) अर्थाना सर्वैकदेश सग्रहण सग्रह । —तत्त्वार्थभाष्य १।३५

(ख) सामान्य-मात्र-ग्राही परामर्श सग्रह । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१३

(ग) सर्वेऽपि भेदा सामान्य रूपतया सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह ।

(घ) सग्रहण सामान्यरूपतया सर्व-वस्तूनामाक्रोडन सग्रह ।

पक रही है तथापि वर्तमान नैगम की अपेक्षा से 'पकाई है' इस प्रकार कहना सत्य है।

नैगम नय के तीन भेद होते हैं—[1]

(१) द्रव्य-नैगम

(२) पर्याय-नैगम

(३) द्रव्य-पर्याय नैगम

इनके कार्य का क्रम इस प्रकार है—

(१) दो वस्तुओ का ग्रहण

(२) दो अवस्थाओ का ग्रहण

(३) एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगमनय अनेकान्तदृष्टि का प्रतीक है। जैनदृष्टि से नानात्व और एकत्व दोनो सत्य है। एकत्व-निरपेक्ष नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व ये दोनो मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की दृष्टि से सभी गायो मे एकत्व है। पशुत्व की दृष्टि से गायो और अन्य पशुओ मे एकत्व है। जीवत्व की दृष्टि से पशु और अन्य जीवो मे एकत्व है। द्रव्यत्व की दृष्टि से जीव और अजीव मे एकत्व है। अस्तित्व की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व एक है। आपेक्षिक सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर बढते हैं। तब हमारा दृष्टिकोण भेद-वादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहाँ पर अस्तित्व की अपेक्षा है वहाँ पर विश्व एक है परन्तु चैतन्य और अचैतन्य दो परस्पर-विरोधी धर्मों की अपेक्षा विश्व एक नही है। उसके (१) चेतन-विश्व और (२) अचेतन-विश्व ये दो रूप हैं। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु चैतन्य के भी अनन्त भेद है।

चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से उसमे भेद है, किन्तु द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परम्परानुगमत्व आदि असख्य अपेक्षाओ से उनमे अभेद है।

दूसरी दृष्टि से सर्वथा अभेद ही नही भेद भी है, उसमे स्वरूप भेद है। एतदर्थ उनकी अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमे अभेद भी है अत दोनो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक प्रभृति सम्बन्ध भी है।

---

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० २६९-२७०

नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि मे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है क्योकि गुण, गुणी से अलग अपनी सत्ता नही रखता और न गुणो से भिन्न गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अत इनमे कथचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना योग्य है। अवयव-अवयवी, किया-क्रियावान् आदि मे भी यही बात है। यदि गुण-गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतत्र पदार्थ हो तो उनमे नियत सम्बन्ध न होने से गुण-गुणीभाव नही बन सकेगा। कथचित् तादात्म्य सम्वन्ध का अर्थ है—गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही है। वैशेषिकदर्शन गुण और गुणी मे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानता है जो नैगमाभास है।[1]

साख्य ज्ञान और सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानता है। उसका मन्तव्य है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सुख-ज्ञानादिक धर्म है। वे उसी मे आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृति के ससर्ग से पुरुष मे ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति प्रस्तुत ज्ञान, सुख आदि रूप व्यक्त कार्य की अपेक्षा से दृश्य है तथा अपने कारणरूप अव्यक्त स्वरूप से अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ नित्य है, वह बुद्धि से भिन्न है। इसलिए चेतन पुरुष का धर्म बुद्धि नही है। इस प्रकार साख्यदर्शन आत्मा और ज्ञान मे सर्वथा भेद मानता है जो नैगमाभास है क्योकि आत्मा और ज्ञान मे कोई भेद नही हैं। जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है।[2]

सग्रहनय

सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि सग्रहनय है।[3] स्व-जाति के विरोध के बिना समग्त पदार्थों का एकत्व मे सग्रह करना सग्रहनय कहलाता है। हरएक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, भेद-अभेदात्मक है इन दो धर्मो मे से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति

---

१ लघीयस्त्रयस्ववृत्ति श्लोक ३९

२ जे विन्नाया से आया जे आया से विन्नाया—आचाराग

३ (क) अर्थाना सर्वैकदेश सग्रहण सग्रह । —तत्त्वार्थभाष्य १।३५

(ख) सामान्य-मात्र-ग्राही परामर्श सग्रह । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१३

(ग) सर्वेऽपि भेदा सामान्य रूपतया सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह ।

(घ) सग्रहण सामान्यरूपतया सर्व-वस्तूनामाक्रोडन सग्रह ।

पक रही है तथापि वर्तमान नैगम की अपेक्षा से 'पकाई है' इस प्रकार कहना सत्य है।

नैगम नय के तीन भेद होते हैं—[1]

(१) द्रव्य-नैगम

(२) पर्याय-नैगम

(३) द्रव्य-पर्याय नैगम

इनके कार्य का क्रम इस प्रकार है—

(१) दो वस्तुओ का ग्रहण

(२) दो अवस्थाओ का ग्रहण

(३) एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगमनय अनेकान्तदृष्टि का प्रतीक है। जैनदृष्टि से नानात्व और एकत्व दोनो सत्य हैं। एकत्व-निरपेक्ष नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व ये दोनो मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की दृष्टि से सभी गायो मे एकत्व है। पशुत्व की दृष्टि से गायो और अन्य पशुओ मे एकत्व है। जीवत्व की दृष्टि से पशु और अन्य जीवो मे एकत्व है। द्रव्यत्व की दृष्टि से जीव और अजीव मे एकत्व है। अस्तित्व की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व एक है। आपेक्षिक सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर बढते हैं। तब हमारा दृष्टिकोण भेद-वादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहाँ पर अस्तित्व की अपेक्षा है वहाँ पर विश्व एक है परन्तु चैतन्य और अचैतन्य दो परस्पर-विरोधी धर्मो की अपेक्षा विश्व एक नही है। उसके (१) चेतन-विश्व और (२) अचेतन-विश्व ये दो रूप हैं। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु चैतन्य के भी अनन्त भेद हैं।

चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से उसमे भेद है, किन्तु द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परम्परानुगमत्व आदि असख्य अपेक्षाओ से उनमे अभेद है।

दूसरी दृष्टि से सर्वथा अभेद ही नही भेद भी है, उसमे स्वरूप भेद है। एतदर्थ उनकी अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमे अभेद भी है अत दोनो मे ज्ञेय-ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक प्रभृति सम्बन्ध भी है।

---

१ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० २६९-२७०

नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् आदि मे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है क्योकि गुण, गुणी से अलग अपनी सत्ता नही रखता और न गुणो से भिन्न गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अत इनमे कथचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना योग्य है। अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् आदि मे भी यही बात है। यदि गुण-गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतत्र पदार्थ हो तो उनमे नियत सम्बन्ध न होने से गुण-गुणीभाव नही बन सकेगा। कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध का अर्थ है—गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही है। वैशेषिकदर्शन गुण और गुणी मे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानता है जो नैगमाभास है।[1]

साख्य ज्ञान और सुख आदि को आत्मा से भिन्न मानता है। उसका मन्तव्य है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के सुख-ज्ञानादिक धर्म है। वे उसी मे आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृति के ससर्ग से पुरुष मे ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति प्रस्तुत ज्ञान, सुख आदि रूप व्यक्त कार्य की अपेक्षा से दृश्य है तथा अपने कारणरूप अव्यक्त स्वरूप से अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ नित्य है, वह बुद्धि से भिन्न है। इसलिए चेतन पुरुष का धर्म बुद्धि नही है। इस प्रकार साख्यदर्शन आत्मा और ज्ञान मे सर्वथा भेद मानता है जो नैगमाभास है क्योकि आत्मा और ज्ञान मे कोई भेद नही हैं। जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है।[2]

सग्रहनय

सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि सग्रहनय है।[3] स्व-जाति के विरोध के बिना समस्त पदार्थों का एकत्व मे सग्रह करना सग्रहनय कहलाता है। हरएक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, भेद-अभेदात्मक है इन दो धर्मो मे से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति

---

१ लघीयस्त्रयस्ववृत्ति श्लोक ३९

२ जे विन्नाया से आया जे आया से विन्नाया—आचाराग

३ (क) अर्थाना सर्वैकदेश सग्रहण सग्रह । —तत्त्वार्थभाष्य १।३५
(ख) सामान्य-मात्र-ग्राही परामर्श सग्रह । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१३
(ग) सर्वेऽपि भेदा सामान्य रूपतया सगृह्यतेऽनेनेति सग्रह ।
(घ) सग्रहण सामान्यरूपतया सर्व-वस्तूनामाक्रोडन सग्रह ।

उपेक्षा भाव रखना सग्रहनय है। अस्तित्व धर्म को न छोडकर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव मे उपस्थित है इसलिए सम्पूर्ण पदार्थो के सामान्य रूप से ज्ञान करने को सग्रहनय कहते हैं।[1] वेदान्ती और साख्य केवल सग्रहनय को मानते हैं। विशेपरहित सामान्य मात्र को जानने वाले को सग्रह कहने हैं।[2]

अनेक पर्यायो को एक द्रव्य रूप से या अनेक द्रव्यो को सादृश्य-मूलक एकत्व रूप से अभेदग्राही सग्रहनय होता है[3]। इसकी दृष्टि मे विधि ही प्रधान है, द्रव्य को छोडकर पर्यायें नही है।

पर-सग्रह और अपर-सग्रह के रूप मे यह नय दो प्रकार का है।[4] पर-सग्रह मे सत् रूप से समस्त पदार्थो का सग्रह किया जाता है[5] और अपर-सग्रह मे एक द्रव्य रूप से समस्त पर्यायो का तथा द्रव्य रूप से समस्त द्रव्यो का, गुण रूप से समस्त गुणो का, गोत्वरूप से समस्त गौओ का, मनुष्यत्व रूप से समस्त मनुष्यो का सग्रह किया जाता है।[6]

अपर-सग्रह वहाँ तक चलता है जव तक भेदमूलक व्यवहार चरम सीमा पर नही पहुँच जाता। छहो द्रव्यो मे समान रूप से रहने वाला द्रव्यत्व अपर सामान्य है।[7] अपर-सग्रहनय, अपर-सामान्य को विषय करता है अत इसकी दृष्टि मे द्रव्यत्व एक होने से सभी द्रव्य एक है।

सग्रहाभास

पर-सग्रह नय सत्ता मात्र को ही विषय करता है और पर-सग्रह नयाभास भी सत्तामात्र को ही विषय करता है किन्तु दोनो मे भेद यह है कि पर-सग्रह विशेषो का निषेध नही करता, उनमे अपेक्षा वतलाता है

---

१ सद्रूपतानतिक्रात स्वस्वभावमिद जगत्।
सत्तारूपतया सर्वं सगृह्णन् सग्रहो मत ॥ —सग्रह श्लोका

२ सगहियपिंडिअत्थ, सगहवयण समासओ विंति। —अनुयोगद्वार

३ शुद्ध द्रव्यमभिप्रैति सग्रहस्तदभेदत। —लघीयस्त्रय श्लोक ३२

४ अयमुभयविकल्प —परोऽपरश्च। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१४

५ अशेपविशेष्वौदासीन्य भजमान शुद्धद्रव्य सन्मात्रमभिमन्यमान परसग्रह।
—वही ७।१५

६ वही ७।१९

७ वही ७।२०

किन्तु पर-सग्रहाभास उनका निषेध करता है। इस तरह दूसरे अश का अपलाप करने से वह नयाभास हो गया है। वेदान्त दर्शन पर-सग्रहाभास है क्योकि एकान्त रूप से वह सत्ता को ही तत्त्व मानता है और विशेपो को मिथ्या कहता है।

द्रव्यत्व आदि सामान्यो को अपर-सग्रहनय स्वीकार करता है पर वह उनके भेदो का—धर्म आदि द्रव्यो का निषेध नही करता किन्तु अपर-सग्रह-नयाभास अपर-सामान्य के भेदो का निपेध करता है अत नयाभास है।

व्यवहारनय

सग्रहनय के द्वारा गृहीत अर्थो का विधिपूर्वक विभाग करने वाला व्यवहारनय है।[1] सग्रहनय जिस अर्थ को ग्रहण करता है उस अर्थ का विशेष रूप से वोध करना हो, तव उसका पृथक्करण करना होता है। सग्रह मे सामान्यमात्र का ग्रहण होता है किन्तु उस सामान्य का क्या रूप है, उसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार की आवश्यकता होती है अर्थात् सग्रह जिस सामान्य को ग्रहण करता है उस सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है।

दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले विचार को व्यवहार नय कहते हैं।[2] जैसे जो सत्य है वह या तो द्रव्य है या पर्याय है। जो द्रव्य है उसके धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह भेद हैं। जो पर्याय है उसके सहभावी और क्रमभावी ये दो भेद हैं। जीव के भी ससारी और मुक्त इस प्रकार दो भेद हैं। सभी द्रव्यो और उनके विषय मे सदा भेदानुसारी वचन-प्रवृत्ति करने वाला नय, व्यवहारनय है। यह नय सामान्य को नही विशेप को ग्रहण करता है[3] क्योकि ससार मे घट आदि विशेष पदार्थ ही जल-धारण आदि क्रिया के योग्य देखे जाते है किन्तु घटत्व आदि सामान्य नही। किसी रुग्ण व्यक्ति

---

१ (क) अतो विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार । —तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।३३।६
(ख) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २७१
(ग) लघीयस्त्रय का० ४२ तथा ७०

२ लौकिक सम उपचारप्रायो, विस्तृतार्थो व्यवहार । —तत्त्वार्थभाष्य १।३५

३ विशेपतोऽवह्रियते, निराक्रियते सामान्य येन, इति व्यवहार ।
—विशेपावश्यकभाष्यवृत्ति

को औषधि दो, इतना कहने से कार्य नही चलेगा, किन्तु औषधि का नाम भी बताना होगा। व्यवहारनय की दृष्टि से कोयल काली है, पर निश्चय दृष्टि से उसमे पाँचो वर्ण है।

व्यवहारनय मे उपचार होता है, बिना उपचार के व्यवहारनय का प्रयोग नही होता। व्यवहारनय के दो भेद है—सामान्यभेदक और विशेषभेदक। सामान्यसग्रह मे दो भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक व्यवहारनय कहते है। जिस प्रकार द्रव्य के दो भेद हैं—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। विशेषसग्रह मे अनेक भेद करने वाला विशेषभेदक व्यवहार-नय कहलाता है, जैसे ससारी जीव के चार भेद है—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इस प्रकार व्यवहारनय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ पुन भेद की सभावना न रहे। इस नय का मुख्य प्रयोजन है व्यवहार की सिद्धि।[१] यह नय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोक-व्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनो से चलता है।

व्यवहारदृष्टि पर्याय को नही किन्तु द्रव्य को ग्रहण करती है अत व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेपात्मक होते हुए द्रव्य रूप है न कि पर्यायरूप। इसी कारण व्यवहारनय की परिगणना द्रव्यार्थिकनय के अन्तर्गत की गई है। नैगम, सग्रह और व्यवहार ये तीनो नय द्रव्यार्थिक नय के भेद है।[२]

व्यवहाराभास

लोक विरुद्ध विसवादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करने वाली भेद कल्पना व्यवहाराभास है।[३]

द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार नय है किन्तु जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है वह व्यवहार-नयाभास है।[४] चार्वाकदर्शन वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को

---

१ व्यवहारानुकूल्या तु प्रमाणाना प्रमाणता।
नान्यथा बाध्यमानाना ज्ञानाना तत्प्रसगत ।　　—लघीयस्त्रय ३।६।७०

२ प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।६

३ कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥　—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० २७१

४ य पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभास।
　　—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।२५

स्वीकार नही करता किन्तु अवास्तविक भूत-चतुष्टय को स्वीकार करता है अत वह व्यवहारनयाभास है।[1]

ऋजुसूत्रनय

वस्तु की अतीत और अनागत पर्यायो को छोडकर वर्तमान क्षण की पर्याय को जानना 'ऋजुसूत्रनय' का विषय है।[2] वस्तु की अतीत पर्याय नष्ट हो चुकी है और अनागत पर्याय उत्पन्न नही हुई है, अत अतीत और अनागत पर्याय आकाश-कुसुम की तरह सम्पूर्ण सामर्थ्य से रहित होकर किसी भी प्रकार की अर्थक्रिया नही करती। एतदर्थ वह अवस्तु है। क्योकि अर्थक्रिया करने वाला ही वस्तुत सत् है।[3] अपने स्वरूप मे अवस्थित परमाणु परस्पर के सयोग से कथचित् समूह रूप होकर किसी कार्य मे प्रवृत्त होते हैं। एतदर्थ ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से स्थूलरूप को धारण न करने वाले स्वरूप मे स्थित परमाणु ही वस्तुत सत् कहे जा सकते हैं। इसलिए ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा निजस्वरूप ही वस्तु है, पर-स्वरूप अनुपयोगी है अत वस्तु नही है।' जिस प्रकार—मैं सुखी हूँ। यहाँ पर सुख पर्याय वर्तमान समय मे है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षणस्थायी सुख पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करता है किन्तु सुख पर्याय की आधारभूत स्थायी आत्मा को स्वीकार नही करता है। इस नय की दृष्टि से वर्तमान का धन ही धन है और वर्तमान का सुख ही सुख है। भूत और भविष्य के धन आदि वर्तमान मे अनुपयोगी हैं। इसका अर्थ यह नही कि ऋजुसूत्रनय भूत और भावी का निषेध करता है। प्रयोजन के अभाव मे वह उनकी ओर उपेक्षा दृष्टि रखता है। उसका यह मन्तव्य है कि वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न है। प्रथम और द्वितीय क्षण की अवस्था मे भेद है। जिस क्षण की जो अवस्था है वह उसी क्षण तक सीमित रहती है। इसी तरह एक वस्तु की अवस्था दूसरो अवस्था से भिन्न है। कौआ काला है, इस वाक्य मे कौए और कालेपन मे जो एकता है उसकी उपेक्षा करके यह नय कहता है 'कौआ

---

१ प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।२६

२ (क) पच्चुपन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो——अनुयोगद्वार
(ख) सता साम्प्रतानामर्थानामभिधान-परिज्ञानम् ऋजुसूत्र ।
—तत्त्वार्थभाष्य १।३५

३ यदेवार्थ क्रियाकारि तदेव परमार्थ सत् ।

कौआ है और कालापन कालापन है। कौआ और कालापन दोनो भिन्न हैं। यदि कालापन ही कौआ हो तो भौरा, कोयल आदि सभी पदार्थ कौआ हो जायेगे। यदि कौआ काला ही हो तो फिर रक्त, मास, पित्त, हड्डी, चमडी आदि सभी पृथक्-पृथक् रग के हैं अत उसे हम केवल काला ही किस प्रकार कह सकते हैं।

इस नय की दृष्टि से कुम्भकार को 'कुम्भकार' नही कहा जा सकता, क्योकि जहाँ तक कुम्भार, शिवक, छत्रक आदि पर्यायो को कर रहा है वहाँ तक तो वह कुम्भकार कहा ही नही जा सकता और जब कुम्भ पर्याय का समय आता है तब वह स्वय अपने उपादान से निष्पन्न हो जाता है, अत किस कार्य को करने के कारण उसे कुम्भकार कहा जाय।

इस नय की दृष्टि से पलाल का दाह नही हो सकता क्योकि अग्नि का सुलगना, धौकना, जलाना आदि क्रियाओ मे असख्यात समय लगता है, वर्तमान क्षण मे वे सारी क्रियाएं नही हो सकती, जिस समय दाह है उस समय वह पलाल नही है और जिस समय पलाल है उस समय दाह नही है अत पलालदाह किस प्रकार कहा जा सकता है ? जो पलाल है वह जलता ही है यह भी नही है क्योकि बहुत सा पलाल विना जला हुआ भी तो है।

इस नय की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से भोजन आदि कोई भी क्रिया नही हो सकती, क्योकि कोई भी क्रिया एक क्षण मे नही होती, उसके लिए असख्यात समय चाहिए। जिस माध्यम से पूर्व और उत्तर की पर्यायो मे सम्बन्ध स्थापित होता है उस माध्यम का अस्तित्व इसे मान्य नही है।

यह नय लोक-व्यवहार के विरोध की कोई चिन्ता नही करता क्योकि लोक-व्यवहार तो नैगम आदि नयो से चलता ही है। इस नय मे पर्याय की मुख्यता है तथापि द्रव्य की परमार्थ-सत्ता उसे क्षण की तरह स्वीकृत है। उसकी दृष्टि मे द्रव्य का अस्तित्व गौण रूप से रहता है।

ऋजुसूत्रनय के दो भेद हैं—सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और स्थूल-ऋजुसूत्र नय। जो एक समय मात्र की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र कहते हैं। जो अनेक समयो की वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है उसे स्थूल ऋजुसूत्र कहते हैं।[1]

---

१ एकस्मिन् समये वस्तुपर्याय यस्तु पश्यति।
ऋजु-सूत्रो भवेत् सूक्ष्म स्थूल स्थूलार्थ गोचर ॥ —नयचक्र

अकलकदेव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक[1] मे अनेक उदाहरण देकर ऋजु-सूत्रनय की दृष्टि को स्पष्ट किया है।

ऋजुसूत्राभास

ऋजुसूत्रनय द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य मानता है किन्तु ऋजुसूत्रनयाभास द्रव्य का एकान्त रूप से निषेध करता है।[2] वह पर्यायो को ही वास्तविक मानता है और पर्यायो मे अनुगत रूप से रहने वाले द्रव्य का निषेध करता है।

वौद्ध का सर्वथा क्षणिकवाद-ऋजुसूत्रनयाभास है[3], क्योकि उसमे द्रव्य का विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्था मे चित्तसतति दीपक की भाँति बुझ जाती है, अर्थात् अस्तित्वशून्य हो जाती है तब उसके मन्तव्या-नुसार द्रव्य का सर्वथा लोप हो जाता है।

शब्दनय

काल, कारक, लिंग, सख्या, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से शब्दो मे अर्थभेद का प्रतिपादन करने वाले नय को शब्दनय कहते है।[4] यह नय व पूर्व के दो नय शब्दशास्त्र से सम्बन्धित हैं। शब्दो के भेद से अर्थ मे भेद करना इनका कार्य है। यह नय एक ही वस्तु मे काल, कारक, लिंग आदि के भेद से भेद मानता है। जैसे मेरु था, मेरु है, और मेरु होगा। उक्त उदाहरण मे शब्दनय भूत, वर्तमान और भविष्यकाल के भेद से मेरु पर्वत के भी तीन भेद स्वीकार करता है। वर्तमान का मेरु और है, भूत का और था और भविष्यत् का कोई और ही होगा।[5] यह काल पर्याय की दृष्टि से भेद है। इसी प्रकार यह घट को करता है, इस घट मे पानी है, यहाँ पर कारक के भेद से शब्दनय घट मे भी भेद मानता है। लिंग तीन प्रकार का है—स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुसकलिंग। इन तीनो लिंगो से भिन्न-

---

१ तत्त्वार्थ राजवार्तिक पृ० ९६-९७

२ सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभास। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३०

३ वही ७।३१

४ (क) कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्। —लघीयस्त्रय श्लोक ४४

(ख) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७९४

(ग) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक पृ० २७२, २७३

(घ) प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३२

५ प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३३

भिन्न अर्थ का बोध होता है। शब्दनय स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिग से नही मानता। पुल्लिग से वाच्य अर्थ का बोध नपुसकलिंग से नही मानता, जैसे—तट, तटी, तटम्—इन तीनो वाचको मे शब्दनय लिंग-भेद से अर्थभेद मानता है।

उपसर्ग के कारण भी एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। आहार, विहार, प्रहार, सहार, निहार आदि के अर्थ मे जो विभिन्नता है उसका यही कारण है। 'आ' उपसर्ग लगाने से 'आहार' का अर्थ 'भोजन' हो गया है। 'वि' उपसर्ग लगाने से 'विहार' का अर्थ 'गमन' हो गया है। 'प्र' उपसर्ग लगाने से 'प्रहार' का अर्थ 'चोट' हो गया है। 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'सहार' का अर्थ 'नाश' हो गया है। 'नि' उपसर्ग लगाने से 'निहार' का अर्थ 'वरफ' हो गया है।

इस प्रकार नाना प्रकार के सयोगो के आधार पर विभिन्न शब्दो के अर्थभेद की जो अनेक परम्पराएँ प्रचलित हैं वे सभी शब्द नय मे आ जाती है। शब्दशास्त्र के विकास का यही नय मूल रहा है।

शब्दनयाभास

काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य पदार्थ मे एकान्त भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयाभास है।[1]

काल का भेद होने से पर्याय का भेद होता है तथापि द्रव्य एक वस्तु बना रहता है। शब्दनय पर्यायदृष्टि वाला है इसलिए वह भिन्न-भिन्न पर्यायो को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गौण करके उसकी उपेक्षा करता है किन्तु शब्दनयाभास विभिन्न कालो मे अनुगत रहने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है एतदर्थ यह नयाभास है। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा—आदि भिन्न-भिन्न काल के शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थो का कथन करते हैं क्योकि वे भिन्न काल वाचक शब्द है जैसे भिन्न पदार्थो का कथन करने वाले दूसरे भिन्न कालीन शब्द।

समभिरूढ नय

शब्दनय काल, कारक, लिंग, सख्या आदि के भेद से ही अर्थ मे भेद मानता है। वह एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दो मे भेद नही मानता। जब शब्दभेद के आधार से अर्थभेद करने वाली बुद्धि आगे बढती हैं और वह

---

१ तद् भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभास। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३४

व्युत्पत्ति-भेद के आधार से पर्यायवाची शब्दो मे भी अर्थभेद मानती है तब समभिरूढनय होता है। अर्थात् पर्यायवाची शब्दो मे भी निरुक्ति के भेद से भिन्न अर्थ मानने वाला नय समभिरूढनय है।[1] इस नय का मन्तव्य है कि जहाँ शब्दभेद है वहाँ अर्थभेद अवश्य ही होगा। शब्दनय अर्थभेद वही करता है जहाँ लिंग आदि का भेद होता है। परन्तु इस नय की दृष्टि मे तो प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही होता है भले ही ऐसे शब्दो मे लिंग, सख्या एव काल आदि का भेद न हो।[2] जैसे हम इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द को लें। इन तीनो शब्दो का अर्थ शब्दनय की दृष्टि से एक है क्योकि ये पर्यायवाची हैं और तीनो का लिंग एक है किन्तु समभिरूढनय की दृष्टि से इनके अर्थ मे अन्तर है। वह कहता है कि यदि लिंगभेद, सख्याभेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं तो शब्दभेद से अर्थभेद क्यो न माना जाय ? यदि शब्दभेद से अर्थभेद नही माना जायेगा तो सभी शब्दो का एक ही अर्थ हो जायेगा।

इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति—'इन्दनादिन्द्र' अर्थात् जो ऐश्वर्यशाली हो वह इन्द्र है। 'शकनाच्छक्र' जो शक्ति सम्पन्न है वह शक्र है। 'पूर्दारणात् पुरन्दर' जो नगर का ध्वस करता है वह पुरन्दर है। इन शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न है अत इनका वाच्य-अर्थ भी पृथक् होना चाहिए, क्योकि इनकी प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न हैं।[3]

शब्दनय एक लिंग वाले शब्दो मे अर्थभेद नही मानता किन्तु समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तो की विभिन्नता होने से पर्यायवाची शब्दो मे भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारो को दर्शनिक चिन्तन प्रदान करता है जिन्होने देव व राजा के अनेक पर्यायवाची नाम तो लिखे हैं पर उस पदार्थ मे उन पर्याय शब्दो की वाच्य शक्ति पृथक्-पृथक् स्वीकार नही की। जैसे एक अर्थ अनेक शब्दो का वाच्य नही हो सकता वैसे ही एक शब्द

---

१ पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ ।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३७

२ पर्यायशब्द-भेदेन, भिन्नार्थस्याधिरोहणात् नय समभिरूढ स्यात् पूर्ववच्चास्य निश्चय ।

—श्लोकवार्तिक

३ इन्दनादिन्द्र शकनाच्छक्र पूर्दारणाद् पुरन्दर इत्यादिषु यथा।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३७

अनेक अर्थों का वाचक भी नही हो सकता। जैसा कि कोशो मे मिलता है, एक गो शब्द के ग्यारह अर्थ नही हो सकते। उस शब्द मे ग्यारह प्रकार की वाचक शक्ति भी मानना चाहिए। क्योकि वह जिस शक्ति से पृथ्वी का वाचक है उसी शक्ति से गाय का भी वाचक हो तो एक शक्ति वाले शब्द से वाच्य होने के कारण पृथिवी और गाय दोनो एक ही हो जायेगे। इसलिए शब्द मे वाचक शक्तियो की तरह वाच्य शक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न माननी चाहिए। प्रत्येक शब्द के व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त पृथक्-पृथक् होते है। उस दृष्टि से वाच्यभूत अर्थ मे पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिए। यदि पदार्थ एक रूप हो तो उसमे विभिन्न क्रियाओ से निष्पन्न अनेक शब्दो का प्रयोग नही हो सकता। इस प्रकार पर्यायवाची शब्दो की अपेक्षा से समभिरूढनय अर्थभेद मानता है।[1]

जैनदृष्टि से प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप मे निष्ठ होती है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे सक्रमण नही होता। बाह्य व स्थूल दृष्टि से हम अनेक वस्तुओ के मिश्रण या सहस्थिति को एक वस्तु मान लेते है परन्तु ऐसी स्थिति मे भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप मे होती है।

जैन-साहित्य की भाषा मे आकाश-मडल मे अनेक वर्गणाएं व्याप्त हैं और विज्ञान की भाषा मे अनेक गैसें हैं किन्तु एक साथ व्याप्त रहने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप मे हैं। समभिरूढ का यह आशय है कि जो वस्तु जहाँ आरूढ है उसका वही प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। स्थूल दृष्टि से घट, कुट और कुभ इन तीनो का एक ही अर्थ है किन्तु समभिरूढ की दृष्टि से जो सिर पर रखा जाय वह घट है। कही बडा कही छोटा, इस प्रकार कुटिल आकृतिवाला कुट है।[2] सिर पर रखी जाने योग्य अवस्था और कुटिल आकृति की अवस्था एक नही है, अत दोनो को एक शब्द का वाच्य मानना ठीक नही है, अर्थ के अनुरूप शब्द प्रयोग और शब्द प्रयोग के अनुरूप अर्थ का बोध हो तभी सम्यक् व्यवस्था हो सकती है।

---

१ जैनदर्शन—डा महेन्द्र कुमार जैन, पृ० ४६३-६४

२ (क) आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

(ख) कुट कौटिल्ये, कुटनात् कौटिल्ययोगात् कुट।

अर्थ की शब्द के प्रति और शब्द की अर्थ के प्रति नियामकता न होने से वस्तु साकर्य हो जायेगा। वस्त्र का अर्थ घट और घट का अर्थ वस्त्र न समझने के लिए नियम क्या होगा ? इसलिए शब्द को अपने वाच्य के प्रति सच्चा होना चाहिए, यह नियामकता और सच्चाई ही इस नय की मौलिकता है।[1]

समभिरूढनयाभास

समभिरूढनय पर्याय-भेद से अर्थ मे भेद स्वीकार करता है पर अभेद का निषेध नही करता किन्तु उसे गौण कर देता है। समभिरूढनयाभास पर्यायवाचक शब्दो के अर्थ मे रहने वाले अभेद का निषेध कर एकान्त भेद का ही समर्थन करता है, एतदर्थ यह नयाभास है।[2]

एवंभूतनय

एवभूतनय निश्चय प्रधान है। वह किसी भी पदार्थ को तभी पदार्थ स्वीकार करता है जब वह वर्तमान मे क्रिया से परिणत हो।[3] शब्दो की स्वप्रवृत्ति के निमित्तभूत क्रिया से युक्त पदार्थों को ही शब्दो का वाच्य मानने वाला विचार एवभूतनय है[4] अर्थात् जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानना चाहिए। जिस शब्द का जो व्युत्पत्ति अर्थ होता हो, उसके होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना एवभूतनय है।[5] इन्द्रासन पर जिस समय शोभित हो रहा हो उस समय उसे इन्द्र कहना चाहिए। जिस समय वह शक्ति का प्रयोग कर रहा हो उस समय उसे इन्द्र नही कहना चाहिए, उस समय उसे शक्र कहना चाहिए। जिस समय वह नगर का ध्वस कर रहा हो उस समय उसे पुरदर कहना चाहिए, अन्य समय नही।

---

१ जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, मुनि नथमल जी, भाग १—पृ० ३८५-३८६

२ पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभास ।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।३८

३ (क) येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत । —सर्वार्थसिद्धि १।३३
(ख) अकलकग्रन्थत्रय टिप्पण पृ० १४७

४ शब्दाना स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवभूत ॥

—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।४०

५ क्रिया-परिणतार्थं चेदेवम्भूतो नयो वदेत् । —द्रव्यानुयोग तर्कणा

समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो पर शक्ति की अपेक्षा अन्य शब्दो का प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है परन्तु एवभूतनय मे ऐसा नही है। क्रियाक्षण मे ही कारक कहना चाहिए अन्य क्षण मे नही। पूजा करते समय ही पुजारी कहना चाहिए, अन्य समय मे नही। यह नय वर्तमान मे शक्ति की अभिव्यक्ति देखता है।

एवभूतनयाभास

क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने का निषेध करने वाले अभिप्राय को एवभूतनयाभास कहते हैं।[1]

एवभूतनय जिस काल मे जो क्रिया हो रही है उस काल मे उस क्रिया से सम्बद्ध विशेषण किंवा विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाला विचार है[2] किन्तु वह अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध नही करता। जो दृष्टिकोण एकान्त रूप से क्रिया-युक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानने के साथ उस क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द के वाच्य होने का निषेध करता है वह एवभूतनयाभास है। एवभूतनयाभास का मन्तव्य यह है कि यदि घटन क्रिया के अभाव मे घट को घट कह सकते हैं तो 'पट' को भी घट कह देना अनुचित नही होगा। फिर हम किसी भी पदार्थ को किसी भी शब्द से पुकार सकते हैं। यह अव्यवस्था न हो, एतदर्थ ही यह मानना युक्ति-युक्त है कि जिस शब्द से जिस क्रिया का भान हो उस क्रिया की विद्यमानता मे ही उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए, अन्य समय मे नही।

नयो का एक दूसरे से सम्बन्ध

उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय से अल्प होता जाता है।[3] सातो नयो मे नैगमनय का विषय सामान्य और विशेष, भेद और अभेद दोनो को ग्रहण करने के कारण सबसे अधिक है। वह कभी सामान्य को

---

१ क्रियाऽनाविष्ट वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभास।
—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।४२

२ एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यजनार्थ-विशेषण।
राज-चिन्हैर्यथाराजा, नान्यदा राज-शब्द-भाक्॥ —नयोपदेश, ३६

३ एवमेते नया पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।३६

प्रमुखता प्रदान करता है और विशेष को गौण रूप देता है। कभी विशेष को मुख्य रूप से ग्रहण करता है तो सामान्य को गौण रूप से। नैगमनय की अपेक्षा सग्रहनय की दृष्टि सकीर्ण है क्योकि वह केवल सामान्य और अभेद को ही ग्रहण करता है। सग्रहनय से भी व्यवहारनय का विषय कम है क्योकि सग्रहनय जिन विशेषताओ को ग्रहण करता है उन्ही विशेषताओ के आधार पर यह नय भेद करता है। व्यवहारनय से भी ऋजुसूत्रनय का विषय कम है क्योकि व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्‌विशेष को ग्रहण करता है। किन्तु ऋजुसूत्र वर्तमानकालीन पर्याय को ही ग्रहण करता है अत यही से पर्यायार्थिकनय का प्रारम्भ माना जाता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा भी शब्दनय का विषय कम है क्योकि वह काल, कारक, लिंग, सख्या आदि के भेद से अर्थ मे भेद मानता है। शब्दनय से भी समभिरूढनय का विषय कम है क्योकि वह पर्यायवाची शब्दो मे किसी भी प्रकार का भेद स्वीकार नही करता। समभिरूढनय से भी एवभूतनय का विषय कम है। क्योकि वह अर्थ को उस शब्द का वाच्य तभी मानता है जब अर्थ अपनी व्युत्पत्तिमूलक क्रिया मे लगा हो। स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तरनय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता गया है। एक नय दूसरे नय पर अवलम्बित है। हर एक का विषय क्षेत्र उत्तरोत्तर न्यून होने से इनका पारस्परिक एक-दूसरे से सम्बन्ध है।

आध्यात्मिकदृष्टि से नय पर चिन्तन

नयो पर दार्शनिकदृष्टि से विचार करने के पश्चात् अब हम आध्यात्मिकदृष्टि से चिन्तन करेगे। आध्यात्मिकदृष्टि से नय के दो भेद हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो नय वस्तु के मूल एव पर-निरपेक्ष स्वरूप को बतलाता है वह निश्चयनय है और जो नय पराश्रित दूसरे पदार्थों के निमित्त से उत्पन्न वस्तु स्वरूप को बतलाता है वह व्यवहारनय है। व्यवहारनय को उपनय भी कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—'व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्ध अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है।[1] तात्पर्य यह है कि वस्तु के पारमार्थिक तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चयनय से

---

१ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ। —समयसार गाथा ११

होता है और अशुद्ध-अपारमार्थिक स्वरूप का ग्रहण व्यवहारनय से होता है।[1]

जैसे अद्वैतवाद मे पारमार्थिक और व्यावहारिक ये दो दृष्टियाँ स्वीकार की गई हैं और बौद्धदर्शन के शून्यवाद या विज्ञानवाद मे परमार्थ और सावृत्त ये दो दृष्टियाँ मानी हैं और उपनिषदो मे सूक्ष्म और स्थूल दो रूपो मे तत्त्व के वर्णन की पद्धति है वैसे ही जैन अध्यात्म ग्रन्थो मे भी निश्चय और व्यवहार को अपनाया है। अन्तर यह है कि जैन अध्यात्म का निश्चयनय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकडता है।[2] किन्तु अन्य पदार्थो के अस्तित्व का निषेध नही करता किन्तु वेदान्त या विज्ञानाद्वैत का परमार्थ अन्य पदार्थ के अस्तित्व को समाप्त कर देता है। तथागत की देशना को बौद्ध-साहित्य मे परमार्थसत्य और लोकसवृत्तिसत्य इन दो रूपो मे घटाने का प्रयास हुआ है।[2] इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त मे और बौद्धो के विज्ञानवाद एव शून्यवाद मे जो परमार्थ सत्य व पारमार्थिक दृष्टि है, उसे जैनदर्शन मे भूतार्थनय अथवा निश्चयनय कहा है।

व्यवहारनय के दो भेद हैं—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय। एक वस्तु मे गुण-गुणी के भेद से, भेद को विषय करने वाला सद्भूतव्यवहारनय है। यह भी दो प्रकार का है—उपचरित सद्भूतव्यवहारनय, और अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय। सोपाधिक गुण और गुणी मे भेद ग्रहण करने वाला उपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। निरुपाधिक गुण एव गुणी मे भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। जिस प्रकार जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि लोक मे व्यवहार होता है। प्रस्तुत व्यवहार मे उपाधिरूप ज्ञानावरण कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मलसहित ज्ञान होने से जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान प्रभृति क्षायोपशमिक ज्ञान सोपाधिक हैं, अत इसे उपचरित सद्भूतव्यवहारनय कहा है। निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद को ग्रहण करने वाला अनुपचरित

---

१ (क) स्वाश्रितो निश्चय पराश्रितो व्यवहार —अमृतचन्द्र
(ख) अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयते इति निश्चय । भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियते इति व्यवहार । —आलापपद्धति

२ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना ।
लोकसवृतिसत्य च सत्य च परमार्थत ॥
—माध्यमिककारिका, आयसत्यपरीक्षा श्लो० ८

सद्भूतव्यवहारनय है। उपाधि से मुक्त गुण के साथ जब उपाधिरहित आत्मा का सम्बन्ध प्रतिपादित किया जाता है तब निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद से अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय सिद्ध होता है। जैसे केवलज्ञान आत्मा का सर्वथा निरावरण शुद्धज्ञान है इसलिए वह निरुपाधिक है। 'वीतराग आत्मा का केवलज्ञान' इस प्रकार का प्रयोग निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद का है।

असद्भूतव्यवहारनय के भी उपचरित असद्भूतव्यवहार और अनुपचरित असद्भूतव्यवहार ये दो भेद है। सश्लेषसहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे जीव का शरीर। यहाँ पर जीव और शरीर का सम्बन्ध कल्पित नही किन्तु जीवन-पर्यन्त स्थायी होने से अनुपचरित है। जीव और शरीर के भिन्न होने से वह असद्भूतव्यवहार भी है।

सश्लेषरहित वस्तु के सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहारनय हैं। जैसे देवदत्त का धन। यहाँ पर देवदत्त का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है किन्तु वस्तुत वह कल्पित होने से उपचरित है। देवदत्त और धन ये दोनो भिन्न द्रव्य है, एक नही। देवदत्त और धन का यथार्थ सम्बन्ध नही है।

निश्चयनय पर-निरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है। जिन पर्यायो मे पर-निमित्त पड जाता है उन्हे वह शुद्ध नही कहता। पर-जन्य पर्यायो को वह पर मानता है। जैसे जीव के राग प्रभृति भावो मे यद्यपि आत्मा स्वय उपादान होता है, वही राग रूप से परिणति करता है परन्तु यह भाव कर्म निमित्तक है अत इन्हे वह आत्मा के निज रूप नही मानता। अन्य आत्माओ एव ससार के समस्त अन्य अजीवो को वह अपना मान ही नही सकता। परन्तु जिन आत्म-विकास के स्थानो मे पर का किंचित् भी निमित्त होता है, उन्हे वह पर मानता है, स्व नही।

निश्चयनय मे आत्मा बद्ध नही मालूम होता, बद्धदशा आत्मा का त्रैकालिक स्वभाव नही है क्योकि कर्म का क्षय होने पर उसकी सत्ता नही रहती। निश्चयनय मे आत्मा के शुद्ध एव निर्विकार स्वरूप का ही दर्शन होता है किन्तु आत्मा का विभाव भाव परिलक्षित नही होता। निश्चयनय मे शरीर, इन्द्रिय और मन भी नही झलकता, क्योकि वे आज है, कल नही हैं।

आत्मा का बद्ध रूप, स्पृश्य रूप, भेद रूप और अनियत रूप जो साधारण दृष्टि मे झलकता है, पर है। आत्मा अबद्ध है, अस्पृश्य है, अभिन्न है और नियत है, जब तक यह परिज्ञान नही होगा तब तक आत्मा भव-बन्धनो से मुक्त नही हो सकता। जहाँ पर भेद और विकल्प है वहाँ निश्चयनय नही है। निश्चयनय भेद और विकल्प से रहित होता है। उसमे देह, कर्म, इन्द्रिय और मन आदि से परे एकमात्र विशुद्ध आत्म-तत्त्व पर दृष्टि रहती है। कर्मो का जो उदयभाव है वह निश्चयदृष्टि का लक्ष्य नही है उसका लक्ष्य है व्यवहारनय को लाघकर परम विशुद्ध निर्विकार स्थिति पर पहुँचना, जहाँ पर किसी भी प्रकार का क्षोभ और मोह नही है। पर्यायो की प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही दशा, जो भेदरूप दृष्टिगोचर होती है, उससे भी परे जो अभेद द्रव्यमय भाव है जो अनादिकाल से कभी अशुद्ध नही हुआ है, और जब अशुद्ध नही हुआ तब शुद्ध भी कहाँ रहा ? इस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध दोनो से परे एकमेवाद्वितीय, निर्विकल्प, त्रिकाली, निजस्वरूप है, वही शुद्ध निश्चयनय का स्वरूप है। शुद्ध निश्चयनय द्रव्य प्रधान है, वह नारकादि पर्यायो को ग्रहण नही करता किन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही ग्रहण करता है। अन्य कोई भी उसके लिए ज्ञातव्य नही रहता और न उपादेय ही रहता है।

जीव के असख्यात एव अनन्त विकल्पो को छोडकर स्व स्वरूप की प्रतीति करना ही निश्चयनय है। निश्चयनय निमित्त को न पकडकर उपादान को ही पकडता है जबकि व्यवहारनय की दृष्टि निमित्त पर होती है। निश्चय और व्यवहारनय मे यह भी अन्तर है कि व्यवहारनय भेद प्रधान होता है और निश्चयनय अभेद प्रधान। भेद मे अभेद देखना यह निश्चयनय है और अभेद मे भेद देखना यह व्यवहारनय है।

जब हम कहते हैं कि ज्ञान स्वय आत्मा है तो यह निश्चयनय की भाषा है और जब यह कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का गुण है तो यह व्यवहार-नय की भाषा हुई। यहाँ पर आत्मा गुणी है और ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण कभी गुणी से अलग नही हो सकता। गुण और गुणी मे अभेद और अखण्डता होती है। व्यवहार मे आत्मा को गुणी माना जाता है और ज्ञान को उसका गुण माना जाता है यह भेददृष्टि का कथन है। जैनदर्शन के मन्तव्यानुसार गुण और गुणी का सम्बन्ध तादात्म्य है किन्तु आधार-आधेय

भाव सम्बन्ध नही है। जैसे घृत और पात्र मे होता है। घी आधेय है और पात्र उसका आधार है। पात्र मे घी सयोग सम्बन्ध से रहता है परन्तु घृत और पात्र की स्वतन्त्र सत्ता होने से उनका सम्बन्ध तादात्म्य नही है। जबकि आत्मा और उसके ज्ञानगुण का सम्बन्ध तादात्म्य है। जैनदर्शन के अनुसार गुण और गुणी मे न एकान्तभेद होता है और न एकान्त अभेद होता है, पर कथचित् भेद और कथचित् अभेद होता है। ज्ञानगुण आत्मा के अतिरिक्त कही नही रहता है। यह सद्भूतव्यवहारनय है।

निश्चयनय और व्यवहारनय को समझने के लिए कुछ बाते और भी समझना आवश्यक है। आत्मा और बद्ध होने वाले कर्म पुद्गलो को एक क्षेत्रावगाही बताया गया है। आकाशरूप क्षेत्र मे आत्मा और कर्म पुद्गल दोनो रहते हैं, दोनो का एक ही क्षेत्र है, यह कथन व्यवहारदृष्टि से है। निश्चयदृष्टि से प्रत्येक द्रव्य अपने मे ही रहता है किसी दूसरे मे नही, आत्मा-आत्मा मे रहता है, कर्म-कर्म मे रहता है और आकाश-आकाश मे रहता है। व्यवहारनय की दृष्टि से कर्म और आत्मा एक क्षेत्रावगाही एव सयोगी होने से दोनो का क्षेत्र एक कहा जाता है जैसे दूध और पानी मिलने पर यह नही कहा जाता कि यह दूध का पानी है किन्तु यही कहा जाता है कि यह दूध है, क्योकि दोनो एकमेक हो गये हैं। किन्तु निश्चय दृष्टि से दूध, दूध है, पानी, पानी है। एक क्षेत्रावगाही होने मात्र से ही दोनो एक नही हो सकते, वैसे ही आत्मा और कर्म एक क्षेत्रावगाही होने से एक नही हो सकते, आत्मा और कर्म दोनो की सत्ता अलग-अलग है। दोनो का स्वभाव भी अलग-अलग है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि नैगम आदि नयो का जो दार्शनिक विवेचन किया गया है वह वस्तु के स्वरूप की मीमासा करने की दृष्टि से किया गया है जबकि अध्यात्मदृष्टि से जो निश्चय और व्यवहारनय का वर्णन किया गया है वह आध्यात्मिक भावना को परिपुष्ट करने के लिए। हेय और उपादेय का परिज्ञान कर साधक मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हो यही आचार्यो की मगलकामना रही है।

प्रमाण और नय

कहा जा चुका है कि ज्ञाता का वह अभिप्रायविशेष नय कहलाता है[1]

---

१ (क) नयो ज्ञातुरभिप्राय । —लघीयस्त्रय, श्लो० ५५, अकलक
(ख) ज्ञातृणामभिसन्धय खलु नया ।—सिद्धिविनिश्चय, टीका पृ० ५१७ अकलक

जो प्रमाण के द्वारा जानी हुई वस्तु के एक अश को ग्रहण करता है। प्रमाण मे अश विभाजन नही होता, वह तो वस्तु को समग्रभाव से ही ग्रहण करता है। जैसे—यह घडा है। घडे मे अनन्त धर्म हैं, वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श प्रभृति अनन्त गुणो से युक्त है। उन गुणो का विभाग न करके पूर्ण रूप से जानना प्रमाण है और विभाग करके जानना नय है। नय और प्रमाण ये दोनो ज्ञान की ही वृत्तियाँ हैं। जब जानने वाले की दृष्टि सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने की होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है। जब उसका उसी प्रमाण से ग्रहण की हुई वस्तु को खण्ड-खण्ड रूप से ग्रहण करने का अभिप्राय होता है तब वह अशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। इस प्रकार प्रमाण और नय ये दोनो ज्ञान के ही पर्याय हैं।

प्रमाण को सकलादेश और नय को विकलादेश कहा है। सकलादेश मे वस्तु के समस्त धर्मो की विवक्षा होती है किन्तु विकलादेश मे एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो की विवक्षा नही होती। विकलादेश को इसीलिए सम्यक् माना जाता है कि वह जिस धर्म की विवक्षा करता है उसके अतिरिक्त अन्य धर्मो का प्रतिषेध नही करता किन्तु उन धर्मो की उपेक्षा करता है। क्योकि उन धर्मो की विवक्षा करने का उसका कोई प्रयोजन नही होता। प्रयोजन के अभाव मे वह न उन धर्मो का विधान करता है और न निषेध ही करता है। सकलादेश और विकलादेश दोनो वस्तु के अनेक धर्मात्मक स्वभाव को प्रकट करते हैं तथापि दोनो की प्रतिपादन पद्धति पृथक्-पृथक् है। सकलादेश वस्तु के सभी धर्मों को ग्रहण करता है और विकलादेश वस्तु के एक धर्म तक ही सीमित है। सकलादेश को स्याद्वाद और विकलादेश को नय भी कहा है।[१]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि

वस्तु के प्रतिपादन की जितनी भी दृष्टियाँ हैं उन्हे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं। सामान्य या अभेदमूलक सभी दृष्टियो का समावेश-द्रव्यार्थिक दृष्टि मे हो जाता है और विशेष या

(ग) अनन्तधर्माध्यासित वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्ट नयति-प्रापयति-सवेदन-मारोहयतीति नय।

—न्यायावतार टीका २६ सिद्धर्षिगणि।

१ स्याद्वाद सकलादेशो नयो विकलसकथा। —लघीयस्त्रय ३।६।६२

भेदमूलक जितनी भी दृष्टियाँ है उनका समावेश पर्यायार्थिक दृष्टि मे हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि भगवान् महावीर के प्रवचन मे मुख्य रूप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही दृष्टियाँ है शेष सभी दृष्टियाँ इन्ही की शाखा व प्रशाखाएँ है।[1] इन दो दृष्टियो से क्या तात्पर्य है यह आगम साहित्य का पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है।

नारक जीव शाश्वत है या अशाश्वत है ? उत्तर मे भगवान् महावीर ने कहा—अव्युच्छित्तिनय की दृष्टि से नारक जीव शाश्वत है और व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से अशाश्वत है।[2] द्रव्यार्थिकदृष्टि का ही दूसरा नाम अव्युच्छित्तिनय है। द्रव्यदृष्टि से अवलोकन करने पर प्रत्येक पदार्थ नित्य प्रतीत होगा क्योकि द्रव्यार्थिकदृष्टि अभेदगामी, सामान्य मूलक और अन्वयपूर्वक है। पर्यायार्थिकदृष्टि का ही अपर नाम व्युच्छित्तिनय है। पर्यायदृष्टि से देखने पर प्रत्येक वस्तु अनित्य और अशाश्वत प्रतीत होगी क्योकि पर्यायार्थिकदृष्टि भेदगामी व विशेषमूलक है। विश्व की सभी दृष्टियाँ दो भागो मे ही विभक्त हो सकती हैं या तो वह दृष्टि भेदमूलक होगी या अभेदमूलक अर्थात् विशेषमूलक होगी या सामान्यमूलक। इन दो दृष्टियो का नेतृत्व करने वाले दो नय है।

भगवती सूत्र मे पर्यायार्थिक के स्थान पर भावार्थिक शब्द का प्रयोग हुआ है जो यह सूचित करता है कि पर्याय और भाव एकार्थक है।[3]

द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिकदृष्टि

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि की भाँति ही द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि से भी पदार्थ का निरूपण किया जा सकता है। हम यह बता चुके है कि द्रव्यार्थिकदृष्टि एकता का प्रतिपादन करती है। प्रदेशार्थिक दृष्टि अनेकता का विश्लेषण करती है।

पर्याय और प्रदेश मे अन्तर यह है कि पर्याय द्रव्य की देश काल के अनुसार विभिन्न अवस्थाएँ है। देश काल के भेद से एक द्रव्य विभिन्न रूपो मे परिवर्तित होता रहता है, उसके विभिन्न रूप ही विभिन्न पर्यायें हैं।

---

१ तित्थयरवयणसगह - विसेसपत्थारमूलवागरणी।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं॥ —सन्मति प्रकरण १।३

२ भगवती ७।२।२७६

३ भगवती १८-१०।२५,३।२५,४

द्रव्य के जो अवयव हैं वे प्रदेश हैं। एक द्रव्य के अनेक अश हो सकते है। एक-एक अश को एक-एक प्रदेश कहते हैं। पुद्‌गल का एक अश जितने स्थान को अवगाहन करता है वह एक प्रदेश है। जैनदृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश व जीव के प्रदेश नियत है। तीनो कालो मे उनकी सख्या मे कभी भी परिवर्तन नही होता है। पुद्‌गलास्तिकाय के प्रदेशो का कोई निश्चित नियम नही है। स्कध के अनुसार उसमे न्यूनाधिकता होती रहती है किन्तु पर्याय के लिए इस प्रकार का कोई नियम नही है, उनकी सख्या भी नियत नही है। भगवान् महावीर ने प्रदेशदृष्टि से भी पदार्थ का प्रतिपादन किया है। उन्होने द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेशदृष्टि, और गुणदृष्टि से नाना विरोधी धर्मो का समन्वय करते हुए कहा है कि द्रव्य दृष्टि से मैं एक हूँ। पर्यायदृष्टि से ज्ञान और दर्शन रूप दो हूँ। प्रदेशदृष्टि से मै अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। उपयोगदृष्टि से मैं अस्थिर हूँ क्योकि मै अनेक भूत, वर्तमान और भावी परिणामो की योग्यता रखता हूँ।[1] इससे स्पष्ट है कि भगवान् महावीर ने पर्यायदृष्टि से भिन्न एक प्रदेशदृष्टि को भी माना है। यहाँ पर प्रदेशदृष्टि का उपयोग आत्मा के अक्षय, अव्यय और अवस्थित धर्मो के प्रकाशन मे किया है। पुद्‌गल-प्रदेश की भाँति आत्म-प्रदेश व्ययशील, अनवस्थित और क्षयी नही है। आत्म-प्रदेश मे कभी भी न्यूनाधिकता नही होती है एतदर्थ ही प्रदेश दृष्टि से अव्यय आदि कहा है।

प्रदेशार्थिकदृष्टि का दूसरा भी उपयोग है। द्रव्यदृष्टि से एक वस्तु मे एकता ही होती है किन्तु वही वस्तु प्रदेशार्थिकदृष्टि से अनेक भी हो सकती है क्योकि प्रदेशो की सख्या अनेक है। धर्मास्तिकाय को प्रज्ञापना मे द्रव्यदृष्टि से एक बताया है और प्रदेशार्थिकदृष्टि से उसे असख्यात गुण भी बताया है। जो द्रव्य द्रव्यदृष्टि से तुल्य होते है वे प्रदेशार्थिकदृष्टि से अतुल्य भी होते हैं। जिस प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्यदृष्टि से एक-एक होने से तुल्य हैं किन्तु प्रदेशार्थिकदृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय असख्यात प्रदेशी होने से तुल्य हैं जबकि आकाश अनन्त प्रदेशी होने से अतुल्य है। इसी तरह अन्य द्रव्यो मे भी इन

---

१ भगवती १८।१०

द्रव्य और प्रदेश दृष्टियो के अवलबन से तुल्यता-अतुल्यता रूप विरोधी धर्मो और विरोधी सख्याओ का समन्वय भी हो सकता है।[1]

व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि

अतीतकाल मे दार्शनिको मे यह सघर्ष था कि वस्तु का कौन सा रूप सत्य है—जो इन्द्रियगम्य है वह, या जो इन्द्रियातीत है—प्रज्ञागम्य है वह?

छन्दोग्योपनिषद् के ऋषि प्रज्ञावाद का आश्रय लेकर यह मानते रहे कि आत्माद्वैत ही परम तत्त्व है, उसके अतिरिक्त दृश्यमान सब शब्द मात्र है, विकारमात्र व नाममात्र है।[2] किन्तु सभी ऋषियो का उस समय यह मत नही था। चार्वाक या भौतिकवादी तो इन्द्रियगम्य वस्तु को ही परमतत्त्व के रूप मे मानते रहे हैं। प्रज्ञा या इन्द्रिय के प्राधान्य को लेकर दार्शनिको मे विवाद था। भगवान् महावीर ने उस विरोध का समन्वय व्यावहारिक और नैश्चयिक नय की दृष्टि से किया और दोनो को अपनी-अपनी दृष्टि से यथार्थ बताया। इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। वस्तु का स्थूल रूप ही नही सूक्ष्म रूप भी होता है जो इन्द्रियो का विषय नही है। वह केवल श्रुत या आत्म-प्रत्यक्ष का विषय है। व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि मे यही अन्तर है कि व्यावहारिकदृष्टि इन्द्रियाश्रित होती है, वह स्थूल होती है और नैश्चयिकदृष्टि इन्द्रियातीत है और सूक्ष्म है। व्यावहारिकदृष्टि से स्थूल रूप का परिज्ञान होता है और नैश्चयिकदृष्टि से सूक्ष्म रूप का ज्ञान होता है। ये दोनो दृष्टियाँ वस्तु के यथार्थ-स्वरूप को ग्रहण करती है अत सम्यक् हैं।

भगवती मे एक मधुर सवाद है। गौतम ने महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन्! प्रवाही गुड (फाणित) मे कितने वर्ण, गध, रस और स्पर्श होते हैं?

उत्तर मे महावीर ने कहा—व्यावहारिकनय की दृष्टि से वह मधुर है किन्तु नैश्चयिक दृष्टि से वह पाँच वर्ण, दो गध, पाँच रस और आठ स्पर्शो से युक्त है।

---

१ (क) प्रज्ञापनापद ३, सूत्र ५४-५६
(ख) भगवती २५।४

२ छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४

भ्रमर के सम्बन्ध मे पूछने पर भी उन्होने कहा—व्यावहारिकदृष्टि से भ्रमर कृष्ण वर्ण का है पर नैश्चयिक दृष्टि से उसमे पाँचो वर्ण, दोनो गध, पॉचो रस और आठो स्पर्श होते है। इस प्रकार अनेक प्रश्नो का व्यवहार और निश्चय की दृष्टि से विश्लेषण किया।[1]

स्पष्ट है कि भगवान् महावीर व्यवहार और निश्चय दोनो को ही सत्य मानते थे। वे नैश्चयिक दृष्टि के सामने व्यवहार की उपेक्षा नही करते थे किन्तु दोनो को समान महत्त्व देते थे।

अर्थ नय और शब्द नय

अनुयोगद्वार[2] स्थानाङ्ग[3] व प्रज्ञापना[4] मे सात नयो का वर्णन है। सात नयो मे शब्द, समभिरूढ और एवभूत ये तीन शब्दनय है,[5] और नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थनय है। तीन शब्द को विषय करते है अत शब्दनय है और शेष चार अर्थ को अपना विषय बनाते हैं इसलिए अर्थनय है। नयो के स्वरूप का वर्णन करते समय ये नय शब्द और अर्थ को क्यो विषय बनाते है इस पर विश्लेषण करेंगे।

नय के प्रकार

आचार्य सिद्धसेन लिखते है कि वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते है नय के भी उतने ही भेद हैं। जितने नय के भेद है उतने ही मत है।[6] इस दृष्टि से नय के अनन्त प्रकार हो सकते है किन्तु उन अनन्त प्रकारो का वर्णन करना हमारी शक्ति से परे है। तथापि मुख्य रूप से नय के कितने प्रकार हो सकते हैं यह बताने का प्रयास जैनदर्शन ने किया है। द्रव्यनय और पर्यायनय के अन्दर जितने भी नय हैं उन सभी का समावेश

---

१ भगवती १८।६

२ से किं त नयप्पमाणे ? सत्तविहे पण्णत्ते, त जहा णेगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवभूए। —अनुयोगद्वार १५६

३ सत्त मूलनया। प त—नेगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुते, सद्दे, समभिरूढे, एवभूते। —स्थानाग ७।५५२

४ से किं त णयगती ? जण्ण णेगमसगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवभूयाण नयाण जा गति, अथवा सव्वणय वि ज इच्छति —प्रज्ञापना प० १६

५ तिह सद्दनयाण —अनुयोगद्वार १४८

६ जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ —सन्मति-प्रकरण ३।४७

हो जाता है तथापि अधिक स्पष्ट करने के लिए उसके अवान्तर भेद बताये हैं। आगम साहित्य[1] मे तथा दिगम्बर परम्परा[2] के ग्रन्थो मे नय के मुख्य सात भेद बताये है। वे सात भेद ये हैं—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर नैगमनय को स्वतत्र नय न मानकर नय के छह भेद मानते है। आचार्य उमास्वाति मूलरूप से नय के पाँच भेद मानते हैं नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द।[3] उन्होने नैगमनय के देश-परिक्षेपी और सर्व-परिक्षेपी ये दो भेद माने है और शब्दनय के साम्प्रत, समभिरूढ और एवभूत ये तीन भेद माने हैं।[4]

नय प्रमाण या अप्रमाण ?

नयवाद जैनदर्शन की एक व्यापक और विशिष्ट विचार-पद्धति है। वह प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण नय से करता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने कहा है कि जैनदर्शन मे एक भी सूत्र और अर्थ ऐसा नही है जो नय-शून्य हो।[5]

जैन दार्शनिको के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा कि नय क्या है ? नय प्रमाण है किंवा अप्रमाण है ? यदि वह प्रमाण है तो प्रमाण से भिन्न क्यो है ? और यदि अप्रमाण है तो मिथ्याज्ञान होगा। मिथ्याज्ञान के लिए विचार-जगत् मे कोई स्थान नही है।

इन प्रश्नो का सही समाधान जैन दार्शनिको ने अत्यन्त दक्षता के साथ किया है। वे लिखते हैं—'नय न प्रमाण है, और न अप्रमाण, किन्तु प्रमाण का एक अश है। सिन्धु का एक बिन्दु न सिन्धु है और न असिन्धु है

---

१ देखिये टिप्पण, पृष्ठ ३१८ पर, २, ३, ४

२ तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।३३

३ नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नया। —तत्त्वार्थसूत्र १।३४

४ आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह। स द्विभेदो—देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति। शब्दस्त्रिभेद —साम्प्रत समभिरूढएवम्भूत इति।
—तत्त्वार्थभाष्य १।३४-३५ पृ० ३१४-३१५

५ नत्थि नएहि विहूण।
सुत्त अत्थो य जिण-मए किंचि ॥ —विशेपावश्यक भाष्य

अपितु वह सिन्धु का एक अश है ।[1] एक सैनिक सेना नही है किन्तु असेना भी नही है क्योकि वह सेना का एक अश तो है ही । नय के सम्बन्ध मे भी यही बात चरितार्थ है ।

प्रमाण वस्तु के अनेकान्तात्मक रूप को ग्रहण करता है और नय उसी वस्तु के एक अश को ।

प्रश्न है—यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान हो जायेगा फिर उससे वस्तु का यथार्थ बोध किस प्रकार होगा ?

उत्तर मे निवेदन है कि 'नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अश को ही ग्रहण करता है यह सत्य है, किन्तु इतने मात्र से वह मिथ्या ज्ञान नही हो सकता । एक अश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अशो का निषेध करे तो वह मिथ्याज्ञान होगा किन्तु जो अश-ज्ञान अपने से अतिरिक्त अशो का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है वह मिथ्याज्ञान नही है ।

सुनय और दुर्नय

प्रमाण मे सभी धर्मो के ज्ञान का समावेश हो जाता है किन्तु नय एक अश को मुख्य करके अन्य अश को गौण करता है किन्तु उसकी उपेक्षा या तिरस्कार नही करता किन्तु दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्य का निराकरण करता है । प्रमाण[2] तत् और अतत् सभी को जानता है किन्तु नय मे केवल 'तत्' की ही प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय दूसरो का निराकरण करता है ।

उमास्वाति लिखते हैं किसी वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त को सिद्ध करने को दुर्नय कहते हैं ।

---

१ *नाय वस्तु न चावस्तु वस्त्वश कथ्यते यत ।*
नासमुद्र समुद्रो वा समुद्राशो यथोच्यते ॥
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६, नयविवरण श्लो० ६

२ (क) धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयाना प्रकारान्तरासभवाच्च । प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्ते तत्प्रतिपत्ते तदन्यनिराकृतेश्च । —अष्टसहस्री

(ख) नि शेषाशजुषा प्रमाणविषयीभूय समासेदुषा,
वस्तूना नियताशकल्पनपरा सप्त श्रुतासगिन ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चाशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकाशकलकपककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नया ॥—उमास्वातिकृत पचाशक

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर ने लिखा है "वे सभी नय मिथ्यादृष्टि है जो अपने ही पक्ष का आग्रह करते हैं और पर का निषेध करते हैं किन्तु जब वे परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्व के सद्भाव वाले होते है।[1] जिस प्रकार वैडूर्य आदि बहुमूल्य मणियाँ एक सूत्र मे पिरोई न हो तो वे 'रत्नावली' की सज्ञा प्राप्त नही कर सकती, वैसे ही नियतवादो का आग्रह रखनेवाले परस्पर निरपेक्ष नय सम्यक्त्व को नही पा सकते, भले ही उनका अपने पक्ष मे कितना ही महत्त्व क्यो न हो। जैसे वे मणियाँ एक सूत्र मे पिरोने पर रत्नावली या रत्नहार बन जाती हैं वैसे ही सभी नय परस्पर सापेक्ष होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं।"[2]

रत्नो का हारपना जिस प्रकार सूत्र के पिरोये जाने पर और विशिष्ट प्रकार की सयोजना पर अवलम्बित है वैसे ही नयवाद का सम्यक्दृष्टिपना भी उनकी परस्पर अपेक्षा पर अवलम्बित है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी लिखा है—स्वसमयी व्यक्ति दोनो नयो के वक्तृत्व को जानता तो है पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को गहण नही करता, वह एक नय को द्वितीय-सापेक्ष रूप से ही ग्रहण करता है।[3]

---

१ तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवति सम्मत्तसब्भावा॥ —सन्मति-प्रकरण १।२१

२ जहाऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसजुत्ता।
रयणावलिववएस न लहति महग्घमुल्ला वि॥
तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा।
सम्मद्दसणसद्द सव्वे वि णया ण पावेंति॥
जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिबद्धा।
'रयणावलि' त्ति भण्णई जहति पाडिक्कसण्णाउ॥
तह सव्वे णायवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दसणसद्द लहन्ति ण विसेससण्णाओ॥
—सन्मति प्रकरण १।२२ से २५

३ दोण्ह वि णयाण भणिय जाणइ णवर तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्ख गिण्हदि किञ्चि वि णयपक्खपरिहीणो॥
—समयसार गा० १४३

अपितु वह सिन्धु का एक अश है ।[1] एक सैनिक सेना नही है किन्तु असेना भी नही है क्योकि वह सेना का एक अश तो है ही । नय के सम्बन्ध मे भी यही बात चरितार्थ है ।

प्रमाण वस्तु के अनेकान्तात्मक रूप को ग्रहण करता है और नय उसी वस्तु के एक अश को ।

प्रश्न है—यदि नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अश को ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान हो जायेगा फिर उससे वस्तु का यथार्थ बोध किस प्रकार होगा ?

उत्तर मे निवेदन है कि 'नय अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अश को ही ग्रहण करता है यह सत्य है, किन्तु इतने मात्र से वह मिथ्या ज्ञान नही हो सकता । एक अश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अशो का निषेध करे तो वह मिथ्याज्ञान होगा किन्तु जो अश-ज्ञान अपने से अतिरिक्त अशो का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है वह मिथ्याज्ञान नही है ।

सुनय और दुर्नय

प्रमाण मे सभी धर्मों के ज्ञान का समावेश हो जाता है किन्तु नय एक अश को मुख्य करके अन्य अश को गौण करता है किन्तु उसकी उपेक्षा या तिरस्कार नही करता किन्तु दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्य का निराकरण करता है । प्रमाण[2] तत् और अतत् सभी को जानता है किन्तु नय मे केवल 'तत्' की ही प्रतिपत्ति होती है पर दुर्नय दूसरो का निराकरण करता है ।

उमास्वाति लिखते हैं किसी वस्तु के अन्य धर्मो का निषेध करके अपने अभीष्ट एकान्त को सिद्ध करने को दुर्नय कहते हैं ।

---

१ नाय वस्तु न चावस्तु वस्त्वश कथ्यते यत ।
नासमुद्र समुद्रो वा समुद्राशो यथोच्यते ॥
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६, नयविवरण श्लो० ६

२ (क) धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयाना प्रकारान्तरासभवाच्च । प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्ते तत्प्रतिपत्ते तदन्यनिराकृतेश्च । —अष्टसहस्री

(ख) नि शेषाशजुषा प्रमाणविषयीभूय समासेदुषा,
वस्तूना नियताशकल्पनपरा सप्त श्रुतासगिन ।
औदासीन्यपरायणास्तदपरे चाशे भवेयुर्नया-
श्चेदेकाशकलकपककलुषास्ते स्युस्तदा दुर्नया ॥—उमास्वातिकृत पचाशक

आचार्य सिद्धसेनदिवाकर ने लिखा है "वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्ष का आग्रह करते हैं और पर का निषेध करते हैं किन्तु जब वे परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते है तब सम्यक्त्व के सद्भाव वाले होते है ।[1] जिस प्रकार वैडूर्य आदि वहुमूल्य मणियाँ एक सूत्र मे पिरोई न हो तो वे 'रत्नावली' की सज्ञा प्राप्त नही कर सकती, वैसे ही नियतवादो का आग्रह रखनेवाले परस्पर निरपेक्ष नय सम्यक्त्व को नही पा सकते, भले ही उनका अपने पक्ष मे कितना ही महत्त्व क्यो न हो। जैसे वे मणियाँ एक सूत्र मे पिरोने पर रत्नावली या रत्नहार बन जाती है वैसे ही सभी नय परस्पर सापेक्ष होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं ।"[2]

रत्नो का हारपना जिस प्रकार सूत्र के पिरोये जाने पर और विशिष्ट प्रकार की सयोजना पर अवलम्बित है वैसे ही नयवाद का सम्यक्दृष्टिपना भी उनकी परस्पर अपेक्षा पर अवलम्बित है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी लिखा है—स्वसमयी व्यक्ति दोनो नयो के वक्तृत्व को जानता तो है पर किसी एक नय का तिरस्कार करके दूसरे नय के पक्ष को गहण नही करता, वह एक नय को द्वितीय-सापेक्ष रूप से ही ग्रहण करता है ।[3]

---

१ तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ —सन्मति-प्रकरण १।२१

२ जहाऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसजुत्ता ।
रयणावलिववएस न लहति महग्घमुल्ला वि ॥
तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा ।
सम्मद्दसणसद्द सव्वे वि णया ण पावेंति ॥
जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिबद्धा ।
'रयणावलि' त्ति भण्णई जहति पाडिक्कसण्णाउ ॥
तह सव्वे णायवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दसणसद्द लहन्ति ण विसेससण्णाओ ॥
—सन्मति प्रकरण १।२२ से २५

३ दोण्ह वि णयाण भणिय जाणइ णवर तु समयपडिवद्धो ।
ण दु णयपक्ख गिण्हदि किञ्चि वि णयपक्खपरिहीणो ॥
—समयसार गा० १४३

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है अत एक-एक धर्म को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त ही होगे। भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें। पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नही है जो विना अर्थ के प्रयुक्त हो। जितने शब्द हैं उतने ही नय हैं। क्या ये नय एक वस्तु के विषय मे परस्पर विरोधी तन्त्रो के मतवाद हैं या जैनाचार्यो के ही परस्पर मतभेद है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार उमास्वाति ने लिखा है—'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद है और न आचार्यो के ही पारस्परिक मतभेद हैं। किन्तु ज्ञेय अर्थ को जानने वाला नाना अध्यवसाय है।[1] एक ही वस्तु को अपेक्षा भेद से विविध दृष्टिकोणो से ग्रहण करने वाले विकल्प है किन्तु आकाशीय कल्पनाएँ नही है।'

ये नय निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी न किसी को विषय अवश्य करते है। ज्ञाता का कार्य है कि इनका विवेक करे। जैसे सत् की अपेक्षा से लोक एक है। जीव और अजीव की अपेक्षा से दो है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार है। पचास्तिकाय की अपेक्षा से पाँच प्रकार का है और द्रव्यो की अपेक्षा से छह प्रकार का है। ये अपेक्षाभेद से होने वाले विकल्प है किन्तु इनमे मतभेद या विवाद नही है। इसी प्रकार नयवाद भी अपेक्षाभेद से होने वाले वस्तु के विभिन्न अध्यवसाय है।[2]

जैनदर्शन की अखण्डता का रहस्य

दर्शनशास्त्र के अभ्यासी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित है कि भारत के मुख्य तीन दर्शनो मे से वैदिकदर्शन और बौद्धदर्शन मे तत्त्ववाद को लेकर अनेकानेक गभीर मतभेद उत्पन्न हुए है। वेद का समान रूप से प्रामाण्य अगीकार करने वाले अनेक दर्शन हमारे समक्ष है जिनमे अद्वैत ब्रह्मवादी, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, आत्मवादी और अनात्मवादी तक सम्मिलित है। इनके पारस्परिक मतभेदो को देखते हुए कल्पना करना कठिन हो जाता है कि इन सबका मूल आधार वेद एक हैं और ये सब एक ही दर्शन की विभिन्न शाखाएँ हैं।

---

१ अत्राह—किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति। अत्रोच्यते। नैते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मति-भेदेन विप्रधाविता। ज्ञेयस्यत्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि।

—तत्त्वार्थ भाष्य १।३५

२ जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार जैन, पृ० ४४६

बौद्धदर्शन पर जब दृष्टिपात किया जाता है तब भी यह स्थिति दृष्टिगोचर होती है। इस दर्शन का एक सम्प्रदाय जिसे माध्यमिक नाम से अभिहित किया गया है, सर्वथा शून्यवादी है। उसके मतानुसार इस विराट एव विशाल सृष्टि मे कुछ भी सत् नही है, दृश्य या अदृश्य किसी भी वस्तु की सत्ता नही है। सब कुछ असत् है, शून्य है, भ्रम है और शायद भ्रम स्वय मे भी भ्रम है। इस सम्प्रदाय के विरुद्ध एक सम्प्रदाय ज्ञान की सत्ता को भी स्वीकार करता है मगर ज्ञेय का अस्तित्व अस्वीकार करता है। उसका अभिमत है कि जगत् मे ज्ञान के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ का अस्तित्व नही है। ज्ञान स्वय ही ज्ञेय है। ग्राह्य-ग्राहक की भेद कल्पना प्रमाणहीन है। तीसरा सम्प्रदाय ज्ञान के साथ ज्ञेय पदार्थों की भी वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है।

यह मतभेद प्रदर्शन मात्र दिग्दर्शन है। इसे देखते हुए सहज ही समझा जा सकता है कि मूलभूत विषयो मे भी इन दर्शनो मे मतैक्य नही है। आकाश-पाताल जितना अन्तर है।

अब जरा जैनदर्शन की ओर नजर दौडाइए। स्पष्ट है कि वैदिक और बौद्धदर्शन की भाँति जैनदर्शन मे इस प्रकार का कोई सम्प्रदायभेद नही है। एक समय जैनसघ दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक शाखाओ मे विभक्त अवश्य हो गया पर यह विभाजन मात्र क्रियाकाण्ड के आधार पर हुआ। षट् द्रव्य, पच अस्तिकाय, नवतत्त्व आदि मौलिक तात्त्विक मान्यताओ मे तनिक भी भेद नही है। इसके पश्चात् भी जो उपशाखाएँ निर्मित हुई वे भी केवल बाह्य क्रियाकाण्ड सम्बन्धी मतभेदो को लेकर ही हुई है। तत्त्व-विचारणा की मौलिक एकरूपता का कभी भङ्ग नही हुआ। इस प्रकार जो तात्त्विक अभिन्नता जैनदर्शन मे उपलब्ध होती है वह किसी भी एकअर्थअनुसारी दर्शनो मे दिखाई नही देती।

इस विस्मयजनक एकता का कारण क्या है? कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा मे समर्थ प्रतिभाशाली और मौलिक विचारणा करने वाले दार्शनिक आचार्यों का उद्भव नही हुआ। किन्तु इस कथन की निस्सारता जैनदर्शनशास्त्र के ग्रन्थो का अवलोकन करने से अनायास ही सिद्ध हो जाती है। जैन तार्किको ने अपने अभिमत की सिद्धि और विरोधी मन्तव्यो का निराकरण करने मे जो दक्षता प्रदर्शित की है, जिस युक्ति-कौशल से

काम लिया है और जिस जाज्वल्यमान प्रतिभा का परिचय दिया है, वह किसी भी दर्शनान्तर के तार्किको से कम नही है।

तव जैनदर्शन मे मन्तव्यभेद न होने का क्या रहस्य है? गभीर विचार करने पर स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि इसका सम्पूर्ण श्रेय नयवाद को है। नयवाद के आधार पर अनेकान्तवाद का सुदृढ सिद्धान्त स्थापित हुआ है और उसमे सत्य के सभी अशो का यथायोग्य समावेश हो जाता है। कोई भी सत्य-दृष्टिकोण अनेकान्तवाद की विशाल परिधि से वाहर नही जा पाता। जड और चेतन जगत् की एकता-अनेकता, नित्यता-अनित्यता, सचेतनता-अचेतनता आदि सम्बन्धी मन्तव्य जिन्होने परस्पर विरोधी बनकर अन्य दर्शनो मे सम्प्रदायभेद उत्पन्न किया है, अनेकान्तवाद मे अविरोधी बन जाते हैं। अतएव इन विचारो का अनेकान्तवाद मे ही अपक्षाभेद से समावेश हो जाता है। यह नयवाद की वडी से वडी विशेषता है। इस विशेपता का उदारतापूर्वक उपयोग किया जाय तो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दर्शन अविरुद्ध बन सकते है, उनमे शत्रुभाव के स्थान पर मित्रभाव स्थापित हो सकता है और खण्डित सत्य के स्थान पर अखण्ड-सम्पूर्ण सत्य की विमल झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है।

□ ज्ञानवाद : एक परिशीलन

- ○ ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध
- ○ ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?
- ○ ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध
- ○ ज्ञान और दर्शन
- ○ ज्ञान और वेदनानुभूति
- ○ वेदना के दो रूप सुख और दु ख
- ○ आगमों मे ज्ञानवाद
- ○ मतिज्ञान
- ○ इन्द्रिय
- ○ इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम
- ○ मन
- ○ मन का लक्षण
- ○ मन का कार्य
- ○ मन का स्थान
- ○ मन का अस्तित्व
- ○ अवग्रह
- ○ व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह
- ○ ईहा
- ○ अवाय
- ○ धारणा
- ○ श्रुतज्ञान
- ○ मति और श्रुतज्ञान
- ○ अवधिज्ञान
- ○ अवधिज्ञान का विषय
- ○ अवधिज्ञान के अधिकारी
- ○ मन पर्याय ज्ञान
- ○ दो विचारधाराएँ
- ○ दो प्रकार
- ○ मन पर्याय ज्ञान का विषय
- ○ अवधि और मन पर्याय
- ○ केवलज्ञान
- ○ दर्शन और ज्ञान विषयक तीन मान्यताएँ

ज्ञानवाद : एक परिशीलन

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध है। दो पृथक्-सिद्ध पदार्थो मे ही सयोग सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध मे यह बात नही है। इन दोनो का अस्तित्व पृथक्-सिद्ध नही है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण वह कहलाता है जो अपने आश्रय-भूत द्रव्य का त्याग नही करता। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना नही की जा सकती। न्याय और वैशेषिकदर्शन ज्ञान को आगन्तुक गुण मानने हैं, मौलिक नही, किन्तु जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। कितने ही स्थलो पर तो आत्मा के अन्य गुणो को गौण करके ज्ञान और आत्मा को एक कर दिया गया है। व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे भेद माना गया है, पर निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे किसी भी प्रकार का भेद नही है।[1] ज्ञान और आत्मा मे कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, जो निजगुण होता है वह किसी भी समय अपने गुणी द्रव्य से अलग नही हो सकता। ज्ञान से आत्मा को भिन्न नही किया जा सकता, आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञान स्वभावत स्व-परप्रकाशक है। वह अन्य वस्तु को जानने के साथ-साथ स्वय को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान अपने-आपको कैसे जान सकता है ? ज्ञान स्वय को स्वय से जानता है, यह बात शीघ्र समझ मे नही आती। कोई भी चतुर नट अपने खुद के कन्धो पर चढ नही सकता, अग्नि स्वय को नही जला सकती, वह दूसरे पदार्थ को ही जलाती है। वैसे

---

१ (क) जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचाराग ५।५।१६६
(ख) समयसार गाथा ७
(ग) णाणे पुण णियम आया। —भगवती १२।१०

ही ज्ञान अन्य को तो जान सकता है किन्तु स्वय को किस प्रकार जान सकता है ?

जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ ही पर-पदार्थो को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही पर-पदार्थो को जानता है। दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नही रहती, वैसे ही ज्ञान को जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही होती। ज्ञान दीपक के समान स्व और पर का प्रकाशक माना गया है। साराश यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना अनिवार्य है। इसीलिए ज्ञान का इतना महत्त्व है।

आगम साहित्य मे अभेद दृष्टि से जब कथन किया है तब कहा कि जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है। भेद दृष्टि से कथन करते हुए कहा—ज्ञान आत्मा का गुण है। भेदाभेद की दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नही है और अभिन्न भी नही है किन्तु कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है।[1] ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है, इस प्रकार गुण और गुणी के रूप मे ये भिन्न भी हैं।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान दोनो स्वतन्त्र हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय ये ज्ञेय है। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय उत्पन्न होता है। हमारा ज्ञान जाने या न जाने तथापि पदार्थ अपने रूप मे अवस्थित है। हमारे ज्ञान की ही यदि वे उपज हो तो उनकी असत्ता मे उन्हे जानने का हमारा प्रयास ही क्यो होगा ? अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नही कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय हो या न हो तथापि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा मे अवस्थित है। हमारा ज्ञान यदि पदार्थ की ही उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा, उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकेगा।

---

१ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्न कथचन।
ज्ञान पूर्वापरीभूत सोऽयमात्मेति कीर्तित। —स्वरूप सम्बोधन, ४

ज्ञानवाद : एक परिशीलन

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्वन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध है। दो पृथक्-सिद्ध पदार्थों मे ही सयोग सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्वन्ध मे यह वात नही है। इन दोनो का अस्तित्व पृथक्-सिद्ध नही है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण वह कहलाता है जो अपने आश्रय-भूत द्रव्य का त्याग नही करता। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना नही की जा सकती। न्याय और वैशेषिकदर्शन ज्ञान को आगन्तुक गुण मानते हैं मौलिक नही, किन्तु जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। कितने ही स्थलो पर तो आत्मा के अन्य गुणो को गौण करके ज्ञान और आत्मा को एक कर दिया गया है। व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे भेद माना गया है, पर निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे किसी भी प्रकार का भेद नही है।[1] ज्ञान और आत्मा मे कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, जो निजगुण होता है वह किसी भी समय अपने गुणी द्रव्य से अलग नही हो सकता। ज्ञान से आत्मा को भिन्न नही किया जा सकता, आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञान स्वभावत स्व-परप्रकाशक है। वह अन्य वस्तु को जानने के साथ-साथ स्वय को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान अपने-आपको कैसे जान सकता है? ज्ञान स्वय को स्वय से जानता है, यह वात शीघ्र समझ मे नही आती। कोई भी चतुर नट अपने खुद के कन्धो पर चढ नही सकता, अग्नि स्वय को नही जला सकती, वह दूसरे पदार्थ को ही जलाती है। वैसे

---

१ (क) जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचाराग ५।५।१६६

(ख) समयसार गाथा ७

(ग) णाणे पुण णियम आया। —भगवती १२।१०

ही ज्ञान अन्य को तो जान सकता है किन्तु स्वय को किस प्रकार जान सकता है ?

जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ ही पर-पदार्थो को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही पर-पदार्थो को जानता है। दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नही रहती, वैसे ही ज्ञान को जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही होती। ज्ञान दीपक के समान स्व और पर का प्रकाशक माना गया है। साराश यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना अनिवार्य है। इसीलिए ज्ञान का इतना महत्त्व है।

आगम साहित्य मे अभेद दृष्टि से जब कथन किया है तब कहा कि जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है। भेद दृष्टि से कथन करते हुए कहा—ज्ञान आत्मा का गुण है। भेदाभेद की दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नही है और अभिन्न भी नही है किन्तु कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है।[1] ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है, इस प्रकार गुण और गुणी के रूप मे ये भिन्न भी हैं।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान दोनो स्वतन्त्र हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय ये ज्ञेय है। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय उत्पन्न होता है। हमारा ज्ञान जाने या न जाने तथापि पदार्थ अपने रूप मे अवस्थित है। हमारे ज्ञान की ही यदि वे उपज हो तो उनकी असत्ता मे उन्हे जानने का हमारा प्रयास ही क्यो होगा ? अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नही कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय हो या न हो तथापि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा मे अवस्थित है। हमारा ज्ञान यदि पदार्थ की ही उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा, उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकेगा।

---

१ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्न कथचन।
ज्ञान पूर्वापरीभूत सोऽयमात्मेति कीर्तित। —स्वरूप सम्बोधन, ४

ज्ञानवाद : एक परिशीलन

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध सयोग सम्बन्ध है। दो पृथक्-सिद्ध पदार्थों मे ही सयोग सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध मे यह बात नही है। इन दोनो का अस्तित्व पृथक्-सिद्ध नही है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण वह कहलाता है जो अपने आश्रय-भूत द्रव्य का त्याग नही करता। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना नही की जा सकती। न्याय और वैशेषिकदर्शन ज्ञान को आगन्तुक गुण मानने हैं मौलिक नही, किन्तु जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। कितने ही स्थलो पर तो आत्मा के अन्य गुणो को गौण करके ज्ञान और आत्मा को एक कर दिया गया है। व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे भेद माना गया है, पर निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा मे किसी भी प्रकार का भेद नही है।[1] ज्ञान और आत्मा मे कथचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, जो निजगुण होता है वह किसी भी समय अपने गुणी द्रव्य से अलग नही हो सकता। ज्ञान से आत्मा को भिन्न नही किया जा सकता, आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञान स्वभावत स्व-परप्रकाशक है। वह अन्य वस्तु को जानने के साथ-साथ स्वय को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान अपने-आपको कैसे जान सकता है? ज्ञान स्वय को स्वय से जानता है, यह बात शीघ्र समझ मे नही आती। कोई भी चतुर नट अपने खुद के कन्धो पर चढ नही सकता, अग्नि स्वय को नही जला सकती, वह दूसरे पदार्थ को ही जलाती है। वैसे

---

१ (क) जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचाराग ५।५।१६६

(ख) समयसार गाथा ७

(ग) णाणे पुण णियम आया। —भगवती १२।१०

ही ज्ञान अन्य को तो जान सकता है किन्तु स्वय को किस प्रकार जान सकता है ?

जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ ही पर-पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानता हुआ ही पर-पदार्थों को जानता है । दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नही रहती, वैसे ही ज्ञान को जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही होती । ज्ञान दीपक के समान स्व और पर का प्रकाशक माना गया है । साराश यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना अनिवार्य है । इसीलिए ज्ञान का इतना महत्त्व है ।

आगम साहित्य मे अभेद दृष्टि से जव कथन किया है तव कहा कि जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है। भेद दृष्टि से कथन करते हुए कहा—ज्ञान आत्मा का गुण है । भेदाभेद की दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नही है और अभिन्न भी नही है किन्तु कथचित् भिन्न है और कथचित् अभिन्न है ।[1] ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है । ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है, इस प्रकार गुण और गुणी के रूप मे ये भिन्न भी हैं ।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान दोनो स्वतन्त्र है । द्रव्य, गुण और पर्याय ये ज्ञेय है । ज्ञान आत्मा का गुण है । न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय उत्पन्न होता है । हमारा ज्ञान जाने या न जाने तथापि पदार्थ अपने रूप मे अवस्थित है । हमारे ज्ञान की ही यदि वे उपज हो तो उनकी असत्ता मे उन्हे जानने का हमारा प्रयास ही क्यो होगा ? अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नही कर सकते ।

पदार्थ ज्ञान के विषय हो या न हो तथापि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा मे अवस्थित है । हमारा ज्ञान यदि पदार्थ की ही उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा, उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध नही हो सकेगा ।

---

१ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्न कथचन ।
ज्ञान पूर्वापरीभूत सोऽयमात्मेति कीर्तित । —स्वरूप सम्बोधन, ४

तात्पर्य यह है कि जब हम पदार्थ को जानते हैं तब ज्ञान उत्पन्न नही होता किन्तु उस समय उसका प्रयोग होता है। जानने की क्षमता हमारे मे रहती है, तथापि ज्ञान की आवृत-दशा मे हम पदार्थ को बिना माध्यम के जान नही सकते। हमारे शरीर, इन्द्रिय और मन चेतनायुक्त नही हैं, जब इनसे पदार्थ का सम्बन्ध होता है, या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और हम ज्ञेय को जान लेते हैं। या हमारे सस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को उत्प्रेरित करते है तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की प्रवृत्ति है, उत्पत्ति नही। विषय के सामने आने पर उसे ग्रहण कर लेना प्रवृत्ति है। जिसमे जितनी ज्ञान की क्षमता होगी, वह उतना ही जानने मे सफल हो सकेगा।

इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियो की शक्ति सीमित है। वे मन के साथ अपने-अपने विषयो को स्थापित करके ही जान सकती है। मन का सम्बन्ध एक समय मे एक इन्द्रिय से ही होता है, एतदर्थ एक काल मे एक पदार्थ की एक ही पर्याय जानी जा सकती है। अत ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की आवश्यकता नही। यह सीमा आवृत-ज्ञान के लिए है, अनावृत-ज्ञान के लिए नही। अनावृत ज्ञान मे तो एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते है।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। प्रमाता ज्ञान स्वभाव है इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय स्वभाव है इसलिए वह विषय है। दोनो स्वतन्त्र हैं तथापि ज्ञान मे अर्थ को जानने की और अर्थ मे ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। यही दोनो के कथचित् अभेद का कारण है।

ज्ञान और दर्शन

जानना, देखना और अनुभूति करना ये चैतन्य के तीन मुख्य रूप है। आँख के द्वारा देखा जाता है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र तथा मन के द्वारा जाना जाता है।

आगमिक दृष्टि से—जिस प्रकार चक्षु का दर्शन होता है उसी प्रकार अचक्षु—मन और चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियो का भी दर्शन होता है। अवधि और केवल का भी दर्शन होता है।

यहाँ पर दर्शन का अर्थ देखना नही, किन्तु एकता या अभेद का सामान्य-ज्ञान ही दर्शन है। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान के पाँच प्रकार है और दर्शन के चार। मन पर्यायज्ञान भेद को ही जानता है इसलिए उसका दर्शन नही होता।

गुण और पर्याय की दृष्टि से विश्व विभक्त है और द्रव्यगत-एकता की दृष्टि से अविभक्त है। इसलिए विश्व को न सर्वथा विभक्त और न सर्वथा अविभक्त कह सकते हैं। आवृत ज्ञान की क्षमता न्यून होती है एतदर्थ प्रथम उसके द्वारा द्रव्य का सामान्यरूप जाना जाता है, उसके पश्चात् नाना प्रकार के परिवर्तन और क्षमता जानी जाती है।

केवलज्ञान अनावृत है। उसकी क्षमता असीम है, एतदर्थ उसके द्वारा प्रथम द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता का ज्ञान होगा, फिर उनकी एकता का।

केवलज्ञानी अनन्तशक्तियो का प्रथम क्षण मे पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और द्वितीय क्षण मे उन्हे द्रव्यत्व की सामान्य-सत्ता मे गुंथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन का क्रम है।

छद्मस्थ प्राणी एक समय मे कुछ भी नही जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असख्यात समय मे द्रव्य की सामान्य सत्ता को जान पाते है और उसके पश्चात् क्रमश उसकी एक-एक विशेषता जानी जाती है। इस तरह हमे प्रथम चक्षुदर्शन या अचक्षुदर्शन होता है उसके पश्चात् मति-श्रुतज्ञान होता है। विशेष को जानकर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जानकर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है।

ज्ञान और वेदनानुभूति

पाँच इन्द्रियो मे से स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ भोगी हैं। इन इन्द्रियो से विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनो होती है। चक्षु और श्रोत्र ये दो कामी हैं, इन इन्द्रियो से केवल विषय जाना जाता है पर उसकी अनुभूति नही होती।[1]

---

१ पुट्ठ सुणेइ सद्द, रूप पुण पासइ अपुट्ठ तु।
गध रस च फास बद्ध-पुट्ठ वियागरे॥

इन्द्रियो से हम वाह्य वस्तुओ को जानते है किन्तु जानने की प्रक्रिया समान नही है। अन्य इन्द्रियो से चक्षु की ज्ञानशक्ति अधिक तीव्र है, एतदर्थ वह अस्पृष्ट रूप को जान लेती है।

चक्षु की अपेक्षा श्रोत्र की ज्ञानशक्ति न्यून है क्योकि वह स्पृष्ट शब्द को ही जान पाता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण इनकी क्षमता श्रोत्र से भी न्यून है। विना वद्ध-स्पृष्ट हुए ये अपने विषय को नही जान पाते।

स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित करती हैं इसलिए उन्हे ज्ञान के साथ अनुभूति भी होती है किन्तु चक्षु और श्रोत्र मे इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्वन्ध स्थापित नही होता इसलिए उसमे ज्ञान होता है, अनुभूति नही होती।

मन से भी अनुभूति होती है, किन्तु वह वाह्य विषयो के गाढतम सम्पर्क से नही होती किन्तु वह अनुभूति होती है विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने से।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है, जिसे मन पर्यव ज्ञान कहते है। वाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है उसे शुद्ध मानसिक ज्ञान नही कह सकते और न शुद्ध-अतीन्द्रिय ज्ञान ही कह सकते हैं। वह इन दोनो के मध्य की स्थिति है।[1]

वेदना के दो रूप : सुख और दु ख

वाह्य जगत् का परिज्ञान हमे इन्द्रियो के द्वारा होता है और उसका सवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गध और रूप ये पदार्थ के मौलिक गुण हैं और शब्द उसकी पर्याय है। इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करती है और मन से उसका विस्तार होता है। वाह्य वस्तुओ के सयोग और वियोग से सुख और दु ख की अनुभूति होती है किन्तु उसे शुद्ध ज्ञान नही कह सकते, उसकी अनुभूति अचेतन को नही होती अत वह अज्ञान भी नही है। ज्ञान और बाह्य पदार्थ के सयोग से वेदना का अनुभव होता है।

शारीरिक सुख और दु ख की अनुभूति इन्द्रिय और मन के माध्यम से होती है। अमनस्क जीवो को मुख्यत शारीरिक वेदना होती है और

---

१ सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्या, केवलश्रुतयो पृथक्-।
बुद्धेरनुभव दृष्ट' केवलार्कारुणोदय' ॥ —ज्ञानसार अप्टक २, श्लोक १६

समनस्क जीवो को शारीरिक मानसिक दोनो प्रकार की वेदनाएँ होती है। सुख और दु ख ये दोनो वेदनाएँ एक साथ नही होती।

आत्म-रमण चैतन्य की विशुद्ध परिणति है। वह आत्मसुख वेदना नही है। उसे स्वसवेदन, आत्मानुभूति या स्वरूपसवेदन कहा जाता है।

आगमो मे ज्ञानवाद

आगम साहित्य मे ज्ञान सम्बन्धी जो मान्यताएँ प्राप्त होती है वे अत्यधिक प्राचीन है। राजप्रश्नीय सूत्र मे केशीकुमार श्रमण राजा प्रदेशी को कहते हैं कि—हम श्रमण निर्ग्रन्थ पाँच प्रकार के ज्ञान मानते है—(१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यवज्ञान (५) केवल ज्ञान।[1]

केशीकुमार श्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण थे। उन्होने जिन पाँच ज्ञानो का निरूपण किया उन्ही पाँच ज्ञानो का वर्णन भगवान् महावीर ने भी किया है।[2]

उत्तराध्ययन मे केशी और गौतम का जो सवाद है[3] उससे स्पष्ट है कि भगवान् पार्श्व और महावीर के शासन मे आचार-विषयक कुछ मतभेद थे किन्तु तत्त्वज्ञान मे कुछ भी मतभेद नही था। यदि तत्त्वज्ञान मे मतभेद होता तो उसका उल्लेख प्रस्तुत सवाद मे अवश्य होता। पचज्ञान की मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ मे प्राय एक समान है। केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के विषय मे कुछ मतभेद है, अन्य सभी समान है।

विकास क्रम की दृष्टि से आगमो के आधार से ज्ञान चर्चा की तीन भूमिकाएँ प्राप्त होती है।[4]

प्रथम भूमिका मे ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं उनमे आभिनिवोधिक

---

१ एव खु पएसी ! अम्ह समणाण निग्गथाण पचविहे नाणे पण्णत्ते। त जहा— आभिणिवोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिणाणे, मणपज्जवणाणे, केवलणाणे।

—रायप्रश्नीय सूत्र १६५

२ भगवती ८८।२।३१७

३ अध्ययन २३,

४ आगमयुग का जैनदर्शन—प० दलसुख मालवणिया पृ० १२६

के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये है। वह विभाग इस प्रकार हैं[१]—

अवग्रह आदि के भेद-प्रभेद अन्य स्थानो के समान यहाँ पर भी वताये गये हैं।

दूसरी भूमिका मे ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये गये है। उसके पश्चात् प्रत्यक्ष और परोक्ष के भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। इसमे पाँच ज्ञानो मे से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत, अवधि, मन पर्यंव और केवल को प्रत्यक्ष के अतर्गत लिया गया है। इसमे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को स्थान नही दिया गया है। जैनदृष्टि से जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष है उन्हे ही प्रत्यक्ष माना है और जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनो की अपेक्षा रखते हैं उन्हे परोक्ष माना है। जैनेतर सभी दार्शनिको ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है परन्तु उसे यहाँ पर प्रत्यक्ष नही माना है। यह योजना स्थानाग सूत्र मे है।[२]

भगवती सूत्र की प्रथम योजना मे और इस योजना मे मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ पर ज्ञान के मुख्य दो भेद किये हैं, पाँच नही। पाँच ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदो के प्रभेद के रूप मे गिना है। इस प्रकार स्पष्ट परिज्ञान होता है कि यह प्राथमिक भूमिका का विकास है। जो इस प्रकार है—

---

१ भगवती ८८।२,३१७

२ स्थानाङ्ग सूत्र ७१

ज्ञान
प्रत्यक्ष
परोक्ष
केवल
नोकेवल
आभिनिबोधिक
श्रुतज्ञान
अवधि
मन पर्यंव
अगप्रविष्ट
अगबाह्य
भवप्रत्ययिक
क्षायोपशमिक
ऋजुमति
विपुलमति
आवश्यक
आवश्यकव्यतिरिक्त
कालिक
उत्कालिक
श्रुतनि सृत
अश्रुतनि सृत
अर्थावग्रह
व्यजनावग्रह
अर्थावग्रह
व्यजनावग्रह

के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद किये हैं। वह विभाग इस प्रकार है[1]—

अवग्रह आदि के भेद-प्रभेद अन्य स्थानो के समान यहाँ पर भी बताये गये हैं।

दूसरी भूमिका मे ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये गये है। उसके पश्चात् प्रत्यक्ष और परोक्ष के भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। इसमे पाँच ज्ञानो मे से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत, अवधि, मन पर्यव और केवल को प्रत्यक्ष के अतर्गत लिया गया है। इसमे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को स्थान नही दिया गया है। जैनदृष्टि से जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष है उन्हे ही प्रत्यक्ष माना है और जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनो की अपेक्षा रखते है उन्हे परोक्ष माना है। जैनेतर सभी दार्शनिको ने इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है परन्तु उसे यहाँ पर प्रत्यक्ष नही माना है। यह योजना स्थानाग सूत्र मे हैं।[2]

भगवती सूत्र की प्रथम योजना मे और इस योजना मे मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ पर ज्ञान के मुख्य दो भेद किये हैं, पाँच नही। पाँच ज्ञानो को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदो के प्रभेद के रूप मे गिना है। इस प्रकार स्पष्ट परिज्ञान होता है कि यह प्राथमिक भूमिका का विकास है। जो इस प्रकार है—

---

१ भगवती ८८।२,३१७

२ स्थानाङ्ग सूत्र ७१

ज्ञान
प्रत्यक्ष
परोक्ष
केवल
नोकेवल
आभिनिबोधिक
श्रुतज्ञान
अवधि
मन पर्यंव
अगप्रविष्ट
अगबाह्य
भवप्रत्ययिक
क्षायोपशमिक
ऋजुमति
विपुलमति
आवश्यक
आवश्यकव्यतिरिक्त
कालिक
उत्कालिक
श्रुतनि सृत
अश्रुतनि सृत
अर्थावग्रह
व्यजनावग्रह
अर्थावग्रह
व्यजनावग्रह

द्वितीय भूमिका मे इन्द्रियजन्य मतिज्ञान का परोक्ष के अन्तर्गत समावेश किया है। तृतीय भूमिका मे और भी कुछ परिवर्तन आया है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये गये हैं। सभवत लौकिक मान्यता के कारण ही इस प्रकार का भेद किया गया हो। नन्दीसूत्र के अभिमतानुसार इस भूमिका का सार इस प्रकार है[1]—

१ जैनदर्शन—डाक्टर मोहनलाल मेहता, पृ० २०६।
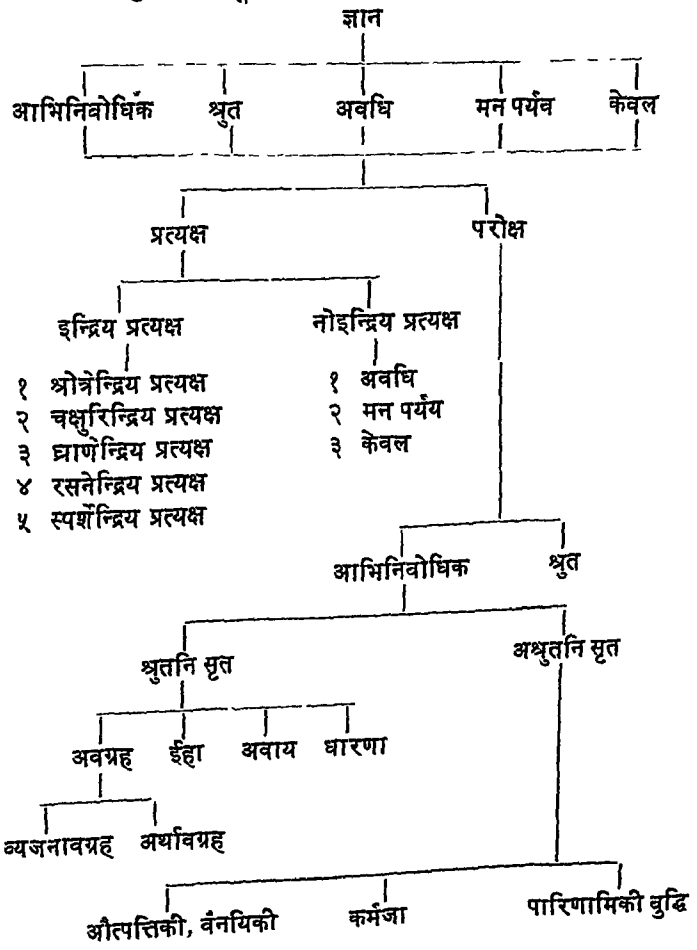
उपर्युक्त तीनो भूमिकाओ का अवलोकन करने मे सहज ही परिज्ञान होता है कि प्रथम भूमिका मे दार्शनिक पुट नही है। इस भूमिका मे प्राचीन परम्परा का स्पष्ट निदर्शन है। इसमे पहले ज्ञान के पाँच विभाग किये गये है। उसमे मतिज्ञान के अवग्रह आदि भेद किये गये है। भगवती सूत्र मे भी इस परिपाटी का दर्शन होता है। द्वितीय भूमिका मे शुद्ध जैन-दृष्टि के साथ दार्शनिक प्रभाव भी है। इसमे ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये विभाग किये हैं। बाद मे जैन-तार्किको ने इस विभाग को अपनाया है। इस विभाग के पीछे वैशद्य और अवैशद्य की भूमिका है। वैशद्य का आधार आत्मप्रत्यक्ष है और अवैशद्य का आधार इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान है। जैनदर्शन ने प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्धी व्याख्या इसी दृष्टि से की है। अन्य दार्शनिको की प्रत्यक्ष-विषयक मान्यता और जैनदर्शन की प्रत्यक्ष-विषयक मान्यता मे मुख्य अन्तर यह है कि जैनदर्शन आत्म-प्रत्यक्ष को ही मुख्य रूप से प्रत्यक्ष मानता है, जबकि अन्य दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते है। प्रत्यक्ष के अवधि, मन पर्यव, केवल ये तीन भेद हैं। क्षेत्र, विशुद्धि आदि की दृष्टि मे इनमे तारतम्य है। केवलज्ञान सबसे विशुद्ध और पूर्ण है। आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान ये परोक्ष है। आभिनिबोधिक ज्ञान का ही अपर नाम मतिज्ञान भी है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन दोनो से होता है। श्रुतज्ञान का आधार मन है। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव आदि के अनेक अवान्तर भेद हैं। तीसरी भूमिका मे जैनदृष्टि के साथ ही इतर दृष्टि का भी पुट है। प्रत्यक्ष के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये दो भेद किये है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मे इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। वस्तुत वह इन्द्रियाश्रित होने से परोक्ष ही है। किन्तु उसे प्रत्यक्ष मे स्थान देकर लौकिक मत का समन्वय किया है। विशेषावश्यक भाष्य मे जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि वस्तुत इन्द्रियज प्रत्यक्ष को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए अर्थात् लोकव्यवहार की दृष्टि से ही इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष कहा है, वस्तुत वह परोक्ष ही है। परमार्थत प्रत्यक्षकोटि मे आत्ममात्र सापेक्ष अवधि, मन पर्यव, और केवल तीन हैं। प्रत्यक्ष-परोक्षत्व व्यवहार इस भूमिका मे इस प्रकार मान्य होता है—

(१) अवधि, मन पर्यव और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।

(२) श्रुत परोक्ष ही है।

(३) इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है, और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

(४) मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलक ने और अन्य आचार्यो ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—साव्यावहारिक और पारमार्थिक, यह उनकी स्वय कल्पना नही है किन्तु उनकी कल्पना का मूल आधार नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य मे रहा हुआ है।[1]

आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रह आदि भेदो पर बाद के दार्शनिक आचार्यो ने विस्तार से विवेचन किया है। स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि की इन तार्किको ने जो दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की है, वैसी व्याख्या आगम साहित्य मे नही है। इसका मूल कारण यह है कि आगम युग मे इस सम्बन्ध को लेकर कोई सघर्ष नही था किन्तु उसके पश्चात् अन्य दार्शनिको से जैन दार्शनिको को अत्यधिक सघर्ष करना पडा जिसके फलस्वरूप नवीन ढग के तर्क सामने आये। उन्होने उस पर दार्शनिक दृष्टि से गभीर चिन्तन किया। हम यहाँ आगम व दार्शनिक ग्रन्थो के विमल प्रकाश मे पाँच ज्ञानो पर चिन्तन करेंगे, उसके पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि पर प्रमाण की दृष्टि से विचार किया जायेगा।

मतिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है वह मतिज्ञान है। अर्थात् जिस ज्ञान मे इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है उसे मतिज्ञान कहा गया है।[2] आगम साहित्य मे मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहा है।[3] तत्त्वार्थसूत्र मे मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध को एकार्थक कहा है।[4] विशेषावश्यक भाष्य मे—ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा,

---

१ एगन्तेण परोक्ख लिंगियमोहाइय च पच्चक्ख।
इन्दियमणोभव ज त सववहारपच्चक्ख॥
—विशेषावश्यक भाष्य ९५ और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति

२ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।१४

३ (क) तत्थ पचविह नाण सुय आभिनिबोहिय।
ओहिनाण तु तइय मणनाण च केवल॥ —उत्तराध्ययन २८।४

(ख) नन्दीसूत्र, सूत्र ५९, पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित, पृ० २५

४ मति स्मृति सज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।१३

गवेषणा, सज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा आदि शब्दो का प्रयोग किया है।[1] नन्दीसूत्र मे भी इन्ही शब्दो का प्रयोग हुआ है।[2] तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य मे—इन्द्रियजन्यज्ञान और मनोजन्यज्ञान ये दो भेद बताये है।[3] सिद्धसेनगणी ने इन्द्रियजन्य अनिन्द्रियजन्य, (मनोजन्य) और इन्द्रियानिन्द्रियजन्य ये तीन भेद किये है। जो ज्ञान केवल इन्द्रियो से उत्पन्न होता वह इन्द्रियजन्य है। जो ज्ञान केवल मन से उत्पन्न होता है वह अनिन्द्रियजन्य ज्ञान है जो ज्ञान इन्द्रिय और मन इन दोनो के सयुक्त प्रयत्न से होता है वह इन्द्रियानिन्द्रियजन्य ज्ञान है।[4]

मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से होता है इसलिए प्रश्न है कि इन्द्रिय और मन क्या है ?

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी मे स्पष्ट भेदरेखा खीचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे व अन्य आचार्यों ने इन्द्रिय शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है—इन्द्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'इन्दतीति इन्द्र' अर्थात् जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है, वह इन्द्र है। यहाँ इन्द्र शब्द का अर्थ आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञ स्वभाव है तथापि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के रहते हुए भी स्वय पदार्थो को जानने मे असमर्थ है। अत उसको जानने मे तो निमित्त होता है, वह इन्द्र का चिह्न इन्द्रिय है। अथवा जो गूढ पदार्थ का ज्ञान कराता है उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इन्द्रिय शब्द का अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने मे कारण है उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र शब्द नाम कर्म का वाची है

---

१ विशेषावश्यक भाष्य ३९६

२ ईहा अपोह वीमसा मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सती मती पण्णा सव्व आभिणिवोहिय॥
—नन्दीसूत्र, सूत्र ७७, पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित, पृ० २७

३ तदेतन्मतिज्ञान द्विविध भवति। इन्द्रियनिमित्त अनिन्द्रियनिमित्त च। तत्रेन्द्रियनिमित्त स्पर्शनादीना पञ्चाना स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वविषयेषु। अनिन्द्रिय निमित्त मनोवृत्तिरोघज्ञान च। —तत्त्वार्थभाष्य १।१४

४ तत्त्वार्थसूत्र पर टीका १।१४

अत यह अर्थ हुआ कि नाम कर्म की रचना विशेष इन्द्रिय है।[1] साराश यह है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने से सीधा आत्मा से ज्ञान नही हो सकता। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है, वह माध्यम इन्द्रिय है। जिसकी सहायता से ज्ञान लाभ हो सके, वह इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पाँच हैं—स्पर्श, रस, गध, रूप, और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत-अर्थग्राही कहा जाता है। जैसे—

(१) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय स्पशन।
(२) रस-ग्राहक इन्द्रिय रसन।
(३) गध-ग्राहक इन्द्रिय घ्राण।
(४) रूप-ग्राहक इन्द्रिय चक्षु।
(५) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय श्रोत्र।[2]

प्रत्येक इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप से दो प्रकार की है।[3] पुद्गल की आकृति विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद है।[4] इन्द्रियो की विशेष आकृतियाँ निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की वाह्य और आभ्यन्तरिक पौद्गलिक शक्ति है, जिसके अभाव मे आकृति के होने पर भी ज्ञान होना सभव नही है, उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार की है।[5] ज्ञानावरण कर्म आदि के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली जो आत्मिक शक्ति विशेष है, वह लब्धि है। लब्धि प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है, वह व्यापार उपयोग है।

---

१ (क) सर्वार्थसिद्धि १।१४।१०८।३ भारतीय ज्ञानपीठ
(ख) राजवार्तिक १।१४।१।५९ भारतीय ज्ञानपीठ
(ग) धवला १।१,१,३३, ७।२।६।७
(घ) जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग १, पृ० ३१६
२ प्रमाणमीमासा १।२।२१-२३
३ सर्वार्थसिद्धि २।१६।१७९
४ निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१७
५ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१८

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

सभी प्राणियो मे इन्द्रिय-विकास समान नही होता। पाँच इन्द्रियो के पाँच विकल्प हैं—(१) एकेन्द्रिय प्राणी, (२) द्वीन्द्रिय प्राणी, (३) त्रीन्द्रिय प्राणी, (४) चतुरिन्द्रिय प्राणी, (५) पचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी मे जितनी इन्द्रियो की आकार रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न है कि प्राणियो मे यह आकार रचना का वैषम्य क्यो है ? उत्तर है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तियाँ—लब्धि-इन्द्रियाँ निरावरण—विकसित होती हैं उस प्राणी के शरीर मे उतनी ही इन्द्रियो की आकृतियाँ बनती हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति तथा व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके अभाव मे निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग नही होता।

लब्धि के पश्चात् द्वितीय स्थान निर्वृत्ति का है। उसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है, परन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति और निर्वृत्ति के बिना उपकरण तथा उपकरण के विना उपयोग नही हो सकता।
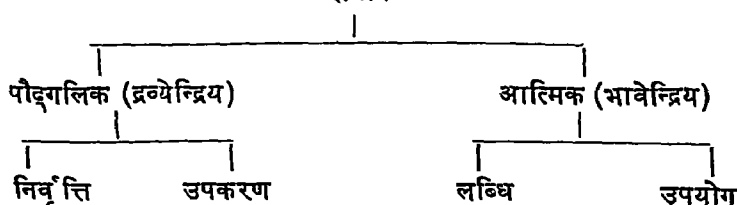
मन

हरएक इन्द्रिय का विषय अलग-अलग है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नही कर सकती। मन एक ऐसी सूक्ष्म इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियो के विषयो को ग्रहण कर सकता है। एतदर्थ ही इसे सर्वार्थग्राही इन्द्रिय कहा है।[1] मन को अनिन्द्रिय इसीलिए कहा जाता है कि वह अत्यधिक सूक्ष्म है। अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय का अभाव नही किन्तु ईषत् इन्द्रिय है। जिस प्रकार किसी लडकी को अनुदरा कहा जाता

---

१ सर्वार्थग्रहण मन। —प्रमाणमीमासा १।२।२४

है, इसका अर्थ विना उदर वाली लडकी नही किन्तु वह लडकी जो गर्भवती स्त्री के समान स्थूल उदर वाली न हो। उसी तरह चक्षु आदि के समान प्रतिनियत देश, विषय, अवस्थान का अभाव होने से मन को अनिन्द्रिय कहा है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है। इसलिए उसे 'दीर्घकालिक सज्ञा' भी कहा है। जैन आगम साहित्य मे 'मन' शब्द की अपेक्षा 'सज्ञा' शब्द अधिक व्यवहृत हुआ है। समनस्क प्राणी को सज्ञी कहा गया है। उसका लक्षण इस प्रकार है— (१)सत्-अर्थ का पर्यालोचन—ईहा है। (२) निश्चय—अपोह है। (३) अन्वय-धर्म का अन्वेषण—मार्गणा है। (४) व्यतिरेक धर्म का स्वरूपालोचन—गवेषणा है। (५) यह कैसे हुआ ? किस प्रकार करना चाहिए ? यह किस प्रकार होगा ?—इस तरह का पर्यालोचन चिन्ता है। (६) यह इसी प्रकार हो सकता है—यह इसी प्रकार हुआ है, और इसी प्रकार होगा—इस तरह का निर्णय विमर्श है। वह सज्ञी कहलाता है।[1]

मन का लक्षण

जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है।[2] इस विश्व मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्द्रियाँ केवल मूर्त्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को जानती है, मन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनो के त्रैकालिक अनेक रूपो को जानता है।[3]

मन भी इन्द्रिय की तरह पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष है, इसलिए उसके द्रव्यमन और भावमन ये दो भेद बनते हैं।

मनन के आलम्बन भूत या प्रवर्तक पुद्गल द्रव्य-मनोवर्गणा—द्रव्य जब मन के रूप मे परिणत होते हैं तव वे द्रव्य-मन कहलाते हैं। यह मन आत्मा से भिन्न है और अजीव है।[4]

---

१ कालिओवएसेण जस्स ण अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा।
गवेसणा चिन्ता वीमसा से ण सण्णी त्ति लब्भई॥

२ मनन मन्यते अनेन वा मन।

३ मन सर्वेन्द्रियप्रवर्तकम्, आन्तरेन्द्रियम्, स्वसयोगेन वाह्येन्द्रियानुग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्। —जैनतर्कभाषा

४ आता भते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आता मणे अन्नेमणे मणे मणिज्जमाणे मणे। —भगवती १३।७।४९४

विचारात्मक मन भाव मन है। मन मात्र ही जीव नही है, परन्तु मन जीव भी है, जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नही है, एतदर्थ इसे आत्मिक-मन कहते हैं।[१] लब्धि और उपयोग उसके ये दो भेद हैं। प्रथम मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार है।

दिगम्बर ग्रन्थ धवला के अनुसार मन स्वत नोकर्म है। पुद्गल विपाकी अगोपाङ्ग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्य मन है तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रिय कर्म के क्षयोपशम से जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह भाव मन है। अपर्याप्त अवस्था मे द्रव्य मन के योग्य द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका सत्त्व मानने से विरोध आता है, इसलिए अपर्याप्त अवस्था मे भाव मन के अस्तित्व का निरूपण नही किया गया है।[२]

मन का कार्य

चिन्तन करना मन का कार्य है। मन इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तु के सम्बन्ध मे भी चिन्तन-मनन करता है और उससे आगे भी वह सोचता है।[3] इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक मन है। सभी स्थानो पर मन को इन्द्रियो की सहायता को आवश्यकता नही होती। जब वह इन्द्रिय द्वारा ज्ञान, रूप, रस आदि का विशेष रूप से निरीक्षण-परीक्षण करता है तब वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति पदार्थ तक सीमित है किन्तु मन की गति इन्द्रिय और पदार्थ दोनो मे है।

मानसिक चिन्तन के ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि विविध पहलू हैं।

मन का स्थान

वैशेषिक[४], नैयायिक[५] और मीमासक[६] मन को परमाणुरूप मानते

१ सर्व-विपयमन्त करण युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्ग मन, तदपि द्रव्य-मन पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति

—सूत्रकृताग वृत्ति १।१२

२ धवला, सूत्र ३६ पृ० १३०

३ इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यन्ते मनसा प्यूर्ध्व गुणतो दोषतो यथा।। —चरक सूत्रस्थान १।२०

४ वैशेपिकसूत्र ७।१।२३

५ न्यायसूत्र ३।२।६१

६ प्रकरण, पृ० १५१

है। इसलिए उनके मन्तव्यानुसार मन नित्य-कारण रहित है। साख्यदर्शन, योगदर्शन और वेदान्तदर्शन उसे अणुरूप और जन्य मानकर उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहकार तत्त्व से[1] या अविद्या से मानते हैं। बौद्ध और जैन-दृष्टि से मन न तो व्यापक है और न परमाणु रूप ही है किन्तु मध्यम परिमाण वाला है।

न्याय, वैशेषिक, बौद्ध[2] आदि कितने ही दर्शन मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानते हैं। साख्य-योग व वेदान्तदर्शन के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नही है, किन्तु मन सूक्ष्म-लिंग शरीर मे जो अष्टादश तत्त्वो का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान सम्पूर्ण स्थूल शरीर है इसलिए मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर है।[3] जैनदर्शन के अनुसार भाव मन का स्थान आत्मा है किन्तु द्रव्य मन के सम्बन्ध मे एक मत नही है। दिगम्बर परम्परा द्रव्य मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानती है किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे इस प्रकार का उल्लेख नही है। प० सुखलाल जी का अभिमत है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।[4]

मन का एक मात्र नियत स्थान न भी हो, तथापि उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के सन्तुलन पर मानसिक चिन्तन अत्यधिक निर्भर है, एतदर्थ सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय-साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत किसी शारीरिक अवयव को मुख्य केन्द्र माना जाय, इसमे आपत्ति प्रतीत नही होती।

विषय-ग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियाँ एकदेशी है, अत वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। किन्तु ज्ञान-शक्ति की दृष्टि मे इन्द्रियाँ सर्वात्मव्यापी है। इन्द्रिय और मन 'क्षायोपशमिक-आवरण-विलय जन्य' विकास के कारण से है। आवरण विलय सर्वात्म-देशो का होता है।[5] मन विषय-ग्रहण की दृष्टि से भी शरीर-व्यापी है।

---

१ यस्मात् कर्मेन्द्रियाणि बुद्धिन्द्रीयाणि च सात्विकादहकारादुत्पद्यन्ते मनोऽपि तस्मादेव उत्पद्यते। —माठर कारिका २७

२ ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रय कल्पयति।

३ मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्तत।
अतस्तुल्यक्रियावंतौ, सवीतौ क्षीरनीरवत्॥ —योगशास्त्र ५।२

४ दर्शन और चिन्तन पृ० १४० हिन्दी

५ सव्वेण सव्वे निज्जिण्णा —भगवती १।३

मन का अस्तित्व

न्यायसूत्रकार का मन्तव्य है कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नही होते। इस अनुमान से वे मन की सत्ता स्वीकार करते है।[1]

वात्स्यायन भाष्यकार का अभिमत है कि—स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियो से उत्पन्न नही होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उसके विषयो के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नही होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है।[2]

अन्नभट्ट ने सुख आदि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है।[3]

जैनदर्शन के अनुसार सशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितक, सुख-दु ख, क्षमा, इच्छा आदि अनेक मन के लिंग है।[4]

अब हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के स्वरूप के सम्बन्ध मे विचार करेंगे क्योकि ये चारो मतिज्ञान के मुख्य भेद हैं।

अवग्रह

इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है।[5] इस ज्ञान मे निश्चित प्रतीति नही होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। केवल इतना सा ज्ञात होता है कि यह कुछ है। इन्द्रिय और अर्थ का जो सामान्य सम्बन्ध है वह दर्शन है। दर्शन के पश्चात् उत्पन्न होने वाला सामान्य ज्ञान अवग्रह है। अवग्रह मे केवल सत्ता (महासामान्य) का ही ज्ञान नही होता किन्तु पदार्थ का प्रारम्भिक ज्ञान (अपर सामान्य का ज्ञान) होता है कि यह कुछ है।[6]

---

१ न्यायसूत्र १।१।१६

२ वात्स्यायन भाष्य १।१।१६

३ सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रिय मन। —तर्कसग्रह

४ सशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। —सन्मतिप्रकरण टीका काण्ड २

५ अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रह। —प्रमाणमीमासा १।१।२६

६ विषयविषयिसनिपातसमनन्तरमाद्य ग्रहणमवग्रह। विषयविषयिसनिपाते सति दर्शन भवति। तदनन्तरमर्थग्रहणमवग्रह। —सर्वार्थसिद्धि १।१५।१११, ज्ञानपीठ

अवग्रह के व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो भेद हैं।[1]

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह

अर्थ और इन्द्रिय का सयोग व्यजनावग्रह है। उपर्युक्त पक्तियो मे जो अवग्रह की परिभाषा दी गई है वह वस्तुत अर्थावग्रह की है। प्रस्तुत परिभाषा से व्यजनावग्रह दर्शन की कोटि मे आता है। प्रश्न है कि अर्थ और इन्द्रिय का सयोग व्यजनावग्रह है, तब दर्शन कब होगा। समाधान है कि व्यजनावग्रह से पूर्व दर्शन होता है। व्यजनावग्रह रूप जो सम्बन्ध है वह ज्ञान कोटि मे आता है और उससे भी पहले जो एक सत्ता सामान्य का भाव है वह दर्शन है।

अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञान व्यापार, जो इन्द्रिय का विषय के साथ सयोग होने पर उत्पन्न होता है और क्रमश पुष्ट होता जाता है वह व्यजनावग्रह कहलाता है। यह ज्ञान अव्यक्त है। व्यजनावग्रह अर्थावग्रह किस प्रकार बनता है। इसे समझाने के लिए आचार्यों ने एक रूपक दिया है—एक कुम्भकार अवाडा मे से एक सकोरा निकालता है। वह उस पर पानी की एक-एक बूँद डालता है। पहली, दूसरी, तीसरी बूँद सूख जाती है, अन्त मे वही सकोरा पानी की बूँदे सुखाने मे असमर्थ हो जाता है और धीरे-धीरे पानी भर जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति सोया है। उसे पुकारा जाता है। कान मे जाकर शब्द चुपचाप बैठ जाते है। वे अभिव्यक्त नही हो पाते। दो चार बार पुकारने पर उसके कान मे अत्यधिक शब्द एकत्र हो जाते हैं। तभी उसे यह परिज्ञान होता है कि मुझे कोई पुकार रहा है, यह ज्ञान प्रथम शब्द के समय इतना अस्पष्ट और अव्यक्त होता है कि उसे इस बात का पता ही नही लगता कि मुझे कोई पुकार रहा है। जल-बिन्दुओ की तरह शब्दो का सग्रह जब काफी मात्रा मे हो जाता है, तब उस व्यक्त ज्ञान होता है। व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह मे यही अन्तर है कि व्यजनावग्रह अव्यक्त है और अर्थावग्रह व्यक्त है। प्रथम रूप जो अव्यक्त ज्ञानात्मक है वह व्यजनावग्रह है। दूसरा रूप जो व्यक्त ज्ञानात्मक है वह अर्थावग्रह है।

---

१ (क) अथस्य।
व्यजनस्यावग्रह। —तत्त्वार्थसूत्र ।१७-१८

(ख) अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति। —धवला ११,१,११५।३५४।३

चक्षु और मन से व्यजनावग्रह नही होता क्योकि ये दोनो अप्राप्य-कारी हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। प्राप्यकारी उसे कहा जाता है जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध हो और जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध नही होता उसे अप्राप्यकारी कहा जाता है। अर्थ और इन्द्रिय का सयोग व्यजनावग्रह के लिए अपेक्षित है और सयोग के लिए प्राप्यकारित्व अनिवार्य है। चक्षु और मन ये दोनो अप्राप्यकारी है अत इनके साथ अर्थ का सयोग नही होता। बिना सयोग के व्यजनावग्रह सम्भव नही है। प्रश्न हो सकता है कि मन को अप्राप्यकारी मान सकते है पर चक्षु अप्राप्यकारी किस प्रकार है ? समाधान है—चक्षु स्पृष्ट अर्थ का ग्रहण नही करती है इसलिए वह अप्राप्यकारी है। त्वगिन्द्रिय के समान स्पृष्ट अर्थ का ग्रहण करती तो वह भी प्राप्यकारी हो सकती थी किन्तु वह इस प्रकार अर्थ का ग्रहण नही करती अत अप्राप्यकारी है।

दूसरा प्रश्न हो सकता है—त्वगिन्द्रिय के समान चक्षु भी आवृत वस्तु को ग्रहण नही करती इसलिए उसे प्राप्यकारी क्यो न माना जाय ?

उत्तर है कि यह कहना ठीक नही है क्योकि चक्षु, काँच, प्लास्टिक, स्फटिक आदि से आवृत अर्थ को ग्रहण करती है। यदि यह कहा जाय कि चक्षु अप्राप्यकारी हे तो वह व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट अर्थ को भी ग्रहण कर लेगी, यह उचित नही है। जैसे चुम्बक अप्राप्यकारी होते हुए भी अपनी सीमा मे रहे हुए लोहे को ही आकृष्ट करता है व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट को नही।

कहा जा सकता है कि चक्षु का उसके विषय के साथ भले सीधा सम्बन्ध न हो किन्तु चक्षु मे से निकलने वाली किरणो का विषयभूत पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है। अत चक्षु प्राप्यकारी है।

समाधान है कि यह कथन सम्यक् नही है क्योकि चक्षु तैजसकिरण-युक्त नही है। यदि चक्षु तैजस होता तो चक्षुरिन्द्रिय का स्थान उष्ण होना चाहिए। सिंह, बिल्ली आदि की आँखो मे रात को जो चमक दिखलाई देती है, अत चक्षु रश्मियुक्त है, यह मानना युक्तियुक्त नही है। अतैजस द्रव्य मे भी चमक देखी जाती है जैसे मणि व रेडियम आदि मे। इसलिए चक्षु प्राप्यकारी नही है। अप्राप्यकारी होने पर भी तदावरण के क्षयोप-शम से वस्तु का ग्रहण होता है एतदर्थ मन और चक्षु से व्यजनावग्रह नही होता। शेष चार इन्द्रियो से ही व्यजनावग्रह होता है।

अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप है, इसलिए पाँच इन्द्रियो और छठे मन से अर्थावग्रह होता है।

अवग्रह के लिए कितने हो पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग हुआ है। नन्दीसूत्र मे अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा शब्द आये हैं।[1] तत्त्वार्थभाष्य मे—अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] षट्खण्डागम मे अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्वना और मेधा ये शब्द अवग्रह के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[3]

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है और व्यावहारिक अवग्रह विशेपित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के पश्चात् होने वाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मो की मीमासा हो गई होती है, उसी वस्तु के नूतन-नूतन धर्मो की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का कार्य है। अवाय के द्वारा एक धर्म का निश्चय होने के पश्चात् उसी पदार्थ सम्वन्धी अन्य धर्म की जिज्ञासा होती है, उस समय पूर्व का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह हो जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए पुन ईहा और अवाय होते हैं। प्रस्तुत क्रम तव तक चलता है, जव तक जिज्ञासाएँ पूर्ण नही होती।

'यह शब्द ही है' इस प्रकार निश्चय होने पर नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा समाप्त हो जाती है। उसके पश्चात् व्यावहारिक-अर्थावग्रह की धारा आगे बढती है।

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है। (सशय—पशु का है या मानव का ?)

(२) भाषा साफ और स्पष्ट है इसलिए मानव की होनी चाहिए।

(३) अवाय—परीक्षा विशेष के वाद निर्णय करना मानव का ही शब्द है।

---

१ पच णामधेया भवति, त जहा—ओगिण्हणया, उवधारणया, सवणता, अवलम्वता, मेहा। —नन्दीसूत्र, सूत्र ५१, पृ० २२, पुण्यविजय

२ तत्त्वार्थभाष्य १।१५

३ ओग्गहे योदाणे साणे अवलम्बणा मेहा। —षट्खण्डागम १३।५, ५ सू० ३७ पृ० २४२

इस प्रकार नैश्चयिक अवग्रह का अवाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है। इस तरह उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएँ हो सकती है। अवस्थाभेद की दृष्टि से यह शब्द वृद्ध का है या युवक का है, लिगभेद की दृष्टि से स्त्री का है या पुरुष का है ?

क्रम-विभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम होता है। अर्थग्रहण के पश्चात् ही विचार हो सकता है, विचार के पश्चात् ही निश्चय और निश्चय के पश्चात् ही धारणा होती है। इसलिए अवग्रहपूर्वक ईहा होती है, ईहापूर्वक अवाय होता है और अवाय-पूर्वक धारणा होती है।

ईहा

मतिज्ञान का दूसरा भेद ईहा है। अवग्रह के पश्चात् ज्ञान ईहा मे परिणत हो जाता है। अवग्रह के द्वारा सामान्य रूप मे अवगृहीत पदार्थ के विषय मे विशेष को जानने की ओर झुकी हुई ज्ञानपरिणति को ईहा कहते हैं।[1] कल्पना कीजिए—कोई व्यक्ति आपका नाम लेकर आपको बुला रहा है। उसके शब्द आपके कर्ण-कुहरो मे गिरते हैं। अवग्रह मे आपको इतना ज्ञान हो जाता है कि कही से शब्द आ रहे है। शब्द श्रवण कर व्यक्ति चिन्तन करता है कि यह शब्द किसका है ? कौन बोल रहा है ? बोलने वाली महिला है या पुरुष है ? उसके पश्चात् वह चिन्तन करता है कि यह शब्द मधुर व कोमल है इसलिए किसी महिला का होना चाहिए, क्योकि पुरुष का स्वर कठोर व रूक्ष होता है। यहाँ तक ईहा ज्ञान की सीमा है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि ईहा तो एक प्रकार से सशय है, ईहा और सशय मे भेद ही क्या है ?

उत्तर मे कहा जाता है कि ईहा सशय नही है, क्योकि सशय मे दोनो पक्ष बराबर होते हैं। सशय उभयकोटिस्पर्शी होता है। सशय मे ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नही होता। यह स्त्री का स्वर है या पुरुष का स्वर है, यह निर्णय नही हो पाता। सशय अवस्था मे ज्ञान त्रिशकु की तरह मध्य मे ही लटकता रहता है किन्तु ईहा के सम्बन्ध मे यह बात नही है।

---

१ अवगृहीतार्थविशेषकाक्षणमीहा। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।८

अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप है, इसलिए पाँच इन्द्रियो और छठे मन से अर्थावग्रह होता है।

अवग्रह के लिए कितने हो पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग हुआ है। नन्दीसूत्र मे अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्वनता और मेधा शब्द आये है।[1] तत्त्वार्थभाष्य मे—अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] षट्खण्डागम मे अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्वना और मेधा ये शब्द अवग्रह के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[3]

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है और व्यावहारिक अवग्रह विशेपित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के पश्चात् होने वाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मो की मीमासा हो गई होती है, उसी वस्तु के नूतन-नूतन धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का कार्य है। अवाय के द्वारा एक धर्म का निश्चय होने के पश्चात् उसी पदार्थ सम्वन्धी अन्य धर्म की जिज्ञासा होती है, उस समय पूर्व का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह हो जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए पुन ईहा और अवाय होते हैं। प्रस्तुत क्रम तव तक चलता है, जव तक जिज्ञासाएँ पूर्ण नही होती।

'यह शब्द ही है' इस प्रकार निश्चय होने पर नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा समाप्त हो जाती है। उसके पश्चात् व्यावहारिक-अर्थावग्रह की धारा आगे बढती है।

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है। (सशय—पशु का है या मानव का ?)

(२) भाषा साफ और स्पष्ट है इसलिए मानव की होनी चाहिए।

(३) अवाय—परीक्षा विशेष के वाद निर्णय करना मानव का ही शब्द है।

---

१ पच णामधेया भवति, त जहा—ओगिण्हणया, उवधारणया, सवणता, अवलम्वता, मेहा। —नन्दीसूत्र, सूत्र ५१, पृ० २२, पुण्यविजय

२ तत्त्वार्थभाष्य १।१५

३ ओग्गहे योदाणे साणे अवलम्बणा मेहा। —षट्खण्डागम १३।५, ५ सू० ३७ पृ० २४२

इस प्रकार नैश्चयिक अवग्रह का अवाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है। इस तरह उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएँ हो सकती हैं। अवस्थाभेद की दृष्टि से यह शब्द वृद्ध का है या युवक का है, लिंगभेद की दृष्टि से स्त्री का है या पुरुष का है ?

क्रम-विभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम होता है। अर्थग्रहण के पश्चात् ही विचार हो सकता है, विचार के पश्चात् ही निश्चय और निश्चय के पश्चात् ही धारणा होती है। इसलिए अवग्रहपूर्वक ईहा होती है, ईहापूर्वक अवाय होता है और अवाय-पूर्वक धारणा होती है।

ईहा

मतिज्ञान का दूसरा भेद ईहा है। अवग्रह के पश्चात् ज्ञान ईहा मे परिणत हो जाता है। अवग्रह के द्वारा सामान्य रूप मे अनगृहीत पदार्थ के विषय मे विशेष को जानने की ओर झुकी हुई ज्ञानपरिणति को ईहा कहते हैं।[1] कल्पना कीजिए—कोई व्यक्ति आपका नाम लेकर आपको बुला रहा है। उसके शब्द आपके कर्ण-कुहरो मे गिरते हैं। अवग्रह मे आपको इतना ज्ञान हो जाता है कि कही से शब्द आ रहे है। शब्द श्रवण कर व्यक्ति चिन्तन करता है कि यह शब्द किसका है ? कौन बोल रहा है ? बोलने वाली महिला है या पुरुष है ? उसके पश्चात् वह चिन्तन करता है कि यह शब्द मधुर व कोमल है इसलिए किसी महिला का होना चाहिए, क्योकि पुरुष का स्वर कठोर व रुक्ष होता है। यहाँ तक ईहा ज्ञान की सीमा है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि ईहा तो एक प्रकार से सशय है, ईहा और सशय मे भेद ही क्या है ?

उत्तर मे कहा जाता है कि ईहा सशय नही है, क्योकि सशय मे दोनो पक्ष बराबर होते हैं। सशय उभयकोटिस्पर्शी होता है। सशय मे ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नही होता। यह स्त्री का स्वर है या पुरुष का स्वर है, यह निणय नही हो पाता। सशय अवस्था मे ज्ञान त्रिशकु की तरह मध्य मे ही लटकता रहता है किन्तु ईहा के सम्बन्ध मे यह बात नही है।

---

१ अवगृहीतार्थविशेपकाक्षणमीहा। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।८

ईहा मे ज्ञान उभयकोटियो मे से एक कोटि की ओर झुक जाता है। सशय ज्ञान मे उभय-कोटियाँ समकक्ष होती हैं जबकि ईहाज्ञान एक कोटि की ओर ढल जाता है। यह सही है कि ईहा मे पूर्ण निर्णय या पूर्ण निश्चय नही हो पाता है तथापि ईहा मे ज्ञान का झुकाव निर्णय की ओर अवश्य होता है। यही सशय और ईहा मे बडा अन्तर है।[१] धवला मे भी कहा है—ईहा ज्ञान सन्देह रूप नही है क्योकि ईहात्मक विचार-बुद्धि से सन्देह का विनाश पाया जाता है।[२] इस प्रकार ईहाज्ञान सशय का पश्चाद्भावी निश्चयीभिमुख ज्ञान है।

नन्दीसूत्र मे ईहा के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए है—आभोगनता, मार्गणता, गवेषणता, चिन्ता, विमर्ष।[3] तत्त्वार्थभाष्य मे ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये शब्द आये है।[४]

अवाय

मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय है। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निर्णय करना अवाय है।[५] दूसरे शब्दो मे विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पतन, निपतन, पक्ष-विक्षेप आदि के द्वारा 'यह बक पक्ति ही है, ध्वजा नही,' ऐसा निश्चय होना अवाय है।[६] इसमे सम्यक् असम्यक् की विचारणा पूर्ण रूप से परिपक्व हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है।

विशेषावश्यक मे एक मत यह भी उपलब्ध होता है कि जो गुण पदार्थ

---

१ नन्वी हाया निर्णयविरोधिनीत्वात् सशयत्वप्रसग इति, तन्न, किं कारणम् ? अर्थादानात्। अवगृह्यार्थं तद्विशेषोपलब्ध्यर्थमर्थादानमीहा। सशय पुनर्नार्थविशेषालम्बन। एव सशयितस्योत्तरकाल विशेषोपलिप्सा प्रति यतनमीहेति सशयादर्थान्तरत्वम्। —राजवार्तिक १।१५, भारतीय ज्ञानपीठ

२ णेहा सन्देहरूवा विचारबुद्धीदो सन्देहविणासुवलम्भा।
—धवला १ ६—१ १४, १७।३

३ तीसे ण इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावजणा पच णामधेया भवति त जहा—आभोगणया, मग्गणया, गवेसणया, चिता वीमसा। से त्त ईहा।
—नन्दीसूत्र, सूत्र ५२, पृ० २२ पुण्यविजय जी

४ तत्त्वार्थभाष्य १।१५

५ ईहितविशेषनिर्णयोऽवाय। —प्रमाणमीमासा १।१।२८

६ विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवाय। उत्पतन निपतनपक्षविक्षेपादिभिर्बलाकैवेय न पताकेति। —सर्वार्थसिद्धि १।१५।१११६

मे नही है उसका निवारण अवाय है और जो गुण पदार्थ मे है उसका स्थिरीकरण धारणा है।[1] भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के मत से यह सिद्धान्त सही नही है। चाहे असद्गुणो का निवारण हो, चाहे सद्गुणो का स्थिरीकरण हो, चाहे दोनो एक साथ हो—सब अवायान्तर्गत हैं।[2] तात्पर्य यह है कि अवाय ज्ञान कभी अन्वयमुख से प्रवृत्त होकर सद्भूत गुण का निश्चय करता है, कभी व्यतिरेकमुख से प्रवृत्त होकर असद्भूत का निषेध करता है और कभी-कभी अन्वय-व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होकर विधान और निषेध दोनो करता है।

नन्दीसूत्र मे अवाय के पर्यायवाची निम्न शब्द आये है—आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अवाय, बुद्धि, विज्ञान।[3]

षट्खण्डागम मे अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा, और प्रत्यामुण्डा ये पर्यायवाची नाम है।[4]

तत्त्वार्थभाष्य मे अवाय के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए हैं—अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुत।[5]

ये सभी शब्द निषेधात्मक हैं। उपर्युक्त पक्तियो मे विशेषावश्यक भाष्य मे जिस मत का उल्लेख किया गया है सभवत यह वही परम्परा हो। अवाय और अपाय ये दो शब्द हैं। अवाय विध्यात्मक है और अपाय निषेधात्मक है। राजवार्तिक मे प्रश्न उठाया है कि अपाय शब्द ठीक है या अवाय ठीक है ? उत्तर दिया है कि दोनो ठीक हैं, क्योकि एक के वचन मे दूसरे का ग्रहण स्वत हो जाता है। जैसे—'यह दक्षिणी नही है' ऐसा अपाय—त्याग करता है तब 'उत्तरी है' यह अवाय—निश्चय हो ही जाता है। इसी तरह 'उत्तरी है' इस प्रकार अवाय या निश्चय होने पर 'दक्षिणी नही है' यह अपाय—त्याग हो ही जाता है।[6]

---

१ विशेषावश्यक भाष्य १८५

२ विशेषावश्यक भाष्य १८६

३ त जहा—आवट्टणया, पच्चावट्टणया, अवाए बुद्धी, विण्णाणे, से त्त अवाए।
—नन्दीसूत्र, सूत्र ५३

४ अवायो ववसायो बुद्धी, विण्णाणी, आउण्डी, पच्चाउण्डी।
—षट्खण्डागम १३।५।५, सू० ३९

५ तत्त्वार्थ सूत्रभाष्य १।१५

६ आह—किमयम् अपाय उत अवाय इति ? उभयथा न दोष। अन्यतरवचनेऽन्यतर-

जो परम्परा इस ज्ञान को निषेधात्मक मानती है उसमे विशेषरूप से अपाय शब्द का प्रयोग हुआ है।[१]

जिस परम्परा मे अवाय मात्र विध्यात्मक है उसमे प्राय अवाय शब्द का प्रयोग हुआ है।[२] वस्तुत यह ज्ञान धारणा की कोटि मे पहुँचने के पश्चात् ही पूर्ण निश्चित होता है, एतदर्थ ही यह मतभेद है। अवाय मे कुछ न्यूनता अवश्य रहती है। विध्यात्मक मानने पर भी उसकी दृढावस्था धारणा मे ही मानी है, एतदर्थ दोनो परम्पराओ मे विशेष मतभेद की स्थिति नही रहती है।[३]

धारणा

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। अवाय के पश्चात् धारणा होती है। उसमे ज्ञान इतना दृढ हो जाता है कि उसका सस्कार अन्तरात्मा पर अकित हो जाता है और इस कारण वह कालान्तर मे स्मृति का हेतु बनता है। इसीलिए धारणा को स्मृति का हेतु कहा है।[४] धारणा सख्येय और असख्येय काल तक रह सकती है।[५] विशेषावश्यक मे कहा है—ज्ञान की अविच्युति धारणा है।[६] जिस ज्ञान का सस्कार शीघ्र नष्ट न होकर चिरस्थायी रह सके और स्मृति का हेतु बन सके वही ज्ञान धारणा है।

धारणा के तीन प्रकार हैं—

(१) **अविच्युति**—धारणा काल मे जो सतत उपयोग चलता है वह अविच्युति है। उसमे पदार्थ के ज्ञान का विनाश नही होता है।

(२) **वासना**—उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्बुद्ध होकर स्मृति को उत्पन्न करती है। वासना अपने आप मे ज्ञान नही है किन्तु

स्यार्थगृहीतत्वात् यथा—'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपाय त्याग करोति तदा 'औदीच्य' इत्यवायोऽधिगमोऽर्थगृहीत यदा च 'औदीच्य इत्यवाय करोति तदा 'न दाक्षिणात्योऽयम्' इत्यपायोऽर्थगृहीत ।

१ देखिए सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक ग्रन्थ

२ देखिए—तत्त्वार्थसूत्रभाष्य हरिभद्रीय टीका, सिद्धसेनीय टीका

३ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता

४ स्मृतिहेतुर्धारणा। —प्रमाणमीमासा १।१।२९

५ धारणा सखेज्ज काल असखेज्ज वा काल —नन्दीसूत्र, सूत्र ५५, पुण्यविजय

६ अविच्चुइ धारणा तस्स। —विशेषावश्यक १८०

अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानो को जोडने वाली कडी के रूप मे ज्ञान मानी जाती है।

(३) अनुस्मरण—भविष्य मे प्रसग मिलने पर उन सस्कारो का स्मृति के रूप मे उद्बुद्ध होना।

इस प्रकार अविच्युति, वासना और स्मृति ये तीनो धारणा के अग हैं। वादिदेवसूरि का मन्तव्य है कि धारणा, अवाय-प्रदत्त ज्ञान की दृढतम अवस्था है। कुछ समय तक अवाय का दृढ रहना धारणा है। धारणा स्मृति का कारण नही हो सकती क्योकि इतने लम्बे समय तक किसी ज्ञान का बरावर चलते रहना सभव नही है, यदि धारणा दीर्घकाल तक चलती रहे तो धारणा और स्मृति के बीच के काल मे दूसरा ज्ञान होना विल्कुल असभव है क्योकि एक साथ दो उपयोग नही हो सकते।[1] सस्कार एक अलग गुण है जो आत्मा के साथ रहता है। धारणा उसका व्यवहित कारण हो सकती है किन्तु धारणा को स्मृति का सीधा कारण मानना तर्कयुक्त नही है। धारणा की अपनी समय मर्यादा है, उसके बाद वह नष्ट हो जाती है, और फिर नया ज्ञान उत्पन्न होता है। एक ज्ञान के पश्चात् दूसरे ज्ञान की परम्परा चलती रहती है। वादिदेवसूरि का प्रस्तुत अभिप्राय तर्क की दृष्टि से वजनदार प्रतीत होता है।[2]

नन्दीसूत्र मे धारणा के लिए—धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा, कोष्ठा शब्दो का प्रयोग हुआ है।[3]

उमास्वाति ने—प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम, अवबोध शब्द प्रयोग किये है।[4]

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार भेदो का निरूपण किया जा चुका है। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। स्पर्श, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यजन-अवग्रह होता है।

---

१ स्यादवादरत्नाकार २।१०

२ देखिए—जैनदर्शन डा० मोहनलाल मेहता पृ० २२२

३ त जहा—धरणा, धारणा, ठवणा, पतिट्ठा, कोट्ठे से त धारणा।

—नन्दीसूत्र ५४

४ धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थन निश्चयोऽवगम अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।

—तत्त्वार्थभाष्य १।१५

'व्यजन' के तीन अर्थ है—(१) शब्द आदि पुद्‌गल द्रव्य (२) उपकरण-इन्द्रिय—विषय-ग्राहक इन्द्रिय (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का सयोग। व्यजन अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी है इन दोनो मे व्यजनावग्रह नही होता।

बौद्धदर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानता है। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नही मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन की विचार-धारा इन दर्शनो से भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नही जानता। जो शब्द श्रोत्र से सपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। एतदर्थ श्रोत्र को अप्राप्यकारी नही कह सकते। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते है एतदर्थ वे दोनो प्राप्यकारी नही हो सकते क्योकि दोनो का ग्राह्य-वस्तु के साथ सपर्क नही होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से चक्षु मे दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिविम्ब पडता है, जिससे चक्षु अपने विषय का ज्ञान करती है। नैयायिक मानते हैं कि चक्षु प्राप्यकारी है क्योकि चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियाँ पदार्थ से सपृक्त होती हैं। विज्ञान इस बात को नही मानता। वह आँख को बहुत बढिया केमरा (sensitive lens) मानता है। उसमे दूर की वस्तु का चित्र अकित हो जाता है। इससे जैनदृष्टि की अप्राप्यकारिता मे किसी भी प्रकार की बाधा नही आती क्योकि विज्ञान के अनुसार भी चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नही होता। काँच निर्मल है, उसके सामने जो वस्तुएँ आती हैं। उसका प्रतिबिम्ब उसमे गिरता है, ठीक इसी प्रकार की प्रक्रिया आँख के सामने किसी वस्तु के आने पर होती है। काँच मे वस्तु का प्रतिविम्ब गिरता है किन्तु वस्तु और प्रतिबिम्ब एक नही होते, एतदर्थ काँच उस वस्तु से सपृक्त नही कहलाता। ठीक यही बात आँख के लिए भी है।

अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारो पाँच इन्द्रिय और मन इन छह से होते है, अत इनके ४×६=२४ भेद होते है। व्यजनावग्रह मन और चक्षु को छोडकर शेष चार इन्द्रियो से होता है, इसलिए उसके चार भेद होते हैं। इन २४+४=२८ प्रकार के ज्ञानो मे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के फिर (१) बहु, (२) बहुविध, (३) अल्प, (४) अल्प-विधि, (५) क्षिप्र, (६) अक्षिप्र, (७) अनिश्चित, (८) निश्चित, (९) अस-दिग्ध, (१०) सदिग्ध (११) ध्रुव, (१२) अध्रुव, ये बारह भेद होते हैं।

बहु का अर्थ अनेक और अल्प का अर्थ एक है। अनेक वस्तुओ का ज्ञान बहुग्राही है, एक वस्तु का ज्ञान अल्पग्राही है। अनेक प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान बहुविधग्राही है। एक ही प्रकार की वस्तु का ज्ञान अल्पविधग्राही है। बहु और अल्प इनका सम्बन्ध सख्या से है। बहुविध या अल्पविध इनका सम्बन्ध जाति से है। अवग्रह आदि ज्ञान जो शीघ्र होता है वह क्षिप्र कहलता है और जो विलम्ब से होता है वह अक्षिप्र कहलाता है। हेतु के बिना होने वाला वस्तुज्ञान अनिश्चित है। पूर्वानुभूत किसी हेतु से होने वाला ज्ञान निश्चित है। निश्चितज्ञान असदिग्ध है और अनिश्चित ज्ञान सदिग्ध है। अवग्रह और ईहा के अनिश्चय से इसमे भेद है। इसमे 'यह पदार्थ है' इस प्रकार निश्चय होने पर भी उसके विशेष गुणो के प्रति सदेह रहता है। अवश्यभावी ज्ञान ध्रुव है और कदाचित्भावी ज्ञान अध्रुव है।[1] इन बारह भेदो मे से चार भेद प्रमेय की विविधता पर अवलम्बित है और शेष आठ भेद प्रमाता के क्षयोपशम की विविधता पर आश्रित हैं।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे इन नामो मे कुछ अन्तर है, उन्होने निश्चित और अनिश्चित के स्थान पर अनि सृत और नि सृत शब्द का प्रयोग किया है। अनि सृत का अर्थ हैं असकल रूप से आविर्भूत पुद्गलो का ग्रहण और नि सृत का अर्थ है सकलतया आविर्भूत पुद्गलो का ग्रहण। इसी प्रकार असदिग्ध और सदिग्ध के स्थान पर अनुक्त और उक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुक्त का अर्थ है अभिप्राय मात्र से जान लेना और उक्त का अर्थ है कहने से जानना।[2]

उपर्युक्त २८ भेदो मे से प्रत्येक के १२ भेद करने से कुल २८×१२= ३३६ भेद होते है। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद है। श्वेताम्बर परम्परा मे भी इन नामो के विषय मे सामान्य मतभेद पाया जाता है।

श्रु

मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान होने के लिए शब्द-श्रवण आवश्यक है। शब्द श्रवण मति के अन्तर्गत है क्योकि वह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द

---

१ बहुबहुविधक्षिप्रानिश्चितासदिग्धध्रुवाणा सेतराणाम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।१६

२ (क) सर्वार्थसिद्धि १।१६

(ख) राजवार्तिक १।१६

सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द-श्रवण रूप जो प्रवृत्ति है वह मतिज्ञान है, उसके पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक भाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव मे श्रुतज्ञान कदापि सम्भव नही है। श्रुतज्ञान का अन्तरग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका वहिरग कारण है। मतिज्ञान होने पर भी यदि श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नही हुआ तो श्रुतज्ञान नही हो सकता। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण है।

प्राचीन आगम की भाषा मे श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान, जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्वद्ध हो। आप्तपुरुष द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रो से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगबाह्य के अनेक भेद हैं, अगप्रविष्ट के वारह भेद हैं।[1]

अगप्रविष्ट उसे कहते हैं जो साक्षात् तीर्थकर द्वारा प्रकाशित होता है और गणधरो द्वारा सूत्रवद्ध किया जाता है। आयु, बल, बुद्धि आदि को क्षीण होते हुए देखकर वाद मे आचार्य सर्वसाधारण के हित के लिए अगप्रविष्ट ग्रन्थो को आधार बनाकर विभिन्न विषयो पर ग्रन्थ लिखते हैं वे ग्रन्थ अगवाह्य के अन्तर्गत हैं। अर्थात् जिसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थकर हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं वह अगप्रविष्ट है एव जिसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थकर हो और सूत्र के रचयिता स्थविर हो वह अगवाह्य है। अगवाह्य के कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद है। इन सभी का परिचय हमने साहित्य और सस्कृति[2] नामक ग्रन्थ मे दिया है, पाठको को वहाँ पर देखना चाहिए। श्रुत वस्तुत ज्ञानात्मक है। ज्ञानोत्पत्ति के साधन होने के कारण उपचार से शास्त्रो को भी श्रुत कहते हैं।

आचार्य भद्रवाहु ने लिखा है कि जितने अक्षर है और उसके जितने विविध सयोग है उतने ही श्रुतज्ञान के भेद है। उन सारे भेदो की परिगणना

---

१ श्रुत मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२०

२ आगम साहित्य एक पर्यवेक्षण, लेख पृ० १–५४ प्रका० भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

करना सम्भव नही है, अत श्रुतज्ञान के मुख्य चौदह भेद बताये हैं—(१) अक्षर, (२) अनक्षर, (३) सज्ञी, (४) असज्ञी, (५) सम्यक्, (६) मिथ्या, (७) सादिक, (८) अनादिक, (९) सपर्यवसित, (१०) अपर्यवसित, (११) गमिक, (१२) अगमिक, (१३) अगप्रविष्ट, (१४) अगबाह्य।

इन चौदह भेदो का स्वरूप इस प्रकार है—अक्षरश्रुत के तीन भेद है (१) सज्ञाक्षर—वर्ण का आकार, (२) व्यजनाक्षर—वर्ण की ध्वनि, (३) लब्ध्यक्षर—अक्षर सम्बन्धी क्षयोपशम। सज्ञाक्षर व व्यजनाक्षर द्रव्य श्रुत हैं और लब्ध्यक्षर भावश्रुत हैं।

खाँसना, ऊँचा श्वास लेना, छीकना आदि अनक्षर श्रुत हैं।

सज्ञा के तीन प्रकार होने के कारण सज्ञी श्रुत के भी तीन प्रकार हैं—(१) दीर्घकालिकी—वर्तमान, भूत और भविष्य विषयक विचार दीर्घकालिकी सज्ञा हैं। (२) हेतूपदेशिकी—केवल वर्तमान की दृष्टि से हिताहित का विचार करना हेतूपदेशिकी सज्ञा हैं। (३) दृष्टिवादोपदेशिकी—सम्यक् श्रुत के ज्ञान के कारण हिताहित का बोध होना दृष्टिवादोपदेशिकी सज्ञा हैं। जो इन सज्ञाओ को धारण करते हैं वे सज्ञी कहलाते है। जिनमे ये सज्ञाएं नही हैं वे असज्ञी हैं।

असज्ञी के भी तीन भेद है। जो दीर्घकाल सम्बन्धी सोच नही कर सकते वे प्रथम नम्बर के असज्ञी हैं। जो अमनस्क हैं वे द्वितीय नम्बर के असज्ञी हैं, यहाँ पर अमनस्क का अर्थ मनरहित नही किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मन वाला हैं, जो मिथ्याश्रुत मे निष्ठा रखते हैं वे तृतीय नम्बर के असज्ञी हैं।

सम्यक् श्रुत-उत्पन्न ज्ञानदर्शन धारक सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहत भगवतो ने जो द्वादशाङ्गी का उपदेश दिया वह सम्यक्श्रुत है और सर्वज्ञो के सिद्धान्त के विपरीत जो श्रुत है, वह मिथ्याश्रुत है।

जिसकी आदि है वह सादिक श्रुत हैं और जिसकी आदि नही वह अनादिक श्रुत है। द्रव्यरूप से श्रुत अनादिक है और पर्यायरूप से सादिक है।

जिसका अन्त होता है वह सपर्यवसित है और जिसका अन्त नही होता वह अपर्यवसित श्रुत है। यहाँ पर भी द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से समझना चाहिए।

जिसमे सदृश पाठ हो वह गमिक श्रुत है और जिसमे असदृशाक्षरालापक हो वह अगमिक श्रुत है।

अगप्रविष्ट और अगवाह्य का स्पष्टीकरण पूर्व पंक्तियो मे किया जा चुका है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध मे कुछ वाते समझनी आवश्यक है।

प्रत्येक ससारी जीव मे मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। प्रश्न यह है कि ये ज्ञान कब तक रहते हैं ? केवलज्ञान होने के पूर्व तक रहते हैं या वाद मे भी रहते हैं ? इसमे आचार्यों का एकमत नही है। कितने ही आचार्यों का अभिमत है कि केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता रहती है। जैसे दिवाकर के प्रचण्ड प्रकाश के सामने ग्रह और नक्षत्रो का प्रकाश नष्ट नही होता किन्तु तिरोहित हो जाता है उसी प्रकार केवलज्ञान के महाप्रकाश के समक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अल्प प्रकाश नष्ट नही होता किन्तु तिरोहित हो जाता है। दूसरे आचार्यों का मन्तव्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। जब सम्पूर्ण रूप से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है तव क्षायिक ज्ञान प्रकट होता है, जिसे केवल ज्ञान कहते हैं। उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नही रह सकता, इसलिए केवलज्ञान होने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता नही रहती। प्रथम मत की अपेक्षा द्वितीय मत अधिक तर्कसगत व वजनदार है, और जैनदर्शन के अनुकूल है।[1]

श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान मतिज्ञान है।

श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान श्रुतज्ञान है।

मतिज्ञान साभिलाप और अनभिलाप दोनो प्रकार का होता है किन्तु श्रुतज्ञान साभिलाप ही होता है।[2] अर्थावग्रह को छोडकर शेष मतिज्ञान

---

१ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता, पृ० २२६

२ शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादिनिमित्त यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति। तच्च कथभूतम् ? इत्याहनिजकार्थोक्तिसमर्थमिति। निजक स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटादिरर्थ तस्योक्ति परस्मै प्रतिपादन तत्र समर्थं क्षम निजकार्थोक्ति-समर्थम्। अयमिह भावार्थ —शब्दोल्लेखसहित विज्ञानमुत्पन्न स्वप्रतिभासमानार्थ-

के प्रकार साभिलाप होते हैं। श्रुतज्ञान साभिलाप ही होता है किन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि साभिलाप ज्ञानमात्र श्रुतज्ञान नही है, क्योकि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नही कहलाता।[1] साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेशक्षम या वचनाभिमुख होने की स्थिति मे श्रुत बनता है। मतिज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नही होता। श्रुतज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।[2]

मतिज्ञान का कार्य है, उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थो को जानना और उनकी विविध अवस्थाओ पर विचार करना। श्रुतज्ञान का कार्य है– शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने मे समर्थ होना। मति को अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान कहना चाहिए।

मति और श्रुत का सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य है। श्रुतज्ञान शब्द, सकेत और स्मरण से उत्पन्न होने वाला अर्थबोध है। इस अर्थ का यह सकेत है, यह जानने के पश्चात् ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का परिज्ञान होता है। सकेत को मति जानती है, उसके अवग्रहादि होते हैं, उसके पश्चात् श्रुतज्ञान होता है।

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है, परन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नही बनता, एतदर्थ मति को श्रुतपूर्वक नही माना जाता। दूसरे मत से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नही है, विषय बनता है। कारण तब कहना चाहिए जबकि श्रूयमाण शब्द से श्रोत्र को उसके अर्थ का परिज्ञान हो, पर इस प्रकार होता नही है। केवल शब्द का बोध श्रोत्र को होता है। श्रुतनिश्रित मति भी श्रुतज्ञान का कार्य नही होता। अमुक लक्षण वाली गाय होती है—यह परोपदेश या श्रुतग्रन्थ से जाना और उसी प्रकार के सस्कार बैठ गये। गाय देखी और जान लिया कि यह गाय है। यह

प्रतिपादक शब्द जनयति, तेन च पर प्रत्याप्यते, इत्येव, निजकार्योक्तिसमर्थमिद भवति, अभिलाप्यवस्तुविषयमिति यावत्। स्वरूपविशेपण चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्न-ज्ञानस्य निजकार्योक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचारादिति ।

—विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति १००

१ विशेपावश्यकभाष्य वृत्ति १७०

२ (क) तत्थ चत्तारि नाणाइ ठप्पाइ ठवणिज्जाइ। —अनुयोगद्वार २

(ख) विशेपावश्यकभाष्य वृत्ति १००

ज्ञान पूर्व सस्कार से पैदा हुआ, एतदर्थ इसे श्रुत-निश्रित कहा जाता है।[१] ज्ञानकाल मे यह 'शब्द' से उत्पन्न नही हुआ, एतदर्थ इसे श्रुत का कार्य नही माना जाता।

मतिज्ञान विद्यमान वस्तु मे प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान वर्तमान, भूत और भविष्य इन तीनो विषयो मे प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनो मे यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान मे शब्दोल्लेख नही होता और श्रुतज्ञान मे होता है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान इन्द्रिय-जन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख युक्त है वह श्रुतज्ञान है और जिसमे शब्दोल्लेख नही होता वह मतिज्ञान है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं इन्द्रिय और मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञान व्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती-परिपक्व व स्पष्ट अश श्रुतज्ञान है। जो ज्ञान भाषा मे उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो ज्ञान भाषा मे उतारने युक्त परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान को यदि दूध कहे तो श्रुतज्ञान को खीर कह सकते हैं।[२]

अवधिज्ञान

जिस ज्ञान की सीमा होती है उसे अवधि कहते हैं। अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है।[३] मूर्तिमान द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्त है, वही अवधि का विषय है, अरूपी पदार्थों मे अवधि की प्रवृत्ति नही होती। षट्द्रव्यो मे से केवल पुद्गल द्रव्य ही अवधि का विषय है क्योकि शेष पाँचो द्रव्य अरूपी हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से इसकी अनेक मर्यादाएँ बनती हैं। जैसे जो ज्ञान इतने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञान कराता है उसे अवधि कहते है।[४]

---

१ श्रुत द्विविधम्—परोपदेश आगमग्रन्थश्च। व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकार सस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यज् ज्ञानमिदानी तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य सस्काराधायक श्रुतस्याऽनपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते ।
—विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति १६८

२ तत्त्वार्थसूत्र—प० सुखलाल जी पृ० ३५-३६

३ रूपिष्ववधे ।
—तत्त्वार्थसूत्र १।२८

४ नन्दीसूत्र, सूत्र २८, पृ० १३, पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित ।

अवधिज्ञान का विषय

(१) द्रव्य की दृष्टि से जघन्य अनन्त मूर्तिमान द्रव्य, उत्कृष्ट समस्त मूर्तिमान द्रव्य।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से जघन्य न्यून से न्यून अगुल का असख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट अधिक से अधिक असख्य क्षेत्र (सम्पूर्ण लोकाकाश) और शक्ति की कल्पना करे तो लोकाकाश के जैसे असख्य खण्ड उसके विषय हो सकते हैं।

(३) काल की दृष्टि से जघन्य एक आवलिका का असख्यातवाँ भाग, उत्कृष्ट असख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल।

(४) भाव की दृष्टि से—जघन्य अनन्त भाव-पर्याय, उत्कृष्ट अनन्त भाव सभी पर्यायो का अनन्तवाँ भाग।

अवधिज्ञान के अधिकारी

अवधिज्ञान के अधिकारी चारो गतियो के जीव है। देवो और नारको मे जो अवधिज्ञान होता है वह भवप्रत्यय है[1] और मनुष्यो एव तिर्यचो मे जो अवधिज्ञान होता है वह गुण-प्रत्यय है। जो अवधिज्ञान जन्म के साथ ही साथ प्रकट होता है वह भवप्रत्यय है। देव और नारक जीवो को जन्म लेते ही अवधिज्ञान पैदा हो जाता है। वह भव ही ऐसा है कि वहाँ पर जन्म लेते ही उन्हे अवधिज्ञान हो जाता है, उसके लिए उन्हे व्रत, नियम आदि का पालन करना नही पडता। मनुष्य और तिर्यच मे ऐसा नही है। उन्हे व्रत, नियम का पालन करने से अवधिज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान होता है, इसलिए इसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते है।

प्रश्न उद्‌बुद्ध हो सकता है कि अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान होता है तो फिर देव और नारको को जन्म से ही किस प्रकार होता है ? उसके लिए क्या क्षयोपशम आवश्यक नही है ?

---

१ (क) द्विविधोऽवधि
तत्र भवप्रत्ययोनारकदेवानाम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२१-२२
(ख) स्थानाङ्ग ७१
(ग) नन्दीसूत्र, सूत्र १३, पृ० १०, पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित।

उत्तर मे निवेदन है कि अवधिज्ञान से लिए अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है। किन्तु अन्तर यह है कि देवो और नारको का क्षयोपशम भवप्रत्ययक होता है, वहाँ पर जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है, किन्तु मनुष्य व तिर्यच के लिए यह नियम नही है। उन्हे विशेष रूप से नियम आदि का पालन करना होता है तब जाकर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम दोनो मे आवश्यक है। अन्तर केवल साधन मे है। जो जीव जन्म-ग्रहण करने मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है, जिन्हे इसके लिए विशेष श्रम करना पडता है उनका अवधिज्ञान गुणप्रत्यय है। जैसे पक्षियो को जन्म लेते ही उडने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, पर मानव मे नही।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह प्रकार है[1]—

(१) **अनुगामी**—जिस क्षेत्र मे स्थित जीव को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उससे अन्यत्र जाने पर नेत्र के समान जो साथ-साथ जाय—बना रहे।

(२) **अननुगामी**—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र मे जाने पर जो न रहे।

(३) **वर्धमान**—उत्पत्ति के समय मे कम प्रकाश-मान हो और बाद मे क्रमश वढे।

(४) **हीयमान**—उत्पत्ति-काल मे अधिक प्रकाशमान हो और बाद मे क्रमश घटे।

(५) **अप्रतिपाती**—जीवन-पर्यन्त रहने वाला, अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला।

(६) **प्रतिपाती**—उत्पन्न होकर जो पुन चला जाये।

उपर्युक्त अवधिज्ञान के ये छ भेद स्वामी के गुण की दृष्टि से किये गये हैं। तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे क्षेत्र आदि की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं—

(१) देशावधि,

---

१ त समासओ छव्विह पण्णत्त। त जहा—आणुगामिय, अणाणुगामिय, वड्ढमाणय, हायमाणय, पडिवाति, अपडिवाति। —नन्दीसूत्र, सूत्र १५, पृ० १०

(२) परमावधि,

(३) सर्वावधि।[1]

देशावधि के तीन भेद होते हैं। जघन्य देशावधि का क्षेत्र उत्सेधागुल[2] का असख्यातवाँ भाग है। उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है अजघन्योत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र इन दोनो के मध्य का है, जिसके असख्यात प्रकार हैं।

जघन्य परमावधि का क्षेत्र एक प्रदेश से अधिक लोक है। उत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र असख्यात लोक प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र इन दोनो के मध्य का है।

सर्वावधि एक प्रकार का होता है, उसका क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असख्यात क्षेत्र प्रमाण है। क्षेत्र की अधिक से अधिक मर्यादा लोक है, लोक से बाहर कोई पदार्थ नही है। जो लोक से अधिक क्षेत्र का निर्देश किया गया है उसका तात्पर्य ज्ञान की सूक्ष्मता से है।

देशावधि चारो गतियो मे होता है किन्तु परमावधि और सर्वावधि मनुष्यो मे मुनियो के ही होते हैं।[3]

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन सात निक्षेपो से अवधिज्ञान को समझने का सूचन किया है।[4]

मन पर्याय ज्ञान

यह ज्ञान मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी गति मे नही होता। मनुष्य मे भी सयत मनुष्य को होता है, असयत मनुष्य को नही। मन पर्याय ज्ञान का अर्थ है—मनुष्यो के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान।[5] मन एक प्रकार का पौद्‌गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय विशेप का विचार करता है तब उसके मन का नाना प्रकार की पर्यायो मे

---

१ पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधि परमावधि सर्वावधिश्चेति।
—राजवार्तिक १।२२।५ (वृत्तिसहित)

२ विभिन्न वस्तुओ को नापने के लिए विभिन्न अगुल निश्चित किये गये हैं। मुख्य रूप से उसके तीन भेद हैं—उत्सेधागुल, प्रमाणागुल और आत्मागुल।

३ तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्रसूरि पृ० १२, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला।

४ विशेपावश्यक भाष्य

५ मणपज्जवणाण पुण, जणमणपरिचिंतियत्थपागडण।
माणुसखेत्तनिवद्ध, गुणपच्चइय चरित्तवओ॥ —आवश्यक निर्युक्ति ७६

परिवर्तन होता रहता है। मन पर्यायज्ञानी मन की उन विविध पर्यायो का साक्षात्कार करता है, उस साक्षात्कार से वह यह जानता है कि व्यक्ति इस समय मे यह चिन्तन कर रहा है। केवल अनुमान से यह कल्पना करना कि 'अमुक व्यक्ति इस समय अमुक प्रकार की कल्पना कर रहा होगा,' इस प्रकार के अनुमान को मन पर्याय ज्ञान नही कहते। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्‌गल द्रव्यो को साक्षात् जानने वाला है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो मन के परिणमन का आत्मा के द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष करके मानव के चिन्तित अर्थ को जान लेना मन पर्याय ज्ञान है। यह ज्ञान मनपूर्वक नही होता किन्तु आत्मपूर्वक होता है। मन तो उसका विषय है। ज्ञाता साक्षात् आत्मा है।

दो विचारधाराएँ

मन पर्याय ज्ञान के सम्बन्ध मे आचार्यो की दो विचारधाराएँ है। आचार्य पूज्यपाद[1] एव आचार्य अकलक[2] का मन्तव्य है कि मन पर्यवज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष करता है। अर्थात् मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम न मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष मान लेती है। यह परम्परा मन के पर्याय और अर्थ के पर्याय मे लिंग और लिंगी का सम्बन्ध नही मानती। मन एक मात्र सहारा है। जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि 'सूर्य बादलो मे है' इसका तात्पर्य यह नही कि बादल सूर्य के जानने मे कारण है। बादल तो सूर्य को जानने के लिए आधार है वैसे ही मन भी अर्थ जानने का आधार है। वस्तुत प्रत्यक्ष तो अर्थ का ही होता है, इसके लिए मन रूप आधार की आवश्यकता है।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[3] का कथन है कि मन पर्यायज्ञानी मन की विविध अवस्थाओ का प्रत्यक्ष करता है किन्तु उन अवस्थाओ मे जो अर्थ रहा हुआ है उसका अनुमान करता है। अर्थात् यह परम्परा अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानती है, उसका कथन है कि मन का ज्ञान मुख्य है अर्थ का ज्ञान उसके पश्चात् की वस्तु है। मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है, सीधा अर्थज्ञान नही होता। मन पर्याय का अर्थ ही यह है कि मन की पर्यायो का ज्ञान न कि अर्थ की पर्यायो का ज्ञान।

---

१ सर्वार्थसिद्धि १।६

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२६।६-७

३ विशेषावश्यक भाष्य ८१४

उपर्युक्त दोनो परम्पराओ मे द्वितीय परम्परा अधिक तर्कसगत है, क्योकि मन पर्यायज्ञान से साक्षात् अर्थज्ञान होना सभव नही है। उसका विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवाँ भाग है।[१] यदि मन पर्यायज्ञान मन के सभी विषयो का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं, क्योकि मन के द्वारा अरूपी द्रव्य का भी चिन्तन हो सकता है, जब कि इस प्रकार नही होता। जितने मूर्त द्रव्यो का अवधिज्ञानी साक्षात्कार करता है उनसे कम का मन पर्यवज्ञानी करता है। अवधिज्ञानी सभी प्रकार के पुद्गल द्रव्यो को ग्रहण कर सकता है किन्तु मन पर्यायज्ञानी उनके अनन्तवें भाग अर्थात् मन रूप बने हुए पुद्गलो का मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण करता है। मन का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् उसके चिन्तित अर्थ का परिज्ञान अनुमान से हो सकता है। ऐसा होने पर मन के द्वारा सोचे गए मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यो का ज्ञान हो सकता है।[२]

दो प्रकार

मन पर्याय ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति ये दो प्रकार हैं।[३] ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन के सूक्ष्म परिणामो को भी जान सकता है। दोनो मे दूसरा अन्तर यह भी है कि ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट भी हो जाता है किन्तु विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहता है।[४]

मन पर्याय ज्ञान का विषय

(१) द्रव्य की दृष्टि से—मन रूप मे परिणत पुद्गल द्रव्य—मनोवर्गणा।

(२) क्षेत्र की दृष्टि से—मनुष्य क्षेत्र।

(३) काल की दृष्टि से—असख्यकाल तक का (पल्योपम का असख्यातवाँ भाग) अतीत और भविष्य।

(४) भाव की दृष्टि से—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएँ।

---

१ तदनन्तभागे मन पर्यायस्य। —तत्त्वार्थसूत्र १।२६

२ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता

३ नन्दीसूत्र, सूत्र ३१

४ विशुद्धयप्रतिपाताभ्या तद्विशेष। —तत्त्वार्थसूत्र १।२५

अवधि और मन पर्याय

अवधि और मन पर्यायज्ञान ये दोनो ज्ञान आत्मा से होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नही होती। किन्तु ये दोनो ज्ञान रूपी द्रव्य तक ही सीमित है, इसलिए अपूर्ण अर्थात् विकल प्रत्यक्ष हैं, जबकि केवलज्ञान रूपी-अरूपी सभी द्रव्यो को जानने के कारण सकलप्रत्यक्ष है। अवधि और मन पर्याय मे विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इन चार दृष्टियो से अन्तर है। मन पर्यायज्ञान अपने विषय को अवधिज्ञान की अपेक्षा विशद् रूप से जानता है, इसलिए वह उससे अधिक विशुद्ध है। यह विशुद्धि विषय की न्यूनाधिकता पर नही, विषय की सूक्ष्मता पर अवलम्बित है। महत्त्वपूर्ण यह नही है कि अधिक मात्रा मे पदार्थों को जाना जाय, पर महत्त्वपूर्ण यह है कि ज्ञेय पदार्थ की सूक्ष्मता का परिज्ञान हो। मनोवर्गणाओ की मन के रूप मे परिणत पर्याये अवधिज्ञान का भी विषय बनती हैं तथापि मन पर्याय उन पर्यायो का स्पेशेलिस्ट (विशेषज्ञ-सूक्ष्मज्ञ) है। एक डाक्टर वह होता है जो सम्पूर्ण शरीर की चिकित्सा-विधि साधारण रूप से जानता है और एक डाक्टर वह होता है जो आँख का, कान का, दाँत का, एक अवयव विशेष का पूर्ण निष्णात होता है। यही बात अवधि और मन पर्याय की है।

अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्य का सूक्ष्म अश जितना जाना जाता है उससे अधिक सूक्ष्म अश मन पर्याय ज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

अवधिज्ञान का क्षेत्र अगुल के असख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक के रूपी पदार्थ है किन्तु मन पर्याय का क्षेत्र मनुष्य लोक ही है।

अवधिज्ञान के स्वामी चारो गति वाले जीव हैं किन्तु मन पर्याय का स्वामी केवल चारित्रवान् श्रमण ही हो सकता है।

अवधिज्ञान का विषय सम्पूर्ण रूपी द्रव्य है (सब पर्याय नही) किन्तु मन पर्ययज्ञान का विषय केवल मन है, जो कि रूपी द्रव्य का अनन्तवाँ भाग है।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या सहाय रहित है।[1] ज्ञानावरणीय कर्म के

---

१ (क) केवलमेग सुद्ध, सगलमसाहारण अणत च। —विशेषावश्यक भाष्य ८४

(ख) केवलमिति कोर्थ ? इत्याह—एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षितत्वात्, तद्भावेऽशेपछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा। —विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ८४

नष्ट होने से ज्ञान के अवान्तर भेद मिट जाते है और ज्ञान एक हो जाता है, उसके पश्चात् इन्द्रिय और मन के सहयोग की आवश्यकता नही होती, एतदर्थ वह केवल कहलाता हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता है और देखता है ?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—गौतम! वह इन्द्रियो से जानता व देखता नही है।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—भगवान्! ऐसा क्यो होता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! केवली पूर्व दिशा मे मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है, वह इन्द्रिय का विषय नही है।[1]

केवल शब्द का दूसरा अर्थ शुद्ध है।[2] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान मे किञ्चित् मात्र भी अशुद्धि का अश नही रहता है, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है।[3] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान मे अपूर्णता नही रहती है, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का चौथा अर्थ असाधारण है।[4] ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने पर जैसा ज्ञान होता है वैसा दूसरा नही होता, इसलिए वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द का पाँचवाँ अर्थ 'अनन्त' है।[5] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कदापि आवृत नही होता, एतदर्थ वह 'केवल' कहलाता है।

केवल शब्द के उपर्युक्त अर्थ 'सर्वज्ञता' से सम्बन्धित नही है। आवरण के पूर्ण रूप से क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और

---

१ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६।१०

२ शुद्धम्-निर्मलम्—सकलावरणमलकलकविगमसम्भूतत्वात्।

—विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति ८४

३ सकलम्-परिपूर्णम् सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात्—वही ८४

४ असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।

—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ८४

५ अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्।

—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ८४

अप्रतिपाती होता है। इसमे किसी भी प्रकार का विवाद नही है। विवाद का मुख्य विषय ज्ञान की पूर्णता है। कितने ही तार्किको का मन्तव्य है कि ज्ञान की पूर्णता का अर्थ वहुश्रुतता है। कितने ही आचार्य ज्ञान की पूर्णता का अर्थ सर्वज्ञता करते है।

जैन-परम्परा मे केवलज्ञान का अर्थ सर्वज्ञता है। केवलज्ञानी केवलज्ञान पैदा होते ही लोक और अलोक दोनो को जानने लगता है।[1] केवलज्ञान का विपय सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय हैं।[2] कोई भी वस्तु ऐसी नही जिसे केवलज्ञानी नही जानता हो, कोई भी पर्याय ऐसा नही जो केवलज्ञान का विषय न हो। छहो द्रव्यो के वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने भी पर्याय है सभी केवलज्ञान के विषय है। आत्मा की ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास केवलज्ञान है। जब पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब अपूर्ण ज्ञान स्वत नष्ट हो जाता है। इसके सम्बन्ध मे पूर्व लिख चुके हैं।

दर्शन और ज्ञानविषयक तीन मान्यताएँ

उपयोग के दो भेद है—साकार और अनाकार। साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं और अनाकार उपयोग को दर्शन।[3] साकार का अर्थ सविकल्प है और अनाकार का अर्थ निर्विकल्प है। जो उपयोग वस्तु के विशेष अश को ग्रहण करता है वह सविकल्प है और जो उपयोग सामान्य अश को ग्रहण करता है वह निर्विकल्प है।

ज्ञान और दर्शन की मान्यता जैन-साहित्य मे अत्यधिक प्राचीन है। ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म का नाम ज्ञानावरण है और दर्शन को आच्छादित करने वाले कर्म का नाम दर्शनावरण है। इन कर्मों के क्षयोपशम से ज्ञान और दर्शन गुण प्रकट होते हैं। आगम-साहित्य मे यत्र-तत्र ज्ञान के लिए 'जाणइ' और दशन के लिए 'पासइ' शब्द व्यवहृत हुआ है।

दिगम्बर आचार्यो का यह अभिमत रहा है कि वहिर्मुख उपयोग ज्ञान

---

१ (क) जया सव्वत्तग नाण दसण चाभिगच्छई।
तया लोगमलोग च, जिणो जाणइ केवली ॥ —दशवैकालिक ४।२२

(ख) लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोक च' अनन्त जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थं।—दशवै० हरिभद्रीय वृत्ति पृ० १५६

२ सर्वद्रव्यपर्यायेपु केवलस्य। —तत्त्वार्यसूत्र १।३०

३ तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १।६

है और अन्तर्मुख उपयोग दर्शन है। आचार्य वीरसेन षट्खण्डागम की धवलाटीका मे लिखते है कि सामान्य-विशेषात्मक बाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान है और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन है।[1] दर्शन और ज्ञान मे यही अन्तर है कि दर्शन सामान्य विशेषात्मक आत्मा का उपयोग है—स्वरूप दर्शन है, जबकि ज्ञान आत्मा से इतर प्रमेय का ग्रहण करता है। जिनका यह मन्तव्य है कि सामान्य का ग्रहण दर्शन है और विशेष का ग्रहण ज्ञान है वे प्रस्तुत मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान के मत से अनभिज्ञ हैं। सामान्य और विशेष ये दोनो पदार्थ के धर्म हैं। एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व नही है। केवल सामान्य और केवल विशेष का ग्रहण करने वाला ज्ञान अप्रमाण है। इसी तरह विशेष व्यतिरिक्त सामान्य का ग्रहण करने वाला दर्शन मिथ्या है।[2] प्रस्तुत मत का प्रतिपादन करते हुए द्रव्यसग्रह की वृत्ति मे ब्रह्मदेव ने लिखा है—ज्ञान और दर्शन का दो दृष्टियो से चिन्तन करना चाहिए—तर्कदृष्टि से और सिद्धान्तदृष्टि से। दर्शन को सामान्य-ग्राही मानना तर्कदृष्टि से उचित है किन्तु सिद्धान्तदृष्टि से आत्मा का सही उपयोग दर्शन है और बाह्य अर्थ का ग्रहण ज्ञान है।[3] व्यावहारिकदृष्टि से ज्ञान और दर्शन मे भिन्नता है पर नैश्चयिकदृष्टि से ज्ञान और दर्शन मे किसी भी प्रकार की भिन्नता नही है।[4] सामान्य और विशेष के आधार से ज्ञान और दर्शन का जो भेद किया गया है उसका निराकरण अन्य प्रकार से भी किया गया है। यह अन्य दार्शनिको को समझाने के लिए सामान्य और विशेष का प्रयोग किया गया है किन्तु जो जैनतत्त्वज्ञान के ज्ञाता हैं उनके लिए आगमिक व्याख्यान ही ग्राह्य है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार आत्मा और इतर का भेद ही वस्तुत सारपूर्ण है।[5]

---

१ सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहण ज्ञानम्, तदात्मकस्वरूपग्रहण दर्शनमिति सिद्धम्।
—षट्खण्डागम, धवला टीका १।१।४

२ षट्खण्डागम, धवलावृत्ति १।१।४

३ एव तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शन व्याख्यातम्। अत ऊर्ध्व सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते। तथाहि उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्त यत् प्रयत्न तद्रूप यत् स्वस्यात्मन परिच्छेदनमवलोकन तद्दर्शन भण्यते। तदनन्तर यद् बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहण तज्ज्ञानमितिवार्त्तिकम्। —द्रव्यसग्रह वृत्ति गाथा ४४

४ द्रव्यसग्रह वृत्ति गा० ४४

५ द्रव्यसग्रह वृत्ति गा० ४४

उपर्युक्त विचारधारा को मानने वाले आचार्यों की सख्या अधिक नही है, अधिकाशत दार्शनिक आचार्यों ने साकार और अनाकार के भेद को स्वीकार किया है। दर्शन को सामान्यग्राही मानने का तात्पर्य इतना ही है कि उस उपयोग मे सामान्य धर्म प्रतिविम्बित होता है और ज्ञानोपयोग मे विशेष धर्म झलकता है। वस्तु मे दोनो धर्म है पर उपयोग किसी एक धर्म को ही मुख्य रूप से ग्रहण कर पाता है। उपयोग मे सामान्य और विशेष का भेद होता है किन्तु वस्तु मे नही।

काल की दृष्टि से दर्शन और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? जरा इस प्रश्न पर भी चिन्तन करना आवश्यक है। छद्मस्थो के लिए सभी आचार्यों का एक मत है कि छद्मस्थो को दर्शन और ज्ञान क्रमश होता है, युगपद् नही। केवली मे दर्शन और ज्ञान का उपयोग किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध मे आचार्यों के तीन मत है। प्रथम मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान क्रमश होते हैं। द्वितीय मान्यता के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते है। तृतीय मान्यतानुसार ज्ञान और दर्शन मे अभेद है। अर्थात् दोनो एक है।

प्रज्ञापना मे एक सवाद है। गौतम भगवान् से पूछते हैं—हे भगवन् ! केवली आकार, हेतु, उपमा, दृष्टान्त, वर्ण, सस्थान, प्रमाण और प्रत्यावतारो के द्वारा इस रत्नप्रभापृथ्वी को जिस समय जानता है उस समय देखता है ? और जिस समय देखता है उस समय जानता है ?

भगवान—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

गौतम—हे भगवन् ! केवली आकार आदि के द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वी को जिस समय जानता है उस समय देखता नही है और जिस समय देखता है उस समय जानता नही है, इसका क्या कारण ?

भगवान—हे गौतम ! उसका ज्ञान साकार है और उसका दर्शन निराकार है, अत वह जिस समय जानता है उस समय देखता नही है और जिस समय देखता है उस समय जानता नही है। इस प्रकार अध सप्तमी पृथ्वी तक, सौधर्मकल्प से लेकर ईषत्प्राग्भार पृथ्वी तक तथा परमाणु पुद्गल से अनन्त प्रदेश स्कध तक जानने का और देखने का क्रम समझना चाहिए।[1]

---

१ केवली ण भते ! इम रयणप्पभ पुढवि आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठतेहिं वण्णेहिं सठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं, ज समय जाणति त समय पासइ ? ज समय पासइ त समय जाणइ ?

आवश्यक निर्युक्ति,[1] विशेषावश्यक[2] आदि मे भी कहा गया है कि केवली के भी दो उपयोग एक साथ नही हो सकते। श्वेताम्बर परम्परा के आगम इस सम्बन्ध मे एक मत है। वे केवली के दर्शन और ज्ञान को युगपद् नही मानते।[3]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपद् होते है। इस विषय मे सभी दिगम्बर आचार्य एकमत हैं।[4] उमास्वाति का भी यही अभिमत रहा है कि मति, श्रुत आदि मे उपयोग क्रम से होता है, युगपद् नही। केवली मे दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण मे युगपद् होता है।[5] नियमसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट लिखा है कि

गोयमा! णो तिणट्ठे समट्ठे

'से केणट्ठेण भते! एव वुच्चति—केवली ण इम रयणप्पभ पुढवि आगारेहिं ज समय जाणति नो त समय पासति, ज समय पासति नो त समय जाणति?

गोयमा! सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति। से तेणट्ठेण जाव णो त समय जाणति। एव जाव अहे सत्तम। एव सोहम्मकप्प जाव अच्चुय गेविज्जगविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसीपब्भार पुढवि परमाणुपोग्गल दुपदेसिय खध जाव अणतपदेसिय खध।' —प्रज्ञापना पद ३० सूत्र ३१९ पृ० ५३१

१ असरीरा जीवघणा उवउत्ता दसणे य णाणे य।
सागारमणागार लक्खणमेय तु सिद्धाण॥
केवलणाणुवउत्ता जाणती सव्वभावगुणभावे।
पासति सव्वतो खलु, केवलदिट्ठीहिं णताहिं॥
नाणमि दसणमि य एत्तो एगयरयमि उवउत्ता।
सव्वस्स केवलिस्सा जुगव दो नत्थि उवओगा॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ९७७-९७९

२ विशेषावश्यक भाष्य

३ भगवती सूत्र १८।८, तथा भगवती श० १४ उद्दे० १०

४ सिद्धाण सिद्धगई केवलणाण च दसण खयिय।
सम्मत्तमणाहार, उवजोगाणक्कमपउत्ती॥ —गोम्मटसार, जीवकाण्ड ७३०
दसणपुव्व णाण छदमत्थाण ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगव जम्हा, केवलिणाहे जुगव तु ते दो वि॥ —द्रव्यसग्रह ४४

५ मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपद्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवत केवलिनो युगपद् भवति। —तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १।३१

जैसे सूर्य मे प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली मे दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं ।[1]

तीसरी परम्परा चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की है । उन्होने सन्मति तर्क प्रकरण मे लिखा है कि मन पर्याय तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन मे भेद सिद्ध करना सभव नही है ।[2] दर्शनावरण और ज्ञानावरण का युगपद् क्षय होता है । उस क्षय से होने वाले उपयोग मे 'यह प्रथम होता है, यह बाद मे होता है' इस प्रकार का भेद किस प्रकार से किया जा सकता है ?[3] कैवल्य की प्राप्ति जिस समय होती है उस समय सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है, उसके पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का युगपद् क्षय होता है । जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनो के क्षय मे काल का भेद नही है तब यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रथम केवलदर्शन होता है फिर केवलज्ञान । इस समस्या के समाधान के लिए कोई यह माने कि दोनो का युगपद् सद्भाव है, तो यह भी उचित नही है क्योकि एक साथ दो उपयोग नही हो सकते । इस समस्या का सबसे सरल व तर्कसगत समाधान यह है कि केवली अवस्था मे दर्शन और ज्ञान मे भेद नही होता । दर्शन और ज्ञान को पृथक्-पृथक् मानने से एक समस्या और उत्पन्न होती है । यदि केवली एक ही क्षण मे सभी कुछ जान लेता है तो उसे सदा के लिए सब कुछ जानते रहना चाहिए । यदि उसका ज्ञान सदा पूर्ण नही है तो वह सर्वज्ञ कैसा ?[4] यदि उसका ज्ञान सदैव पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । वह सदा एकरूप है । वहाँ पर दर्शन और ज्ञान मे किसी भी प्रकार

---

१ जुगव वट्टइ नाण, केवलणाणिस्स दसण च तहा ।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्व ॥ —नियमसार, गाथा १५६

२ मणपज्जवणाणतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो ।
केवलणाण पुण दसण ति णाण ति य समाण ॥ —सन्मति प्रकरण २।३

३ दसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअर ।
होज्ज सम उप्पाओ हंदि दुए णत्थि उवओगा ॥ —सन्मति प्रकरण २।६

४ जइ सव्व सायार जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू ।
जुज्जइ सया वि एव अहवा सव्व ण याणाइ ॥ —सन्मति प्रकरण २।१०

का कोई अन्तर नही है। ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्पक है—इस प्रकार का भेद आवरणरूप कर्म के क्षय के पश्चात् नही रहता।[1] जहाँ पर उपयोग की अपूर्णता है वही पर सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद होता है। पूर्ण उपयोग होने पर किसी भी प्रकार का भेद नही होता। एक समस्या और है, वह यह है कि ज्ञान हमेशा दर्शनपूर्वक होता है किन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नही होता।[2] केवली को जब एक वार सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब फिर दर्शन नही हो सकता, क्योकि दर्शन ज्ञानपूर्वक नही होता, एतदर्थ ज्ञान और दर्शन का क्रमभाव नही घट सकता।

दिगम्बर परम्परा मे केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा है, श्वेताम्बर परम्परा मे इसकी क्रम, युगपत् और अभेद ये तीन धाराएँ बनी। इन तीनो धाराओ का विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजय जी ने नयदृष्टि से समन्वय किया है।[3] ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष सगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। प्रथम समय का ज्ञान कारण है और द्वितीय समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन मे कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहारनय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी सगत है। सग्रहनय अभेद-स्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी सगत है। तर्कदृष्टि से देखने पर इन तीनो धाराओ मे अभेद-पक्ष अधिक युक्तिसगत लगता है।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है। प्रथम समय मे वस्तुगत भिन्नताओ को जानना और दूसरे समय मे भिन्नतागत अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही इस प्रकार है। भेद मे अभेद और अभेद मे भेद समाया हुआ है तथापि भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नही होता।

---

१ परिसुद्ध सायार, अवियत्त दसण अणायार।
ण य खीणावरणिज्जे, जुज्जइ सुवियत्तमवियत्त ॥ —सन्मति प्रकरण २।११

२ दसणपुव्व णाण णाणणिमित्त तु दसण णत्थि।
तेण सुविणिच्छियामो दसणणाणा ण अण्णत्त ॥ —वही २।२२

३ ज्ञानबिन्दु

उपसंहार

इस प्रकार आगमयुग से लेकर दार्शनिकयुग तक ज्ञानवाद पर गहराई से चिन्तन किया गया है। यदि उस पर विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक विराट्काय स्वतत्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है, पर सक्षेप मे ही प्रस्तुत निबन्ध मे प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठको को यह परिज्ञात हो सके कि जैन दार्शनिको ने ज्ञानवाद पर कितना स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया है।

प्रमाण : एक अध्ययन

- आगम साहित्य मे प्रमाण वर्णन
- प्रत्यक्ष
- अनुमान
- पूर्ववत्
- शेषवत्
- दृष्टसाधर्म्यवत्
- अनुमान के अवयव
- उपमान
- आगम
- प्रमाण का लक्षण
- ज्ञान की करणता
- प्रमाण की परिभाषा का विकास
- ज्ञान और प्रमाण
- प्रमाण का नि तत्त्व
- ज्ञान का प्रामाण्य
- प्रमाण का फल
- प्रमाण सख्या
- प्रत्यक्ष का लक्षण
- प्रत्यक्ष के दो प्रकार
- परोक्ष
- चार्वाक का खण्डन
- स्मरण-स्मृति
- प्रत्यभिज्ञान
- तर्क
- अनुमान
- स्वार्थानुमान
- साधन
- परार्थानुमान
- परार्थानुमान के अवयव
- प्रतिज्ञा
- हेतु
- उदाहरण
- उपनय
- निगमन
- आगम

उपसंहार

इस प्रकार आगमयुग से लेकर दार्शनिकयुग तक ज्ञानवाद पर गहराई से चिन्तन किया गया है। यदि उस पर विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक विराट्काय स्वतंत्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है, पर संक्षेप मे ही प्रस्तुत निबन्ध मे प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठको को यह परिज्ञात हो सके कि जैन दार्शनिको ने ज्ञानवाद पर कितना स्पष्ट विचार प्रस्तुत किया है।

☐ प्रमाण : एक अध्ययन

- आगम साहित्य मे प्रमाण वर्णन
- प्रत्यक्ष
- अनुमान
- पूर्ववत्
- शेषवत्
- दृष्टसाधर्म्यवत्
- अनुमान के अवयव
- उपमान
- आगम
- प्रमाण का लक्षण
- ज्ञान की करणता
- प्रमाण की परिभाषा का विकास
- ज्ञान और प्रमाण
- प्रमाण का नि तत्त्व
- ज्ञान का प्रामाण्य
- प्रमाण का फल
- प्रमाण सख्या
- प्रत्यक्ष का लक्षण
- प्रत्यक्ष के दो प्रकार
- परोक्ष
- चार्वाक का खण्डन
- स्मरण-स्मृति
- प्रत्यभिज्ञान
- तर्क
- अनुमान
- स्वार्थानुमान
- साधन
- परार्थानुमान
- परार्थानुमान के अवयव
- प्रतिज्ञा
- हेतु
- उदाहरण
- उपनय
- निगमन
- आगम

आगम साहित्य मे प्रमाण-वर्णन

आगम साहित्य मे प्रमाण के सम्वन्ध मे विस्तार से चर्चा है। स्वतन्त्र रूप से प्रमाण के सम्वन्ध मे चिन्तन किया गया है।

भगवती सूत्र[1] का मधुर प्रसग है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! जिस प्रकार केवली अन्तिम शरीरी (जो इसी भव मे मुक्त होने वाला हो और वर्त्तमान शरीर के पश्चात् फिर कभी शरीर धारण नही करेगा) को जानते है। उसी प्रकार क्या छद्मस्थ भी जानते हैं?

भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—गौतम! वे अपने आप नही जान सकते, या तो किसी से श्रवण कर जानते है या प्रमाण से जानते हैं।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—किससे सुनकर?

उत्तर दिया गया—केवली से ।

पुन प्रश्न उद्‌वुद्ध हुआ—किस प्रमाण से जानते है?

उत्तर दिया गया—प्रमाण चार प्रकार के कहे गये है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। इनके विषय मे जैसा अनुयोगद्वार मे वर्णन है उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए।

स्थानाङ्ग सूत्र मे प्रमाण और हेतु इन दो शब्दो का प्रयोग हुआ है। निक्षेप पद्धति की दृष्टि से प्रमाण के द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाण,[2] ये चार भेद किये गये है।

---

१ गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा। से किं त सोच्चा? केवलिस्स वा, केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स वा केवलीउवासियाए वा से त सोच्चा। से किं त पमाण? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्व पमाण।
—भगवती सूत्र ५।३।१९१-१९२

२ चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते त जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे।
—स्थानाग ३२१

स्थानाङ्ग मे जहाँ पर हेतु शब्द का प्रयोग है वहाँ पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद मिलते है।[1]

कही-कही पर प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते हैं। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यवसाय का अर्थ निश्चय है। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। व्यवसाय के तीन प्रकार है—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक।[2]

प्रमाण के भेदो के सम्बन्ध मे विविध परम्पराएँ हैं। कही पर तीन का उल्लेख है तो कही पर चार का वर्णन है। साख्यदर्शन ने तीन प्रमाण माने हैं, और न्यायदर्शन ने चार। ये दोनो परम्पराएँ स्थानाङ्ग मे प्राप्त होती है।

अनुयोगद्वार मे प्रमाण की विस्तार से चर्चा है। उस चर्चा का सक्षेप मे साराश इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद है—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, (२) चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, (३) घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, (४) जिव्हेन्द्रियप्रत्यक्ष, और (५) स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये पाँच भेद है।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) अवधिप्रत्यक्ष (२) मन पर्यंयप्रत्यक्ष और (३) केवलप्रत्यक्ष, ये तीन भेद हैं।

पाँच इन्द्रियो मे मानसप्रत्यक्ष का समावेश कर लिया है, इसलिए मानसप्रत्यक्ष को स्वतन्त्र रूप से नही गिनाया है। बाद के दार्शनिको ने इसको स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया है।

---

१ अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।
—स्थानाङ्ग ३३८

२ (क) तिविहे ववसाए पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, अणुगामिए।
—स्थानाङ्ग १८५

(ख) व्यवमायो निश्चय स च प्रत्यक्ष अवधिमन पर्यंयकेवलाख्य प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जात प्रात्यं ध्यमग्न्यादिकमनु-गच्छति साध्याभावे न भवति योधूमादिहेतु सो ˜ आनु-गामिकम् अनुमानम्, तद् यो व्यवसाय आनुगामिकं स्वयदर्शनलक्षण प्रात्ययिक आप्तवचनप्रभव

आगम साहित्य मे प्रमाण-वर्णन

आगम साहित्य मे प्रमाण के सम्बन्ध मे विस्तार से चर्चा है। स्वतन्त्र रूप से प्रमाण के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है।

भगवती सूत्र[1] का मधुर प्रसग है। गणधर गौतम ने भगवान महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! जिस प्रकार केवली अन्तिम शरीरी (जो इसी भव मे मुक्त होने वाला हो और वर्त्तमान शरीर के पश्चात् फिर कभी शरीर धारण नही करेगा) को जानते हैं। उसी प्रकार क्या छद्मस्थ भी जानते हैं ?

भगवान् महावीर ने समाधान करते हुए कहा—गौतम! वे अपने आप नही जान सकते, या तो किसी से श्रवण कर जानते हैं या प्रमाण से जानते हैं।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—किससे सुनकर ?

उत्तर दिया गया—केवली से ।

पुन प्रश्न उद्बुद्ध हुआ—किस प्रमाण से जानते हैं ?

उत्तर दिया गया—प्रमाण चार प्रकार के कहे गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम। इनके विषय मे जैसा अनुयोगद्वार मे वर्णन है उसी प्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिए।

स्थानाङ्ग सूत्र मे प्रमाण और हेतु इन दो शब्दो का प्रयोग हुआ है। निक्षेप पद्धति की दृष्टि से प्रमाण के द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण, काल प्रमाण और भाव प्रमाण,[2] ये चार भेद किये गये हैं।

---

१ गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा। से किं त सोच्चा ? केवलिस्स वा, केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स वा केवलीउवासियाए वा से त सोच्चा। से किं त पमाण ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्व पमाण। —भगवती सूत्र ५।३।१९१-१९२

२ चउव्विहे पमाणे पण्णत्ते त जहा—दव्वप्पमाणे, खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे, भावप्पमाणे। —स्थानाग ३२१

स्थानाङ्ग मे जहाँ पर हेतु शब्द का प्रयोग है वहाँ पर भी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद मिलते है।[1]

कही-कही पर प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते है। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर व्यवसाय शब्द का प्रयोग हुआ है। व्यवसाय का अर्थ निश्चय है। निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। व्यवसाय के तीन प्रकार है—प्रत्यक्ष, प्रात्ययिक और आनुगामिक।[2]

प्रमाण के भेदो के सम्वन्ध मे विविध परम्पराएँ है। कही पर तीन का उल्लेख है तो कही पर चार का वर्णन है। साख्यदर्शन ने तीन प्रमाण माने हैं, और न्यायदर्शन ने चार। ये दोनो परम्पराएँ स्थानाङ्ग मे प्राप्त होती है।

अनुयोगद्वार मे प्रमाण की विस्तार से चर्चा है। उस चर्चा का सक्षेप मे साराश इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद है—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, (२) चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, (३) घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, (४) जिव्हेन्द्रियप्रत्यक्ष, और (५) स्पर्शनेन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये पाँच भेद है।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के (१) अवधिप्रत्यक्ष (२) मन पर्ययप्रत्यक्ष और (३) केवलप्रत्यक्ष, ये तीन भेद हैं।

पाँच इन्द्रियो मे मानसप्रत्यक्ष का समावेश कर लिया है, इसलिए मानसप्रत्यक्ष को स्वतन्त्र रूप से नही गिनाया है। बाद के दार्शनिको ने इसको स्वतन्त्र रूप से स्थान दिया है।

---

१ अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे।
—स्थानाङ्ग ३३८

२ (क) तिविहे ववसाए पण्णत्ते, त जहा—पच्चक्खे, पच्चइए, अणुगामिए।
—स्थानाङ्ग १८५

(ख) व्यवसायो निश्चय स च प्रत्यक्ष अवधिमनपर्ययकेवलाख्य प्रत्ययात् इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जात प्रात्ययिक साध्यमग्न्यादिकमनु-गच्छति साध्याभावे न भवति योधूमादिहेतु सोऽनुगामी ततो जातम् आनु-गामिकम् अनुमानम्, तद् यो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्ष स्वयदर्शनलक्षण प्रात्ययिक आप्तवचनप्रभव तृतीयस्तथैवेति।
—स्थानाङ्ग, अभयदेववृत्ति

अनुमान

अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् ये तीन भेद किये गये हैं। न्यायदर्शन[1], बौद्धदर्शन[2] और साख्यदर्शन[3] ने भी ये तीन भेद माने हैं।

पूर्ववत्

पूर्वपरिचित हेतु द्वारा पूर्वपरिचित पदार्थ का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। एक माता अपने पुत्र को बाल्यकाल मे देखती है। पुत्र कही विदेश चला गया, वर्षो के पश्चात् वह लौटता है किन्तु कुछ समय तक माता उसे पहचान नही पाती किन्तु उसके शरीर पर कोई चिह्न देखकर शीघ्र ही उसे स्मृति हो आती है कि यह मेरा ही पुत्र है। यह है पूर्ववत् अनुमान[4]।

शेषवत्

शेषवत् अनुमान के (१) कार्य से कारण का अनुमान, (२) कारण से कार्य का अनुमान, (३) गुण से गुणी का अनुमान, (४) अवयव से अवयवी का अनुमान, (५) आश्रित से आश्रय का अनुमान। ये पाँच प्रकार है।

कार्य से कारण का अनुमान जैसे—शब्द से शख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित से वृपभ का अनुमान करना।

कारण से कार्य का अनुमान जैसे—तन्तु से ही पट होता है, पट से तन्तु नही, मिट्टी के पिण्ड से ही घडा बनता है, घडे से मिट्टी का पिण्ड नही इत्यादि कारणो से कार्य-व्यवस्था करना।

गुण से गुणी का अनुमान जैसे—कसौटी से सोने का, गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना।

---

१ न्यायसूत्र १।१।५

२ उपायहृदय पृ० १३

३ साख्यकारिका ५-६

४ माया पुत्त जहा नट्ठ जुवाण पुणरागय,
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई।
त जहा—खत्तेण वा वण्णेण वा लछणेण वा मसेण वा तिलएण वा।
—अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाण प्रकरण

अवयव से अवयवी का अनुमान जैसे—शृग से भैंसे का, दाँत से हाथी का, दाढ से वराह का, पख से मयूर का, खुर से घोडे का, केसर से सिंह का अनुमान किया जाता है।

आश्रित से आश्रय का अनुमान जैसे—धूम से अग्नि का, बगुले की पक्ति से पानी का, बादलो से वृष्टि का, शीलवृत्त से कुलपुत्र का अनुमान किया जाता है।

कारण और कार्य को लेकर दो भेद किये हैं पर गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, आश्रित और आश्रय के दो-दो भेद नही किये गये हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है यह आगम मर्मज्ञो के लिए चिन्तनीय है।

दृष्टसाधर्म्यवत्

सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट इस प्रकार इसके दो भेद है। किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान करना, या जाति के ज्ञान से किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। एक पुरुष को देखकर सभी पुरुषो का ज्ञान करना, या पुरुष जाति के ज्ञान से पुरुष विशेष का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है।

अनेक वस्तुओ मे से किसी एक वस्तु को अलग करके उसका परिज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे एक स्थान पर सैकडो पुरुष खडे हो, उनमे से किसी विशेष पुरुष को पहचानना कि यह वही पुरुष है जिसे पूर्व मैंने अमुक स्थान पर देखा था।

सामान्यदृष्ट उपमान के समान है और विशेषदृष्ट प्रत्यभिज्ञान के समान है।

अनुयोगद्वार मे काल की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद किये हैं। वे इस प्रकार है —

(१) अतीतकाल ग्रहण

घास व अन्य वनस्पतियो से लहलहाती पृथ्वी, जल से छलछलाते हुए कुण्ड, तालाब, नदी आदि को देखकर यह अनुमान करना यहाँ पर वर्षा बहुत अच्छी हुई।

(२) प्रत्युत्पन्नकाल ग्रहण

भिक्षा के समय सुगमता से अच्छी तरह मे भिक्षा खूब प्राप्त होने पर यह अनुमान करना कि यहाँ पर सुभिक्ष है।

अनुमान

अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् ये तीन भेद किये गये हैं। न्यायदर्शन[1], बौद्धदर्शन[2] और सांख्यदर्शन[3] ने भी ये तीन भेद माने हैं।

पूर्ववत्

पूर्वपरिचित हेतु द्वारा पूर्वपरिचित पदार्थ का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। एक माता अपने पुत्र को बाल्यकाल मे देखती है। पुत्र कही विदेश चला गया, वर्षों के पश्चात् वह लौटता है किन्तु कुछ समय तक माता उसे पहचान नही पाती किन्तु उसके शरीर पर कोई चिह्न देखकर शीघ्र ही उसे स्मृति हो आती है कि यह मेरा ही पुत्र है। यह है पूर्ववत् अनुमान[4]।

शेषवत्

शेषवत् अनुमान के (१) कार्य से कारण का अनुमान, (२) कारण से कार्य का अनुमान, (३) गुण से गुणी का अनुमान, (४) अवयव से अवयवी का अनुमान, (५) आश्रित से आश्रय का अनुमान। ये पाँच प्रकार हैं।

कार्य से कारण का अनुमान जैसे—शब्द से शख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित से वृषभ का अनुमान करना।

कारण से कार्य का अनुमान जैसे—तन्तु से ही पट होता है, पट से तन्तु नही, मिट्टी के पिण्ड से ही घडा बनता है, घडे से मिट्टी का पिण्ड नही इत्यादि कारणो से कार्य-व्यवस्था करना।

गुण से गुणी का अनुमान जैसे—कसौटी से सोने का, गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, आस्वाद से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना।

---

१ न्यायसूत्र १।१।५

२ उपायहृदय पृ० १३

३ साख्यकारिका ५-६

४ माया पुत्त जहा नट्ठ जुवाण पुणरागय,
काई पच्चभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणई।
त जहा—खत्तेण वा वण्णेण वा लछणेण वा मसेण वा तिलएण वा।
—अनुयोगद्वार सूत्र, प्रमाण प्रकरण

अवयव से अवयवी का अनुमान जैसे—शृग से भैसे का, दाँत से हाथी का, दाढ से वराह का, पख से मयूर का, खुर से घोडे का, केसर से सिंह का अनुमान किया जाता है।

आश्रित से आश्रय का अनुमान जैसे—धूम से अग्नि का, बगुले की पक्ति से पानी का, बादलो से वृष्टि का, शीलवृत्त से कुलपुत्र का अनुमान किया जाता है।

कारण और कार्य को लेकर दो भेद किये हैं पर गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, आश्रित और आश्रय के दो-दो भेद नही किये गये हैं, इसके पीछे क्या रहस्य है यह आगम मर्मज्ञो के लिए चिन्तनीय है।

३ धर्म्यवत्

सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट इस प्रकार इसके दो भेद है। किसी एक वस्तु के दर्शन से सजातीय सभी प्रकार की वस्तुओ का ज्ञान करना, या जाति के ज्ञान से किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। एक पुरुष को देखकर सभी पुरुषो का ज्ञान करना, या पुरुष जाति के ज्ञान से पुरुष विशेष का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है।

अनेक वस्तुओ मे से किसी एक वस्तु को अलग करके उसका परिज्ञान करना विशेषदृष्ट अनुमान कहलाता है। जैसे एक स्थान पर सैकडो पुरुष खडे हो, उनमे से किसी विशेष पुरुष को पहचानना कि यह वही पुरुष है जिसे पूर्व मैंने अमुक स्थान पर देखा था।

सामान्यदृष्ट उपमान के समान है और विशेषदृष्ट प्रत्यभिज्ञान के समान है।

अनुयोगद्वार मे काल की दृष्टि से अनुमान के तीन भेद किये हैं। वे इस प्रकार है —

(१) अतीतकाल ग्रहण

घास व अन्य वनस्पतियो से लहलहाती पृथ्वी, जल से छलछलाते हुए कुण्ड, तालाव, नदी आदि को देखकर यह अनुमान करना यहाँ पर वर्षा वहुत अच्छी हुई।

(२) प्रत्युत्पन्नकाल ग्रहण

भिक्षा के समय सुगमता से अच्छी तरह मे भिक्षा खूव प्राप्त होने पर यह अनुमान करना कि यहाँ पर सुभिक्ष है।

(३) अनागत काल ग्रहण

उमड-घुमडकर घनघोर घटाएँ आरही हो, विजली कौध रही हो, मेघ की गभीर गर्जना हो रही हो, रक्त और स्निग्ध सध्या फूल रही हो इन सभी को देखकर यह जान लेना कि अत्यधिक वर्षा होगी।

इन तीन लक्षणो से विपरीत लक्षणो को देखकर विपरीत अनुमान भी किया जा सकता है। सूखे जगलो को देखकर अनावृष्टि का, भिक्षा प्राप्त न होने पर दुर्भिक्ष का, वर्षा के लक्षणो को न देखकर वर्षा के अभाव का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान के अवयव

यद्यपि मूल आगमो मे अवयव की चर्चा नही है। दूसरो को समझाने के लिए अनुमान के हिस्सो का प्रयोग करना अवयव का अर्थ है। अनुमान का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए, वाक्यो की सगति उसके लिए किस प्रकार बैठानी चाहिए, अधिक से अधिक वाक्य के कितने प्रयोग हो सकते है, कम से कम कितने वाक्य का प्रयोग होना चाहिए। अवयव की चर्चा मे इन सभी पर विचार किया गया है। दशवैकालिकनिर्युक्ति मे अवयवो की चर्चा करते हुए दो से लेकर दस अवयवो के प्रयोग का समर्थन किया है।[1] दस अवयवो का दो प्रकार से प्रयोग बतलाया गया है।[2] दो अवयवो की परिगणना करते हुए उदाहरण का नाम दिया है, हेतु का नही।

दो—प्रतिज्ञा, उदाहरण

तीन—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण

पाँच—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसहार, निगमन

(१) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि उपसहार, उपसहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि।

(२) दस—प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशका, तत्प्रतिषेध, निगमन।

स्मरण रखना चाहिए कि दो, तीन और पाँच अवयवो के नाम वे ही

---

१ कत्थइ पचावयवय दसहा वा सव्वहा ण पडिकुत्थति।
—दशवैकालिक निर्युक्ति ५०

२ दशवैकालिक निर्युक्ति ९२

हैं जिनकी चर्चा अन्य दार्शनिको ने भी की है[1] किन्तु दस अवयवो के नामो का वर्णन आर्य भद्रबाहु के अतिरिक्त कही भी नही मिलता है ।[2]

उपमान

साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत ये उपमान के दो भेद हैं ।

साधर्म्योपनीत तीन प्रकार का है—(१) किञ्चित् साधर्म्योपनीत, (२) प्राय साधर्म्योपनीत और (३) सर्वसाधर्म्योपनीत ।

किञ्चित् साधर्म्योपनीत—जैसा—आदित्य है वैसा खद्योत है, जैसा खद्योत है वैसा आदित्य है । जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, जैसा कुमुद है वैसा चन्द्र है । ये उदाहरण किञ्चित् साधर्म्योपनीत उपमान के है, आदित्य और खद्योत का, कुमुद और चन्द्र का किञ्चित् साधर्म्य है ।

प्राय. साधर्म्योपनीत—जिस प्रकार गौ है वैसा गवय है, जिस प्रकार गवय है वैसा गौ है । गौ और गवय का यहाँ पर अत्यधिक साधर्म्य है ।

सर्वसाधर्म्योपनीत—किसी व्यक्ति की उपमा अन्य किसी व्यक्ति से न देकर उसी व्यक्ति से दी जाती है तब वह सर्वसाधर्म्योपनीत उपमान होता है, इन्द्र इन्द्र ही है, तीर्थंकर तीर्थंकर ही है, चक्रवर्ती चक्रवर्ती ही है ।

वैधर्म्योपनीत के भी तीन भेद है—किञ्चिद् वैधर्म्योपनीत, प्रायो-वैधर्म्योपनीत, और सर्ववैधर्म्योपनीत ।

किञ्चिद्वैधर्म्योपनीत—जैसे शावलेय है वैसा वाहुलेय नही है, जैसा वाहुलेय है वैसा शावलेय नही है ।

प्रायोवैधर्म्योपनीत—जैसा वायस (कौआ) है वैसा पायस (दूध) नही है । जैसा पायस है वैसा वायस नही है ।

सर्ववैधर्म्योपनीत—जैसे उत्तम पुरुष ने उत्तम पुरुष के समान ही कार्य किया । नीच ने नीच के समान ही कार्य किया । डा० मोहनलाल जी मेहता का मन्तव्य है कि ये उदाहरण ठीक नही है, कोई ऐसा उदाहरण देना चाहिए, जिसमे दो विरोधी वस्तुएं हो । नीच और सज्जन, दास और स्वामी आदि उदाहरण दिये जा सकते हैं ।[3]

---

१ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय निगमनान्यवयवा । —न्यायसूत्र १।१।३२

२ देखिए—जैनदर्शन डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५०

३ जैनदर्शन, डा० मोहनलाल मेहता पृ० २५१

आगम

आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये गये है—लौकिक आगम महाभारत, रामायण आदि और लोकोत्तर आगम सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा प्ररूपित आचाराग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती आदि हैं।[1]

लोकोत्तर आगम के सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम ये तीन भेद भी किये गये है।[2]

एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार और मिलते हैं—आत्मागम अनन्तरागम और परम्परागम।[3] आगम के अर्थरूप और सूत्ररूप ये दो प्रकार है। तीर्थंकर प्रभु अर्थरूप आगम का उपदेश करते हैं अत अर्थरूप आगम तीर्थंकरो का आत्मागम कहलाता है क्योकि वह अर्थागम उनका स्वय का है, दूसरो से उन्होने नही लिया है। किन्तु वही अर्थागम गणधरो ने तीर्थंकरो से प्राप्त किया है। गणधर और तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नही था, एतदर्थ गणधरो के लिए वह अर्थागम अनन्तरागम कहलाता है। किन्तु उस अर्थागम के आधार से गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[4] इसलिए सूत्रागम गणधरो के लिए आत्मागम कहलाता है। गणधरो के साक्षात् शिष्यो को गणधरो से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य मे कोई भी व्यवधान नही होता। इसलिए उन शिष्यो के लिए सूत्रागम अनन्तरागम है, किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है क्योकि वह उन्होने अपने धर्मगुरु गणधरो से प्राप्त किया है, किन्तु वह गणधरो को भी आत्मागम नही था, उन्होने भी तीर्थंकरो से

---

१ अनुयोगद्वार ४९-५०, पृ० ६८ पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित

२ अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।
—अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

३ अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। त जहा—अत्तागमे, अणतरागमे, परम्परागमे य।
—अनुयोगद्वार सूत्र ४७० पृ० १७९

४ (क) सुत्त गणहर रइय तहे पत्तेव बुद्धरइय च।
सुयकेवलिणा रइय अभिन्नदसपुव्विणा रइय॥
—श्री चन्द्रीया सग्रहणी गा० ११२

(ख) अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तइ॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ९२

प्राप्त किया था। गणधरो के प्रशिष्य और उनकी परम्परा मे होने वाले अन्य शिष्य प्रशिष्यो के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन आगमो मे प्रमाण के सम्बन्ध मे पर्याप्त चर्चा की गई है। ज्ञान के प्रामाण्य-अप्रामाण्य के विषय मे आगमो मे सुन्दर सामग्री का सकलन है। यह सत्य है कि आगम-साहित्य को आधार बनाकर ही वाद के आचार्यों ने तर्क के आधार पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप मे महत्त्वपूर्ण विश्लेषण किया है, वह अनूठा है, अपूर्व है।

प्रमाण का लक्षण

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है, प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान के दो प्रकार है— यथार्थ और अयथार्थ। जो ज्ञान सही निर्णायक है वह यथार्थ है, जिसमे सशय, विपर्यय आदि होता है वह अयथार्थ है। सशय आदि से रहित यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—'प्रमाया करण प्रमाणम्' प्रमा का करण (साधक) ही प्रमाण है। 'तद्वति तत्प्रकारानुभव प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ साधकतम है। एक अर्थ की सिद्धि के लिए अनेक सहकारी होते है किन्तु उन सभी सहकारियो को 'करण' नही कह सकते। 'करण' वह कहलाता है—जिसका व्यापार फल की सिद्धि मे विशेष रूप से उपकारक होता है। जैसे गन्ने को छीलने मे हाथ और चाकू दोनो चलते हैं, पर करण चाकू ही है। गन्ने को छीलने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है। हाथ साधक है और चाकू साधकतम है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण के सम्बन्ध मे दार्शनिको मे विवाद नही है किन्तु 'करण' के सम्बन्ध मे एकमत नही है। बौद्धदर्शन मे सारूप्य और

---

१ तित्थगराण अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणतरागमे, गणहरसीसाण सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परम्परागमे, तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणतरागमे परपरागमे।

—अनुयोगद्वार ४७० पृ० १७६

योग्यता को करण माना गया है।[1] नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनों को करण मानते हैं किन्तु जैनदर्शन ज्ञान को ही 'करण' मानता है।[2] सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ का परिज्ञान करने के लिए सहायक अवश्य हैं किन्तु ज्ञान सबसे अधिक निकट है और वही ज्ञान और ज्ञेय के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण की परिभाषा का विकास

आचार्यों ने प्रमाण की अनेक परिभाषाएँ निर्माण की हैं। जैनदृष्टि से 'निर्णायक ज्ञान' प्रमाण की आत्मा है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक मे लिखा है[3]—

"तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञान मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥"

पदार्थ का यथार्थ निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है। अन्य सभी विशेषण व्यर्थ हैं, तथापि परिभाषा के पीछे जो अनेक विशेषण लगे हैं, उसके प्रमुख तीन कारण हैं—

(१) दूसरो के प्रमाण लक्षण से अपने लक्षण को अलग करना।
(२) दूसरो के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण करना।
(३) बाधा का निराकरण।

न्यायावतार मे आचार्य सिद्धसेन ने 'स्व और पर को प्रकाशित करने वाले अबाधित ज्ञान को प्रमाण कहा है।'[4] मीमासक ज्ञान को स्वप्रकाशित नही मानते। उनकी दृष्टि मे ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। हम अर्थ को जानते

---

१ (क) न्यायबिन्दु १।१९।२०
(ख) बौद्ध दर्शन के अभिमतानुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारुप्य भी कहा जाता है।
"स्वसवित्ति फल चात्र तद् रूपादर्थ निश्चय।
विषयाकार एवास्य, प्रमाण तेन मीयते॥"
—प्रमाण समुच्चय पृ० २४
(ग) प्रमाण तु सारुप्य, योग्यता वा। —तत्वार्थ श्लोकवार्तिक १३-४४
२ न्यायभाष्य १।१।३
३ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।१०।७७
४ प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्। —न्यायावतार १

है इससे ज्ञात होता है कि अर्थ को जानने वाला ज्ञान है। अर्थ के परिज्ञान से ही ज्ञान का परिज्ञान होता है—यह परोक्ष ज्ञानवाद है।[1]

नैयायिक और वैशेषिकदर्शन ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके अभिमतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान को छोडकर अन्य सभी ज्ञान पर-प्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। साख्यदर्शन प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानता है। उनके मन्तव्यानुसार ज्ञान प्रकृति की पर्याय है, विकार है, एतदर्थ वह अचेतन है। एतदर्थ आचार्य सिद्धसेन ने 'स्वआभासि' शब्द देकर इन मान्यताओ का निरसन किया है। जैनदृष्टि से ज्ञान 'स्व-अवभासि'[2] है। उसका स्वरूप ज्ञान ही है। ज्ञान प्रमेय ही नही ईश्वर के ज्ञान की तरह प्रमाण भी है। ज्ञान अचेतन और जड प्रकृति का विकार नही है किन्तु आत्मा का गुण है।[3]

बौद्धदर्शन ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानता है, वाह्य पदार्थ को नही,[4] इस मत का निरसन करने के लिए सिद्धसेन ने 'पर-आभासि' शब्द का प्रयोग किया है और इससे सिद्ध किया है कि ज्ञान से भिन्न पदार्थों की भी सत्ता है।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान की भाँति वाह्य पदार्थो की पारमार्थिक सत्ता है।[5]

विपर्यय आदि कही प्रमाण न हो जाएँ इसलिए 'वाध विवर्जित' विशेषण का प्रयोग किया है।

इस प्रकार सिद्धसेन ने उस समय मे प्रचलित प्रमाण के लक्षणो से जैनलक्षण को पृथक् करने के लिए विशेषण का प्रयोग किया है।

जैनन्याय के प्रस्थापक अकलक ने प्रमाण के लक्षण मे कही 'अनधिगतार्थक' और 'अविसवादि' दोनो विशेषण प्रयोग किये है।[6] और

---

१ मीमासा श्लोकवार्तिक १८४-१८७
२ स्याद्वादमजरी कारिका १२
३ स्याद्वादमजरी १५
४ वसुवन्धुकृत विंशतिका
५ स्याद्वाद मजरी १६
६ प्रमाणमविसवादि ज्ञानम अनधिगतार्थाधिगम लक्षणत्वात् ॥
—अष्टशती पृ० १७५

कही 'स्वपरावभासक' विशेषण का भी समर्थन किया है ।[1] आचार्य अकलक का प्रतिबिम्ब आचार्य माणिक्यनन्दी पर पडा । उन्होने यह माना कि स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है ।[2] इसमे आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र द्वारा स्थापित और अकलक द्वारा विकसित जैन-परम्परा का सकलन किया है ।

वादिदेव सूरि ने स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण माना है ।[3] इन्होने माणिक्यनन्दी के 'अपूर्व' शब्द की ओर लक्ष्य नही दिया ।

उस समय दो धाराएँ प्रवाहित होने लगी । दिगम्बराचार्य गृहीत-ग्राही धारावाही ज्ञान को प्रमाण नही मानते तो श्वेताम्बर आचार्य उसे प्रमाण मानते । दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने स्पष्ट कहा—स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही हो ।[4]

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण सूत्र का परिष्कार ही नही किया किन्तु उन्होने अपनी मौलिक कल्पना और सूक्ष्मतर्कदृष्टि से ऐसी परिभाषा निर्माण की जो जैन प्रमाण लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप कहा जा सकता है । उन्होने लिखा—'अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है ।'[5]

अर्थ की दृष्टि से मौलिक मतभेद न होने पर भी सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यो के प्रमाण लक्षण मे शाब्दिक भेद है, जो विचार विकास का प्रतीक है, साथ ही उस समय के साहित्य की स्पष्ट प्रतिच्छाया भी उस पर है ।

ज्ञान और प्रमाण

उपर्युक्त प्रमाण के लक्षणो का अवलोकन करने से सहज ही ज्ञात होता है कि ज्ञान और प्रमाण मे अभेद है । ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है । ज्ञान स्वप्रकाशक होकर ही किसी पदार्थ को ग्रहण करता है । जैनदर्शन मे

---

१ उक्तच—सिद्ध यन्न परापेक्ष सिद्धौ स्वपररूपयो तत् प्रमाण ततो नान्यदाविकल्पमचेतनम् । —न्यायविनिश्चय टी० पृ० ६३

२ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम् । —परीक्षामुखमण्डन १।१

३ स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणम् । —प्रमाणनयतत्त्वालोक १।२

४ गृहीतमगृहीत वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम् । —श्लोकवार्तिक १।१०।७८

५ सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम् —प्रमाणमीमासा १।१।२

ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा है, दीपक घटादि पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ ही साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, उसको प्रकाशित करने के लिए दूसरे दीपक की आवश्यकता नही होती, वह स्वय प्रकाश रूप होता है। इसी तरह ज्ञान भी प्रकाशरूप है, जो स्वप्रकाश के साथ अर्थ को भी प्रकाशित करता है। जैन दार्शनिको ने निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है। वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो निश्चयात्मक हो, व्यवसायात्मक हो, निर्णयात्मक हो, सविकल्पक हो। न्यायविन्दु मे निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है[1] किन्तु जैनदर्शन ने उस मत का खण्डन करते हुए कहा है जो निर्विकल्प होता है वह प्रमाण और अप्रमाण कुछ भी नही होता। जहाँ विकल्प अर्थात् निश्चय या निर्णय होता है वही ज्ञान होता है। निर्विकल्पक उपयोग केवल दर्शन मात्र है। निश्चयात्मक उपयोग के बिना प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय नही हो सकता।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमे दो राय नही है किन्तु सत्य की परिभाषा सभी की अलग-अलग है। यथार्थ, अबाधितत्त्व, अप्रसिद्ध, अर्थख्यापन, या अपूर्व-अर्थप्रापण, अविसवादित्व या सवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्ति-सामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता ये सत्य की परिभाषाएँ विभिन्न दार्शनिको द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्व—बाधक प्रमाण के अभाव या कथनो के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते है।[2] आचार्य अभयदेव सन्मति-टीका मे इसका निरसन करते हैं।[3] आचार्य अकलक बौद्ध और मीमासक अप्रसिद्ध अर्थख्यापन अर्थात् अज्ञात अर्थ के ज्ञापन को प्रामाण्य का नियामक मानते है।[4] वादिदेवसूरि और हेमचन्द्राचार्य इसका निराकरण करते हैं।[5]

---

१ न्यायविन्दु का प्रथम प्रकरण
२ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १७५
३ सन्मति टीका पृ० ६१४
४ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १७५
५ (क) प्रमाणनयतत्त्वरत्नाकरावतारिका—१-२
(ख) प्रमाणमीमासा

सवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनो का व्यवहार सभी द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नही हो सकते। सवादकज्ञान प्रमेयाव्यभिचारीज्ञान की तरह व्यापक नही है। प्रत्येक निर्णय मे सत्य-तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णय मे सवादकज्ञान आवश्यक नही है, सत्य को वह कभी-कभी प्रकाश मे लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थसिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जब तक फलदायक परिणामो द्वारा प्रामाणिक नही हो जाता तब तक सत्य नही होता। यह भी पूर्ण सत्य नही है, क्योकि इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान का मेल होता है, कही पर वह सत्य का परीक्षण-प्रस्तर भी बनता है एतदर्थ इसे अमान्य नही कर सकते।

ज्ञान का प्रामाण्य

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है? और कौनसा मिथ्या है? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते है, वह प्रामाण्य क्या है? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभाषा क्या है?

उत्तर है—जैन-तार्किको ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय स्वत या परत माना है। किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वत माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे साधनो का सहारा लेना पडता है। मीमासक स्वत प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परत-प्रामाण्यवादी है। मीमासको का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वय प्रमाणरूप है, बाह्य-दोष के कारण ही उसमे अप्रामाण्य आता है। ज्ञान के प्रामाण्य-निश्चय के लिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नही है। प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वत होती है, एतदर्थ यह स्वत प्रामाण्यवाद कहलाता है। नैयायिक स्वत प्रामाण्यवाद को स्वीकार नही करता है। इस दर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी बाह्य आधार से ही किया जा सकता है। जो ज्ञान अर्थ से अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और जो व्यभिचारी है वह अप्रमाण है। बाह्य वस्तु ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य की कसौटी है, ज्ञान अपने-आप मे न प्रमाण है और न अप्रमाण है, वह जब वस्तु से मिलाया जाता है तब प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय होता है। जो वस्तु जैसी है वैसी ही परिज्ञात होना ज्ञान की प्रमाणता है। इससे विपरीत ज्ञान अप्रमाण है। यह नैयायिको का प्रस्तुत सिद्धान्त परत

प्रामाण्यवाद है। साख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनो स्वत है, नैयायिकदर्शन से बिल्कुल ही विपरीत इनका मत है। इन तीनो मान्यताओ से जैनदर्शन की मान्यता पृथक् है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रामाण्यनिश्चय स्वत और परत दोनो प्रकार से हो सकता है। स्वत या परत निश्चय होना परिस्थितिविशेष पर निर्भर है।[1] स्वत प्रामाण्यवाद को समझाने के लिए उदाहरण दिये गये हैं। एक व्यक्ति को प्यास लगी है। वह पानी पीता है और प्यास शान्त हो जाती है और वह समझ लेता है कि मैंने पानी पीया है। वह पानी था या नही, यह जानने के लिए दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नही। प्यास बुझ गई है, यह जानने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती। इस प्रकार जल-ज्ञान मे और पिपासा-शान्ति के ज्ञान मे स्वत ही प्रमाणता आती है। इसके विपरीत कितनी ही बार ऐसे प्रसग भी आते है जब अपने-आप ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही हो पाता है। इसके लिए उसे अन्य का सहारा लेना पडता है। जैसे कमरे मे लघुछिद्र है। उससे कुछ प्रकाश बाहर आरहा है। यह प्रकाश दीपक का है, मणि का है, बेट्री का है या मोमबत्ती का है, इसका निर्णय नही हो रहा है। कमरा खोला गया, मोमबत्ती को देखकर निर्णय हो जाता है कि यह प्रकाश मोमबत्ती का है। इस प्रकार मोमबत्ती विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है, इस निश्चय के लिए मोमबत्ती का आधार लेना पडा। जैनदर्शन स्वत प्रामाण्यवाद और परत प्रामाण्यवाद दोनो का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन करता है। अभ्यासावस्था आदि मे प्रामाण्य का निर्णय स्वत होता है और अनभ्यासदशा मे किसी अन्य आधार से होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परत होता है।[2]

प्रमाण का फल

प्रमाण के भेद-प्रभेदो पर चिन्तन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का क्या फल है ?

प्रमाणमीमासा मे प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थप्रकाश बताया है।[3]

---

१ (क) तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वत परतश्च।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।१८

(ख) प्रामाण्यनिश्चय स्वत परतो वा। —प्रमाणमीमासा १।१।८

२ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता, पृ० २५५-२५७

३ फलमर्थप्रकाश। —प्रमाणमीमासा १।१।३४

सवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनो का व्यवहार सभी द्वारा सम्मत है, परन्तु ये प्रामाण्य के प्रमुख नियामक नही हो सकते। सवादकज्ञान प्रमेयाव्यभिचारीज्ञान की तरह व्यापक नही है। प्रत्येक निर्णय मे सत्य-तथ्य के साथ ज्ञान भी आवश्यक है, वैसे प्रत्येक निर्णय मे सवादकज्ञान आवश्यक नही है, सत्य को वह कभी-कभी प्रकाश मे लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थसिद्धि का द्वितीय रूप है। वह जब तक फलदायक परिणामो द्वारा प्रामाणिक नही हो जाता तब तक सत्य नही होता। यह भी पूर्ण सत्य नही है, क्योकि इसके विना भी तथ्य के साथ ज्ञान का मेल होता है, कही पर वह सत्य का परीक्षण-प्रस्तर भी वनता है एतदर्थ इसे अमान्य नही कर सकते।

ज्ञान का प्रामाण्य

सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, पर प्रश्न यह है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है? और कौनसा मिथ्या है? ज्ञान को जिसके कारण प्रमाण कहते है, वह प्रामाण्य क्या है? प्रामाण्य और अप्रामाण्य की परिभाषा क्या है?

उत्तर है—जैन-तार्किको ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय स्वत या परत माना है। किसी समय प्रामाण्य का निश्चय स्वत माना है और किसी समय प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए दूसरे साधनो का सहारा लेना पडता है। मीमासक स्वत प्रामाण्यवादी है, नैयायिक परत-प्रामाण्यवादी है। मीमासको का स्पष्ट मन्तव्य है ज्ञान स्वय प्रमाणरूप है, वाह्य-दोष के कारण ही उसमे अप्रामाण्य आता है। ज्ञान के प्रामाण्य-निश्चय के लिए अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नही है। प्रामाण्य अपने आप उत्पन्न होता है और ज्ञात होता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वत होती है, एतदर्थ यह स्वत प्रामाण्यवाद कहलाता है। नैयायिक स्वत प्रामाण्यवाद को स्वीकार नही करता है। इस दर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण, इसका निर्णय किसी वाह्य आधार से ही किया जा सकता है। जो ज्ञान अर्थ मे अव्यभिचारी है, वह प्रमाण है और जो व्यभिचारी है वह अप्रमाण है। वाह्य वस्तु ही प्रामाण्य और अप्रामाण्य की कसौटी है, ज्ञान अपने-आप मे न प्रमाण है और न अप्रमाण है, वह जब वस्तु से मिलाया जाता है तव प्रमाण और अप्रमाण का निर्णय होता है। जो वस्तु जैसी है वैसी ही परिज्ञात होना ज्ञान की प्रमाणता है। इससे विपरीत ज्ञान अप्रमाण है। यह नैयायिको का प्रस्तुत सिद्धान्त परत

प्रामाण्यवाद है। साख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनो स्वत है, नैयायिकदर्शन से बिल्कुल ही विपरीत इनका मत है। इन तीनो मान्यताओ से जैनदर्शन की मान्यता पृथक् है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रामाण्यनिश्चय स्वत और परत दोनो प्रकार से हो सकता है। स्वत या परत निश्चय होना परिस्थितिविशेष पर निर्भर है।[1] स्वत प्रामाण्यवाद को समझाने के लिए उदाहरण दिये गये हैं। एक व्यक्ति को प्यास लगी है। वह पानी पीता है और प्यास शान्त हो जाती है और वह समझ लेता है कि मैंने पानी पीया है। वह पानी था या नही, यह जानने के लिए दूसरे किसी प्रमाण की आवश्यकता नही। प्यास बुझ गई है, यह जानने के लिए भी किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती। इस प्रकार जल-ज्ञान मे और पिपासा-शान्ति के ज्ञान मे स्वत ही प्रमाणता आती है। इसके विपरीत कितनी ही वार ऐसे प्रसग भी आते हैं जव अपने-आप ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नही हो पाता है। इसके लिए उसे अन्य का सहारा लेना पडता है। जैसे कमरे मे लघुछिद्र है। उससे कुछ प्रकाश वाहर आ रहा है। यह प्रकाश दीपक का है, मणि का है, वेट्री का है या मोमवत्ती का है, इसका निर्णय नही हो रहा है। कमरा खोला गया, मोमवत्ती को देखकर निर्णय हो जाता है कि यह प्रकाश मोमवत्ती का है। इस प्रकार मोमवत्ती विषयक ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है, इस निश्चय के लिए मोमवत्ती का आधार लेना पडा। जैनदर्शन स्वत प्रामाण्यवाद और परत प्रामाण्यवाद दोनो का भिन्न-भिन्न दृष्टि से समर्थन करता है। अभ्यासावस्था आदि मे प्रामाण्य का निर्णय स्वत होता है और अनभ्यासदशा मे किसी अन्य आधार से होने वाला प्रामाण्य-निश्चय परत होता है।[2]

प्रमाण का फल

प्रमाण के भेद-प्रभेदो पर चिन्तन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्रमाण का क्या फल है?

प्रमाणमीमासा मे प्रमाण का मुख्य प्रयोजन अर्थप्रकाश वताया है।[3]

---

१ (क) तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वत परतश्च।

—प्रमाणनयतत्त्वालोक १।१८

(ख) प्रामाण्यनिश्चय स्वत परतो वा। —प्रमाणमीमासा १।१।८

२ जैनदर्शन—डा० मोहनलाल मेहता, पृ० २५५-२५७

३ फलमर्थप्रकाश। —प्रमाणमीमासा १।१।३४

अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। बिना प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे इसी बात को यो कह सकते है कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है। सभी ज्ञानो का यही साक्षात् फल है। पर परम्परा-फल सब ज्ञानो का एक नही है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है और अवशेष ज्ञानो का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है।[1] सहस्ररश्मि सूर्य के उदय से अन्धकार का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, वैसे ही प्रमाण से अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह साधारण फल हुआ। अज्ञान विनष्ट होने से केवलज्ञानी को आत्म-सुख की उपलब्धि होती है और उसका ससार के पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव रहता है। कृतकृत्य होने के कारण केवली के लिए न कोई वस्तु उपादेय होती है, न हेय। अन्य व्यक्तियो के लिए अज्ञाननाश का फल निर्दोष वस्तु के प्रति ग्रहण-बुद्धि और सदोष वस्तु के प्रति त्याग-बुद्धि उत्पन्न होना है। अर्थात् सत्कार्य मे प्रवृत्ति होती है और असत्कार्य से निवृत्ति होती है।

प्रमाण-सख्या

प्रमाण की सख्या के विषय मे भारत के दार्शनिको मे एकमत नही रहा है। चार्वाकदर्शन एकमात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। साख्य-दर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रभाकर मीमासकदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने हैं। भट्ट मीमासादर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। बौद्धदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं।

जैनदर्शन मे प्रमाणो की सख्या के विषय मे तीन मत हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणो का उल्लेख है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं। उमास्वाति ने

---

१ प्रमाणस्य फल साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्ष, शेपस्यादानहानधी ॥ —न्यायावतार २८

तत्त्वार्थसूत्र मे, वादिदेव सूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक मे,[1] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा मे प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने हैं।[2]

बौद्ध दार्शनिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो भेद स्वीकार किये हैं।[3] जैनदर्शन ने अनुमान को परोक्ष का ही एक भेद माना है और परोक्ष के अनुमान, आगम आदि अनेक विभाग माने हैं। आगम आदि का अनुमान मे समावेश न होने के कारण बौद्धदर्शन का प्रमाण विभाजन अपूर्ण है। चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, परन्तु केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष के आधार पर हमारा ज्ञान पूर्ण नही हो सकता। अनुमान प्रमाण के अभाव मे यह ज्ञान प्रमाण है और यह प्रमाण नही है—इस प्रकार की व्यवस्था नही हो सकती। कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति की भाषा तथा शारीरिक चेष्टाओ से हम यह जान लेते हैं कि इस समय इसके अन्तर्मानस मे इस प्रकार की भावनाएँ कार्य करनी चाहिए। इस प्रकार दूसरे की चेष्टाओ से उसके मानस का जो ज्ञान हमे होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि अन्य प्रमाण नही है—इस प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष से नही हो सकता। बिना अनुमान के कार्यकारण भाव आदि की व्यवस्था नही हो सकती और न अन्य के अभिप्राय का परिज्ञान ही हो सकता है। न अपने पक्ष की सिद्धि हो सकती है और न परलोक आदि का निषेध ही किया जा सकता है।[4] इसलिए जैनदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष की मान्यता का विरोध करता है तथा अनुमान आदि सभी प्रमाणो को परोक्ष प्रमाण मे स्थान देता है।

जो ज्ञान यथार्थ है उसे ही प्रमाण कहा गया है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी ज्ञानो के लिए यही एक मात्र कसौटी है। जैनदृष्टि से सभी प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मे समा जाते हैं। अन्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान, आगम, उपमान, ये सभी परोक्षान्तंगत हैं। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नही है। अभाव प्रत्यक्ष का

---

१ तद् द्विभेद प्रत्यक्ष च परोक्ष च। —प्रमाणतनयत्त्वालोक २।१

२ प्रमाण द्विधा।
प्रत्यक्ष परोक्ष च। —प्रमाण मीमासा १।१।९-१०

३ प्रत्यक्षमनुमान च। —न्यायबिन्दु १।३

४ व्यवस्थान्यधीनिपेधाना सिद्धे प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धि। —प्रमाणमीमासा १।१।११

अर्थ का सम्यक् स्वरूप समझने के लिए प्रमाण का ज्ञान अनिवार्य है। बिना प्रमाण-अप्रमाण के विवेक के अर्थ के यथार्थ व अयथार्थ स्वरूप का परिज्ञान नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे इसी बात को यो कह सकते हैं कि प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान से निवृत्ति है। सभी ज्ञानो का यही साक्षात् फल है। पर परम्परा-फल सब ज्ञानो का एक नही है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है और अवशेष ज्ञानो का फल ग्रहण-बुद्धि और त्याग-बुद्धि है।[1] सहस्ररश्मि सूर्य के उदय से अन्धकार का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है, वैसे ही प्रमाण से अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह साधारण फल हुआ। अज्ञान विनष्ट होने से केवलज्ञानी को आत्म-सुख की उपलब्धि होती है और उसका ससार के पदार्थो के प्रति उपेक्षाभाव रहता है। कृतकृत्य होने के कारण केवली के लिए न कोई वस्तु उपादेय होती है, न हेय। अन्य व्यक्तियो के लिए अज्ञाननाश का फल निर्दोष वस्तु के प्रति ग्रहण-बुद्धि और सदोष वस्तु के प्रति त्याग-बुद्धि उत्पन्न होना है। अर्थात् सत्कार्य मे प्रवृत्ति होती है और असत्कार्य से निवृत्ति होती है।

प्रमाण-सख्या

प्रमाण की सख्या के विषय मे भारत के दार्शनिको मे एकमत नही रहा है। चार्वाकदर्शन एकमात्र इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। साख्य-दर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रभाकर मीमासकदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने हैं। भट्ट मीमासादर्शन मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण माने गये हैं। बौद्धदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं।

जैनदर्शन मे प्रमाणो की सख्या के विषय मे तीन मत हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणो का उल्लेख है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने है। उमास्वाति ने

---

१ प्रमाणस्य फल साक्षादज्ञानविनिवर्त्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्ष, शेषस्यादानहानधी ॥ —न्यायावतार २८

तत्त्वार्थसूत्र मे, वादिदेव सूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक मे,[1] आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा मे प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने हैं।[2]

बौद्ध दार्शनिको ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो भेद स्वीकार किये हैं।[3] जैनदर्शन ने अनुमान को परोक्ष का ही एक भेद माना है और परोक्ष के अनुमान, आगम आदि अनेक विभाग माने हैं। आगम आदि का अनुमान मे समावेश न होने के कारण बौद्धदर्शन का प्रमाण विभाजन अपूर्ण है। चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, परन्तु केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष के आधार पर हमारा ज्ञान पूर्ण नही हो सकता। अनुमान प्रमाण के अभाव मे यह ज्ञान प्रमाण है और यह प्रमाण नही है—इस प्रकार की व्यवस्था नही हो सकती। कल्पना कीजिए—किसी व्यक्ति की भाषा तथा शारीरिक चेष्टाओ से हम यह जान लेते हैं कि इस समय इसके अन्तर्मानस मे इस प्रकार की भावनाएँ कार्य करनी चाहिए। इस प्रकार दूसरे की चेष्टाओ से उसके मानस का जो ज्ञान हमे होता है वह प्रत्यक्ष से भिन्न है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि अन्य प्रमाण नही है—इस प्रकार निषेध भी प्रत्यक्ष से नही हो सकता। बिना अनुमान के कार्यकारण भाव आदि की व्यवस्था नही हो सकती और न अन्य के अभिप्राय का परिज्ञान ही हो सकता है। न अपने पक्ष की सिद्धि हो सकती है और न परलोक आदि का निषेध ही किया जा सकता है।[4] इसलिए जैनदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष की मान्यता का विरोध करता है तथा अनुमान आदि सभी प्रमाणो को परोक्ष प्रमाण मे स्थान देता है।

जो ज्ञान यथार्थ है उसे ही प्रमाण कहा गया है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि सभी ज्ञानो के लिए यही एक मात्र कसौटी है। जैनदृष्टि से सभी प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष मे समा जाते हैं। अन्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। अनुमान, आगम, उपमान, ये सभी परोक्षान्तंगत हैं। अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नही है। अभाव प्रत्यक्ष का

---

१ तद् द्विभेद प्रत्यक्ष च परोक्ष च। —प्रमाणतनयत्त्वालोक २।१

२ प्रमाण द्विधा।
प्रत्यक्ष परोक्ष च। —प्रमाण मीमासा १।१।६-१०

३ प्रत्यक्षमनुमान च। —न्यायबिन्दु १।३

४ व्यवस्थान्यधीनिषेधाना सिद्धे प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धि। —प्रमाणमीमासा १।१।११

ही एक अश है। वस्तु भाव और अभाव उभयात्मक है। दोनो का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही होता है। जहाँ हम किसी के भावाश का ग्रहण करते हैं वहाँ उसके अभावाश का भी ग्रहण हो जाता है। वस्तु भाव और अभाव इन दो रूपो के अतिरिक्त तीसरे रूप मे नही मिलती। जिस दृष्टि से एक वस्तु भाव रूप है, दूसरी दृष्टि से वह अभाव रूप है। भाव रूप ग्रहण के साथ अभाव रूप का भी ग्रहण हो जाता है। अतएव दोनो अश प्रत्यक्षग्राह्य हैं। अत अभाव प्रमाण की आवश्यकता नही। दूसरे शब्दो मे कहे 'इस टेबल पर पुस्तक नही है' यह अभाव का दृष्टान्त है। यहाँ पर अभाव प्रमाण पुस्तका-भाव को ग्रहण करना है। यह पुस्तकाभाव क्या है ? इस पर हम चिन्तन करे तो स्पष्ट होगा कि यह पुस्तकाभाव शुद्ध टेवल के अतिरिक्त कुछ भी नही है। जिस टेवल पर हमने पूर्व पुस्तक देखी थी, उसी टेवल को हम शुद्ध टेवल के रूप मे देख रहे हैं। यह शुद्ध टेवल ही पुस्तकाभाव है, इसका दर्शन प्रत्यक्ष हो रहा है। तात्पर्य यह है कि अभाव प्रत्यक्ष से भिन्न नही है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य या स्पष्टता माना है।[1] सिद्धसेन दिवाकर ने अपरोक्ष रूप से अर्थ का ग्रहण करना प्रत्यक्ष माना है।[2] इस लक्षण मे परोक्ष का स्वरूप जब तक समझ मे नही आ जाता, तब तक प्रत्यक्ष का स्वरूप समझा नही जा सकता। अकलकदेव ने न्यायविनिश्चय मे स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।[3] उनके लक्षण मे 'साकार' और 'अञ्जसा' पद आये हैं अर्थात् साकार ज्ञान जब अञ्जसा-स्पष्ट परमार्थ रूप से विशद हो तब वह प्रत्यक्ष कहलाता है। जैनदर्शन मे वैशेषिकदर्शन की भाँति सन्निकर्ष को या बौद्धदर्शन की तरह कल्पनापोढत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नही माना गया है।

वैशद्य किसे कहते हैं ? जिस प्रतिभास के लिए किसी अन्य ज्ञान की

---

१ (क) विशद प्रत्यक्षम्। —प्रमाणमीमासा १।१।१३
(ख) स्पष्ट प्रत्यक्षम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।२
(ग) विशद प्रत्यक्षमिति। —परीक्षामुख २।३

२ अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेय परोक्ष ग्रहणेक्षया॥ —न्यायावतार श्लोक ४

३ प्रत्यक्षलक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमञ्जसा। —न्यायविनिश्चय श्लो० ३

आवश्यकता न हो अथवा 'यह'—इदन्तया—प्रतिभासित होना वैशद्य है।[1] जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्ति मे लिंगज्ञान, व्याप्ति, स्मरण आदि की अपेक्षा रखते है वैसे प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति मे किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नही रखता। यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष मे विशेषता है। अनुमान, आगम आदि प्रमाण अपने-आप मे पूर्ण-ज्ञानान्तर निरपेक्ष नही है क्योकि उनका आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अपने-आप मे पूर्ण है। उसे किसी अन्य ज्ञान के सहयोग की आवश्यकता नही होती। 'यह' का अर्थ स्पष्ट प्रतिभास है। जिस प्रतिभास मे स्पष्टता का अभाव हो, मध्य मे व्यवधान हो, एक प्रतीति के आधार से द्वितीय प्रतीति तक पहुँचना पडता हो, वह प्रतिभास 'यह' एतद्रूप प्रतिभास नही है। इस प्रकार व्यवहित प्रतिभास परोक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष मे इस प्रकार का व्यवधान नही होता।

प्रत्यक्ष के दो प्रकार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाए है—(१) आत्म-प्रत्यक्ष (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। पहली शाखा परमार्थाश्रयी है, एतदर्थ यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी शाखा व्यवहाराश्रयी है एतदर्थ यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के भी दो भेद है—(१) केवलज्ञान—पूर्ण या सकल प्रत्यक्ष, (२) नोकेवलज्ञान—अपूर्ण या विकल प्रत्यक्ष।

नोकेवलज्ञान के अवधि और मन पर्यंव ये दो भेद हैं।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के (१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा—ये चार भेद है।

इन्द्रिय, मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिये बिना ही आत्मा को पदार्थ का जो साक्षात् ज्ञान होता है, वह आत्मप्रत्यक्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष या नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है।

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के

---

१ (क) प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम्।

—प्रमाणमीमासा १।१।१४

(ख) प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेपवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम्।

—परीक्षामुख २।४

(ग) अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्य मत बुद्धेरवैशद्यमत परम्॥

—लघीयस्त्रय ४

लिए प्रत्यक्ष है, और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या सव्यवहार प्रत्यक्ष कहते है। इन्द्रियाँ धूम आदि लिग का सहारा लिए बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं इसलिए वह इन्द्रियप्रत्यक्ष होता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने जो 'अपरोक्षतया अर्थ-परिच्छेदक ज्ञान'[1] को प्रत्यक्ष लिखा है, उसमे 'अपरोक्ष' शब्द महत्त्वपूर्ण है क्योकि नैयायिक इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उन्होने 'अपरोक्ष' शब्द से इस लक्षण के प्रति असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान साक्षात् आत्मा (प्रमाता) से नही होता, एतदर्थ वह प्रत्यक्ष नही है। सिद्धसेन की प्रस्तुत निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती[2] और स्थानाङ्ग[3] की प्रमाण व्यवस्था है।

आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य अकलक और आचार्य माणिक्यनन्दी आदि ने विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष लिखा है।[4] अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' मे स्थान देने का कारण उनकी प्रमाण परिभाषा मे व्यवहारदृष्टि का भी आश्रयण है जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है।[5] इसके अभिमतानुसार प्रत्यक्ष के दो प्रकार हैं—मुख्य और सव्यवहार। जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करता है वह मुख्य प्रत्यक्ष है। सव्यवहार-प्रत्यक्ष मे अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमे 'अपरोक्षतया-अर्थ-ग्रहण' लक्षण नही बनता, इसलिए दोनो की सगति बिठाने के लिए 'विशद' शब्द का प्रयोग करना पडा है।

'विशद' शब्द का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा और 'यह' है इस प्रकार प्रतिभासित होना। सव्यवहार-प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक विशेषो का प्रकाशक होता है, इसलिए वह अधिक विशुद्ध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' विशेषण का वेदान्त के और 'विशद' का बौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, तथापि उसके विषय-ग्राहक स्वरूप मे

---

१ न्यायावतार ४
२ भगवती ४।३
३ स्थानाङ्ग ५।३
४ देखिए पृष्ठ ३९१ पर १
५ नन्दीसूत्र २-३

मौलिक अन्तर है। वेदान्त की दृष्टि से पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्त करण (आन्तरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है।[1] अन्त करण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने विशुद्ध-साक्षी चैतन्य से उसे द्योतित करता है तब प्रत्यक्षज्ञान होता है।[2]

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष मे ज्ञान और ज्ञेय के मध्य मे कोई अन्य शक्ति नही होती। शुद्ध चैतन्य से अन्त करण को प्रकाशित माने और अन्त करण की पदार्थाकार परिणति माने, यह प्रक्रियाभेद है। अन्त मे शुद्ध चैतन्य से एक को प्रकाशित मानना ही हैं तब पदार्थ को ही क्यो न माने।

बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानता है। जैनदर्शन के अनुसार निर्विकल्पबोध (दर्शन) निर्णायक नही होता एतदर्थ वह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण भी नही बनता।[3]

हम बता चुके हैं कि जैनदार्शनिको ने प्रत्यक्ष का दो दृष्टियो से निरूपण किया है—पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि[4] से। अत पारमार्थिक प्रत्यक्ष के सकल-प्रत्यक्ष और विकल-प्रत्यक्ष ये दो भेद हैं तथा व्यावहारिक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन सबका तथा इनके भेद-प्रभेदो का निरूपण 'ज्ञानवाद' प्रकरण मे किया जा चुका है।

परोक्ष

जो ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अविशद या अस्पष्ट है वह परोक्ष प्रमाण है।[5] परोक्ष प्रत्यक्ष से ठीक विपरीत है। जिसमे वैशद्य या स्पष्टता का अभाव है वह परोक्ष है। परोक्ष प्रमाण पाँच प्रकार का है—स्मरण-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।[6] सभी जैन-तार्किको ने

---

१ अन्त करण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहा जाता है।

२ वेदान्त में ज्ञान के दो प्रकार हैं—साक्षि ज्ञान और वृत्तिज्ञान। अन्त करण की वृत्तियो को प्रकाशित करने वाला ज्ञान 'साक्षि-ज्ञान' है और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्ति-ज्ञान' कहलाता है।

३ जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व—भाग १, पृ० २६४-२६५

४ तद् द्विप्रकार साव्यवहारिक पारमार्थिक च। —प्रमाणनयतत्त्वालोक २।४

५ (क) अविशद परोक्षम्। —प्रमाणमीमासा १।२।१

(ख) अस्पष्ट परोक्षम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।१

६ स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पचप्रकारम्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।२

परोक्ष प्रमाण के उक्त पाँच भेद किये है। परन्तु अकलकदेवकृत न्यायविनिश्चय के टीकाकार वादिराजसूरि ने अपने 'प्रमाण-निर्णय'[१] नामक निवन्ध मे परोक्ष के अनुमान और आगम ये दो भेद किये हैं। अनुमान के दो भेद किये हैं—गौण और मुख्य। गौण अनुमान के तीन प्रकार हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञा और तर्क। स्मरण प्रत्यभिज्ञा मे कारण है, प्रत्यभिज्ञा तर्क मे कारण है और तर्क अनुमान मे कारण है। इस प्रकार ये तीनो परम्परा से अनुमान प्रमाण के कारण है, एतदर्थ इन्हे गौण प्रमाण मानकर वादिराज ने अनुमान मे सम्मिलित कर लिया है। इसका कारण यही है कि अकलक ने न्यायविनिश्चय मे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद करके शेष तीन परोक्ष प्रमाणो को अनुमान मे गर्भित किया है।

चार्वाक मत का खण्डन

चार्वाक प्रत्यक्ष और उसमे भी केवल इन्द्रियज-प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न किसो अन्य प्रमाण की सत्ता नही मानता। प्रमाण का लक्षण अविसवाद करके उसने यह बताया है इन्द्रियप्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य ज्ञान सर्वथा अविसवादी नही होते। अनुमान आदि प्रमाण प्राय सभावना पर चलते है, कारण कि देश, काल और आकार के भेद से प्रत्येक पदार्थ की अनन्त शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमे अविनाभाव व अव्यभिचार का ढूँढना अत्यन्त कठिन है। जो आँवले कषायरसवाले है वे देशान्तर, कालान्तर और द्रव्यान्तर का सम्बन्ध होने से मधुर रस वाले भी हो सकते हैं, इसलिए अनुमान का शत-प्रतिशत अविसवादी होना असभव है। स्मरण आदि प्रमाणो के सम्बन्ध मे भी यही बात है।

किन्तु यह चार्वाकमत सगत नही है। जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है अनुमान प्रमाण को माने विना प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेक ही नही किया जा सकता। अविसवाद के आधार से कुछ ज्ञानो मे प्रमाणता की व्यवस्था करना और कुछ ज्ञानो को अविसवाद के अभाव मे अप्रमाण कहना भी तो अनुमान ही है। इसके सिवाय दूसरे व्यक्ति की बुद्धि का ज्ञान अनुमान के बिना नही हो सकता क्योंकि बुद्धि का इन्द्रियो के द्वारा

---

१ तच्च द्विविधमनुमानमागमश्चेति। अनुमानमपि द्विविध गौण मुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमान त्रिविध स्मरण प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। तच्च चानुमानत्व यथापूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिवन्धनत्वात्। —प्रमाणनिर्णय पृ० ३३१

प्रत्यक्ष असभव है। वचन-प्रयोग, तथा कार्यों को देखकर ही उसका अनुमान किया जाता है।[1] जिन कार्यकारणभावो या अविनाभावो का निर्णय हम न कर सकें, या जिनमे व्यभिचार देखा जाय उनसे पैदा होने वाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय किन्तु अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव आदि के आधार से उत्पन्न होने वाला अनुमान अपनी सीमा मे विसवादी नही हो सकता। चार्वाक को परलोक आदि के निषेध के लिए भी अनुमान का ही आश्रय लेना पडता है। यदि सीमित क्षेत्र मे पदार्थों के सुनिश्चित कार्य-कारणभाव न बिठाये जा सकें तो ससार का सम्पूर्ण व्यवहार ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। यह उचित है कि जो अनुमान आदि विसवादी सिद्ध हो उन्हे अनुमानाभास कहा जाय किन्तु इससे निर्दिष्ट अविनाभाव के आधार से उत्पन्न होने वाला अनुमान कभी गलत नही हो सकता। प्रमाता जितना अधिक कुशल होगा उतना ही वह सूक्ष्म और स्थूल कार्य-कारणभाव को जानता है। व्यवहार के लिए हमे आप्त-वाक्य की प्रमाणता माननी ही पडती है अन्यथा सम्पूर्ण सासारिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जायेगे। मानव के ज्ञान की कोई सीमा नही है इसलिए अपनी मर्यादा मे परोक्ष ज्ञान भी अविसवादी होने से प्रमाण ही है।[2]

स्मरण-स्मृति

वासना का उद्‌बोध होने पर उत्पन्न होने वाला 'वह' इस आकार वाला ज्ञान स्मृति है।[3] अतीत के अनुभव का स्मरण स्मृति है। किसी ज्ञान या अनुभव के सस्कार के जागरण मे उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहलाता है। वासना की जागृति के समानता, विरोध आदि अनेक कारण हैं जिनसे वासना उद्‌बुद्ध होती है। क्योकि स्मृति अतीत के अनुभव का स्मरण है इसलिए 'वह' इस तरह का ज्ञान स्मृति की विशेषता है।

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्राच्यदर्शन स्मृति को प्रमाण

---

१ प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते।
प्रमाणान्तरसद्‌भाव प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥
—धर्मकीर्ति, प्रमाण मीमासा, पृ० ८

२ जैनदर्शन डा० महेन्द्रकुमार जैन पृ० २९४-२९५

३ (क) वासनोद्‌बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृति। —प्रमाणमीमासा १।२।३
(ख) सस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति। —परीक्षामुख ३।३

नही मानता है। जो दर्शन स्मृति को प्रमाण नही मानते हैं उनका मन्तव्य है कि स्मृति प्रमाण नही हो सकती क्योकि स्मृति का विषय अतीत का अर्थ है जो नष्ट हो चुका है। उसका ज्ञान वर्तमान मे कैसे प्रमाण कहा जा सकता है ? जिस ज्ञान का कोई विषय नही, जिसका वर्तमान मे कोई आधार नही, वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? बिना विपय के ज्ञानोत्पत्ति किस प्रकार सभव है ? इन सभी प्रश्नो के उत्तर मे यही कहा जाता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का आधार वस्तु की वर्तमानता नही किन्तु उसकी यथार्थता है। यदि ज्ञान पदार्थ की वास्तविकता को ग्रहण करता है तो प्रमाण है। तीनो कालो मे रहने वाला पदार्थ ज्ञान का विषय बन सकता है। यदि वर्तमानकालीन पदार्थ को ही ज्ञान का विषय मानते हैं तो अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता क्योकि वह भी त्रैकालिक वस्तु को ग्रहण करता है। केवल वर्तमान के आधार से ही अनुमान नही होता। अतीत के अर्थ को ग्रहण करने वाली स्मृति यदि यथार्थ है तो प्रमाण है। ज्ञान इसीलिए प्रमाण है कि वह यथार्थता को ग्रहण करता है। वर्तमान, अतीत और अनागत तीनो कालो मे यथार्थता रह सकती है इसलिए वह प्रमाण है।

विरोधी दार्शनिको का तर्क है कि जो वस्तु नष्ट हो चुकी है वह वस्तु ज्ञानोत्पत्ति का कारण किस प्रकार हो सकती है ? उत्तर मे जैनदर्शन का कथन है कि वह पदार्थ को ज्ञानोत्पत्ति का कारण नही मानता। ज्ञान अपने कारणो से पैदा होता है और पदार्थ अपने कारणो से पैदा होता है। ज्ञान मे इस प्रकार की शक्ति है कि वह पदार्थ से न उत्पन्न होकर भी पदार्थ को अपना विषय बना सकता है। पदार्थ का भी इस प्रकार का स्वभाव है कि वह ज्ञान का विषय बन सकता है। पदार्थ और ज्ञान मे कारण और कार्य का सम्बन्ध नही है। उनमे ज्ञेय और ज्ञाता, प्रकाश्य और प्रकाशक, व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक का सम्बन्ध है। इन सभी तथ्यो को ध्यान मे रखकर स्मृति को प्रमाण मानना तर्कसगत है। स्मृति को प्रमाण न मानने से अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता क्योकि लिंग और लिंगी का सम्बन्ध-ग्रहण भी केवल प्रत्यक्ष का विषय नही है। अनेक बार अवलोकन के पश्चात् निश्चित होने वाला लिंग और लिंगी का सम्बन्ध स्मृति के अभाव मे किस प्रकार स्थापित हो सकता है ? लिंग को देखकर साध्य का ज्ञान भी विना स्मृति के नही हो सकता। सम्बन्ध स्मरण के विना अनुमान बिलकुल ही असभव है।

प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यक्ष और स्मरण की सहायता से जो जोड रूप ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है।[1] जैसे—'यह वही देवदत्त है', 'गवय गौ के समान होता है', 'भैंस गाय से विलक्षण होती है', 'यह उससे दूर है', इत्यादि। जितने भी जोड रूप ज्ञान होते हैं वे सब प्रत्यभिज्ञान हैं। इन उदाहरणो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामने देवदत्त को देखकर पूर्व देखे हुए देवदत्त का स्मरण आने से यह ज्ञान होता है कि यह वही देवदत्त है। इस ज्ञान के होने मे प्रत्यक्ष और स्मरण कारण होते हैं। यह ज्ञान पूर्व देखे हुए देवदत्त मे और वर्तमान मे सामने उपस्थित देवदत्त मे रहने वाले एकत्व को विषय करता है इसलिए इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। किसी मानव ने गवय नामक पशु देखा। देखते ही उसे पूर्व देखी हुई गौ का स्मरण हुआ। उसके बाद 'गौ के समान यह गवय है' इस प्रकार ज्ञान हुआ। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। भैंस को देखकर गौ का स्मरण आने पर 'भैंस गौ से विलक्षण होती है,' इस प्रकार होने वाला यह ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण के विषयभूत पदार्थो मे परस्पर की अपेक्षा को लिए हुए जितने भी जोड रूप ज्ञान होते हैं, जैसे यह उससे दूर है, यह उससे पास है, यह इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है, ये सब ज्ञान प्रत्यभिज्ञान सकलनात्मक होने से प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत है।

बौद्धदर्शन प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानता है, अत क्षणिकवादी होने के कारण वह प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नही मानता। उसका मन्तव्य है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओ मे रहने वाला जब कोई एकत्व अर्थात् स्थिर पदार्थ ही नही है तब उसको विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण किस प्रकार हो सकता है? अतीतकाल की अनुभूत वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गई और अब वर्तमान मे जो वस्तु है, वह उसके सदृश अन्य ही वस्तु है, अत प्रत्यभिज्ञान उस अतीत काल की वस्तु को वर्तमान मे नही देखता, अपितु

---

१ (क) दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञान। तदेवेद, तत्सदृश, तद्विलक्षण, तत्प्रतियोगीत्यादि।
—परीक्षामुख ३।५

(ख) दर्शनस्मरणसभव तदेवेद, तत्सदृश, तद्विलक्षण, तत्प्रतियोगीत्यादि सकलन प्रत्यभिज्ञानम्।
—प्रमाणमीमासा १।२।४

उसके सदृश अन्य वस्तु को जान रहा है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो वह प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञानो का समुच्चय है। 'यह' इस अश को विषय करने वाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वही' इस अश को विषय करने वाला ज्ञान स्मरण है। इस प्रकार वह एक ज्ञान नही किन्तु दो ज्ञान हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञान को एक ज्ञान मानने को प्रस्तुत नही हैं। इसके विपरीत नैयायिक, वैशेपिक और मीमासक एकत्व विपयक प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानते है, किन्तु वे उस ज्ञान को स्वतन्त्र एव परोक्ष प्रमाण न मान कर प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैनदर्शन का मन्तव्य है कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धो के समान अप्रमाण है और न नैयायिक वैशेपिकदर्शन की तरह प्रत्यक्ष ही है किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मृति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला तथा अपनी पूर्व तथा उत्तर पर्यायो मे रहने वाले एकत्व एव सादृश्य आदि को विषय करने वाला स्वतन्त्र परोक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष केवल वर्तमान पर्याय को विषय करता है। स्मरण अतीत पर्याय को ग्रहण करता है किन्तु प्रत्यभिज्ञान ऐसा प्रमाण है जो उभय पर्यायवर्ती एकत्वादि को विषय करने वाला सकलनात्मक ज्ञान है। यदि पूर्व और उत्तर पर्यायव्यापी एकत्व का अपलाप करेंगे तो कही भी एकत्व का प्रत्यय न होने से एक सन्तान की सिद्धि नही हो सकेगी। स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञान का विपय एकत्वादि वास्तविक होने से वह प्रमाण ही है, अप्रमाण नही। जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण माना है।

तर्क

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तक व्याप्ति ज्ञान तर्क है। इसे ऊह भी कहते है।[1] जिसे जैनसिद्धान्त मे चिन्ता कहा है उसे ही दार्शनिक क्षेत्र मे तर्क कहा है। अमुक वस्तु के होने पर ही अमुक दूसरी वस्तु का होना या पाया जाना उपलभ कहलाता है और एक के अभाव मे किसी दूसरी वस्तु का न होना या न पाया जाना अनुपलभ कहलाता है। जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना और अग्नि के अभाव मे धूम का न होना।

साध्य तथा साधन के अविनाभाव को *व्याप्ति* कहते हैं। उपलम्भ और अनुपलम्भ रूप जो व्याप्ति है, उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान तर्क है।

---

१ उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह। —प्रमाणमीमासा १।२

प्राय सभी दार्शनिको ने तर्क को प्रमाण स्वीकार किया है। तर्क के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के सम्बन्ध मे न्यायदर्शन का मन्तव्य है कि तर्क न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण चतुष्टय के अन्तर्गत कोई प्रमाण हे और न प्रमाणान्तर, क्योकि वह अपरिच्छेदक है किन्तु परिच्छेदक प्रमाणो के विषय का विभाजक होने से वह उनका अनुग्राहक है अर्थात् सहकारी है। दूसरे शब्दो मे कहना चाहे तो प्रमाण से जाना हुआ पदार्थ तर्क के द्वारा परिपुष्ट होता है। प्रमाण पदार्थो को जानते है पर तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणता को स्थिर करने मे सहायता देता है। इसी कारण न्यायदर्शन मे तर्क को सभी प्रमाणो के सहायक रूप मे माना है परन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य उदयन ने और उपाध्याय वर्द्धमान आदि ने विशेष रूप से अनुमान प्रमाण मे ही व्यभिचार-शका निवर्तक रूप से तर्क को माना है। व्याप्ति ज्ञान मे भी तर्क को उपयोगी स्वीकार किया है। इस प्रकार न्यायदर्शन मे तर्क की मान्यताएँ अनेक प्रकार से प्राप्त होती हैं किन्तु न्यायदर्शन उसे स्वतन्त्र प्रमाण रूप से स्वीकार नही करता है। बौद्धदर्शन ने तर्क को व्याप्तिग्राहक मानकर भी उसे प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण ही माना है। मीमासक दर्शन ने तर्क को प्रमाण कोटि मे माना है, परन्तु जैन दार्शनिक प्रारम्भ से ही तर्क को परोक्ष प्रमाण मानते रहे हैं। उन्होने तर्क को सकलदेशकालव्यापी अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना है। व्याप्तिग्रहण प्रत्यक्ष से नही हो सकता क्योकि प्रत्यक्ष सम्बद्ध और वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है जवकि व्याप्ति सकल देशकाल के उपसहार पूर्वक होती है।

अनुमान भी तर्क के स्थान को ग्रहण नही कर सकता क्योकि अनुमान का आधार ही तर्क है। जव तक तर्क से व्याप्तिज्ञान न हो जाय तव तक अनुमान की प्रवृत्ति ही असम्भव है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो तर्क ज्ञान के अभाव मे अनुमान की कल्पना ही नही हो सकती। अनुमान स्वय तर्क पर प्रतिष्ठित है। इसलिए तर्क का स्थान अनुमान नही ले सकता। जो ज्ञान जिससे पहले उत्पन्न होता है और उसका आधार भी वही है वह ज्ञान तद्रूप नही हो सकता। यदि इस प्रकार होगा तो पूर्व और पश्चात् का, आधार और आधेय का सम्बन्ध ही नष्ट हो जायेगा। इसलिए तर्क अनुमान से भिन्न है व स्वतन्त्र है।

अनुमान

साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान प्रमाण कहते हैं।[1] साधन को लिंग और साध्य को लिंगी भी कहते हैं, अत इस प्रकार भी कह सकते हैं कि लिंग से लिंगी के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।[2] लिंग का अर्थ चिन्ह है और लिंगी का अर्थ उस चिन्ह वाला है। जैसे धूम से अग्नि को जान लेना अनुमान है। यहाँ धूम साधन अर्थात् लिंग है, अग्नि साध्य अर्थात् लिंगी है। अग्नि का चिह्न धूम है। किसी स्थल पर धुआँ उठता हुआ दिखलाई देता है तो ग्रामीण लोग धुएँ को देखकर सहज ही यह अनुमान कर लेते हैं कि वहाँ पर आग जल रही है। बिना अग्नि के धुआँ नही उठ सकता। इसलिए ऐसे किसी अविनाभावी चिह्न को निहार कर उस चिह्न वाले को जान लेना अनुमान है।

साधन या लिंग इस प्रकार का होना चाहिए, जो साध्य या लिंगी का अविनाभावी रूप से सुनिश्चित हो अर्थात् जो साध्य के होने पर ही हो और साध्य के न होने पर न हो। ऐसा साधन ही साध्य की सम्यक् प्रतीति कराता है। अकलकदेव ने साधन या लिंग को 'साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षण' कहा है। अर्थात् साध्य के साथ सुनिश्चित अविनाभाव ही साधन का प्रधान लक्षण है। सक्षेप मे इसे अन्यथानुपपत्ति भी कह सकते हैं।[3] अन्यथा अर्थात् साध्य के अभाव मे साधन की अनुपपत्ति अर्थात् न होना। जो साध्य के अभाव मे नही रहता हो और साध्य के सद्भाव मे ही रहता हो वही सच्चा साधन है। साधन को हेतु भी कहते हैं।

चार्वाकदर्शन को छोडकर शेष सभी पौवार्त्यदर्शनो ने अनुमान को प्रमाण माना है। चार्वाक दार्शनिक अनुमान को इसीलिए प्रमाण नही मानते है क्योकि वे किसी अतीन्द्रिय पदार्थ मे विश्वास नही करते। जिन दर्शनो ने अनुमान को प्रमाण माना है, उन्होने अनुमान के दो भेद किये हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान।

---

१ (क) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्। —प्रमाणमीमासा १।२।७

(ख) साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्। —परीक्षामुख ३।१४

२ लिङ्गात् साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् लिङ्गिधीरनुमान। —लघीयस्त्रय ३।२२

३ अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण लिङ्गमभ्यते। —प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२

स्वार्थानुमान

साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले सुनिश्चित साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थानुमान है।[1]

सहभावी और क्रमभावी कार्यों का क्रमभाव और सहभावविषयक जो नियम है वह भी अविनाभाव है। कितने ही कार्य सहभावी होते है और कितने ही क्रमभावी होते हैं। रूप और रस सहभावी हैं। रूप को निहार कर रस का अनुमान करना या रस-दर्शन से रूप का अनुमान करना सह-भावी अविनाभाव है। एक के होने के पश्चात् दूसरे का होना क्रमभाव है। कृत्तिका नक्षत्र का उदय होने के बाद शकट का उदय होना क्रमभावी अवि-नाभाव है। कारण और कार्य का सम्बन्ध भी क्रमभाव के अन्तर्गत है। आग से धुएं की उत्पत्ति क्रमभावी अविनाभाव है। इस तरह जिन पदार्थो मे जिस प्रकार का अविनाभाव हो उसे तर्क प्रमाण द्वारा जानकर और साध्य के साथ अविनाभावी साधन को देखकर स्वय साध्य का अनुमान करना स्वार्थानुमान है। स्वार्थानुमान मे एक व्यक्ति दूसरे पर अवलम्बित नही रहता। साधन को देखकर साध्य का अनुमान व्यक्ति अपने आप कर लेता है, अपने लिए किये गये अनुमान को स्वार्थानुमान कहते हैं।

साधन

प्रमाणमीमासा मे आचार्य हेमचन्द्र ने स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थ-समवायी और विरोधी ये पाँच साधन माने हैं।[2]

स्वभाव साधन वह है जहाँ वस्तु का स्वभाव ही साधन बनता हो। जैसे—उष्ण स्वभाव होने से अग्नि जलाती है। शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है। ये स्वभावसाधन या स्वभावहेतु के दृष्टान्त हुए।

आकाश मे काली कजरारी घटाएँ जब उमड-घुमड कर आती है जिसे देखकर वर्षा का अनुमान करना कारण से कार्य का अनुमान है। उसी कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है जिसके होने पर कार्य अवश्य

---

१ स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।
—प्रमाणमीमासा १।२।९

२ स्वभाव कारण कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि चेति पचधा साधनम्।
—प्रमाणमीमासा १।२।१२

होता है। इसमे बाधक कारणो का अभाव और समग्र साधक कारणो की सत्ता ये दोनो आवश्यक हैं।

किसी कार्य विशेष का अवलोकन कर उसके कारण का अनुमान करना कार्य साधन है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। बिना कारण के कार्योत्पत्ति कदापि सम्भव नही है। कारण और कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर कार्य को देखकर कारण का अनुमान हो सकता है, जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान करना, नदी मे जोर से पानी को आते हुए देखकर कही पर तेज वर्षा हुई है, ऐसा जानना, कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ मे दो या उससे अधिक कार्यो का एक साथ रहना एकार्थ समवाय है। जैसे एक फल मे रूप और रस साथ-साथ रहते है। रूप को देखकर रस का अनुमान करना, या रस को देखकर रूप का अनुमान करना —यह एकार्थ समवाय है। रूप और रस मे न तो कार्य-कारण भाव है और न रूप व रस का एक स्वभाव है। इन दोनो की एक स्थान पर अवस्थिति ही एकार्थसमवाय के कारण है।

किसी विरोधी भाव से उसके अभाव का अनुमान करना विरोधी साधन से होने वाला अनुमान है। अग्नि और ठण्ड मे परस्पर विरोध है, इसलिए एक के होने पर दूसरी नही हो सकती, अग्नि की ज्वालाएँ धधक रही हो, वहाँ पर ठण्ड नही हो सकती। यहाँ पर ठण्ड नही है क्योकि अग्नि जल रही है। अग्नि की नन्ही सी चिनगारी से ठण्डक का अभाव नही हो सकता, अत अनुमान सम्यक् होना चाहिए।

परार्थानुमान

साधन और साध्य के अविनाभाव सम्बन्ध के कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है।[1] स्वार्थानुमान स्वत उत्पन्न होता है पर परार्थानुमान उससे विपरीत है। एक व्यक्ति ने स्वय साधन और साध्य के अविनाभाव को ग्रहण किया है और द्वितीय व्यक्ति ऐसा है जिसे इस सम्बन्ध का किञ्चित् मात्र भी ज्ञान नही है। प्रथम व्यक्ति अपने ज्ञान का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को समझाने के लिए करता है। उसके कथन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परार्थानुमान है। जो व्यक्ति साधन और साध्य के सम्बन्ध

---

१ यथोक्तसाधनाभिधानज परार्थम्। —प्रमाणमीमासा २।१।१

से परिचित है उसके लिए यह अनुमान नही है किन्तु जिमे इस सम्बन्ध का ज्ञान नही है उसके लिए है।

परार्थानुमान स्वय ज्ञानात्मक हैं परन्तु उसे प्रकट करने वाले वचन को भी उपचार से परार्थानुमान कहा गया है।[1] ज्ञानात्मक परार्थानुमान की उत्पत्ति वचनात्मक परार्थानुमान पर अवलम्बित है। इसलिए कारण मे कार्य का उपचार-आरोप करके वचन को भी परार्थानुमान कहते हैं। परार्थानुमान के लिए हेतु का वचनात्मक प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम प्रकार है—साध्य के होने पर साधन का होना। दूसरा प्रकार है—साध्य के अभाव मे साधन का अभाव होना। जिस अर्थ का प्रतिपादन प्रथम प्रकार मे होता है उसी अर्थ का प्रतिपादन द्वितीय प्रकार मे भी होता है। अन्तर केवल वाक्य-रचना का है। जैसे—पर्वत मे अग्नि हैं, क्योकि अग्नि के होने पर ही धुआँ हो सकता है। अग्नि रूप साध्य की सत्ता होने पर ही धुआँ रूप साधन की उत्पत्ति हो सकती है। यह प्रथम प्रकार है। द्वितीय प्रकार—पर्वत मे अग्नि नही है क्योकि अग्नि के अभाव मे धूआँ नही हो सकता। अग्नि रूप साध्य के अभाव मे धूआँ रूप साधन के अभाव का प्रतिपादन करने वाला, द्वितीय प्रकार है।

परार्थानुमान के अवयव

परार्थानुमान के अवयवो के सम्बन्ध मे दार्शनिको मे एकमत नही है। साख्यदर्शन परार्थानुमान के तीन अवयव मानता है—पक्ष, हेतु और उदाहरण। मीमासकदर्शन ने चार अवयव माने हैं—(१) पक्ष, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) और उपनय। न्यायदर्शन पाँच अवयव आवश्यक मानता है —(१) पक्ष, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय (५) निगमन। जैनदर्शन कितने अवयव मानता है, इसकी सक्षिप्त चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं। ज्ञानी को समझाने के लिए पक्ष और हेतु ये दो अवयव ही पर्याप्त हैं। मन्दबुद्धि वाले को समझाने के लिए दस अवयवो तक का निर्देश किया गया है। साधारण रूप से पाँच अवयवो का प्रयोग होता है वह इस प्रकार हैं—

प्रतिज्ञा

साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है।[2] हम जिस बात को सिद्ध करना

---

१ पक्षहेतुवचनात्मक परार्थमनुमानमुपचारात्। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।२३

२ साध्यनिर्देश प्रतिज्ञा। —प्रमाणमीमासा २।१।११

चाहते है उसका प्रथम निर्देश प्रतिज्ञा है। इससे साध्य का परिज्ञान होता है। प्रतिज्ञा को पक्ष भी कहते हैं। जैसे— 'इस पर्वत मे अग्नि है।'

हेतु

साधनत्व को अभिव्यक्त करने वाला वचन हेतु कहलाता है।[१] जैसे—'क्योकि इसमे धूम है।' यह हेतु का कथन हुआ। इसको अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है—क्योकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या अग्नि के अभाव मे धूम नही हो सकता। साधन और साध्य के सम्बन्ध को दिखाते हुए इसका प्रयोग किसी भी प्रकार कर सकते हैं।

उदाहरण

हेतु को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए दृष्टान्त का प्रयोग करना उदाहरण है।[२] उदाहरण साधर्म्य और वैधर्म्य रूप दो प्रकार का है। सादृश्य बताने के लिए उदाहरण का प्रयोग करना, जहाँ-जहाँ पर धूम होता है वहाँ-वहाँ पर अग्नि होती है जैसे पाकशाला, यह साधर्म्यदृष्टान्त है। विसदृशता को प्रकट करने वाले दृष्टान्त का प्रयोग करना, 'जहाँ पर अग्नि नही होती वहाँ पर धूम भी नही होता जैसे तालाव' यह वैधर्म्यदृष्टान्त है। प्राय दोनो मे से किसी एक का प्रयोग करना ही पर्याप्त होता है।

उपनय

हेतु का धर्मी (पक्ष) मे उपसहार करना (दोहराना) उपनय है।[३] जहाँ पर साध्य रहता है उसे धर्मी कहते हैं। 'इस पर्वत मे अग्नि है' यहाँ पर अग्नि साध्य है और पर्वत धर्मी है क्योकि अग्नि रूप साध्य पर्वत मे रहता है। हेतु का धर्मी मे उपसहार करना जैसे 'इस पर्वत मे भी धूम है' इस प्रकार के वचन का प्रयोग करना उपनय है।

निगमन

साध्य का पुनर्कथन (दोहराना) निगमन है।[४] प्रतिज्ञा के समय जिस साध्य का निर्देश किया जाता है उसको उपसहार के रूप मे फिर से दोह-

---

१ साधनत्वाभिव्यजकविभक्त्यन्त साधनवचन हेतु । —प्रमाणमीमासा २।१।१२

२ दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् । —प्रमाणमीमासा २।१।१३

३ हेतो साध्यधर्मिण्युपसहरणमुपनय । यथा धूमश्चात्रप्रदेशे । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।४९-५०

४ साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् । यथा तस्मादग्निरत्र । —प्रमाणनयतत्त्वालोक ३।५१-५२

राना निगमन है। यह अन्तिम निर्णय रूप कथन होता है। जैसे—'इसीलिए यहाँ पर अग्नि है।' यह कथन निगमन है।

पाँच अवयवो को लक्ष्य मे रखते हुए परार्थानुमान का पूर्ण रूप इस प्रकार से है—

इस पर्वत मे अग्नि है, (प्रतिज्ञा) क्योकि इसमे धूम है (हेतु), जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर मे (साधर्म्यदृष्टान्त) जहाँ पर अग्नि नही होती वहाँ पर धूम भी नही होता जैसे जलाशय (वैधर्म्य-दृष्टान्त), इस पर्वत मे धूम है (उपनय) एतदर्थ यहाँ पर (निगमन) अग्नि है।

आगम

आप्तपुरुष के वचन से आविर्भूत होने वाला अर्थ सवेदन आगम है।[८] आप्तपुरुष वह है जो तत्त्व को यथावस्थित जानने के साथ ही उसका यथावस्थित निरूपण करता हो। जो पुरुष राग-द्वेष से रहित है वह आप्त है, क्योकि वह कभी भी विसवादी व मिथ्यावादी नही हो सकता। ऐसे पुरुष के वचनो से होने वाला ज्ञान आगम है। उपचार से आप्तपुरुष का वचन भी आगम है। परार्थानुमान मे आप्तत्व आवश्यक नही है किन्तु आगम के लिए आप्तपुरुष का होना जरूरी है। आप्तपुरुष के वचन तीनो काल मे प्रामाणिक होते है। उसकी प्रामाणिकता के लिए अन्य हेतु की आवश्यकता नही। तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त कहलाते है। सत्यप्रवक्ता साधारण व्यक्ति लौकिक आप्त होते हैं।

सक्षेप मे प्रमाण के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है। यहाँ पर प्रमाण के भेदो व प्रभेदो के सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से विवेचना करना इष्ट नही था, केवल इतना ही बताना इष्ट था कि जैनदर्शन मे प्रमाण की क्या स्थिति रही है और उसका स्वरूप क्या रहा है और उसके मुख्य भेद कितने है। आगम साहित्य मे वह बीज रूप मे है फिर दार्शनिक आचार्यो ने उस बीज का अत्यधिक विस्तार किया है क्योकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अधिगम प्रमाण और नय से ही होता है। वस्तु चाहे जड हो या चेतन, उसके वास्तविक स्वरूप का परिबोध प्रमाण और नय के अभाव मे नही हो सकता। इसलिए प्रमाण और नय वस्तुविज्ञान के लिए अनिवार्य साधन है।

●

---

८ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ४।१

○ कर्मवाद एक सर्वेक्षण

□ कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

○ कर्मवाद का महत्त्व
○ कर्म सम्बन्धी साहित्य
○ कर्मवाद व अन्यवाद
○ कालवाद
○ स्वभाववाद
○ नियतिवाद
○ यदृच्छावाद
○ भूतवाद
○ पुरुषवाद
○ दैववाद
○ पुरुषार्थवाद
○ जैनदर्शन का मन्तव्य
○ कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा
○ बौद्धदर्शन मे कर्म
○ विलक्षण वर्णन
○ कर्म का अर्थ
○ विभिन्न परम्पराओ मे कर्म
○ जैनदर्शन मे कर्म का स्वरूप
○ आत्मा और कर्म का सम्बन्ध
○ कर्म कौन बांधता है ?
○ कर्म बन्ध के कारण
○ निश्चयनय और व्यवहारनय
○ कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व
○ कर्म की मर्यादा
○ उदय
○ स्वत उदय मे आने वाले कर्म के हेतु
○ दूसरों के द्वारा उदय मे आने वाले कर्म के हेतु
○ पुरुषार्थ से भाग्य मे परिवर्तन हो सकता है ?
○ आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?
○ उदीरणा
○ उदीरणा का कारण
○ वेदना
○ निर्जरा
○ आत्मा पहले या कर्म ?
○ अनादि का अन्त कैसे ?
○ आत्मा बलवान या कर्म ?
○ कर्म और उसका फल
○ ईश्वर और कर्मवाद
○ कर्म का सविभाग नहीं
○ कर्म का कार्य
○ आठ कर्म
○ कर्म फल की तीव्रता-मन्दता
○ कर्मों के प्रदेश
○ कर्म-बन्ध
○ बन्ध, सत्ता, उद्वर्तना, उत्कर्ष, अपवर्तन, अपकर्ष, सक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचित, अबाधाकाल
○ कर्म और पुनर्जन्म
○ कर्म-बन्धन से मुक्ति का उपाय

कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

कर्मवाद का महत्त्व

भारतीय तत्त्वचिन्तक मनीषियो ने कर्मवाद पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। चार्वाकदर्शन के अतिरिक्त न्याय, साख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमासक, वौद्ध और जैन प्रभृति सभी दार्शनिक कर्मवाद के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। केवल दर्शन ही नही अपितु धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान और कला आदि पर भी कर्मवाद की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है। विश्व के विशाल मच पर सर्वत्र विषमता, विविधता, विचित्रता का एकच्छत्र साम्राज्य देखकर प्रबुद्ध विचारको ने कर्म के अद्भुत सिद्धान्त की गवेषणा की। भारतीय जन-जन के मन की यह धारणा है कि प्राणी मात्र को सुख और दु ख की जो उपलब्धि होती है वह स्वय के किये गये कर्म का ही प्रतिफल है। कर्म से वँधा हुआ जीव ही अनादिकाल से, नाना गतियो व योनियो मे परिभ्रमण कर रहा है। जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है और कर्म ही दु ख का सर्जक है। जो जैसा करता है वैसा ही फल को प्राप्त करता है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक प्राणी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नही होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसबद्ध होता है किन्तु पर-सम्बद्ध नही। यह सत्य है कि सभी भारतीय दार्शनिको ने कर्मवाद की सस्थापना मे योगदान दिया किन्तु जैन-परम्परा मे कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित विकास हुआ वैसा अन्यत्र नही हो सका। वैदिक और बौद्ध साहित्य मे कर्म-सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमे कर्म-विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही होता। जबकि जैन साहित्य मे कर्म सम्वन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है। कर्मवाद पर जैन-परम्परा मे अत्यन्त सूक्ष्म, सुव्यवस्थित और वहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है। यह साधिकार कहा जा सकता है कि कर्म-सम्वन्धी साहित्य का जैन साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान है और वह साहित्य 'कर्मशास्त्र' या 'कर्मग्रन्थ' के नाम से विश्रुत है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कर्मग्रन्थो के अतिरिक्त भी आगम व आगमेतर जैनग्रन्थो मे यत्र-तत्र कर्म के सम्वन्ध मे चर्चाएँ उपलब्ध है।

□ कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

- कर्मवाद का महत्त्व
- कर्म सम्बन्धी साहित्य
- कर्मवाद व अन्यवाद
- कालवाद
- स्वभाववाद
- नियतिवाद
- यदृच्छावाद
- भूतवाद
- पुरुषवाद
- दैववाद
- पुरुषार्थवाद
- जैनदर्शन का मन्तव्य
- कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा
- बौद्धदर्शन मे कर्म
- विलक्षण वर्णन
- कर्म का अर्थ
- विभिन्न परम्पराओं मे कर्म
- जैनदर्शन मे कर्म का स्वरूप
- आत्मा और कर्म का सम्बन्ध
- कर्म कौन बांधता है ?
- कर्म बन्ध के कारण
- निश्चयनय और व्यवहारनय
- कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व
- कर्म की मर्यादा
- उदय
- स्वत उदय में आने वाले कर्म के हेतु
- दूसरों के द्वारा उदय मे आने वाले कर्म के हेतु
- पुरुषार्थ से भाग्य मे परिवर्तन हो सकता है ?
- आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?
- उदीरणा
- उदीरणा का कारण
- वेदना
- निर्जरा
- आत्मा पहले या कर्म ?
- अनादि का अन्त कैसे ?
- आत्मा बलवान या कर्म ?
- कर्म और उसका फल
- ईश्वर और कर्मवाद
- कर्म का संविभाग नहीं
- कर्म का कार्य
- आठ कर्म
- कर्म-फल की तीव्रता-मन्दता
- कर्मों के प्रदेश
- कर्म-बन्ध
- बन्ध, सत्ता, उद्वर्तना, उत्कर्ष, अपवर्तन, अपकर्ष, संक्रमण, उदय, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति, निकाचित, अबाधाकाल
- कर्म और पुनर्जन्म
- कर्म-बन्धन से मुक्ति का उपाय

कर्मवाद : एक सर्वेक्षण

कर्मवाद का महत्त्व

भारतीय तत्त्वचिन्तक मनीषियो ने कर्मवाद पर गहराई से अनुचिन्तन किया है। चार्वाकदर्शन के अतिरिक्त न्याय, साख्य, वेदान्त, वैशेषिक, मीमासक, बौद्ध और जैन प्रभृति सभी दार्शनिक कर्मवाद के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। केवल दर्शन ही नही अपितु धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान और कला आदि पर भी कर्मवाद की प्रतिच्छाया स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है। विश्व के विशाल मच पर सर्वत्र विषमता, विविधता, विचित्रता का एकच्छत्र साम्राज्य देखकर प्रबुद्ध विचारको ने कर्म के अद्‌भुत सिद्धान्त की गवेषणा की। भारतीय जन-जन के मन की यह धारणा है कि प्राणी मात्र को सुख और दु ख की जो उपलब्धि होती है वह स्वय के किये गये कर्म का ही प्रतिफल है। कर्म से बँधा हुआ जीव ही अनादिकाल से, नाना गतियो व योनियो मे परिभ्रमण कर रहा है। जन्म और मृत्यु का मूल कर्म है और कर्म ही दु ख का सर्जक है। जो जैसा करता है वैसा ही फल को प्राप्त करता है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि एक प्राणी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नही होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसवद्ध होता है किन्तु पर-सम्बद्ध नही। यह सत्य है कि सभी भारतीय दार्शनिको ने कर्मवाद की सस्थापना मे योगदान दिया किन्तु जैन-परम्परा मे कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित विकास हुआ वैसा अन्यत्र नही हो सका। वैदिक और बौद्ध साहित्य मे कर्म-सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमे कर्म-विषयक कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दृष्टिगोचर नही होता। जबकि जैन साहित्य मे कर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है। कर्मवाद पर जैन-परम्परा मे अत्यन्त सूक्ष्म, सुव्यवस्थित और बहुत ही विस्तृत विवेचन किया गया है। यह साधिकार कहा जा सकता है कि कर्म-सम्बन्धी साहित्य का जैन साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान है और वह साहित्य 'कर्मशास्त्र' या 'कर्मग्रन्थ' के नाम से विश्रुत है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कर्मग्रन्थो के अतिरिक्त भी आगम व आगमेतर जैनग्रन्थो मे यत्र-तत्र कर्म के सम्बन्ध मे चर्चाएँ उपलब्ध हैं।

कर्म सम्बन्धी साहित्य

भगवान महावीर से लेकर आज तक कर्मशास्त्र का जो सकलन-आकलन हुआ है वह बाह्य रूप से तीन विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और प्राकरणिक कर्मशास्त्र।[1]

जैन इतिहास की दृष्टि से चौदह पूर्वों मे से आठवाँ पूर्व जिसे 'कर्म प्रवाद' कहा जाता है उसमे कर्म विषयक वर्णन था, इसके अतिरिक्त दूसरे पूर्व के एक विभाग का नाम 'कर्म प्राभृत' था और पाँचवें पूर्व के एक विभाग का नाम 'कषाय प्राभृत' था। इनमे भी कर्म सम्बन्धी ही चर्चाएँ थी। आज वे अनुपलब्ध हैं किन्तु पूर्व-साहित्य मे से उद्धृत कर्म-शास्त्र आज भी दोनो ही जैन-परम्पराओ मे उपलब्ध है। सम्प्रदाय भेद होने से नामो मे भिन्नता होना स्वाभाविक है। दिगम्बर परम्परा मे 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत' (षट्खण्डागम) और कषय प्राभृत ये दो ग्रन्थ पूर्व से उद्धृत माने जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कर्मप्रकृति, शतक, पचसग्रह और सप्ततिका ये चार ग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते है।

प्राकरणिक कर्मशास्त्र मे कर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ आते हैं, जिनका मूल-आधार पूर्वोद्धृत कर्म-साहित्य रहा है। प्राकरणिक कर्मग्रन्थो का लेखन विक्रम की आठवी-नवी शती से लेकर सोलहवी-सतरहवी शती तक हुआ है। आधुनिक विज्ञो ने कर्म-विषयक साहित्य का जो सृजन किया है वह मुख्य रूप से कर्मग्रन्थो के विवेचन के रूप मे है।

भाषा की दृष्टि से कर्म साहित्य को प्राकृत, सस्कृत और प्रादेशिक भाषाओ मे विभक्त कर सकते हैं। पूर्वात्मक व पूर्वोद्धृत कर्मग्रन्थ प्राकृत भाषा मे है। प्राकरणिक कर्म साहित्य का विशेष अश प्राकृत मे ही है। मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त उन पर लिखी गई वृत्तियाँ और टिप्पणियाँ भी प्राकृत मे हैं। बाद मे कुछ कर्मग्रन्थ सस्कृत मे भी लिखे गये किन्तु मुख्य रूप से सस्कृत भाषा मे उस पर वृत्तियाँ ही लिखी गई हैं। सस्कृत मे लिखे हुए मूल कर्मग्रन्थ प्राकरणिक कर्मशास्त्र मे आते हैं। प्रादेशिक भाषाओ मे लिखा हुआ कर्म-साहित्य कन्नड, गुजराती और हिन्दी मे है। इनमे मौलिक अश बहुत ही कम है, अनुवाद और विवेचन ही मुख्य है। कन्नड और

---

१ कर्मग्रन्थ, भाग १, प्रस्तावना, पृ० १५-१६ प० सुखलाल जी

हिन्दी मे दिगम्बर साहित्य अधिक लिखा गया है और गुजराती मे श्वेताम्बर साहित्य।

विस्तारभय से उन सभी ग्रन्थो का परिचय देना यहाँ सभव नही है। सक्षेप मे उपलब्ध दिगम्बरीय कर्म साहित्य का प्रमाण लगभग पाँच लाख श्लोक है और श्वेताम्बरीय कर्म साहित्य का ग्रन्थमान लगभग दो लाख श्लोक है।

श्वेताम्बरीय कर्म साहित्य का प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ शिवशर्म सूरिकृत कर्मप्रकृति है। उसमे ४७५ गाथाएँ हैं। इसमे आचार्य ने कर्म सम्बन्धी बन्धनकरण, सक्रमणकरण, उद्वर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्तिकरण और निकाचनाकरण इन आठ करणो (करण का अर्थ है आत्मा का परिणामविशेष) एव उदय, और सत्ता इन दो अवस्थाओ का वर्णन किया है। इस पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी। प्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि और उपाध्याय यशोविजय जी ने सस्कृत भाषा मे इस पर टीका भी लिखी है। आचार्य शिवशर्म की एक अन्य रचना 'शतक' है। इस पर भी मलयगिरि ने टीका लिखी। पार्श्वऋषि के शिष्य चन्द्रर्षि महत्तर ने पचसग्रह की रचना की और उस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी। इसके पूर्व भी दिगम्बर परम्परा मे प्राकृत पचसग्रह उपलब्ध था किन्तु उसकी कर्मविषयक कितनी ही मान्यताएँ आगम साहित्य से मेल नही खाती थी, इसलिए चन्द्रर्षि महत्तर ने नवीन पचसग्रह की रचना कर उसमे आगम मान्यताएँ गुफित की। आचार्य मलयगिरि ने उस पर भी सस्कृत टीका लिखी। जैन-परम्परा के प्राचीन आचार्यो ने प्राचीन कर्मग्रन्थ भी लिखे थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं—कर्म-विपाक, कर्म-स्तव, बध-स्वामित्व, सप्ततिका, और शतक। इन पर उनका स्वय का स्वोपज्ञ विवरण है। प्राचीन कर्मग्रन्थो को आधार बनाकर देवेन्द्रसूरि ने नवीन पाँच कर्मग्रन्थ बनाये। इस प्रकार जैन-परम्परा मे कर्म-विषयक साहित्य पर्याप्त उर्वर स्थिति मे है। मध्ययुग के आचार्यो ने इन पर बालावबोध भी लिखे हैं, जिन्हे प्राचीन भाषा मे टब्बा कहा जाता है।

क ं व अन्यवाद

कर्म के स्वरूप का विश्लेषण करने से पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि कर्म के स्थान मे जिन विविध कारणो की कल्पना की गई है उन पर

कुछ चिन्तन करे और उसके पश्चात् उनको लक्ष्य मे रखकर कर्म पर विचार करें। विश्व-वैचित्र्य के कारणो की अन्वेषणा करते हुए कर्मवाद के स्थान पर कितने ही विचारक इस बात की सस्थापना करते हैं कि ससार की उत्पत्ति का आदि कारण काल है। कितने ही विचारक स्वभाव को ही विश्व का कारण मानते हैं। कितने ही विचारक नियति पर बल देते है। कितने ही विचारक यहच्छा को ही विश्व का कारण स्वीकार करते हैं। कितने ही विचारक पृथ्वी आदि भूतो को हो ससार का कारण मानते हैं, तो कितने ही विचारक पुरुष या ईश्वर को ही ससार का कर्ता कहते हैं।[1] सक्षेप मे उनका परिचय इस प्रकार है।[2]

कालवाद

कालवाद के समर्थको का मन्तव्य है कि विश्व की सभी वस्तुएं और प्राणियो के सुख और दु ख काल के अधीन है। काल से ही भूतो की सृष्टि और सहार होता है। वह शुभाशुभ परिणामो को उत्पन्न करने वाला है। अथर्ववेद मे काल नामक एक स्वतन्त्र सूक्त है उसमे लिखा है—काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है, काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते है, काल के कारण ही आँखें देखती हैं। काल ही ईश्वर हैं वह प्रजापति का भी पिता है। काल सर्वप्रथम देव है, काल से वढकर कोई शक्ति नही है।[3] इस सूक्त मे काल को सृष्टि का आदि कारण माना है। किन्तु महाभारत मे मानव की तो क्या बात सम्पूर्ण जीव सृष्टि के सुख-दु ख, जीवन-मरण इनका आधार काल माना है।[4] शास्त्रवार्तासमुच्चय मे कहा है—किसी प्राणी का मातृगर्भ मे प्रवेश करना, वाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवो से सम्पर्क होना प्रभृति घटनाएँ

---

१ काल स्वभावो नियतिर्यहच्छा भूतानि योनि पुरुषइतिचिन्त्यम्।
सयोग एषा न स्वात्मभावादात्माप्यनीश सुखदु खहेतो ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।२

२ (क) देखिए—आत्ममीमासा पृ० ८६-९४ प० दलसुख मालवणिया
(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० ८
(ग) जैनधर्म और दशन पृ० ४१६–४२४ डा० मोहनलाल मेहता

३ अथर्ववेद १९, ५३-५४
कालेन सर्वं लभते मनुष्य

४ महाभारत, शान्तिपर्व २५, २८, ३२ आदि

काल के अभाव मे नही हो सकती। काल भूतो को परिपक्व अवस्था मे पहुँचाता है। काल प्रजा का सहार करता है। काल सभी के सोते रहने पर भी जागता है। काल की सीमा को लाघना किसी के लिए भी सम्भव नही है। बिना अनुकूल काल के मूँग पक नही सकते। काल के अभाव मे गर्भ आदि जितनी भी घटनाएँ हैं वे अस्त-व्यस्त हो जायेगी, अत विश्व की सभी घटनाओ का मूल काल है।[1]

प्राचीन युग मे काल का इतना महत्त्व होने से दार्शनिक युग मे नैयायिक प्रभृति विचारको ने ईश्वर आदि कारणो के साथ काल को भी साधारण कारण माना।[2]

स्व   ाद

स्वभाववादियो का मन्तव्य है कि ससार मे जो कुछ भी होता है वह स्वभाव से ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त जगत्-वैचित्र्य की रचना मे अन्य कोई भी कारण समर्थ नही है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् मे स्वभाववाद का उल्लेख हुआ है।[3] गीता[4] और महाभारत[5] मे भी स्वभाववाद का वर्णन है। बुद्धचरित मे स्वभाववाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि काँटो का नुकीलापन, पशु-पक्षियो की विचित्रता आदि सभी स्वभाव के कारण ही हैं। किसी भी प्रवृत्ति मे इच्छा या प्रयत्न का कोई स्थान नही है।[6] आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृताङ्ग वृत्ति मे यही वताया है। आचार्य हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय मे लिखा है कि किसी प्राणी का माता के गर्भ मे प्रवेश होना, बाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवो का भोग करना, आदि वातें स्वभाव के बिना घट नही सकती। स्वभाव ही समस्त ससार की घटनाओ का कारण है। स्वभाव से ही सभी वस्तुएँ अपने स्वरूप मे विद्यमान रहती हैं। स्वभाव के बिना मूँग पक नही सकते, भले ही काल आदि क्यो न हो। यदि स्वभावविशेष वाले कारण के अभाव मे कार्यविशेष की उत्पत्ति मानलें तो अव्यवस्था हो

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय १६५-१६८
२ जन्मना जनक कालो जगतामाश्रयो मत। —न्यायसिद्धान्त मुक्तावलि का० ४५
३ श्वेताश्वतर० १।२
४ भगवद्गीता ५।१४
५ महाभारत शान्तिपर्व २५।१६
६ बुद्धचरित ५२

जायेगी।[1] स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक मानता है।[2] वह विश्व की विचित्रता का किसी नियन्त्रक या नियामक को नही मानता।

नियतिवाद

नियतिवादियो का अभिमत है कि ससार मे जो कुछ होना होता है वही होता है, उसमे किञ्चित् मात्र भी अन्तर नही पडता। घटनाओ का अवश्यम्भावित्व पूर्व-निर्धारित है। ससार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ भी मूल्य नही है, या दूसरे शब्दो मे कहे तो इच्छा-स्वातन्त्र्य नामक कोई वस्तु नही है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का यह मन्तव्य था कि मानव केवल अपने अज्ञान के कारण ही इस प्रकार विचार करता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूँ। जो कुछ भी होने वाला है वह अवश्य होगा। जैसे अतीत को हम बदल नही सकते वैसे ही भविष्य भी बदला नही जा सकता, अत आशा और निराशा के झूले मे झूलना उचित नही। सफलता मिलने पर किसी की प्रशसा करना और विफलता प्राप्त होने पर किसी की निन्दा करना उचित नही है।

नियतिवाद का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मिलता है किन्तु उसमे या अन्य उपनिषदो मे इस वाद के सम्बन्ध मे कोई विशेष प्रकाश नही डाला गया। परन्तु बौद्ध त्रिपिटको मे व जैनागमो मे नियतिवाद के सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त मे मखली गोशालक के नियतिवाद का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह मानता था कि प्राणियो की अपवित्रता का कुछ भी कारण नही है। वे कारण के बिना ही अपवित्र होते है, इसी प्रकार प्राणियो की शुद्धता का भी कोई कारण नही, वे बिना कारण ही शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ भी नही होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता है, यह धारणा ही भ्रान्त है। बल, वीर्य, शक्ति और पराक्रम कुछ भी नही है। जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह नियति, जाति,

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय १६६-१७२

२ नित्य सत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्रा केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामक ॥
अग्निरुष्णो जल शीत समस्पर्शस्तथानिल ।
केनेद चित्रित तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थिति ॥

वैशिष्टय व स्वभाव के कारण। छ जातियो मे से किसी एक जाति मे रहकर सभी दु खो का उपभोग वे करते है। चौरासी लाख महाकल्पो के चक्र मे भ्रमण करने के पश्चात् विज्ञ और अज्ञ दोनो के दु खो का नाश होता है।[1]

जैन आगम साहित्य मे भी नियतिवाद और अक्रियावाद का सरस वर्णन उपलब्ध होता है। सूत्रकृताङ्ग,[2] व्याख्याप्रज्ञप्ति[3] और उपासक दशाग[4] मे नियतिवाद पर प्रचुर सामग्री है। बौद्ध साहित्य मे पकुध कात्यायन व पूरण काश्यप[5] को इस मत का समर्थन करने वाला बताया है। 'नियतिवाद' और अक्रियावाद मे विशेष रूप से अन्तर नही था। दोनो का सिद्धान्त प्राय समान था जिससे कुछ समय के पश्चात् पूरण काश्यप के अनुयायी आजीवको के अनुयायियो मे मिल गये।[6]

आचार्य हरिभद्र ने नियतिवाद का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से, जिस रूप मे उत्पन्न होना होता है, वह वस्तु उस समय उस कारण से उस रूप मे निश्चित रूप से उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति मे नियति के सिद्धान्त का कौन खण्डन कर सकता है?[7] साराश यह है कि ससार की सभी वस्तुएँ नियत रूप वाली होती हैं, अत नियति को उसका कारण मानना चाहिए। नियति के अभाव मे कोई भी कार्य नही हो सकता। काल स्वभाव आदि अन्य कारण उपस्थित भले ही हो।

यदृच्छावाद

यदृच्छावादियो का मन्तव्य है कि किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। किसी घटना या कार्यविशेष के लिए किसी निमित्त या कारणविशेष की आवश्यकता नही होती। बिना निमित्त

---

१ (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त
(ख) बुद्धचरित पृ० १७१, धर्मानन्द कोशाम्बी
२ सूत्रकृताङ्ग २।१।१२, २।६
३ व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १५
४ उपासक दशाग, अध्ययन ६-७
५ दीघनिकाय—सामञ्ञफल सुत्त
६ बुद्धचरित पृ० १७६, धर्मानन्द कोशाबी
७ शास्त्रवार्तासमुच्चय १७४

जायेगी।[1] स्वभाववादी प्रत्येक कार्य को स्वभावमूलक मानता है।[2] वह विश्व की विचित्रता का किसी नियन्त्रक या नियामक को नही मानता।

नियतिवाद

नियतिवादियो का अभिमत है कि ससार मे जो कुछ होना होता है वही होता है, उसमे किञ्चित् मात्र भी अन्तर नही पडता। घटनाओ का अवश्यम्भावित्व पूर्व-निर्धारित है। मसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। इच्छा-स्वातन्त्र्य का कुछ भी मूल्य नही है, या दूसरे शब्दो मे कहे तो इच्छा-स्वातन्त्र्य नामक कोई वस्तु नही है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा का यह मन्तव्य था कि मानव केवल अपने अज्ञान के कारण ही इस प्रकार विचार करता है कि मैं भविष्य को वदल सकता हूँ। जो कुछ भी होने वाला है वह अवश्य होगा। जैसे अतीत को हम वदल नही सकते वैसे ही भविष्य भी वदला नही जा सकता, अत आशा और निराशा के झूले मे झूलना उचित नही। सफलता मिलने पर किसी की प्रशसा करना और विफलता प्राप्त होने पर किसी की निन्दा करना उचित नही है।

नियतिवाद का सवप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मिलता है किन्तु उसमे या अन्य उपनिषदो मे इस वाद के सम्वन्ध मे कोई विशेष प्रकाश नही डाला गया। परन्तु वौद्ध त्रिपिटको मे व जैनागमो मे नियतिवाद के सम्वन्ध मे विस्तार से विवेचन उपलब्ध होता है। दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त मे मखली गोशालक के नियतिवाद का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह मानता था कि प्राणियो की अपवित्रता का कुछ भी कारण नही है। वे कारण के विना ही अपवित्र होते है, इसी प्रकार प्राणियो की शुद्धता का भी कोई कारण नही, वे विना कारण ही शुद्ध होते है। अपने सामर्थ्य के वल पर कुछ भी नही होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता है, यह धारणा ही भ्रान्त है। वल, वीर्य, शक्ति और पराक्रम कुछ भी नही है। जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह नियति, जाति,

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय १६६-१७२

२ नित्य सत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्रा केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामक ॥
अग्निरुष्णो जल शीत समस्पर्शस्तथानिल।
केनेद चित्रित तस्मात् स्वभावात् तद् व्यवस्थिति ॥

वैशिष्ट्य व स्वभाव के कारण। छ जातियो मे से किसी एक जाति मे रहकर सभी दु खो का उपभोग वे करते हैं। चौरासी लाख महाकल्पो के चक्र मे भ्रमण करने के पश्चात् विज्ञ और अज्ञ दोनो के दु खो का नाश होता है।[1]

जैन आगम साहित्य मे भी नियतिवाद और अक्रियावाद का सरस वर्णन उपलब्ध होता है। सूत्रकृताङ्ग,[2] व्याख्याप्रज्ञप्ति[3] और उपासक दशाग[4] मे नियतिवाद पर प्रचुर सामग्री है। बौद्ध साहित्य मे पकुध कात्यायन व पूरण काश्यप[5] को इस मत का समर्थन करने वाला वताया है। 'नियतिवाद' और अक्रियावाद मे विशेष रूप से अन्तर नही था। दोनो का सिद्धान्त प्राय समान था जिससे कुछ समय के पश्चात् पूरण काश्यप के अनुयायी आजीवको के अनुयायियो मे मिल गये।[6]

आचार्य हरिभद्र ने नियतिवाद का स्वरूप वताते हुए लिखा है कि जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से, जिस रूप मे उत्पन्न होना होता है, वह वस्तु उस समय उस कारण से उस रूप मे निश्चित रूप से उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थिति मे नियति के सिद्धान्त का कौन खण्डन कर सकता है?[7] साराश यह है कि ससार की सभी वस्तुएँ नियत रूप वाली होती हैं, अत नियति को उसका कारण मानना चाहिए। नियति के अभाव मे कोई भी कार्य नही हो सकता। काल स्वभाव आदि अन्य कारण उपस्थित भन्ने ही हो।

यदृच्छा

यदृच्छावादियो का मन्तव्य है कि किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। किसी घटना या कार्यविशेष के लिए किसी निमित्त या कारणविशेप की आवश्यकता नही होती। विना निमित्त

---

१ (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त
(ख) वुद्धचरित पृ० १७१, धर्मानन्द कोशाम्बी
२ सूत्रकृताङ्ग २।१।१२, २।६
३ व्याख्याप्रज्ञप्ति शतक १५
४ उपासक दशाग, अध्ययन ६-७
५ दीघनिकाय—सामञ्ञफल सुत्त
६ बुद्धचरित पृ० १७६, धर्मानन्द कोशावी
७ शास्त्रवार्तासमुच्चय २।७४

के ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। यद्दच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात[1] है। न्यायसूत्रकार के शब्दो मे कहे तो यद्दच्छावाद का अर्थ है अनिमित्त। अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही कांटे की तीक्ष्णता के समान भावो की उत्पत्ति होती है।[2]

यद्दच्छावाद का उल्लेख हमे श्वेताश्वतर-उपनिषद,[3] महाभारत के शान्ति पर्व[4] मे तथा न्यायसूत्र[5] आदि ग्रन्थो मे मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि यह वाद प्राचीन युग मे प्रचलित था।

यद्दच्छावाद, अकस्मात्वाद, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, अहेतुवाद, आदि वाद एक ही अर्थ मे व्यवहृत हुए हैं। इनमे कार्यकारणभाव, या हेतु-हेतुमद्‌भाव का पूर्णरूप से अभाव है। कितने ही व्यक्ति स्वभाववाद और यद्दच्छावाद को एक ही मानते है परन्तु उनकी यह मान्यता उचित नही है चूंकि इन दोनो मे यह भेद है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारण रूप मानते हैं पर यद्दच्छावादी कारण की सत्ता का ही निषेध करते है।[6]

भूतवाद

भूतवादियो का मन्तव्य है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु इन चार भूतो से ही सभी चेतन-अचेतन पदार्थो की उत्पत्ति होती है। जड और चेतन का मूल आधार चार भूत है। भूतो के अतिरिक्त अन्य कोई भी चेतन और अचेतन नामक वस्तु ससार मे नही है। दूसरे दर्शनकार जिसे आत्मतत्त्व कहते हैं उसे भूतवादी भौतिक कहते हैं। उनका मानना है कि आत्मतत्त्व इन्ही चतुर्भूतो की एक परिणति विशेष है, जो परिस्थिति विशेष से उत्पन्न होती है और जब वह परिस्थिति नही रहती है तो वह नष्ट हो जाती है। जैसे कि अनेक प्रकार के छोटे बडे पुर्जों से एक मशीन तैयार होती है और उन्ही के परस्पर सयोग से उसमे गति भी आजाती है और कुछ समय के पश्चात् पुर्जो के घिस जाने पर वह टूटकर बिखर जाती है, इसी प्रकार यह जीवन-यत्र भी है।

---

१ न्यायभाष्य ३।२।३१
२ न्यायसूत्र ४।१।२२
३ श्वेताश्वतर उपनिषद् १।२
४ महाभारत, शान्ति पर्व ३३।२३
५ न्यायसूत्र ४।१।२२
६ न्यायभाष्य का प० फणिभषण कृत अनुवाद ४।१।२४

दूसरा उदाहरण लें जैसे पान, सुपारी, चूना, कत्था आदि वस्तुओ का विशिष्ट सयोग या सम्मिश्रण होने पर लाल रग पैदा हो जाता है। वैसे ही भूत-चतुष्टय के विशिष्ट सम्मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति होती है।[1] इस प्रकार आत्मा भौतिक शरीर से भिन्न सिद्ध न होकर शरीर रूप ही सिद्ध होता है। सूत्रकृताङ्ग मे तज्जीवतच्छरीरवाद और पचभूतवाद का उल्लेख है उसमे भी शरीर और जीव को एक माना गया है। इस वाद को अनात्मवाद और नास्तिकवाद भी कह सकते हैं। पचभूतवादियो का मानना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत ही यथार्थ है और इन्ही से जीव उत्पन्न होता है। तज्जीवतच्छरीरवाद व पचभूतवाद मे मुख्य रूप से अन्तर यह है कि एक के अभिमतानुसार शरीर और जीव एक है दोनो मे किञ्चित्मात्र भी भेद नही है। परन्तु दूसरे का अभिमत है पच भूतो के सम्मिश्रण से पहले शरीर का निर्माण होता है और फिर जीव की उत्पत्ति होती है। शरीर के नष्ट होने पर जीव भी नष्ट हो जाता है।

भूतवादी इस लोक के अतिरिक्त अन्य लोक की सत्ता को नही मानते। पुनर्जन्म आदि मे उनका विश्वास नही है। मानव-जीवन का एक मात्र ध्येय इहलौकिक आनन्द को प्राप्त करना है, परलोक की कल्पना ही निराधार है। इहलौकिक सुख के अतिरिक्त अन्य किसी भी सुख की कल्पना करना उचित नही है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उपयोगिता ही आचार-विचार का मापदण्ड है।

डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त भी भौतिकवाद का परिष्कृत रूप है। उसका अभिमत है कि प्राणियो का शारीरिक एव प्राणशक्ति का विकास क्रमश होता है। जडतत्त्व के विकास के साथ ही चैतन्यतत्त्व का भी विकास होता है। चैतन्य जडतत्त्व का ही एक अग है, उससे अलग स्वतत्र तत्त्व नही है। चेतनाशक्ति का विकास जडतत्त्व के विकास से सवद्ध है।

पुरुषवाद

पुरुषवादियो के मतानुसार सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता व सहर्ता पुरुष विशेष है—अर्थात् ईश्वर है। ईश्वर की ज्ञान आदि शक्तियाँ प्रलय

---

१ सर्वदर्शन सग्रह, परिच्छेद १

काल मे भी नष्ट नही होती ।[1] पुरुषवाद मे ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद इन दो मतो का समावेश होता है । ब्रह्मवादियो का अभिमत है कि जिस प्रकार मकडी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि पानी के लिए और वटवृक्ष जटाओ के लिए हेतुभूत है उसी तरह पुरुष—ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो की सृष्टि, स्थिति व सहार के लिए निमित्तभूत है ।[2] ब्रह्म ससार के सभी पदार्थो का उपादान कारण है । ईश्वरवादियो का कथन है कि स्वयसिद्ध जड और चेतन द्रव्यो के पारस्परिक सयोजन मे ईश्वर निमित्त कारण है। ईश्वर की विना इच्छा के कोई भी कार्य नही हो सकता । वह सम्पूर्ण घटनाओ का निमित्त कारण है । वह विश्व का नियन्त्रक और नियामक है ।

दैववाद

केवल पूर्वकृत कर्मो के आधार पर बैठे रहना और किसी भी प्रकार का पुरुपार्थ न करना दैववाद है । दैववाद और भाग्यवाद ये दोनो समानार्थक हैं, इसमे इच्छा स्वातत्र्य को किसी प्रकार का स्थान नही है । परतन्त्रता के आधार पर ही सम्पूर्ण घटना-चक्र सचालित होता है । प्राणी अपने भाग्य का गुलाम है । उसे नि सहाय होकर अपने पहले के किये हुए कर्मों का फल भोगना पडता है । कर्मो के फल को भोगते समय वह किंचित् मात्र भी उसमे परिवर्तन नही कर सकता । जिस कर्म का जिस रूप मे फल भोगना नियत है उस कर्म का उसी रूप मे फल भोगना पडता है ।[3] दैववाद और नियतिवाद मे समानता प्रतीत होने पर भी उसमे मुख्य अन्तर यह है कि दैववाद मे कर्म की सत्ता पर विश्वास रहता है किन्तु नियतिवाद कर्म के अस्तित्व को नही मानता । दैववाद और नियतिवाद मे पराधीनता आत्यन्तिक व ऐकान्तिक होने पर भी दैववाद की पराधीनता कर्मो के कारण है और नियतिवाद की पराधीनता विना किसी कारण के है ।

पुरुषार्थवाद

पुरुपार्थवादियो का अभिमत है कि अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु की

---

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ६५

२ ऊर्णनाभ इवाशूना चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्ष स हेतु सर्वजन्मिनाम् ॥
—उपनिषद् उद्धृत प्रमेयकमल०, पृ० ६५

३ आप्त-मीमासा कारिका ८९-९१, मे दैववाद और पुरुपार्थवाद का समन्वय किया गया है ।

उपलब्धि विवेकपूर्वक प्रयास करने से होती है। भाग्य और दैव नाम की कोई भी वस्तु नही है। पुरुषार्थ ही सब कुछ है। किसी भी कार्य की सफलता और असफलता का मूल आधार पुरुषार्थ है। पुरुषार्थवाद का आधार इच्छा-स्वातन्त्र्य है।

जै ॱ का मन्तव्य

कर्मवाद के समर्थक दार्शनिक चिन्तको ने काल आदि मान्यताओ का सुन्दर समन्वय करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जैसे किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर नही अपितु अनेक कारणो पर अवलम्बित है वैसे ही कर्म के साथ-साथ काल आदि भी विश्व-वैचित्र्य के कारणो के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। विश्व-वैचित्र्य का मुख्य कारण कर्म है और काल आदि उसके सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधान कारण मानने से जन-जन के मन मे आत्म-विश्वास व आत्म-बल पैदा होता है और साथ ही पुरुषार्थ का पोषण होता है। सुख-दु ख का प्रधान कारण अन्यत्र न ढूँढ कर अपने आप मे ढूँढना बुद्धिमत्ता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा है कि 'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पाँच कारणो मे से किसी एक को ही कारण माना जाय और शेष कारणो की उपेक्षा की जाय, यह उचित नही है, उचित तो यही है कि कार्य निष्पत्ति मे काल आदि सभी कारणो का समन्वय किया जाय।[1] इसी बात का समर्थन आचार्य हरिभद्र ने भी किया है।[2]

दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध मे अनेकान्तदृष्टि रखनी चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—बुद्धिपूर्वक कर्म न करने पर भी इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है। बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कही पर दैव प्रधान होता है तो कही पर पुरुषार्थ।[3] दैव और पुरुषार्थ के सही समन्वय से ही अर्थ-सिद्धि होती है। जैनदर्शन मे जड और चेतन पदार्थों के नियामक के रूप मे

---

१ कालो सहाव णियई पुव्वकम्म पुरिसकारणेगता।
मिच्छत्त त चेव उ समासओ हुति सम्मत्त॥

—सन्मतितर्कप्रकरण ३,५३

२ शास्त्रवार्तासमुच्चय १९१-१९२

३ आप्तमीमासा ८८-९१

ईश्वर या पुरुष की सत्ता नही मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व सहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणो से ही प्राणियो के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतो से ही ज्ञान, सुख, दु ख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मों की सिद्धि नही कर सकते। जड भूतो के अतिरिक्त चेतन-तत्त्व की सत्ता को मानना आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। कभी भी मूर्त-जड अमूर्त-चैतन्य को उत्पन्न नही कर सकता। जिसमे जिस गुण का पूर्णरूप से अभाव है उस गुण को वह कभी भी उत्पन्न नही कर सकता। यदि इस प्रकार नही माना जाये तो कार्य-कारणभाव की व्यवस्था ही निरर्थक हो जायेगी। फलस्वरूप हम भूतो को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए बाध्य नही होगे। ऐसी स्थिति मे किसी कार्य के कारण की अन्वेषणा करना भी निरर्थक होगा। इसलिए जड और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वो की सत्ता मानते हुए कर्ममूलक विश्व-व्यवस्था मानना तर्कसगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने-आप फल प्रदान करने मे समर्थ होता है।

कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिकदृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमे सर्वप्रथम वेदकालीन कर्म-सम्बन्धी विचारो पर चिन्तन करना होगा। उपलब्ध साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन है। वैदिकयुग के महर्षियो को कर्म-सम्बन्धी ज्ञान था या नही ? इस पर विज्ञो के दो मत हैं। कितने ही विज्ञो का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदो—सहिता ग्रन्थो मे कर्मवाद का वर्णन नही आया है तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदो के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते है कि वेदो मे कर्मवाद की चर्चा नही है उनका कहना है कि वैदिककाल के ऋषियो ने प्राणियो मे रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा मे न कर बाह्य जगत् मे की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन मे विहरण करते हुए कहा—कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वो को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सष्टि की

उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिकयुग का सम्पूर्ण तत्त्व-चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि मे ही विकसित हुआ। पहले विविध देवो की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन मे सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रु-जन पराजित हो अत देवो की प्रार्थनाएँ की गई और सजीव व निर्जीव पदार्थों की आहुतियाँ प्रदान की गईं। यज्ञकर्म का शनै-शनै विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा सहिताकाल से लेकर ब्राह्मण-काल तक क्रमश विकसित हुई।[1]

आरण्यक व उपनिषद्-युग मे देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका सहिताकाल व ब्राह्मणकाल मे अभाव था। उपनिषदो से पूर्व के वैदिक-साहित्य मे कर्म-विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषद्काल मे अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कर्म को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानने मे उपनिषदो का भी एकमत नही रहा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रारभ मे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नही।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदो—सहिता-ग्रन्थो मे कर्मवाद का वर्णन है, उनका कहना है कि वेदो मे 'कर्मवाद या कर्मगति' आदि शब्द भले ही न हो किन्तु उनमे कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद सहिता के निम्न मत्र इस बात के ज्वलत प्रमाण हैं—शुभस्पति (शुभ कर्मो के रक्षक), धियस्पति (सत्कर्मों के रक्षक), विचर्षणि तथा विश्वचर्षणि (शुभ और अशुभ कर्मो के द्रष्टा) 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मो के आधार) आदि पद देवो के विशेषणो के रूप मे व्यवहृत हुए हैं। कितने ही मत्रो मे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मो के अनुसार ही जीव अनेक बार ससार मे जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्वभवो का वर्णन किया है। पूर्वजन्म के दुष्कृत्यो से ही लोग पापकर्म मे प्रवृत्त होते है। आदि उल्लेख वेदो के मत्रो में हैं। पूर्वजन्म के पापकृत्यो से मुक्त होने के लिए ही मानव देवो की अभ्यर्थना करता है। वेदमत्रो मे सचित और

---

१ (क) आत्ममीमासा, पृ० ७९-८० प० दलसुख मालवणिया
(ख) जैनधर्म और दर्शन पृ० ४३०, डा० मोहनलाल मेहता

ईश्वर या पुरुष की सत्ता नही मानी गई है। उसका मन्तव्य है कि ईश्वर या ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व सहार का कारण या नियामक मानना निरर्थक है। कर्म आदि कारणो से ही प्राणियो के जन्म, जरा और मरण आदि की सिद्धि की जा सकती है। केवल भूतो से ही ज्ञान, सुख, दु ख, भावना आदि चैतन्यमूलक धर्मो की सिद्धि नही कर सकते। जड भूतो के अतिरिक्त चेतन-तत्त्व की सत्ता को मानना आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। कभी भी मूर्त-जड अमूर्त-चैतन्य को उत्पन्न नही कर सकता। जिसमे जिस गुण का पूर्णरूप से अभाव है उस गुण को वह कभी भी उत्पन्न नही कर सकता। यदि इस प्रकार नही माना जाये तो कार्य-कारणभाव की व्यवस्था ही निरर्थक हो जायेगी। फलस्वरूप हम भूतो को भी किसी कार्य का कारण मानने के लिए वाध्य नही होगे। ऐसी स्थिति मे किसी कार्य के कारण की अन्वेपणा करना भी निरर्थक होगा। इसलिए जड और चेतन इन दो प्रकार के तत्त्वो की सत्ता मानते हुए कर्ममूलक विश्व-व्यवस्था मानना तर्कसगत है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव से अपने-आप फल प्रदान करने मे समर्थ होता है।

कर्मवाद की ऐतिहासिक समीक्षा

ऐतिहासिकदृष्टि से कर्मवाद पर चिन्तन करने पर हमे सर्व-प्रथम वेदकालीन कर्म-सम्बन्धी विचारो पर चिन्तन करना होगा। उपलब्ध साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन है। वैदिकयुग के महर्षियो को कर्म-सम्बन्धी ज्ञान था या नही ? इस पर विज्ञो के दो मत हैं। कितने ही विज्ञो का यह स्पष्ट अभिमत है कि वेदो—सहिता ग्रन्थो मे कर्मवाद का वर्णन नही आया है तो कितने ही विद्वान् यह कहते हैं कि वेदो के रचयिता ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदो मे कर्मवाद की चर्चा नही है उनका कहना है कि वैदिककाल के ऋषियो ने प्राणियो मे रहे हुए वैविध्य और वैचित्र्य का अनुभव तो गहराई से किया पर उन्होने उसके मूल की अन्वेषणा अन्तरात्मा मे न कर बाह्य जगत् मे की। किसी ने कमनीय कल्पना के गगन मे विहरण करते हुए कहा—कि सृष्टि की उत्पत्ति का कारण एक भौतिक तत्त्व है तो दूसरे ऋषि ने अनेक भौतिक तत्त्वो को सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। तीसरे ऋषि ने प्रजापति ब्रह्मा को ही सष्टि की

उत्पत्ति का कारण माना। इस तरह वैदिकयुग का सम्पूर्ण तत्त्व-चिन्तन देव और यज्ञ की परिधि मे ही विकसित हुआ। पहले विविध देवो की कल्पना की गई और उसके पश्चात् एक देव की महत्ता स्थापित की गई। जीवन मे सुख और वैभव की उपलब्धि हो, शत्रु-जन पराजित हो अत देवो की प्रार्थनाएँ की गई और सजीव व निर्जीव पदार्थो की आहुतियाँ प्रदान की गईं। यज्ञकर्म का शनै-शनै विकास हुआ। इस प्रकार यह विचारधारा सहिताकाल से लेकर ब्राह्मण-काल तक क्रमश विकसित हुई।[1]

आरण्यक व उपनिषद्-युग मे देववाद व यज्ञवाद का महत्त्व कम होने लगा और ऐसे नये विचार सामने आये जिनका सहिताकाल व ब्राह्मणकाल मे अभाव था। उपनिषदो से पूर्व के वैदिक-साहित्य मे कर्म-विषयक चिन्तन का अभाव है पर आरण्यक व उपनिषद्काल मे अदृष्ट रूप कर्म का वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कर्म को विश्व-वैचित्र्य का कारण मानने मे उपनिषदो का भी एकमत नही रहा है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् के प्रारभ मे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष को ही विश्व-वैचित्र्य का कारण माना है, कर्म को नही।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि वेदो—सहिता-ग्रन्थो मे कर्मवाद का वर्णन है, उनका कहना है कि वेदो मे 'कर्मवाद या कर्मगति' आदि शब्द भले ही न हो किन्तु उनमे कर्मवाद का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद सहिता के निम्न मत्र इस बात के ज्वलत प्रमाण हैं—शुभस्पति (शुभ कर्मो के रक्षक), धियस्पति (सत्कर्मो के रक्षक), विचर्षणि तथा विश्वचर्षणि (शुभ और अशुभ कर्मों के द्रष्टा) 'विश्वस्य कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मो के आधार) आदि पद देवो के विशेषणो के रूप मे व्यवहृत हुए हैं। कितने ही मत्रो मे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि शुभ कर्म करने से अमरत्व की उपलब्धि होती है। कर्मो के अनुसार ही जीव अनेक बार ससार मे जन्म लेता है और मरता है। वामदेव ने अपने अनेक पूर्वभवो का वर्णन किया है। पूर्वजन्म के दुष्कृत्यो से ही लोग पापकर्म मे प्रवृत्त होते हैं। आदि उल्लेख वेदो के मत्रो में हैं। पूर्वजन्म के पापकृत्यो से मुक्त होने के लिए ही मानव देवो की अभ्यर्थना करता है। वेदमत्रो मे सचित और

---

१ (क) आत्ममीमासा, पृ० ७९-८० प० दलसुख मालवणिया
(ख) जैनधर्म और दर्शन पृ० ४३०, डा० मोहनलाल मेहता

प्रारब्ध कर्मों का भी वर्णन है। साथ ही देवयान और पितृयान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ-कर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक को जाते है और साधारण-कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक मे जाते हैं। ऋग्वेद मे पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीरो मे प्रविष्ट होता है इसका वर्णन है। 'मा वो भुजेमान्यजातमेनो' 'मा वा एनो अन्यकृत भुजेम' आदि मत्रो से यह भी ज्ञात होता है कि एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किये गये कर्मों को भी भोग सकता है और उससे बचने के लिए साधक ने इन मत्रो मे प्रार्थना की है। मुख्य रूप से जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का उपभोग भी करता है पर विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है।[1]

उपर्युक्त दोनो मतो का गहराई से अनुचिन्तन करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेदो मे कर्म-सम्बन्धी मान्यताओ का पूर्णरूप से अभाव तो नही है पर देववाद और यज्ञवाद के प्रभुत्व से कर्मवाद का विश्लेषण एकदम गौण हो गया है। यह सत्य है कि कर्म क्या हैं, वे किस प्रकार बँधते हैं और किस प्रकार प्राणी उनसे मुक्त होते हैं आदि जिज्ञासाओ का समाधान वैदिक सहिताओ मे नही है। वहाँ पर मुख्यरूप से, यज्ञकर्म को ही कर्म माना है और कदम-कदम पर देवो से सहायता के लिए याचना की है। जब यज्ञ और देव की अपेक्षा कर्मवाद का महत्त्व अधिक बढने लगा, तब उसके समर्थको ने उक्त दोनो वादो का कर्मवाद के साथ समन्वय करने का प्रयास किया और यज्ञ से ही समस्त फलो की प्राप्ति स्वीकार की। इस मन्तव्य का दार्शनिक रूप मीमासादर्शन है। यज्ञविषयक विचारणा के साथ देवविषयक विचारणा का भी विकास हुआ। ब्राह्मणकाल मे अनेक देवो के स्थान पर एक प्रजापति देव की प्रतिष्ठा हुई, उन्होने भी कर्म के साथ प्रजापति का समन्वय कर कहा प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल अवश्य प्राप्त करता है परन्तु फल-प्राप्ति अपने-आप न होकर प्रजापति के द्वारा होती है। प्रजापति (ईश्वर) जीवो को अपने-अपने कर्म के अनुसार फल प्रदान करता

(क) भारतीय दर्शन—पृ० ३६-४१ उमेश मिश्र
(ख) जैनधर्म और दर्शन पृ० ४३२

है। वह न्यायाधीश की तरह है। इस विचारधारा का दार्शनिक रूप न्याय, वैशेषिक, सेश्वरसाख्य और वेदान्तदर्शन मे हुआ है।

यज्ञ आदि अनुष्ठानो को वैदिक परम्परा मे कर्म कहा गया है, वे अस्थायी हैं, उसी समय समाप्त हो जाते हैं, अत वे किस प्रकार फल प्रदान कर सकते हैं ? इसलिए फल प्रदान करने वाले एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की, उसे मीमासादर्शन ने 'अपूर्व' कहा। वैशेषिकदर्शन मे 'अदृष्ट' एक गुण माना गया है, जिसके धर्म-अधर्म रूप ये दो भेद है। न्यायदर्शन मे धर्म और अधर्म को सस्कार कहा है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर सस्कार पडता है, वह अदृष्ट है। अदृष्ट आत्मा का गुण है। जब तक उसका फल नही मिल जाता तव तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है।[1] चूँकि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएँ। साख्य कर्म को प्रकृति का विकार कहता है।[2] श्रेष्ठ और कनिष्ठ प्रवृत्तियो का प्रकृति पर सस्कार पडता है। उस प्रकृतिगत-सस्कार से ही कर्मो के फल प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा मे कर्मवाद का विकास हुआ है।

बौद्धदर्शन मे कर्म

बौद्ध और जैन ये दोनो कर्म-प्रधान श्रमण-सस्कृति की धाराएँ है। वौद्ध-परम्परा ने भी कर्म की अदृष्ट शक्ति पर चिन्तन किया है। उसका अभिमत है कि जीवो मे जो विचित्रता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मकृत है।[3] लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्म की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष और मोहयुक्त होकर प्राणी सत्व, मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और राग-द्वेप और मोह को उत्पन्न करता है। इस तरह मसार चक्र

---

१ ईश्वर कारण पुरुपकर्माफलस्य दर्शनात्। —न्यायसूत्र ४।१

२ अन्त करणधर्मत्व धर्मादीनाम्। —साख्यसूत्र ५।२५

३ (क) भासित पेत महाराज भगवता—कम्मस्सका माणव, सत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मवन्धू, कम्मपटिसरणा, कम्म सते विभजति यदिद हीनपणीततायाति। —मिलिन्द प्रश्न ३।२

(ख) कर्मज लोक वैचित्र्य। —अभिधर्मकोप ४।१

निरन्तर चलता रहता है।[१] जिस चक्र का न आदि है, न अन्त है किन्तु अनादि हैं।[२]

एक वार राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीव द्वारा किये गये कर्मों की स्थिति कहाँ है? समाधान करते हुए आचार्य ने कहा—वह दिखलाया नही जा सकता कि कर्म कहाँ रहते है।[३]

विसुद्धिमग्ग मे कर्म को अरूपी कहा है।[४] अभिधर्मकोप मे उस अविज्ञप्ति को रूप कहा है।[५] यह रूप सप्रतिघ न होकर अप्रतिघ है।[६] सौत्रान्तिकमत की दृष्टि से कर्म का समावेश अरूप मे है, वे अविज्ञप्ति[७] को नही मानते हैं। बौद्धो ने कर्म को सूक्ष्म माना है। मन, वचन, और काय की जो प्रवृत्ति है वह कर्म कहलाती है पर वह विज्ञप्ति रूप है, प्रत्यक्ष है। यहाँ पर कर्म का तात्पर्य मात्र प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नही किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य सस्कार है। बौद्ध परिभाषा मे इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य सस्कार कर्म को वासना कहा है और वचन एव कायजन्य सस्कार-कर्म को अविज्ञप्ति कहा है।[८]

विज्ञानवादी बौद्ध कर्म को वासना शब्द से पुकारते हैं। प्रज्ञाकर का अभिमत है कि जितने भी कार्य है वे सभी वासनाजन्य हैं। ईश्वर हो या कर्म (क्रिया) प्रधान (प्रकृति) हो या अन्य कुछ, इन सभी का मूल वासना है। ईश्वर को न्यायाधीश मानकर यदि विश्व की विचित्रता की उपपत्ति की जाए तो भी वासना को माने बिना कार्य नही हो सकता। दूसरे शब्दो मे कहे तो ईश्वर प्रधान, कर्म इन सभी सरिताओ का प्रवाह वासना समुद्र मे मिलकर एक हो जाता है।[९]

---

१ अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात सूत्र ३३, १, पृ० १३४

२ सयुक्तनिकाय १५।५।६, भाग २, पृ० १८१-१८२

३ न सक्का महाराज तानि कम्मानि दस्सेतु इध व एध वा तानि कम्मानि तिट्ठन्तीति। —मिलिन्द प्रश्न ३।१५, पृ० ७५

४ विसुद्धिमग्ग १७।११०

५ अभिधर्मकोप १।९

६ देखिए आत्ममीमासा पृ० १०६

७ नौमी ओरियटल कोन्फरस, पृ० ६२०

८ (क) अभिधर्मकोप, चतुर्थ परिच्छेद, (ख) प्रमाणवार्तिकालकार, पृ० ७५

९ न्यायावतारवार्तिकवृत्ति की टिप्पणी पृ० १७७-८ में उद्धृत

शून्यवादी मत के मन्तव्य के अनुसार अनादि अविद्या का अपर नाम ही वासना है।

विलक्षण-वर्णन

जैन-साहित्य मे कर्मवाद के सम्बन्ध मे पर्याप्त विश्लेषण किया गया है। जैनदर्शन मे प्रतिपादित कर्म-व्यवस्था का जो वैज्ञानिक रूप है उसका किसी भी भारतीय परम्परा मे दर्शन नही होता। जैन-परम्परा इस दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है। आगम साहित्य से लेकर वर्तमान साहित्य मे कर्मवाद का विकास किस प्रकार हुआ है, इस पर पूर्व मे ही सक्षेप मे लिखा जा चुका है।

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ कार्य, प्रवृत्ति या क्रिया है। जो कुछ भी किया जाता है वह कर्म है। सोना, बैठना, खाना, पीना आदि। जीवन व्यवहार मे जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह कर्म कहलाता है। व्याकरणशास्त्र के कर्ता पाणिनि ने कर्म की व्याख्या करते हुए कहा—जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो वह कर्म है।[1] मीमासकदर्शन ने क्रिया-काण्ड को या यज्ञ आदि अनुष्ठान को कर्म कहा है। वैशेषिकदर्शन मे कर्म की परिभाषा इस प्रकार है—जो एक द्रव्य मे समवाय से रहता हो, जिसमे कोई गुण न हो, और जो सयोग या विभाग मे कारणान्तर की अपेक्षा न करे।[2] साख्य-दर्शन मे सस्कार के अर्थ मे कर्म शब्द का प्रयोग मिलता है।[3] गीता मे कर्मशीलता को कर्म कहा है।[4] न्यायशास्त्र मे उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुचन, प्रसारण, तथा गमनरूप पाँच प्रकार की क्रियाओ के लिए कर्म शब्द व्यवहृत हुआ है। स्मार्त-विद्वान चार वर्णों और चार आश्रमो के कर्तव्यो को कर्म की सज्ञा प्रदान करते हैं। पौराणिक लोग व्रत-नियम आदि धार्मिक क्रियाओ को कर्म रूप कहते हैं। बौद्धदर्शन जीवो की विचित्रता के कारण को कर्म कहता है जो वासना रूप है। जैन-परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है—भावकर्म और द्रव्यकर्म। राग-द्वेषात्मक परिणाम

---

१ कर्तुरीप्सिततम कर्म। —अष्टाध्यायी १।४।७६

२ वैशेषिकदर्शनभाष्य १।१७, पृ० ३५

३ साख्यतत्त्वकौमुदी ६७,

४ योग कर्मसु कौशलम्। —गीता २।५०

अर्थात् कषाय भाव कर्म कहलाता है। कार्मण जाति का पुद्गल—जडतत्त्व-विशेष जो कि कषाय के कारण आत्मा—चेतनतत्त्व के साथ मिल जाता है, द्रव्यकर्म कहलाता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है—आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं उस क्रिया के निमित्त से परिणमन-विशेषप्राप्त पुद्गल भी कर्म है।[१] कर्म जो पुद्गल का ही एक विशेष रूप है, आत्मा से भिन्न एक विजातीय तत्त्व है। जब तक आत्मा के साथ इस विजातीय तत्त्व कर्म का सयोग है, तभी तक ससार है और इस सयोग के नाश होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है।

विभिन्न परम्पराओ मे कर्म

जैन-परम्परा मे जिस अर्थ मे 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है। उस या उससे मिलते-जुलते अर्थ मे भारत के विभिन्न दर्शनो मे माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, सस्कार, दैव, भाग्य आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। वेदान्तदर्शन मे माया, अविद्या और प्रकृति शब्दो का प्रयोग हुआ है। मीमासादर्शन मे अपूर्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। बौद्धदर्शन मे वासना और अविज्ञप्ति शब्दो का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। साख्यदर्शन मे 'आशय' शब्द विशेष रूप से मिलता है। न्याय-वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट, सस्कार और धर्माधर्म शब्द विशेष रूप मे प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि ऐसे अनेक शब्द है जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शनो मे हुआ है। भारतीय दर्शनो मे एक चार्वाकदर्शन ही ऐसा दर्शन है जिसका कर्मवाद मे विश्वास नही है क्योकि वह आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही मानता है इसलिए कर्म और उसके द्वारा होने वाले पुनर्भव, परलोक आदि को भी वह नही मानता है किन्तु शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप मे कर्म की सत्ता मानते ही हैं।[२]

न्यायदर्शन के अभिमतानुसार राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषो से प्रेरणा सप्राप्त कर जीवो मे मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं और उससे धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। ये धर्म और अधर्म सस्कार कहलाते हैं।[३]

---

१ प्रवचनसार टीका २।२५

२ (क) जैनधर्म और दर्शन पृ० ४४३

(ख) कर्मविपाक के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना, प० सुखलालजी पृ० २३

३ न्यायभाष्य १।१।२ आदि।

वैशेषिकदर्शन मे चौबीस गुण माने गये है उनमे एक अदृष्ट भी है। यह गुण सस्कार से पृथक् है और धर्म-अधर्म ये दो उसके भेद हैं।[1] इस तरह न्यायदर्शन मे धर्म-अधर्म का समावेश सस्कार मे किया गया है। उन्ही धर्म-अधर्म को वैशेषिकदर्शन मे अदृष्ट के अन्तर्गत लिया गया है। राग आदि दोषो से सस्कार होता है, सस्कार से जन्म, जन्म से राग आदि दोष और उन दोषो से पुन सस्कार उत्पन्न होते हैं। इस तरह जीवो की ससार परम्परा बीजाकुरवत् अनादि है।

साख्य-योगदर्शन के अभिमतानुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशो से क्लिष्टवृत्ति उत्पन्न होती है। प्रस्तुत क्लिष्टवृत्ति से धर्माधर्म रूपी सस्कार पैदा होता है। सस्कार को आशय, वासना, कर्म और अपूर्व भी कहा जाता है। क्लेश और सस्कार को इस वर्णन मे बीजाकुरवत् अनादि माना है।[2]

मीमासादर्शन का अभिमत है कि मानव द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि अनुष्ठान अपूर्व नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है और वह अपूर्व ही यज्ञ आदि जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं उन सभी कर्मों का फल देता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति का नाम अपूर्व है। वहाँ पर अन्य कर्मजन्य सामर्थ्य को अपूर्व नही कहा है।[3]

वेदान्तदर्शन का मन्तव्य है कि अनादि अविद्या या माया ही विश्व-वैचित्र्य का कारण है।[4] ईश्वर स्वय मायाजन्य है। वह कर्म के अनुसार जीव को फल प्रदान करता है, इसलिए फलप्राप्ति कर्म से नही अपितु ईश्वर से होती है।[5]

बौद्धदर्शन का अभिमत है कि मनोजन्य सस्कार वासना है और वचन और कायजन्य सस्कार अविज्ञप्ति है। लोभ, द्वेष और मोह से कर्मों

---

१ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४७ (चौखम्बा सस्कृत सिरीज, बनारस, १६३०)
२ योगदर्शनभाष्य १।५ आदि
३ (क) शाबरभाष्य २।१।५
(ख) तन्त्रवार्तिक २।१।५, आदि
४ शाकरभाष्य २।१।१४
५ शाकरभाष्य ३।२।३८-४१

की उत्पत्ति होती है। लोभ, द्वेष और मोह से ही प्राणी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ करता है और उससे पुन लोभ, द्वेष और मोह पैदा करता है, इस तरह अनादि काल से यह ससार चक्र चल रहा है।[1]

जैनदर्शन मे कर्म का स्वरूप

अन्य दर्शनकार कर्म को जहाँ सस्कार या वासना रूप मानते है वहाँ जैनदर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। यह एक परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का जो गुण होता है वह उसका विघातक नही होता। आत्मा का गुण उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दु ख का हेतु नही हो सकता। कर्म आत्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दु खो का कारण है, गुणो का विघातक है, अत वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

वेडी से मानव बँधता है, मदिरापान से पागल होता है और क्लोरोफार्म से बेभान। ये सभी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं। ठीक इसी तरह कर्म के सयोग से आत्मा की भी ये दशाएँ होती है, अत कर्म भी पौद्गलिक हैं। वेडी आदि का बधन वाह्री है, अल्प सामर्थ्य वाला है किन्तु कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए हैं, अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं एतदर्थ ही बेडी आदि की अपेक्षा कर्म-परमाणुओ का जीवात्मा पर बहुत गहरा और आन्तरिक प्रभाव पडता है।

जो पुद्गल-परमाणु कर्म रूप मे परिणत होते है उन्हे *कर्म-वर्गणा* कहते है और जो शरीररूप मे परिणत होते है उन्हे नोकर्म वर्गणा कहते हैं। लोक इन दोनो प्रकार के परमाणुओ से पूर्ण है। शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है, अत वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक है। मिट्टी आदि भौतिक हैं और उससे निर्मित होने वाला पदार्थ भी भौतिक ही होगा।

अनुकूल आहार आदि से सुख की अनुभूति होती है और शस्त्रादि के प्रहार से दु खानुभूति होती है। आहार और शस्त्र जैसे पौद्गलिक हैं वैसे ही सुख-दु ख के प्रदाता कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बध की दृष्टि से जीव और पुद्गल दोनो भिन्न नही है किन्तु एक-

---

१ (क) अगुत्तरनिकाय ३।३३।१
(ख) सयुक्तनिकाय १५।५।६

मेक हैं पर लक्षण की दृष्टि से दोनो पृथक्-पृथक् हैं। जीव अमूर्त व चेतना युक्त है जबकि पुद्गल मूर्त और अचेतन है।

इन्द्रियो के विषय—स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द ये मूर्त हैं और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त है। उनसे उत्पन्न होने वाला सुख-दु ख भी मूर्त है, अत उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त है।[1]

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बँधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मो को अवकाश देता है। वह उन कर्मो से अवकाश-रूप हो जाता है।[2]

गीता, उपनिषद् आदि मे श्रेष्ठ और कनिष्ठ कार्यो के अर्थ मे 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है वैसे जैनदर्शन मे कर्म शब्द क्रिया का वाचक नही रहा है। उसके मन्तव्यानुसार वह आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियो से कर्म-वर्गणा के पुद्गलो को आकर्षित करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म का सम्बद्ध हो। जीव के साथ कर्म तभी सबद्ध होता है जब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति के कार्य और कारण भाव को लक्ष्य मे रखते हुए पुद्गल परमाणुओ के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म कहा है और राग-द्वेषादिरूप प्रवृत्तियो को भावकर्म कहा है।[3] इस तरह कर्म के मुख्य रूप से दो भेद हुए—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्म के होने मे भावकर्म और भावकर्म के होने मे द्रव्यकर्म कारण है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है, इसी प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का सिलसिला भी अनादि है।[4]

---

१ जम्हा कम्मस्स फल, विसय फासेहिं भुजदे णियय।
जीवेण सुह दुक्ख, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥ —पचास्तिकाय १४१

२ मुत्तो फासदि मुत्त, मुत्तो मुत्तेण वधमणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो गाहिद तेतेंदि उग्गहदि ॥ —पचास्तिकाय १४२

३ कर्मप्रकृति—नेमीचन्द्राचार्य विरचित ६

४ देखिए धर्म और दर्शन पृ० ४२ देवेन्द्र मुनि

कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड और चेतन तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म उसमे जड और चेतन नामक दोनो प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड और चेतन के मिश्रण हुए विना कर्म की रचना नही हो सकती। द्रव्य और भावकर्म मे पुद्‌गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता मुख्य है किन्तु एक-दूसरे के सद्‌भाव और असद्‌भाव का कारण मुख्य नही है। द्रव्यकर्म मे पौद्‌गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भावकर्म मे आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्‌गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्‌गल परमाणुओ का शुद्ध पिण्ड माने तो कर्म और पुद्‌गल मे अन्तर ही क्या रहेगा ? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म मे भेद क्या रहेगा ?

उत्तर मे निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय ससारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्वन्ध ससारी आत्मा से है मुक्त आत्मा से नही है। ससारी आत्मा कर्मों से बँधा है, उसमे चैतन्य और जडत्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मों से रहित होता है उसमे विशुद्ध चैतन्य ही होता है। वद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्‌गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ मिल जाते है, नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि ससारी आत्मा भी जड और चेतन का मिश्रण है और कर्म मे भी वही बात है ? तव दोनो मे अन्तर क्या है ? उत्तर है कि ससारी आत्मा का चेतन अश जीव कहलाता है और जड अश कर्म कहलाता है। ये चेतन और जड अश इस प्रकार के नही है जिनका ससार-अवस्था मे अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था मे ही होता है। ससारी आत्मा सदैव कर्मयुक्त ही होता है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाता है तव वह ससारी आत्मा नही मुक्त आत्मा कहलाता है। कर्म जव आत्मा से पृथक् हो जाता है तव वह कर्म नही शुद्ध पुद्‌गल कहलाता है। आत्मा से सम्वद्ध पुद्‌गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्‌गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध

आत्मा—जो मुक्तावस्था मे है। (२) शुद्ध पुद्गल (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण—जो ससारी आत्मा मे है। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्वन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण अवस्था मे है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा अमूर्त है उसका मूर्त कर्म के साथ किस प्रकार सम्वन्ध हो सकता है ? समाधान है कि प्राय सभी आस्तिक दर्शनो ने ससार और जीवात्मा को अनादि माना है। अनादिकाल से वह कर्मो से वँधा हुआ और विकारी है। कर्मवद्ध आत्माएं कथचित् मूर्त होती हैं। दूसरे शब्दो मे कहे तो स्वरूप से अमूर्त होने पर भी ससार-दशा मे मूर्त होती हैं। जीव के रूपी और अरूपी ये दो प्रकार हैं। मुक्त जीव अरूपी है और ससारी जीव रूपी है।

जो आत्मा पूर्णरूप से कर्ममुक्त हो चुका है, उसको कभी भी कर्म का वधन नही होता। जो आत्मा कर्म-वद्ध है उसी के कर्म वँधते हैं। कर्म और आत्मा का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादि-कालीन सम्वन्ध चला आ रहा है।

हम पूर्व मे वता चुके हैं कि मूर्त मादक द्रव्यो का असर अमूर्त ज्ञान पर होता है वैसे ही विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म-पुद्गलो का सम्वन्ध होता है।

कर्म कौन वाँधता है ?

अकर्म के कर्म का वधन नही होता। जो जीव पहले से ही कर्मो से वँधा है वही जीव नये कर्मो को वाँधता है।[1]

मोहकर्म के उदय होने पर जीव राग-द्वेष मे परिणत होता है और वह अशुभ कर्मो का वध करता है।[2]

मोहरहित जो वीतरागी जीव है। वे योग के उदय से शुभ कर्म का वधन करते हैं।[3]

नूतन वधन का कारण पहले का वधन नही है, तो जो मुक्त जीव हैं, जिनके कर्म वँधे हुए नहीं है, वे भी कर्म से विना वँधे हुए नही रह सकते। इस

---

१ प्रज्ञापना २३।१।२९०

२ भगवती ६

३ भगवती ६

कर्म पर चिन्तन करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि जड और चेतन तत्त्वो के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म उसमे जड और चेतन नामक दोनो प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। जड और चेतन के मिश्रण हुए विना कर्म की रचना नही हो सकती। द्रव्य और भावकर्म मे पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता मुख्य है किन्तु एक-दूसरे के सद्भाव और असद्भाव का कारण मुख्य नही है। द्रव्यकर्म मे पौद्गलिक तत्त्व की मुख्यता होती है और आत्मिक तत्त्व गौण होता है। भावकर्म मे आत्मिक तत्त्व की प्रधानता होती है और पौद्गलिक तत्त्व गौण होता है। प्रश्न है द्रव्यकर्म को पुद्गल परमाणुओ का शुद्ध पिण्ड माने तो कर्म और पुद्गल मे अन्तर ही क्या रहेगा ? इसी तरह भावकर्म को आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति मानी जाय तो आत्मा और कर्म मे भेद क्या रहेगा ?

उत्तर मे निवेदन है कि कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर चिन्तन करते समय ससारी आत्मा और मुक्त आत्मा का अन्तर स्मरण रखना चाहिए। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्वन्ध ससारी आत्मा से है मुक्त आत्मा से नही है। ससारी आत्मा कर्मो से वँधा है, उसमे चैतन्य और जडत्व का मिश्रण है। मुक्त आत्मा कर्मो से रहित होता है उसमे विशुद्ध चैतन्य ही होता है। वद्ध आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं, नीरक्षीरवत् एक हो जाते हैं वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म भी जड और चेतन का मिश्रण है। प्रश्न हो सकता है कि ससारी आत्मा भी जड और चेतन का मिश्रण है और कर्म मे भी वही वात है ? तव दोनो मे अन्तर क्या है ? उत्तर है कि ससारी आत्मा का चेतन अश जीव कहलाता है और जड अश कर्म कहलाता है। ये चेतन और जड अश इस प्रकार के नही है जिनका ससार-अवस्था मे अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था मे ही होता है। ससारी आत्मा सदैव कर्मयुक्त ही होता है। जव वह कर्म से मुक्त हो जाता है तव वह ससारी आत्मा नही मुक्त आत्मा कहलाता है। कर्म जव आत्मा से पृथक् हो जाता है तव वह कर्म नही शुद्ध पुद्गल कहलाता है। आत्मा मे सम्वद्ध पुद्गल द्रव्यकर्म है और द्रव्यकर्मयुक्त आत्मा की प्रवृत्ति भावकर्म है। गहराई से चिन्तन करने पर आत्मा और पुद्गल के तीन रूप होते हैं—(१) शुद्ध

आत्मा—जो मुक्तावस्था मे है। (२) शुद्ध पुद्गल (३) आत्मा और पुद्गल का सम्मिश्रण—जो ससारी आत्मा मे है। कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध आत्मा और पुद्गल की सम्मिश्रण अवस्था मे है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध

सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आत्मा अमूर्त है उसका मूर्त कर्म के साथ किस प्रकार सम्वन्ध हो सकता है ? समाधान है कि प्राय सभी आस्तिक दर्शनो ने ससार और जीवात्मा को अनादि माना है। अनादिकाल से वह कर्मो से बँधा हुआ और विकारी है। कर्मवद्ध आत्माएं कथचित् मूर्त होती हैं। दूसरे शब्दो मे कहे तो स्वरूप से अमूर्त होने पर भी ससार-दशा मे मूर्त होती हैं। जीव के रूपी और अरूपी ये दो प्रकार हैं। मुक्त जीव अरूपी है और ससारी जीव रूपी है।

जो आत्मा पूर्णरूप से कर्ममुक्त हो चुका है, उसको कभी भी कर्म का बधन नही होता। जो आत्मा कर्म-बद्ध है उसी के कर्म बँधते हैं। कर्म और आत्मा का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादि-कालीन सम्बन्ध चला आ रहा है।

हम पूर्व मे बता चुके हैं कि मूर्त मादक द्रव्यो का असर अमूर्त ज्ञान पर होता है वैसे ही विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध होता है।

कर्म कौन बाँधता है ?

अकर्म के कर्म का बधन नही होता। जो जीव पहले से ही कर्मों से बँधा है वही जीव नये कर्मो को बाँधता है।[1]

मोहकर्म के उदय होने पर जीव राग-द्वेष मे परिणत होता है और वह अशुभ कर्मो का बध करता है।[2]

मोहरहित जो वीतरागी जीव है। वे योग के उदय से शुभ कर्म का वधन करते हैं।[3]

नूतन बधन का कारण पहले का बधन नही है, तो जो मुक्त जीव है, जिनके कर्म बँधे हुए नही है, वे भी कर्म से बिना बँधे हुए नही रह सकते। इस

---

१ प्रज्ञापना २३।१।२९२

२ भगवती ६

३ भगवती ६

दृष्टि से यह पूर्ण सत्य है कि बँधा हुआ ही बंधता है, अबँधा हुआ नही बँधता है।

गौतम—भगवन्! दु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है या अदु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है?

भगवान—गौतम! दु खी जीव दु ख से स्पृष्ट होता है अदु खी जीव दु ख से स्पृष्ट नही होता। दु ख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण), उदीरणा, वेदना और निर्जरा दु खी जीव करता है, अदु खी जीव नही करता।[1]

गौतम ने पूछा—भगवन्! कर्म कौन बाँधता है? सयत, असयत अथवा सयतासयत?

भगवान ने कहा—गौतम! असयत, सयतासयत और सयत ये सभी कर्म बाँधते है। तात्पर्य यह है कि जो सकर्म आत्मा हैं वे ही कर्म बाँधती हैं, उन्ही पर कर्म का प्रभाव होता है।

कर्मबंध के कारण

जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है किन्तु कर्म किन कारणो से बँधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम ने प्रश्न किया—भगवन्! जीव कर्मबध कैसे करता है?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से, दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनमोह का उदय होता है। दर्शनमोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।[2]

स्थानाङ्ग,[3] समवायाङ्ग[4] मे तथा उमास्वाति ने कर्मबध के पाँच कारण बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय (५) और योग।[5]

सक्षेपदृष्टि से कर्म बध के दो कारण हैं—कषाय और योग।[6]

---

१ भगवती ७।१।२६६
२ प्रज्ञापना २३।१।२८६
३ स्थानाङ्ग ४१८
४ समवायाङ्ग ५ समवाय
५ तत्त्वार्थसूत्र ८।१
६ समवायाङ्ग २

कर्मबध के चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ।[1] इनमे प्रकृति और प्रदेश का वध योग से होता है एव स्थिति व अनुभाग का बध कषाय से होता है ।[2] सक्षेप मे कहा जाय तो कषाय ही कर्मवध का मुख्य हेतु है ।[3] कषाय के अभाव मे साम्परायिक कर्म का बध नही होता । दसवें गुणस्थान तक दोनो कारण रहते है अत वहाँ तक साम्परायिकवध होता है । कषाय और योग से होने वाला बध साम्परायिकवध कहलाता है और वीतराग के योग के निमित्त से जो गमनागमन आदि क्रियाओ से कर्म बध होता है वह ईर्यापथिकबध कहलाता है ।[4] ईर्यापथ कर्म की स्थिति उत्तराध्ययन,[5] प्रज्ञापना[6] मे दो समय की मानी हैं और दिगम्बर ग्रन्थो मे एव प० सुखलाल जी[7] ने सिर्फ एक समय की मानी है । योग होने पर भी अगर कषायाभाव हो तो उपार्जित कर्म की स्थिति या रस का बध नही होता । स्थिति और रस दोनो का बध का कारण कषाय ही है ।

विस्तार से कषाय के चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।[8] स्थानाङ्ग और प्रज्ञापना मे कर्मबध के ये चार कारण बताये हैं । सक्षेप मे कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष ।[9] राग और द्वेष इन दोनो मे भी उन चारो का समन्वय हो जाता है । राग मे माया और लोभ तथा द्वेष मे क्रोध

---

१ तत्त्वार्थसूत्र ८।४
२ (क) स्थानाङ्ग ४ स्थान
(ख) पचम कर्मग्रन्थ गा० ९६
३ तत्त्वार्थसूत्र ८।२
४ तत्त्वार्थसूत्र ६।५
५ उत्तराध्ययन अ० २९ प्र० ७१
६ प्रज्ञापना २३।१३ पृ० १३७
७ (क) समयट्ठिदिगो वधो —गोम्मटसार कर्मकाड
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, प० सुखलाल जी, पृ० २१७
८ (क) सूत्रकृताङ्ग ६।२६
(ख) स्थानाङ्ग ४।१।२५१
(ग) प्रज्ञापना २३।१।२९०
९ उत्तराध्ययन ३२।७

और मान का समावेश होता है।[1] राग और द्वेष के द्वारा ही अष्टविध कर्मों का वधन होता है[2] अत राग-द्वेष को ही भाव-कर्म माना है।[3] राग-द्वेष का मूल मोह ही है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—जिस मनुष्य के शरीर पर तेल चुपडा हुआ हो उसका शरीर उडने वाली धूल से लिप्त हो जाता है वैसे ही राग-द्वेष के भाव से आक्लिन्न हुए आत्मा पर कर्म-रज का बध हो जाता है।[4]

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्यात्व को जो कर्म-बधन का कारण कहा है, उसमे भी राग-द्वेष ही प्रमुख है। राग-द्वेष की तीव्रता से ही ज्ञान विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त जहाँ मिथ्यात्व होता है वहाँ अन्य कारण स्वत होते ही हैं। अत शब्द-भेद होने पर भी सभी का सार एक ही है। केवल सक्षेप-विस्तार के विवक्षाभेद से उक्त कथनो मे भेद समझना चाहिए।

जैनदर्शन की तरह बौद्ध-दर्शन ने भी कर्म-बधन का कारण मिथ्या ज्ञान और मोह माना है।[5] न्यायदर्शन का भी यही मन्तव्य है कि मिथ्या-ज्ञान ही मोह है। प्रस्तुत मोह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप नही है किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि ये अनात्मा होने पर भी इनमे 'मैं ही हूँ' ऐसा ज्ञान मिथ्याज्ञान और मोह है। यही कर्म-बधन का कारण है।[6]

१ (क) स्थानाङ्ग २।३
(ख) प्रज्ञापना २३
(ग) प्रवचनसार गा० ६५

२ प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति आचार्य नमि

३ (क) उत्तराध्ययन ३२।७
(ख) स्थानाङ्ग २।२
(ग) समयसार गाथा ६४।६६।१०६।१७७
(घ) प्रवचनसार १।८४।८८

४ आवश्यक टीका

५ (क) सुत्तनिपात ३।१२।३३
(ख) विसुद्धिमग्ग १७।३०२
(ग) मज्झिम निकाय महातण्हासखयसुत्त ३८

६ (क) न्यायभाष्य ४।२।१
(ख) न्यायसूत्र १।१।२
(ग) न्यायसूत्र ४।१।३
(घ) न्यायसूत्र ४।१।६

वैशेषिकदर्शन भी प्रकृत कथन का समर्थन करता है।[१] साख्यदर्शन भी वध का कारण विपर्यास मानता है[२] और विपर्यास ही मिथ्याज्ञान हैं।[3] योग-दर्शन क्लेश को बध का कारण मानता है और क्लेश का कारण अविद्या है।[४] उपनिषद्,[५] भगवद्गीता[६] और ब्रह्मसूत्र मे भी अविद्या को ही बध का कारण माना है।

इस प्रकार जैनदर्शन और अन्य दर्शनो मे कर्म-बध के कारणो मे शब्दभेद और प्रक्रियाभेद होने पर भी मूल भावनाओ मे खास भेद नही है।

निश्चयनय और व्यवहारनय

निश्चय और व्यवहारदृष्टि से भी जैनदर्शन मे कर्म-सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। जो पर-निमित्त के विना वस्तु के असली स्वरूप का कथन करता है वह निश्चयनय है और जो परनिमित्त की अपेक्षा से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहारनय है।[७] प्रश्न है कि निश्चय और व्यवहार की प्रस्तुत परिभाषा के अनुसार क्या कर्म के कर्तृत्व व भोक्तृत्व आदि का निरूपण हो सकता है? परनिमित्त के अभाव मे वस्तु के वास्त-विक स्वरूप के कथन का अर्थ है शुद्ध वस्तु के स्वरूप का कथन। इस अर्थ की दृष्टि से निश्चयनय शुद्ध-आत्मा और शुद्ध-पुद्गल का ही कथन कर सकता है, पुद्गल-मिश्रित आत्मा का, या आत्मा-मिश्रित पुद्गल का नही। अत कर्म के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का कथन निश्चयनय से किस प्रकार सभव है? चूंकि कर्म का सम्बन्ध सासारिक आत्मा से है। व्यवहारनय परनिमित्त की अपेक्षा से वस्तु का निरूपण करता है अत कर्मयुक्त आत्मा का कथन व्यवहारनय से ही हो सकता है। निश्चयनय पदार्थ के शुद्ध स्वरूप का अर्थात् जो वस्तु स्वभाव से अपने आप मे जैसी है वैसी ही प्रतिपादन

---

१ (क) प्रशस्तपाद पृ० ५३८ विपर्यय निरूपण
(ख) प्रशस्तपाद भाष्य, ससारापवर्ग प्रकरण

२ साख्यकारिका ४४-४७-४८

३ ज्ञानस्य विपर्ययोऽज्ञानम्। —माठर वृत्ति ४४

४ योगदर्शन २।३।४

५ कठोपनिषद् १।२।५

६ भगवद्गीता ५।१५६

७ पचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ० ११।

करता है और व्यवहारनय ससारी आत्मा जो कर्म से युक्त है उसका प्रतिपादन करता है। इस तरह निश्चय और व्यवहारनय मे किसी भी प्रकार का विरोध नही है। दोनो की विषयवस्तु भिन्न-भिन्न है, उनका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि का निरूपण नही हो सकता। वह मुक्त आत्मा और पुद्गल आदि शुद्ध अजीव का ही प्रतिपादन कर सकता है।

कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व

कितने ही चिन्तको ने निश्चय और व्यवहारनय की मर्यादा को विस्मृत करके निश्चयनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निरूपण किया है जिससे कर्मसिद्धान्त मे अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गई। इन समस्याओ का कारण है ससारी जीव और मुक्त जीव के भेद का विस्मरण और साथ ही कभी-कभी कर्म और पुद्गल का अन्तर भी भुला दिया जाता है। उन चिन्तको का मन्तव्य है कि जीव न तो कर्मो का कर्ता है और न भोक्ता ही है, चूँकि द्रव्य कर्म पौद्गलिक है, पुद्गल के विकार हैं इसलिए पर हैं। उनका कर्ता चेतन जीव किस प्रकार हो सकता है? चेतन का कर्म चेतनरूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतन-रूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतन रूप होने लगेगा तो चेतन और अचेतन का भेद नष्ट होकर महान् सकर दोष उपस्थित होगा। इसलिए प्रत्येक द्रव्य स्व-भाव का कर्ता है पर-भाव का कर्ता नही।[1]

प्रस्तुत कथन मे ससारी जीव को द्रव्य कर्मों का कर्ता व भोक्ता इसलिए नही माना गया कि कर्म पौद्गलिक हैं। यह किस प्रकार सभव है कि चेतन जीव अचेतन कर्म को उत्पन्न करे? इस हेतु मे जो ससारी अशुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध चैतन्य मान लिया गया है और कर्म को शुद्ध पुद्गल। किन्तु सत्य तथ्य यह है कि न ससारी जीव शुद्ध चैतन्य है और न कर्म शुद्ध पुद्गल ही है। ससारी जीव चेतन और अचेतन द्रव्यो का मिला-जुला रूप है, इसी तरह कर्म भी पुद्गल का शुद्ध रूप नही अपितु एक विकृत अवस्था है जो ससारी जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति से निर्मित हुई है और उससे सवद्ध है। जीव और पुद्गल दोनो अपनी-अपनी स्वाभाविक अवस्था मे हो तो कर्म की उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही पैदा नही

---

१ पचम कर्मग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० ११-१२

हो सकता। ससारी जीव स्वभाव मे स्थित नही है किन्तु उसकी स्व और पर-भाव की मिश्रित अवस्था है, इसलिए उसे केवल स्व-भाव का कर्ता किस प्रकार कह सकते हैं? जब हम यह कहते हैं कि जीव कर्मो का कर्ता है तो इसका तात्पर्य यह नही कि जीव पुद्गल का निर्माण करता है। पुद्गल तो पहले से ही विद्यमान हैं उसका निर्माण जीव नही करता, जीव तो अपने सन्निकट मे स्थित पुद्गल परमाणुओ को अपनी प्रवृत्तियो से आकृष्ट कर अपने मे मिलाकर नीरक्षीरवत् एक कर देता है। यही द्रव्यकर्मो का कर्तृत्व कहलाता है। ऐसी स्थिति मे यह कहना युक्तियुक्त नही है कि जीव द्रव्यकर्मो का कर्ता नही है। यदि जीव द्रव्यकर्मो का कर्ता नही है तो फिर उसका कर्ता कौन है? पुद्गल अपने आप मे कर्म रूप मे परिणत नही होता, जीव ही उसे कर्म रूप मे परिणत करता है। दूसरा महत्त्व पूर्ण तथ्य यह है कि द्रव्य कर्मो के कर्तृत्व के अभाव मे भाव कर्मो का कर्तृत्व किस प्रकार समव हो सकता है। द्रव्य कर्म ही तो भाव कर्म को उत्पन्न करते हैं। सिद्ध द्रव्यकर्मो से मुक्त है इसलिए भावकर्मो से भी मुक्त है। जब यह सिद्ध हो जाता है कि जीव पुद्गल-परमाणुओ को कर्म के रूप मे परिणत करता है तो वह कर्मफल का भोक्ता भी सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो कर्मों से बद्ध होता है वही उनका फल भी भोगता है। इस तरह ससारी जीव कर्मो का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है किन्तु मुक्त जीव न तो कर्मो का कर्ता है और न कर्मो का भोक्ता ही है।

जो विचारक जीव को कर्मो का कर्त्ता और भोक्ता नही मानते है वे विचारक एक उदाहरण देते हैं कि जैसे एक युवक जिसका रूप अत्यन्त सुन्दर है वह कार्यवश कही पर जा रहा है, उसके दिव्य व भव्य रूप को निहार कर एक तरुणी उस पर मुग्ध हो जाय और उसके पीछे-पीछे चलने लगे तो उस युवक का उसमे क्या कर्तृत्व है। कर्त्री तो वह युवती है, वह युवक उसमे केवल निमित्त कारण है।[1] इसी प्रकार यदि पुद्गल जीव की ओर आकर्षित होकर कर्म के रूप मे परिवर्तित होता है तो उसमे जीव का क्या कर्तृत्व है। कर्ता तो पुद्गल स्वय है। जीव उसमे केवल निमित्त कारण है। यही बात कर्मो के भोक्तृत्व के सम्बन्ध मे भी कह सकते हैं। यदि यही बात है तो आत्मा न कर्ता सिद्ध होगा, न भोक्ता, न बद्ध सिद्ध होगा, न

मुक्त, न राग-द्वेषादि भावो से युक्त सिद्ध होगा और न उनसे रहित ही। परन्तु सत्य तथ्य यह नही है। जैसे किसी रूपवान युवक पर युवती मुग्ध होकर उसके पीछे हो जाती है वैसे जड पुद्गल चेतन आत्मा के पीछे नही लगते। पुद्गल अपने आप आकर्षित होकर आत्मा को पकडने के लिए नही दौडता। जीव जब सक्रिय होता है तभी पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। अपने को उसमे मिलाकर उसके साथ एकमेक हो जाते हैं, और समय पर फल प्रदान कर उससे पुन पृथक् हो जाते है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिए जीव पूर्णरूप से उत्तरदायी है। जीव की क्रिया से ही पुद्गल परमाणु उसकी ओर खिचते हैं, सम्बद्ध होते हैं और उचित फल प्रदान करते हैं। यह कार्य न अकेला जीव ही कर सकता है और न अकेला पुद्गल ही कर सकता है। दोनो के सम्मिलित और पारस्परिक प्रभाव से ही यह सब कुछ होता है। कर्म के कर्तृत्व मे जीव की इस प्रकार की निमित्तता नही है कि जीव साख्यपुरुष की भाँति निष्क्रिय अवस्था मे निर्लिप्त भाव से विद्यमान रहता हो और पुद्गल अपने आप कर्म के रूप मे परिणत हो जाते हो। जीव और पुद्गल के परस्पर मिलने से ही कर्म की उत्पत्ति होती है। एकान्त रूप से जीव को चेतन और कर्म को जड नही कह सकते। जीव भी कर्म-पुद्गल के ससर्ग के कारण कथचित् जड है और कर्म भी चैतन्य के ससर्ग के कारण कथचित् चेतन है। जब जीव और कर्म एक-दूसरे से पूर्णरूप मे पृथक् हो जाते है, उनमे किसी प्रकार का सपर्क नही रहता है तब वे अपने शुद्ध स्वरूप मे आजाते है अर्थात् जीव एकान्त रूप से चेतन हो जाता है और कर्म एकान्त रूप से जड।

ससारी जीव और द्रव्यकर्म रूप पुद्गल के मिलने पर उसके प्रभाव से ही जीव मे राग-द्वेपादि भावकर्म की उत्पत्ति सभव है। प्रश्न है कि यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है और पुद्गल भी अपने शुद्ध स्वभाव का कर्ता है, तो राग-द्वेप आदि भावों का कर्ता कौन है ? राग-द्वेप आदि भाव न तो जीव के शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत है और न पुद्गल के ही शुद्ध स्वभाव के अन्तर्गत है, अत उनका कर्ता किसे मानें।

उत्तर है—चेतन आत्मा और अचेतन द्रव्यकर्म के मिश्रित रूप को ही इन अशुद्ध-वैभाविक भावो का कर्ता मान सकते हैं। राग-द्वेपादि भाव चेतन और अचेतन द्रव्यो के सम्मिश्रण से पैदा होते हैं वैसे ही मन, वचन

और काय आदि भी। कर्मों की विभिन्नता और विविधता से ही यह सारा वैचित्र्य है।

निश्चयदृष्टि से कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानने वाले चिन्तक कहते हैं—आत्मा अपने स्वाभाविक भाव ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का और वैभाविक भाव राग, द्वेष आदि का कर्ता है परन्तु उसके निमित्त से जो पुद्गल-परमाणुओ मे कर्मरूप परिणमन होता है उसका वह कर्ता नही है। जैसे घडे का कर्ता मिट्टी है, कुभार नही। लोक-भाषा मे कुभार को घडे का बनाने वाला कहते हैं पर इसका सार इतना ही है कि घट-पर्याय मे कुभार निमित्त है। वस्तुत घट मृत्तिका का एक भाव है इसलिए उसका कर्त्ता भी मिट्टी ही है।[1]

किन्तु प्रस्तुत उदाहरण उपयुक्त नही है। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध घडे और कुभार के समान नही है। घडा और कुभार दोनो परस्पर एकमेक नही होते किन्तु आत्मा और कर्म नीरक्षीरवत् एकमेक हो जाते हैं। इसलिए कर्म और आत्मा का परिणमन घडा और कुभार के परिणमन से पृथक् प्रकार का है। कर्म-परमाणुओ और आत्म प्रदेशो का परिणमन जड और चेतन का मिश्रित परिणमन होता है जिनमे अनिवार्य रूप से एक दूसरे से प्रभावित होते हैं किन्तु घडे और कुभार के सम्बन्ध मे यह बात नही है। आत्मा कर्मों का केवल निमित्त ही नही किन्तु कर्ता और भोक्ता भी है। आत्मा के वैभाविक भावो के कारण पुद्गल-परमाणु उसकी ओर आकर्षित होते है, इसलिए वह उनके आकर्षण का निमित्त है। वे परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ एकमेक होकर कर्मरूप मे परिणत हो जाते हैं, इसलिए आत्मा कर्मों का कर्ता है। वैभाविक भावो के रूप मे आत्मा को उनका फल भोगना पडता है इसलिए वह कर्मों का भोक्ता भी है।

कर्म की मर्यादा

जैन-कर्म-सिद्धान्त का यह स्पष्ट अभिमत है कि कर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा से है। व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा की सुनिश्चित सीमा है और वह उसी सीमा मे सीमित है। इसी प्रकार कर्म भी उसी सीमा मे अपना कार्य करता है। यदि कर्म की सीमा न माने तो आकाश के समान वह भी सर्वव्यापक हो जायेगा। सत्य तथ्य

---

१ पचम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना, पृ० १३

यह है कि आत्मा का स्वदेह परिणामत्व भी कर्म के ही कारण है। कर्म के कारण आत्मा देह मे आबद्ध है तो फिर कम उसे छोडकर अन्यत्र कहाँ जा सकता है ? जब आत्मा सभी प्रकार के शरीरो से मुक्त हो जाता है तब उसका कर्म के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता। वह हमेशा के लिए कर्म से मुक्त हो जाता है। ससारी आत्मा हमेशा किसी न किसी शरीर से बद्ध रहता है और उससे सम्बद्ध कर्मपिण्ड भी उसी शरीर की सीमाओ मे सीमित रहता है।

प्रश्न है—शरीर की सीमाओ मे सीमित कर्म अपनी सीमाओ का परित्याग कर फल दे सकता है ? या व्यक्ति के तन-मन-वचन से भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति, प्राप्ति, व्यय आदि के लिए उत्तरदायी हो सकता है ? जिस क्रिया या घटना विशेष से किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है उसके लिए भी क्या उस व्यक्ति के कर्म को कारण मान सकते है ?

उत्तर है—जैन-कर्म-साहित्य मे कर्म के मुख्य आठ प्रकार बताये है। उसमे एक भी प्रकार ऐसा नहीं है जिसका सम्बन्ध आत्मा और शरीर से पृथक् किसी अन्य पदाथ से हो। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म आत्मा के मूलगुण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात करते है और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म शरीर की विभिन्न अवस्थाओ का निर्माण करते है। इस तरह आठो कर्मों का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा और शरीर के साथ है, अन्य पदार्थों और घटनाओ के साथ नही है। परम्परा से आत्मा, शरीर आदि के अतिरिक्त पदार्थों और घटनाओ मे भी कर्मो का सम्बन्ध हो सकता है, यदि इस प्रकार सिद्ध हो सके तो।

कर्मो का सीधा सम्बन्ध आत्मा और शरीर से है तब प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि धन-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को पुण्यजन्य किस कारण से माना जाता है ?

उत्तर मे निवेदन है कि धन-परिजन आदि मे सुख आदि की अनुभूति हो तो शुभ कर्मोदय की निमित्तता के कारण बाह्य पदार्थों को भी उपचार से पुण्यजन्य मान [illegible] दि की अनुभूति है, धन आदि की [illegible] आदि का अनुभव होता है तो [illegible] । यह

सत्य है कि बाह्य पदार्थो के विना निमित्त भी सुख आदि की अनुभूति हो सकती है। इसी तरह दु ख आदि भी हो सकता है। सुख-दु ख आदि जितनी भी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुभूति होती है उसका मूल कारण बाह्य नही आन्तरिक है। कर्म का सम्वन्ध आन्तरिक कारण से है, वाह्य पदार्थों से नही। वाह्य पदार्थो की उत्पत्ति, विनाश और प्राप्ति अपने-अपने कारणो से होती है किन्तु हमारे कर्मों के कारण से नही होती। हमारे कर्म हमारे तक ही सीमित रहते है, सर्वव्यापक नही है। वे हमारे शरीर और आत्मा से भिन्न अति दूर पदार्थो को किस प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, आकर्षित कर सकते हैं, हम तक पहुँचा सकते है, न्यून और अधिक कर सकते हैं, विनष्ट कर सकते है, सुरक्षित कर सकते है, ये सभी कार्य हमारे कर्मो से नही किन्तु अन्य कारणो से होते हैं। सुख-दु ख आदि की अनुभूति मे निमित्त, सहायक या उत्तेजक होने के कारण उपचार व परम्परा से वाह्य वस्तुओ को पुण्य-पाप का परिणाम मान लेते हैं।

जीव की विविध अवस्थाएँ कर्मजन्य हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन-वचन आदि जीव की विविध अवस्थाएँ कर्म के कारण हैं। किन्तु पत्नी या पति की प्राप्ति, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति, सयोग-वियोग, हानि-लाभ, सुकाल और दुष्काल, प्रकृति-प्रकोप, राज-प्रकोप आदि का कारण उनका अपना होता है, हमारा कर्म नही। यह ठीक है कि कुछ कार्यो व घटनाओ मे हमारा यत्किंचित् निमित्त हो सकता है किन्तु उनका मूल स्रोत उन्ही के अन्दर हैं, हमारे मे नही। हम प्रियजन, स्वजन आदि के मिलने को पुण्य कर्म मानते हैं और उनके वियोग को पापफल कहते हैं परन्तु यह मान्यता जैनदर्शन की नही है। पिता के पुण्य के उदय से पुत्र पैदा नही होता, और पिता के पाप के उदय से पुत्र की मृत्यु नही होती। पुत्र के पैदा होने और मरने मे उसका अपना कर्मो का उदय है किन्तु पिता का पुण्योदय और पापोदय नही। हाँ, यह सत्य है कि पुत्र पैदा होने के पश्चात् वह जीवित रहता है तो मोहनीय कर्म के कारण पिता को प्रसन्नता हो सकती है और उसके मरने पर दु ख हो सकता है। इस प्रसन्नता और दु ख का कारण पिता का पुण्योदय और पापोदय है और उसका निमित्त पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु है। इस तरह पिता के पुण्योदय और पापोदय से पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु नही होती किन्तु पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु पिता के पुण्योदय और पापोदय का निमित्त हो सकती है। इसी

यह है कि आत्मा का स्वदेह परिणामत्व भी कर्म के ही कारण है। कर्म के कारण आत्मा देह मे आबद्ध है तो फिर कर्म उसे छोडकर अन्यत्र कहाँ जा सकता है ? जब आत्मा सभी प्रकार के शरीरो से मुक्त हो जाता है तब उसका कर्म के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता। वह हमेशा के लिए कर्म से मुक्त हो जाता है। ससारी आत्मा हमेशा किसी न किसी शरीर से बद्ध रहता है और उससे सम्बद्ध कर्मपिण्ड भी उसी शरीर की सीमाओ मे सीमित रहता है।

प्रश्न है—शरीर की सीमाओ मे सीमित कर्म अपनी सीमाओ का परित्याग कर फल दे सकता है ? या व्यक्ति के तन-मन-वचन से भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति, प्राप्ति, व्यय आदि के लिए उत्तरदायी हो सकता है ? जिस क्रिया या घटना विशेष से किसी व्यक्ति का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नही है उसके लिए भी क्या उस व्यक्ति के कर्म को कारण मान सकते है ?

उत्तर है—जैन-कर्म-साहित्य मे कर्म के मुख्य आठ प्रकार बताये हैं। उसमे एक भी प्रकार ऐसा नही है जिसका सम्बन्ध आत्मा और शरीर से पृथक् किसी अन्य पदार्थ से हो। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म आत्मा के मूलगुण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का घात करते है और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म शरीर की विभिन्न अवस्थाओ का निर्माण करते हैं। इस तरह आठो कर्मो का साक्षात् सम्बन्ध आत्मा और शरीर के साथ है, अन्य पदार्थों और घटनाओ के साथ नही है। परम्परा से आत्मा, शरीर आदि के अतिरिक्त पदार्थों और घटनाओ से भी कर्मो का सम्बन्ध हो सकता है, यदि इस प्रकार सिद्ध हो सके तो।

कर्मो का सीधा सम्बन्ध आत्मा और शरीर मे है तब प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि धन-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को पुण्यजन्य किस कारण से माना जाता है ?

उत्तर मे निवेदन है कि धन-परिजन आदि से सुख आदि की अनुभूति हो तो शुभ कर्मोदय की निमित्तता के कारण बाह्य पदार्थों को भी उपचार से पुण्यजन्य मान सकते है। वस्तुत पुण्य का कार्य सुख आदि की अनुभूति है, धन आदि की उपलब्धि नही। धन आदि के अभाव मे भी सुख आदि का अनुभव होता है तो उसे पुण्य या शुभ कर्मो का फल समझना चाहिए। यह

सत्य है कि बाह्य पदार्थों के विना निमित्त भी सुख आदि की अनुभूति हो सकती है। इसी तरह दु ख आदि भी हो सकता है। सुख-दु ख आदि जितनी भी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुभूति होती है उसका मूल कारण बाह्य नही आन्तरिक है। कर्म का सम्बन्ध आन्तरिक कारण से है, बाह्य पदार्थों से नही। बाह्य पदार्थों की उत्पत्ति, विनाश और प्राप्ति अपने-अपने कारणो से होती है किन्तु हमारे कर्मों के कारण से नही होती। हमारे कर्म हमारे तक ही सीमित रहते हैं, सर्वव्यापक नही है। वे हमारे शरीर और आत्मा से भिन्न अति दूर पदार्थों को किस प्रकार उत्पन्न कर सकते है, आकर्षित कर सकते हैं, हम तक पहुँचा सकते हैं, न्यून और अधिक कर सकते हैं, विनष्ट कर सकते है, सुरक्षित कर सकते है, ये सभी कार्य हमारे कर्मो से नही किन्तु अन्य कारणो से होते है। सुख-दु ख आदि की अनुभूति मे निमित्त, सहायक या उत्तेजक होने के कारण उपचार व परम्परा से बाह्य वस्तुओ को पुण्य-पाप का परिणाम मान लेते है।

जीव की विविध अवस्थाएँ कर्मजन्य हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, मन-वचन आदि जीव की विविध अवस्थाएँ कर्म के कारण हैं। किन्तु पत्नी या पति की प्राप्ति, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति, सयोग-वियोग, हानि-लाभ, सुकाल और दुष्काल, प्रकृति-प्रकोप, राज-प्रकोप आदि का कारण उनका अपना होता है, हमारा कर्म नही। यह ठीक है कि कुछ कार्यों व घटनाओ मे हमारा यत्किंचित् निमित्त हो सकता है किन्तु उनका मूल स्रोत उन्ही के अन्दर हैं, हमारे मे नही। हम प्रियजन, स्वजन आदि के मिलने को पुण्य कर्म मानते हैं और उनके वियोग को पाप-फल कहते है परन्तु यह मान्यता जैनदर्शन की नही है। पिता के पुण्य के उदय से पुत्र पैदा नही होता, और पिता के पाप के उदय से पुत्र की मृत्यु नही होती। पुत्र के पैदा होने और मरने मे उसका अपना कर्मों का उदय है किन्तु पिता का पुण्योदय और पापोदय नही। हाँ, यह सत्य है कि पुत्र पैदा होने के पश्चात् वह जीवित रहता है तो मोहनीय कर्म के कारण पिता को प्रसन्नता हो सकती है और उसके मरने पर दु ख हो सकता है। इस प्रसन्नता और दु ख का कारण पिता का पुण्योदय और पापोदय है और उसका निमित्त पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु है। इस तरह पिता के पुण्योदय और पापोदय से पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु नही होती किन्तु पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु पिता के पुण्योदय और पापोदय का निमित्त हो सकती है। इसी

तरह अन्यान्य घटनाओ के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए। व्यक्ति का कर्मोदय, कर्मक्षय, कर्मोपशम आदि की अपनी एक सीमा है और वह सीमा है उसका शरीर, मन, वचन आदि। उस सीमा को लाँघ कर कर्मोदय नही होता। साराश यह है कि अपने से पृथक् सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश उनके अपने कारणो से होती है हमारे कर्म के उदय के कारण से नही होती।

उदय

उदय का अर्थ काल मर्यादा का परिवर्तन है। बँधे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने मे समर्थ हो जाते हैं तब उनके निषेक[1]—कर्म-पुद्गलो की एक काल मे उदय होने योग्य रचना-विशेष—प्रकट होने लगते हैं वह उदय है।

दो प्रकार से कर्म का उदय होता है—

(१) प्राप्त-काल कर्म का उदय।

(२) अप्राप्त-काल कर्म का उदय।

कर्म का वन्ध होते ही उसमे उसी समय विपाक-प्रदर्शन की सामर्थ्य नही हो जाती। वह सामर्थ्य निश्चित अवधि के पश्चात् होती है। कर्म की प्रस्तुत अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का कर्तृत्व प्रकट नही होता किन्तु कर्म का अवस्थान-मात्र होता है। अबाधा का अर्थ अन्तर है। बन्ध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अवाधाकाल है।[2]

अबाधाकाल से स्थिति के दो विभाग होते हैं—

(१) अवस्थानकाल।

(२) अनुभव या निषेक-काल।

अबाधाकाल के समय अनुभव नही होता किन्तु केवल अवस्थान होता है। अवाधाकाल पूर्ण होने पर अनुभव होता है। जितना अवाधाकाल होता है उतना अनुभव काल से अवस्थान-काल विशेष होता है। अवाधा-काल को छोडकर चिन्तन करे तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये

---

१ कर्म-निषेको नाय कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेष।
—भगवती ६।३।२३६ वृत्ति

२ वाधा—कर्मण उदय, न वाधा अवाधा—कर्मणो बधस्योदयस्य चान्तरम्।
—भगवती ६।३।२३६ वृत्ति

दोनो समकाल मर्यादा वाले होते हैं। लम्बे काल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तप आदि साधना के द्वारा विफल बना कर स्वल्प समय मे भोग लिए जाते है। आत्मा शीघ्र निर्मल हो जाती है।

कर्म का वेदन या भोग काल-मर्यादा पूर्ण होने पर प्रारम्भ होता है। वह प्राप्त काल का उदय है। यदि स्वाभाविक रूप से ही कर्म उदय मे आए तो आकस्मिक घटनाओ की सम्भावना एव तप आदि साधना की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है, परन्तु अपवर्तना से कर्म की उदीरणा या अप्राप्त-काल उदय होता है। अत आकस्मिक घटनाओ से कर्म-सिद्धान्त के प्रति सन्देह उत्पन्न नही हो सकता। तप आदि साधना की सफलता का भी यही मुख्य कारण है।

कर्म का परिपाक और उदय सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। अपने आप भी होता है और दूसरो के द्वारा भी। किसी बाह्य कारण के अभाव मे भी क्रोध-वेदनीय-पुद्गलो के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है[1]। इसी तरह हास्य[2], भय, वेद, और कषाय के पुद्गलो का भी उदय होता है।[3]

स्वत उदय मे आने वाले कर्म के हेतु

गति-हेतुक-उदय—नरक गति मे असात का तीव्र उदय होता है। इसे गति-हेतुक विपाक कहते है।

स्थिति-हेतुक-उदय—मोहकर्म की उत्कृष्टतम स्थिति मे मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक उदय है।

भव-हेतुक-उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नीद आती है)—यह सभी ससारी जीवो मे होता है तथापि मनुष्य और तिर्यंच दोनो को ही नीद आती है, देव, नारक को नही। यह भव-हेतुक विपाक उदय है।

गति, स्थिति और भव के कारण से कितने ही कर्मो का स्वत विपाक उदय हो जाता है।

---

१ अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्ष केवल क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठित। —स्थानाङ्ग ४।७६ वृत्ति, पत्र १८२

२ स्थानाङ्ग ४

३ स्थानाङ्ग ४।७५-७६

दूसरो द्वारा उदय मे आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, घाव हो गया, असात का उदय हो आया—यह दूसरो के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक उदय है।

किसी ने अपशब्द कहा, क्रोध आ गया—यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलो का सहेतुक विपाक उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—बढिया भोजन किया, किन्तु न पचने से अजीर्ण हो गया, उससे रोग उत्पन्न हुए यह असात-वेदनीय का विपाक उदय है।

मदिरा आदि नशीली वस्तु का उपयोग किया, उन्माद छा गया, यह ज्ञानावरण का विपाक उदय हुआ। यह पुद्गल-परिणमन-हेतुक-विपाक-उदय है।

इस तरह विविध हेतुओ से कर्मो का विपाक-उदय होता है।[1] यदि ये हेतु प्राप्त नही होते तो कर्मो का विपाक रूप मे उदय नही होता। उदय का दूसरा प्रकार है प्रदेशोदय। इसमे कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नही होता है। यह कर्मवेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म बन्ध होता है वह अवश्य ही भोगा जाता है।

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! किये हुए पाप-कर्म भोगे बिना नही छूटते, क्या यह सत्य है?

भगवान ने समाधान करते हुए कहा—हाँ गौतम! यह सत्य है।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—कैसे, भगवन्?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाये हैं—(१) प्रदेश-कर्म और (२) अनुभाग-कर्म। जो प्रदेश-कर्म हैं वे अवश्य ही भोगे जाते हैं तथा जो अनुभाग कर्म है, वे अनुभाग (विपाक) रूप मे कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नही भोगे जाते।[2]

---

१ प्रज्ञापना २३।१।२९३

२ प्रदेशा कर्मपुद्गला जीव प्रदेशेष्वोतप्रोता तद्रूप कम प्रदेशकर्म।
अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशाना सवेद्यमानता विपय रस तद्रूप कर्म अनुभाग-कम।
—भगवती १।४।४० वृत्ति

पुरुषार्थ से भाग्य मे परिवर्तन हो सकता है

वर्तमान मे जो हम पुरुषार्थ करते हैं उसका फल अवश्य ही प्राप्त होता है। भूतकाल की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नही भी है। वर्तमान मे किया गया पुरुषार्थ यदि भूतकाल के किये गये पुरुषार्थ मे दुर्बल है तो वह भूतकाल के किये गये पुरुषार्थ पर नही छा सकता। यदि वर्तमान मे किया गया पुरुषार्थ भूतकाल के पुरुषार्थ से प्रबल है तो वह भूतकाल के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की केवल बन्ध और उदय ये दो ही अवस्थाएँ नही हैं, अन्य अवस्थाएँ भी हैं। बन्ध और उदय ये दो ही अवस्थाएँ होती तो कर्म-परिवर्तन को अवकाश नही था किन्तु अन्य अवस्थाएँ भी हैं —

(१) अपवर्तन से कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थितिघात) और रस का मन्दीकरण (रसघात) होता है।

(२) उद्वर्तना से कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

(३) उदीरणा से दीर्घकाल के पश्चात् तीव्र भाव से उदय मे आने वाले कर्म उसी समय और मन्द भाव से उदय मे आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है उसका विपाक शुभ होता है, एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। जो कर्म शुभ रूप मे बँधता है, शुभ रूप मे ही उदय मे आता है, वह शुभ है और शुभ विपाक वाला है। जो कर्म शुभ रूप मे बँधता है, अशुभ रूप मे उदय मे आता है वह शुभ और अशुभ विपाक वाला है। जो कर्म अशुभ रूप मे बंधता है, शुभ रूप मे उदय मे आता है वह अशुभ और शुभ विपाक वाला है। जो कर्म अशुभ रूप मे बँधता है, अशुभ रूप मे उदय मे आता है वह अशुभ और अशुभ विपाक वाला है। कर्म के बध और उदय मे जो यह अन्तर है उसका मूल कारण सक्रमण (बध्यमान कर्म मे कर्मान्तिर का प्रवेश) है।

जिस परिणाम विशेष से जीव कर्म-प्रकृति को बाँधता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पहले बंधी हुई सजातीय प्रकृति के दलिको को वर्तमान मे बँधने वाली प्रकृति के दलिको मे सक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है, उसे सक्रमण कहते हैं।

सक्रमण के—(१) प्रकृति सक्रमण, (२) स्थिति सक्रमण, (३) अनुभाव सक्रमण और (४) प्रदेश सक्रमण—ये चार प्रकार हैं।

प्रकृति सक्रमण मे पूर्वबद्ध प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान मे बध्यमान प्रकृति के रूप मे बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग और प्रदेश मे भी परिवर्तन होता है।

अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरणा, और सक्रमण—ये चारो उदयावलिका (उदय-क्षण) के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलो के ही होते हैं। उदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म-पुद्गल के उदय मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही होता। अनुदित कर्म के उदय मे परिवर्तन होता है। पुरुषार्थवाद का यही मूल आधार है। यदि यह परिवर्तन आदि नही होता तो केवल नियतिवाद ही होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन ?

पहले बताया जा चुका है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसका फल उसे प्राप्त होता है। शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है।[1]

कर्म की मुख्यत दो अवस्थाएँ हैं—बन्ध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को बाँधने मे जीव स्वतन्त्र है किन्तु उसके फल को भोगने मे वह स्वतन्त्र नही—कर्म के अधीन है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढता हैं वह चढने मे स्वतन्त्र है अपनी इच्छानुसार चढ सकता है किन्तु असावधानीवश गिर जाय तो वह गिरने मे स्वतन्त्र नही है।[2] वह इच्छा से गिरना नही चाहता है तथापि गिर जाता है अत गिरने मे परतन्त्र है। इसी प्रकार व्यक्ति भंग पीने मे स्वतन्त्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने मे परतन्त्र है। उसकी इच्छा न होते हुए भी भग अपना चमत्कार दिखाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नही।

उक्त कथन का यह अर्थ नही कि बद्ध कर्मों के विपाक मे आत्मा कुछ

---

१ सुच्चिण्णा कम्मा सुच्चिणाफला भवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिणाफला भवन्ति॥ —दशाश्रुतस्कन्ध ६

२ कम्म चिणति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्ख दुरूहइ सवमो, विगलसपरवसो तत्तो॥
—विशेषावश्यक भाष्य १।३

भी परिवर्तन नही कर सकता। जैसे भग के नशे की विरोधी वस्तु का सेवन किया जाय तो भग का नशा नही चढता, या नाममात्र का ही चढता है, उसी प्रकार प्रशस्त अध्यवसायो के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और नष्ट भी किया जा सकता है। उस अवस्था मे कर्म प्रदेशो से उदित होकर ही निर्जीर्ण हो जाते है। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिकाल) को कम करके शीघ्र उदय मे भी लाया जा सकता है।

दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि जीव के काल आदि लब्धियो की अनुकूलता होती है तब वह कर्मों को पछाड देता है और कर्मों की बहुलता होती है तब जीव उससे दब जाता है। इसलिए कही पर जीव कर्म के अधीन है और कही कर्म जीव के अधीन है।

कर्म के दो प्रकार हैं—

(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नही हो सकता।

(२) अनिकाचित—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

दूसरे शब्दो मे (१) निरुपक्रम—इसका कोई प्रतिकार नही होता, इसका उदय अन्यथा नही हो सकता। (२) सोपक्रम—यह उपचार-साध्य होता है।

जीव निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा से कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की दृष्टि से दोनो बातें हैं—जब तक जीव उस कर्म को नष्ट करने का प्रयास नही करता तब तक वह उस कर्म के अधीन ही होता है और जब जीव प्रबल पुरुषार्थ के साथ मनोबल और शरीर-बल आदि सामग्री के सहयोग से सद्प्रयास करता है वहाँ पर कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पहले कर्म को उदय मे लाकर, नष्ट कर देना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना। पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर उन्हे बहुत ही शीघ्र नष्ट करने के लिए तपस्या की जाती है।

पातजल योगभाष्य मे भी अदृष्टजन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ निरूपित की गई है। उनमे एक गति यह है—कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते है।[1] इसे जैन-पारिभाषिक शब्दो मे प्रदेशोदय कहा है।

---

१ कृतस्याऽविपक्वस्य नाश—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मण प्रायश्चितादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थं। —पातजलयोग २।१३ भाष्य

उदीरणा

गौतम ने भगवान से प्रश्न किया—भगवन् ! जीव उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

जीव उदयानतर पश्चात्-कृत कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है ?

भगवान ने उत्तर दिया—गौतम ! जीव उदीर्ण की उदीरणा नही करता।

जीव अनुदीर्ण की उदीरणा नही करता है।

जीव अनुदीर्ण किन्तु उदीरणा-योग्य की उदीरणा करता है।

जीव उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नही करता।

(१) उदीर्ण कर्म-पुद्गलो की पुन उदीरणा की जाय तो उस उदीरणा की कही पर भी परि-समाप्ति नही हो सकती। अत उदीर्ण की उदीरणा नही हो सकती।

(२) जिन कर्म-पुद्गलो की उदीरणा वर्तमान मे नही पर सुदूर भविष्य मे होने वाली है या जिसकी उदीरणा[1] नही होने वाली है। उन अनुदीर्ण-कर्म-पुद्गलो की भी उदीरणा नही हो सकती।

(३) जो कर्म-पुद्गल उदय मे आ चुके (उदयानन्तर पश्चात्-कृत) वे शक्तिहीन हो गये, अत उनकी भी उदीरणा नही होती।

(४) जो कर्म-पुद्गल वर्तमान मे उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य) है, उन्ही की उदीरणा होती है।

उदीरणा का कारण

कर्म जब स्वाभाविक रूप से उदय मे आते है तब नवीन पुरुषार्थ की आवश्यकता नही होती। बन्ध स्थिति पूर्ण होते ही कर्म-पुद्गल स्वत उदय मे आ जाते हैं। स्थिति-क्षय से पूर्व उदीरणा द्वारा उदय मे लाया जाता है एतदर्थ इसमे विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की जो उदीरणा होती है उसमे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य,

---

१ भगवती १।३।३५

पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता है या अनुत्थान अकर्म, अवल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम की आवश्यकता होती है।

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—गौतम ! जीव उत्थान आदि से अनुदीर्ण पर उदीरणा-योग्य कर्म-पुद्गलो की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नही करता।[1]

इसमे भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ से कर्म मे भी परिवर्तन हो सकता है, यह वात पूर्णरूप से स्पष्ट है।

कर्म की उदीरणा 'करण' से होती है। करण का अर्थ 'योग' है। योग के तीन प्रकार हैं—मन, वचन और काय।

उत्थान, वल, वीर्य आदि इन्ही के प्रकार हैं। योग शुभ और अशुभ दोनो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय रहित योग शुभ है और इनसे सहित योग अशुभ है। सत् प्रवृत्ति शुभ योग है और असत् प्रवृत्ति अशुभ योग है। सत् प्रवृत्ति और असत् प्रवृत्ति दोनो से उदीरणा होती है।[2]

वेदना

गौतम ने भगवान से पूछा—भगवन् ! अन्य यूथिको का यह अभिमत है कि सभी जीव एवभूत वेदना (जिस प्रकार कर्म बाँधा है उसी प्रकार) भोगते हैं—क्या यह कथन उचित है ?

भगवान ने कहा—गौतम ! अन्य यूथिको का प्रस्तुत एकान्त कथन मिथ्या है। मेरा यह अभिमत है कि कितने ही जीव एवभूत-वेदना भोगते हैं और कितने ही जीव अन-एवभूत-वेदना भी भोगते हैं।

गौतम ने पुन प्रश्न किया—भगवन् ! यह कैसे ?

भगवान ने कहा—गौतम् ! जो जीव किये हुए कर्मो के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवभूत-वेदना भोगते हैं और जो जीव किये हुए कर्मो से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं वे अन-एवभूत-वेदना भोगते है।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—वेदना अतीतकाल मे ग्रहण किये हुए पुद्गलो की होती है। वर्तमानकाल मे ग्रहण किये जाने

---

१ भगवती १।३।३५
२ भगवती १।३।३५

वाले पुद्गलो की वेदना नही होती और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्गलो की वेदना होती है।

निर्जरा

आत्मा और परमाणु ये दोनो पृथक् हैं। जब तक पृथक् रहते हैं तब तक आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु है। जब दोनो का सयोग होता है तब आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य-परमाणु जब आत्मा से चिपकते हैं तब वे कर्म कहलाते है। उस पर अपना प्रभाव डालने के पश्चात् वे अकर्म हो जाते हैं। अकर्म होते ही वे आत्मा से अलग हो जाते हैं। इस अलगाव का नाम निर्जरा है।

औपचारिक दृष्टि से हम कहते है कि कर्मो की निर्जरा होती है पर सत्य तथ्य यह है कि कर्मो के दलिक फल देने के साथ ही अकर्म रूप होते हुए झड जाते हैं, यही निर्जरा है।

कितने ही फल टहनी पर पक कर टूटते है तो कितने ही फल प्रयत्न से पकाये जाते हैं। दोनो ही फल पकते है किन्तु दोनो के पकने की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् है। जो सहज रूप मे पकता है उसके पकने का समय लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकाया जाता है उसके पकने का समय कम होता है। कर्म का परिपाक ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित्त काल-मर्यादा से जो कर्म-परिपाक होता है, वह निर्जरा विपाकी-निर्जरा कहलाती है। इसके लिए किसी भी प्रकार का नवीन प्रयत्न नही करना पडता। इसलिए यह निर्जरा न धर्म है और न अधर्म है।

निश्चित्त काल-मर्यादा से पूर्व शुभ-योग के द्वारा कर्म का परिपाक होकर निर्जरा होती है, वह अविपाकी निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा सहेतुक है। इसका हेतु शुभ-प्रयास है। अत धर्म है।

आत्मा पहले या कर्म ?

आत्मा पहले है या कर्म पहले हैं ? दोनो मे पहले कौन है और पीछे कौन है ? यह एक प्रश्न है।

उत्तर है—आत्मा और कर्म दोनो अनादि हैं। कर्मसतति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिपल-प्रतिक्षण जीव नूतन कर्म बाँधता रहता है। ऐसा कोई भी क्षण नही, जिस समय सासारिक जीव कर्म नही बाँधता हो। इस दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि

भी कहा जा सकता है, पर कर्म-सन्तति की अपेक्षा आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है।[1]

अनादि का अन्त कैसे

प्रश्न है—जब आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है तब उसका अन्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो अनादि होता है उसका नाश नही होता।

उत्तर है—अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है, जो जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति विशेष पर यह नियम लागू नही भी होता। स्वर्ण और मिट्टी का, घृत और दुग्ध का सम्बन्ध अनादि है, तथापि वे पृथक्-पृथक् होते है। वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त होता है।[2] यह भी स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति रूप से कोई भी कर्म अनादि नही है। किसी एक कर्मविशेष का अनादि काल से आत्मा के साथ सम्बन्ध नही है। पूर्वबद्ध कर्म स्थिति पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। नवीन कर्म का बन्धन होता रहता है। इस प्रकार प्रवाह रूप से आत्मा के साथ कर्मो का सम्बन्ध अनादि काल से है,[3]

---

१ (क) जो खलु ससारत्था जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसुगदी॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायन्ते।
तेहि दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा।
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि,
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥
—पचास्तिकाय—आचार्य कुन्दकुन्द

(ख) जीव हँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण।
कम्मे जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण॥
एहु ववहारे जीवडउ हेउ लहे विणु कम्मु।
वहुविह-भावे परिणवइ तेण जि धम्मु अहम्मु॥
—परमात्मप्रकाश १।५९।६०

२ द्वयोरप्यनादिसम्बन्ध, कनकोपल-सन्निभ।

३ (क) यथाऽनादि स जीवात्मा, यथाऽनादिश्च पुद्गल।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादि स्यात् सम्बन्धो जीव-कर्मणो॥
—पचाध्यायी २।४५, प० राजमल्ल

(ख) अस्त्यात्माऽनादितो वद्ध, कर्मभि कार्मणात्मकै। —लोकप्रकाश ४२४

(ग) आदिरहितो जीवकर्मयोग इति पक्ष। —स्थानाङ्ग १।४। ९टीका

न कि व्यक्तिश। अत अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है, तप और सयम के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है, सचित कर्म नष्ट होते हैं और आत्मा मुक्त बन जाता है।[1]

आत्मा बलवान् या कर्म

आत्मा और कर्म इन दोनो मे अधिक शक्तिसम्पन्न कौन है? क्या आत्मा बलवान् है या कर्म बलवान है।

समाधान है—आत्मा भी बलवान् है और कर्म भी बलवान है। आत्मा मे भी अनन्त शक्ति है और कर्म मे भी अनन्त शक्ति है। कभी जीव, काल आदि लब्धियो की अनुकूलता होने पर कर्मो को पछाड देता है, और कभी कर्मो की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।[2]

बहिर्दृष्टि से कर्म बलवान् प्रतीत होते है, पर अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान् है, क्योकि कर्म का कर्ता आत्मा है, वह मकडी की तरह कर्मो का जाल बिछाकर उसमे उलझता है। यदि वह चाहे तो कर्मो को काट भी सकता है। कर्म चाहे कितने भी अधिक शक्तिशाली हो, पर आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।

लौकिकदृष्टि से पत्थर कठोर है और पानी मुलायम है, किन्तु मुलायम पानी पत्थर के भी टुकडे-टुकडे कर देता है। कठोर चट्टानो मे भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। वीर हनुमान को जब तक स्व-स्वरूप का परिज्ञान नही हुआ तब तक वह नाग-पाश मे बँधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा, अपमान के जहरीले घूंट पीता रहा, किन्तु ज्यो ही उसे स्वरूप का ज्ञान हुआ, त्यो ही नाग-पाश को तोडकर मुक्त हो गया। आत्मा को भी जब तक अपनी विराट् चेतनाशक्ति का ज्ञान नही होता तब तक वह भी कर्मो को अपने से अधिक शक्तिमान् समझकर उनसे दबा रहता है, ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

---

१ खवित्ता पुव्वकम्माइ, सजमेण तवेण य।
सव्व-दुक्ख-पहीणट्ठा, पक्कमति महेसिणो॥ —उत्तराध्ययन २५।४५

२ कत्थवि बलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुन्ति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्वविरुद्धाइ वेराइ।
—गणधरवाद २-२५

कर्म और उसका फल

सासारिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का वन्धन करते है, उन्हे विपाक की दृष्टि से भारतीय चिन्तको ने दो भागो मे विभक्त किया है—शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप अथवा कुशल, और अकुशल। इन दो भेदो का उल्लेख, जैनदर्शन,[1] बौद्धदर्शन,[2] साख्यदर्शन[3] योगदर्शन,[4] न्याय-दर्शन, वैशेषिकदर्शन[5] और उपनिषद्[6] आदि मे हुआ है। जिस कर्म के फल को प्राणी अनुकूल अनुभव करता है वह पुण्य है और प्रतिकूल अनुभव करता है वह पाप है। पुण्य के फल की सभी इच्छा करते है। किन्तु पाप के फल की कोई इच्छा नही करता। इच्छा न करने पर भी उसके विपाक से बचा नही जा सकता।

जीव ने जो कर्म बाँधा है उसे इस जन्म मे या आगामी जन्मो मे भोगना ही पडता है।[7] कृत-कर्मो का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नही हो सकता।[8]

महात्मा बुद्ध कहते हैं—चाहे अन्तरिक्ष मे चले जाओ, समुद्र मे घुस जाओ, गिरि कदराओ मे छिप जाओ। किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नही, जहाँ तुम्हे पाप कर्मो का फल भोगना न पडे।[9]

---

१ शुभ पुण्यस्य। अशुभ पापस्य। —तत्वार्थसूत्र ६।३-४

२ विशुद्धिमग्गो १७।८८

३ साख्यकारिका ४४

४ (क) योगसूत्र २।१४
(ख) योगभाष्य २।१२

५ (क) न्यायमजरी पृ० ४७२।
(ख) प्रशस्तपाद पृ० ६३७।६४३

६ बृहदारण्यक ३।२।१३

७ (क) परलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति,
इहलोककडा कम्मा इहलोए वेइज्जति। —भगवती सूत्र
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७७

८ कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन ४।३

९ न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतान विवर पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेशो, यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पावकम्मा॥
—धम्मपद ९।१२

वेदपथी कवि सिहलन मिश्र भी यही कहते है कि कही भी चले जाओ, परन्तु जन्मान्तर मे जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो छाया के समान साथ ही साथ रहेगे। वे तुम्हे कदापि नही छोडे गे।[1]

आचार्य अमितगति का कथन है—"अपने पूर्वकृत कर्मों का ही शुभाशुभ फल हम भोगते हैं, यदि अन्य द्वारा दिया फल भोगें तो हमारे स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे।"[2]

अध्यात्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य कुन्दकुन्द का भी यही स्वर है—"जीव और कर्मपुद्गल परस्पर गाढ रूप मे मिल जाते है, समय पर वे पृथक्-पृथक् भी हो जाते हैं। जब तक जीव और कर्म-पुद्गल परस्पर मिले रहते है तब तक कर्म सुख-दु ख देता है और जीव को वह भोगना पडता है।[3]

महात्मा बुद्ध ने एक बार पैर मे काँटा विंध जाने पर अपने शिष्यो से कहा—"भिक्षुओ! इस जन्म से एकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र-विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर काँटे से विंध गया है।"[4]

भगवान् महावीर के जीवन प्रसगो से भी यह बात स्पष्ट है कि उन्हे साधनाकाल मे जो रोमाचकारी कष्ट सहने पडे थे, उनका मूल कारण पूर्वकृत कर्म ही थे।[5]

---

१ आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त—
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणा,
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि॥ —शान्तिशतकम ८२

२ स्वय कृत कर्म्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कम निरथक तदा॥
—द्वात्रिंशिका, ३०

३ जीवा पुग्गलकाया, अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा, सुहदुक्ख दिंति भुजन्ति॥ —पञ्चास्तिकाय ६७

४ इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषा हत।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव॥
—षड्दर्शन समुच्चय, टीका

५ देखिए. लेखक का भगवान महावीर—एक अनुशीलन ग्रन्थ

ईश्वर और कर्मवाद

जैनदर्शन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[1] न्यायदर्शन[2] की तरह वह कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को नही मानता। कर्मफल का नियमन करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नही है। कर्म-परमाणुओ मे जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होता है।[3] जिससे वह द्रव्य,[4] क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति[5] प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन मे समर्थ होकर आत्मा के सस्कारो को मलिन करता है। उससे उनका फलोपभोग होता है। पीयूप और विष, पथ्य और अपथ्य भोजन मे कुछ भी ज्ञान नही होता, तथापि आत्मा का सयोग पाकर वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल विपाक उत्पन्न करते हैं। वह बिना किसी प्रेरणा अथवा विना ज्ञान के अपना कार्य करते ही हैं। अपना प्रभाव डालते ही है।

कालोदायी अनगार ने भगवान श्री महावीर से प्रश्न किया—भगवन्! क्या जीवो के किये गये पाप कर्मो का परिपाक पापकारी होता है।[6]

भगवान ने उत्तर दिया—कालोदायी! हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुन जिज्ञासा व्यक्त की—भगवन्! किस प्रकार होता है?

भगवान ने रूपक की भाषा मे समाधान करते हुए कहा—कालोदायी! जिस प्रकार कोई पुरुष मनोज्ञ, सम्यक् प्रकार से पका हुआ शुद्ध, अष्टादश व्यजनो मे परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है। वह भोजन आपातभद्र—खाते समय अच्छा—होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसका परिणमन होता है त्यो-त्यो उसमे विकृति उत्पन्न होती है, वह परिणामभद्र नही

---

१ अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य। —उत्तरा० २०।३७

२ (क) ईश्वर कारण पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्। —न्यायदर्शन, सूत्र ४।१
(ख) तत्कारित्वादहेतु। —गौतमसूत्र, अ० ४, आ० १ सू० २१

३ भगवती ७-१०

४ दव्व, खेत्त, कालो, भवो य भावो य हेयवो पच।
हेउसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईण॥ —पचसग्रह

५ प्रज्ञापना पृष्ठ २३

६ भगवती ७।१०

होता। इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप कर्म) आपातभद्र और परिणाम-अभद्र होते हैं। कालोदायी, इसी प्रकार पाप कर्म पापविपाक वाले होते हैं।[1]

कालोदायी ने निवेदन किया—भगवन्! क्या जीवो के किये हुए कल्याण कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है?

भगवान ने कहा—हाँ, होता है।

कालोदायी ने पुन तर्क किया—भगवन्! कैसे होता है?

भगवान ने कहा—कालोदायी! प्राणातिपातविरति यावत् मिथ्या दर्शनशल्य विरति आपातभद्र प्रतीत नही होती, पर परिणामभद्र होती है। इसी प्रकार हे कालोदायी! कल्याणकर्म भी कल्याणविपाक वाले होते हैं।[2]

जैसे गणित करने वाली मशीन जड होने पर भी अक गिनने मे भूल नही करती, वैसे ही कर्म भी जड होने पर भी फल देने मे भूल नही करता, उसके लिए ईश्वर को नियन्ता मानने की आवश्यकता नही है। आखिर ईश्वर वही फल प्रदान करेगा जैसे जीव के कर्म होगे। कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने मे समर्थ नही होगा। इस प्रकार एक ओर ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना, वस्तुत ईश्वर का उपहास है। इससे यह भी सिद्ध है कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक है और ईश्वर भी उसके अधीन ही कार्य करता है। दूसरी दृष्टि से कर्म मे भी कुछ करने-धरने की शक्ति नही माननी होगी,

---

१ अत्थि ण भन्ते! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जन्ति? हन्ता, अत्थि। कह ण भते! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जन्ति?

कालोदाई! जीवाण पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्ले तस्स ण आवाए भद्दए भवइ तओ पच्छा विपरिणममाणे दुरूवत्ताए जाव भुज्जो परिणमति। एव खलु कालोदाई! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसजुत्ता कज्जति।

—भगवती ७।१०

२ अत्थि ण भन्ते! जीवाण कल्लाणा कम्मा कल्लाणफलविवागसजुत्ता कज्जन्ति? हता! अत्थि! कह ण भते! जीवाण कल्लाणा कम्मा जाव कज्जन्ति?

कालोदाई! जीवाण पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे, कोहविवेगे जाव मिच्छादसणसल्लविवेगे तस्स ण आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ। एव खलु कालोदाई! जीवाण कल्लाणा कम्मा जाव कज्जति।

—भगवती ७।१०

क्योकि वह ईश्वर के सहारे ही अपना फल दे सकता है। इस प्रकार दोनो एक दूसरे के अधीन हो जाएँगे। इससे तो यही श्रेष्ठ है कि स्वय कर्म को ही अपना फल देने वाला स्वीकार किया जाय। इससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी अक्षुण्ण रहेगा और कर्मवाद के सिद्धान्त मे भी किसी प्रकार की वाधा समुपस्थित नही होगी। जैन सस्कृति की चिन्तनधारा भी प्रस्तुत कथन का ही समर्थन करती है।

कर्म का सविभाग नहीं

वैदिकदर्शन का यह मन्तव्य है कि आत्मा सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उससे स्वय कुछ भी कार्य करने की क्षमता नही है। स्वर्ग और नरक मे भेजने वाला, सुख और दु ख को देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव स्वर्ग और नरक मे जाता है।[1]

जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त ने प्रस्तुत कथन का खण्डन करते हुए कहा कि—ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नही है। वह तो वीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है और जब आत्मा स्वभाव-दशा मे रमण करता है तब उत्थान करता है और जब विभाव-दशा मे रमण करता है तब उसका पतन होता है। विभाव-दशा मे रमण करने वाला आत्मा ही वेतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष है, और स्वभाव-दशा मे रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दनवन है।[2] यह आत्मा सुख और दु ख का कर्ता, भोक्ता स्वय ही है। शुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा मित्र है, और अशुभ मार्ग पर चलने वाला आत्मा शत्रु है।[3]

जैनदर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है कि जो भी सुख और दु ख प्राप्त हो रहा है उसका निर्माता आत्मा स्वय ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा

---

१ अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुख-दु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥
—महाभारत, वनपर्व अ० ३० श्लो० २८

२ अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेनू, अप्पा मे नदण वण ॥ —उत्तराध्ययन २०।३६

३ अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च. दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ॥ —उत्तराध्ययन २०।३७

वैसा ही उसे फल भोगना पडेगा।[1] वैदिकदर्शन और बौद्धदर्शन की तरह वह कर्म फल के सविभाग मे विश्वास नही करता। विश्वास ही नही, किन्तु उस विचारधारा का खण्डन भी करता है।[2] एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति मे विभक्त नही किया जा सकता। यदि विभाग को स्वीकार किया जायेगा तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप-पुण्य करेगा कोई और, भोगेगा कोई और। अत यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त नही है।[3]

कर्म का कार्य

कर्म का मुख्य कार्य है—आत्मा को ससार में आबद्ध रखना। जब तक कर्मबन्ध की परम्परा का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तब तक आत्मा मुक्त नही बन सकता। यह कर्म का सामान्य कार्य है। विशेष रूप से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न कर्मो के भिन्न-भिन्न कार्य हैं, जितने कर्म हैं उतने ही कार्य हैं।

आठ कर्म

जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ है, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एव प्रतिकूल फ़ल प्रदान करती हैं। उनके नाम ये हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) और अन्तराय।[4]

---

१ ससारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारण ज च करेइ कम्म।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, ण बधवा बधवय उवेंति॥ —उत्तराध्ययन ४।४

माया पिता ण्हुसा, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नाल ते मम ताणाय, लुप्पतस्स सकम्मुणा॥ —उत्तराध्ययन ६।३

२ (क) आत्ममीमासा प० दलसुख मालवणिया पृ० १३१
(ख) श्री अमर भारती, भारतीय दर्शनो मे कर्म विवेचन। —उपाध्याय अमरमुनि

३ स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुट, स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा॥
निजार्जित कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन।
विचारयन्नेवमनन्यमानस परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥
—द्वात्रिंशिका, आचार्य अमितगति ३०-३१

४ (क) नाणस्सावरणिज्ज, दसणावरण तहा।
वेयणिज्ज तहा मोह, आउकम्म तहेव य॥

इन आठ कर्म-प्रकृतियो के भी दो अवान्तर भेद है। इनमे चार घाती है और चार अघाती है। (१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) मोहनीय (४) अन्तराय—ये चार घाती है।[1] (१) वेदनीय (२) आयु (३) नाम (४) गोत्र—ये अघाती है।[2]

जो कर्म आत्मा से बँधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणो का घात करते है, वे घाती कर्म है। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर आत्मा के ज्ञान आदि गुणो पर होता है। इनसे गुण विकास अवरुद्ध होता है, जैसे बादल सहस्ररश्मि सूर्य के चमचमाते प्रकाश को आच्छादित कर देता है, उसकी रश्मियो को बाहर नही आने देता, वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण (१) अनन्त ज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त सुख (४) और अनन्त वीर्य गुणो को प्रकट नही होने देता। ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान शक्ति को प्रकट नही होने देता। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा, और सम्यक् चारित्र गुण का अवरोध करता है, जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नही होता। अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्त वीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास नही कर पाता। इस प्रकार घातीकर्म आत्मा के विभिन्न गुणो का घात करते हैं।

नामकम्म च गोय च, अन्तराय तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइ, अट्ठेव उ समासओ॥ —उत्तराध्ययन ३३।२—३

(ख) स्थानाङ्ग ८।३।५९६
(ग) प्रज्ञापना २३।१
(घ) भगवती शतक ६, उद्दे० ९, पृ० ४५३
(ङ) तत्त्वार्थसूत्र ८।५
(च) प्रथम कर्मग्रन्थ गा० ३
(छ) पचसग्रह २-२

१ (क) तत्र घातीनि चत्त्वारि, कर्माण्यन्वर्थसज्ञया।
घातकत्वाद् गुणाना हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृति॥ —पचाध्यायी २।९९८
(ख) आवरणमोहविग्घ, घादी जीवगुणघादणत्तादो।—गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

२ (क) तत शेषचतुष्क स्यात्, कर्माघातिविवक्षया।
गुणाना घातकाभावशक्तिरप्यात्मशक्तिवत्॥ —पचाध्यायी २।९९९
(ख) आउगणाम गोद, वेयणिय तह अघादित्ति। —गोमटसार-कर्मकाण्ड ९

जो कर्म आत्मा के निज गुण का घात नही कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणो का घात करता है, वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मो का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो से होता है, इनकी अनुभाग-शक्ति जीव के गुणो पर सीधा असर नही करती। अघाती कर्मो के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यो से सम्बन्ध जुडता है। जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पडता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख (२) अटल अवगाहन (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नही होने देता। वेदनीयकर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना-शाश्वत स्थिरता को नही होने देता। नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते है। जब घाति कर्म नष्ट हो जाते है, तब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[1] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

ज्ञानावरण कर्म

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[2] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है।[3] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग।[4] जिससे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मो का बोध होता है वह ज्ञानोपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है वह दर्शनोपयोग है।[5] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है वह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा के ज्योतिर्मय स्वभाव को आवृत करने वाले इस कर्म की तुलना कपडे की पट्टी से की गई है। जैसे नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगा देने से नेत्र-ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्त्वार्थसूत्र १०।१

२ जीवो उवओग लक्खणो। —उत्तरा० २८।१०

३ जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई। —नियमसार, १०

४ (क) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद। —तत्त्वार्थ० २।९

(ख) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य २।९

५ प्रमाणनयतत्त्वालोक २।७

वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों की सम्यक् तया जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छादित हो जाती है।[1]

ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यायज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।[2]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियो व मन से होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मन पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना सज्ञी जोवो के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल ज्ञानावरण कर्म, सर्व द्रव्यो और पर्यायो को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[3] जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का पूणतया घात करे वह सर्वघाती है और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आशिक रूप से घात करे वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण ये चार देशघाती हैं और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है।

---

१ (क) एसि ज आवरण पडुव्व चक्खुस्स त तयावरण। —प्रथम कर्मग्रन्थ ६

(ख) पडपडिहारसिमिज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण,
जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

(ग) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरण कम्म पडोवम होइ एव तु॥
—स्थानाग, २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

२ (क) नाणावरण पचविह, सुय आभिणिवोहिय।
ओहिनाण च तइय मणनाण च केवल॥ —उत्तराध्ययन० ३३।४

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ५।४६४

(घ) तत्त्वार्थ० ८।६-७

३ णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे प० त०—देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।
—स्थानाङ्ग सूत्र २।४।१०५

जो कर्म आत्मा के निज गुण का घात नही कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणो का घात करता है, वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मो का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यो मे होता है, उनकी अनुभाग-शक्ति जीव के गुणो पर सीधा असर नही करती। अघाती कर्मो के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यो से सम्बन्ध जुडता है। जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पडता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख (२) अटल अवगाहन (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नही होने देता। वेदनीयकर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना-शाश्वत स्थिरता को नही होने देता। नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते हैं। जब घाति कर्म नष्ट हो जाते है, तब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[1] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

ज्ञानावरण कर्म

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[2] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है।[3] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग।[4] जिससे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मो का बोध होता है वह ज्ञानोपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है वह दर्शनोपयोग है।[5] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है वह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा के ज्योतिर्मय स्वभाव को आवृत करने वाले इस कर्म की तुलना कपडे की पट्टी से की गई है। जैसे नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगा देने से नेत्र-ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्त्वार्थसूत्र १०।१

२ जीवो उवओग लक्खणो। —उत्तरा० २८।१०

३ जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई। —नियमसार, १०

४ (क) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद। —तत्त्वार्थ० २।९
(ख) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य २।९

५ प्रमाणनयतत्त्वालोक २।७

वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों की सम्यक् तया जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छादित हो जाती है।[1]

ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यायज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।[2]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियो व मन मे होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के विना होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मन पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना सज्ञी जोवो के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल ज्ञानावरण कर्म, सर्व द्रव्यो और पर्यायो को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[3] जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे वह सर्वघाती है और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आशिक रूप से घात करे वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण ये चार देशघाती हैं और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है।

---

१ (क) एसि ज आवरण पडुव्व चक्खुस्स त तयावरण। —प्रथम कर्मग्रन्थ ९

(ख) पडपडिहारसिमिज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण,
जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

(ग) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरण कम्म पडोवम होइ एव तु॥
—स्थानाग, २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

२ (क) नाणावरण पचविह, सुय आभिणिवोहिय।
ओहिनाण च तइय मणनाण च केवल॥ —उत्तराध्ययन० ३३।४

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ५।४६४

(घ) तत्त्वार्थ० ८।६-७

३ णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे प० त०—देसनाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव।
—स्थानाङ्ग सूत्र २।४।१०५

जो कर्म आत्मा के निज गुण का घात नहीं कर केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करता है, वह अघाती कर्म है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से होता है, इनकी अनुभाग-शक्ति जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं करती। अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यों से सम्बन्ध जुटता है। जिससे आत्मा "अमूर्तोऽपि मूर्त इव" रहती है। उसे शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पडता है। जो जीव के गुण (१) अव्याबाध सुख (२) अटल अवगाहन (३) अमूर्तिकत्व और (४) अगुरुलघुभाव को प्रकट नहीं होने देता। वेदनीयकर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना-शाश्वत स्थिरता को नहीं होने देता। नाम कर्म आत्मा की अरूपी अवस्था को आवृत किये रहता है। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरुलघुभाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते हैं। जब घाति कर्म नष्ट हो जाते है, तब आत्मा केवलज्ञान, केवलदर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[1] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

ज्ञानावरण कर्म

जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[2] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का सग्राहक है।[3] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग।[4] जिससे जाति, गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मों का बोध होता है वह ज्ञानोपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है वह दर्शनोपयोग है।[5] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है वह ज्ञानावरण कर्म है। आत्मा के ज्योतिर्मय स्वभाव को आवृत करने वाले इस कर्म की तुलना कपडे की पट्टी से की गई है। जैसे नेत्रो पर कपडे की पट्टी लगा देने से नेत्र-ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्त्वार्थसूत्र १०।१

२ जीवो उवओग लक्खणो। —उत्तरा० २८।१०

३ जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदसणो होई। —नियमसार, १०

४ (क) स द्विविधोऽष्टचतुर्भेद। —तत्त्वार्थ० २।९

(ख) तत्त्वार्थसूत्रभाष्य २।९

५ प्रमाणनयतत्त्वालोक २।७

वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों की सम्यक् तया जानने की ज्ञान-शक्ति आच्छादित हो जाती है।[1]

ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मन पर्यायज्ञानावरण (५) केवल ज्ञानावरण।[2]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियो व मन से होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुतज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थो के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मन पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना सज्ञी जीवो के मनोगत भावो को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवल ज्ञानावरण कर्म, सर्व द्रव्यो और पर्यायो को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[3] जो प्रकृति स्वघात्य ज्ञान गुण का पूर्णतया घात करे वह सर्वघाती है और जो स्वघात्य ज्ञान गुण का आशिक रूप से घात करे वह देशघाती है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण ये चार देशघाती है और केवलज्ञानावरण सर्वघाती है।

---

१ (क) एसि ज आवरण पडुव्व चक्खुस्स त तयावरण। —प्रथम कर्मग्रन्थ ९

(ख) पडपडिहारसिमिज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण,
जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

(ग) सरउग्गयससिनिम्मलयरस्स जीवस्स छायण जमिह।
णाणावरण कम्म पडोवम होइ एव तु॥
—स्थानाग, २।४।१०५ टीका मे उद्धृत

२ (क) नाणावरण पचविह, सुय आभिणिवोहिय।
ओहिनाण च तइय मणनाण च केवल॥ —उत्तराध्ययन० ३३।४

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ५।४६४

(घ) तत्त्वार्थ० ८।६-७

३ णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे प० त०—देसनाणावरणिज्जे चे[illegible]
णिज्जे चेव।
—स्थानाङ्ग

सर्वघाती कहने का तात्पर्य प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञान गुण को सर्वथा आवृत नही करता, परन्तु केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है। निगोदस्थ जीवो मे उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। जैसे घनघोर घटाओ से सूर्य के पूर्णत आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अश अनावृत रहता है जिससे दिन और रात का विभाग प्रतीत होता है, वैसे ही ज्ञान का अनन्तवाँ भाग नित्य अनावृत रहता है।[1] जैसे घनघोर घटाओ को विदीर्ण कर सूर्य की प्रभा भूमण्डल पर आती है, पर सभी मकानो पर उसकी प्रभा एक सदृश नही गिरती, मकानो की वनावट के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम गिरती है, वैसे ही ज्ञान की प्रभा मतिज्ञानावरण आदि के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम होती है। ज्ञान पूर्णरूप से तिरोहित कभी नही होता। यदि ऐसा हो जाय तो जीव अजीव हो जाए।

इस कर्म की स्थिति अधिकतम तीस कोटा-कोटि सागरोपम और न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त की है।[2]

१ (क) देश—ज्ञानस्याऽऽभिनिबोधिकादिमावृणोतीति देशज्ञानावरणीयम्, सर्व ज्ञान—केवलाख्यमावृणोतीति सर्वज्ञानावरणीय, केवलावरण हि आदित्यकल्पस्य केवलज्ञानरूपस्य। जीवस्याच्छादकतया सान्द्रमेघवृन्दकल्पमिति तत्सवज्ञानावरण। मत्याद्यावरण तु घनातिच्छादितादित्येषत्प्रभाकल्पस्य केवलज्ञान देशस्य कटकुट्यादिरूपावरणतुल्यमिति देशावरणमिति।

—ठाणाङ्ग, २।४।१०५ टीका

(ख) स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग, पृ० ६४-६५ प० दलसुख मालवणिया।

(ग) सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स
अणतभागो णिच्चु घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्त पावेज्जा।
'सुट्ठुवि मेहसमुदये होइ पभा चन्दसूराण।' —नन्दीसूत्र ४३

२ (क) उदहीसरिसनामाण, तीसइ कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया॥—उत्तराध्ययन ३३।१९-२०

(ख) आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य परा स्थिति।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।१५

(ग) पञ्चम कर्मग्रन्थ गा० २६

दर्शनावरण कर्म

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है।[1] जिस कर्म के प्रभाव से दर्शनोपयोग आच्छादित रहता है वह दर्शनावरणीय कर्म है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बन्द हो जाता है। इस कर्म की तुलना शासक के उस द्वारपाल से की गई है जो शासक से किसी व्यक्ति को मिलने मे बाधा उपस्थित करता है। द्वारपाल की बिना आज्ञा के व्यक्ति शासक से नही मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओ के सामान्य बोध को रोकता है।[2] पदार्थों के देखने मे अडचन डालता है।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, (५) निद्रा, (६) निद्रानिद्रा, (७) प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला, (९) स्त्यानर्द्धि।[3]

चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नेत्रो द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म—चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियो और

---

१ ज सामन्नग्गहण, भावाण नेव कट्टु आगार।
अविसेसिऊण अत्थे, दसणमिह वुच्चए समये॥

२ (क) दसणसीले जीवे, दसणघाय करेइ ज कम्म।
त पडिहारसमाण, दसणवारण भवे जीवे॥
—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ख) दसणचउ पणनिद्दा, वित्तिसम दसणावरण। —प्रथम कर्मग्रन्थ ९

(ग) गोम्मटसार कर्मकाण्ड २१, नेमिचन्द्र

३ (क) निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो य थीणगिद्धी उ, पचमा होइ नायव्वा॥
चक्खुमचक्खूओहिस्स, दसणे केवले य आवरणे।
एव तु नवविगप्प, नायव्व दसणावरण॥ —उत्तरा० ३३।५-६

(ख) समवायाङ्ग सू० ९

(ग) स्थानाङ्ग ८।३।६६८

(घ) चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाना निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।८

(ङ) प्रज्ञापना २३।१

(च) कर्मग्रन्थ

मन के द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अवधिदर्शनावरण कर्म—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यो का जो सामान्य बोध होता है उसे आच्छादित करता है। केवलदर्शनावरण कर्म सर्व द्रव्य और पर्यायो के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे सुप्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐसी हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रानिद्रा कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न होती है जिससे सुप्त प्राणी कठिनाई से जाग सके। प्रचला—जिस कर्म से ऐसी नीद उत्पन्न हो कि खडे-खडे और बैठे-बैठे भी नीद आये। प्रचला-प्रचला कर्म—जिससे चलते-फिरते भी नीद आये। स्त्यानर्धि—जिस कर्म मे दिन मे अथवा रात मे सोचे हुए कार्य विशेप को निद्रावस्था मे सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढतम नीद।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप मे दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देशघाती है और शेष छह प्रकृतियाँ सर्वघाती है।[1] सर्वघाती प्रकृतियो मे केवलदर्शनावरण प्रमुख है। ज्ञानावरण की तरह इसे भी समझ लेना चाहिए।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है, वह केवलदर्शन का धारक बनता है। जब उसका क्षयोपशम होता है तब चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन प्रकट होता है।

प्रस्तुत कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है।[2]

वेदनीय कर्म

आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय है। वेदनीय कर्म से आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है। उसके दो भेद हैं

---

१ दरिसणावरणिज्जे कम्मे एव चेव।
टीका—देशदर्शनावरणीय चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणीय, सर्वदर्शनावरणीय तु निद्रापञ्चक केवलदर्शनावरणीय चेत्यर्थ, भावना तु पूर्ववदिति।
—ठाणाङ्ग २।४।१०५

२ (क) उत्तराध्ययन ३३।१९-२०
(ख) तत्त्वार्थसूत्र ८।१५
(ग) पचम कर्मग्रन्थ गा० २६
(घ) प्रज्ञापना, पद २९ उ० २, सू० २९३

—(१) सातावेदनीय, (२) असातावेदनीय।[1] सातावेदनीय कर्म से जीव को भौतिक सुखो की उपलब्धि होती है और असातावेदनीय कर्म से मानसिक और शारीरिक दु ख प्राप्त होता है।[2]

वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार की धार से की गई है। तलवार की धार पर लिप्त मधु को चाटने के सदृश सातावेदनीय है और जीभ कट जाने के समान असातावेदनीय है।[3]

सातावेदनीय कर्म आठ प्रकार का है—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, सुखित मन, सुखित वाणी, सुखित काय जिससे प्राप्त हो।[4]

असातावेदनीय भी आठ प्रकार का है—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ गन्ध,अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ स्पर्श, दु खित मन, दु खित वाणी, दु खित काय की प्राप्ति जिससे हो।[5]

---

१ (क) वेयणीय पि दुविह सायमसाय च आहिय। —उत्तराध्ययन ३३।७
(ख) स्थानाङ्ग २।१०५

२ यदुदयावद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तवेद्य सद्वेद्यमिति। यत्फल दु खमनेकविध तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्त वेद्यमसद्वेद्यमिति।
—तत्त्वार्थ० ८।८, सर्वार्थसिद्धि

३ (क) महुलित्तखग्गधारालिहण व दुहा उ वेयणिय। —प्रथम कर्मग्रन्थ, १२
(ख) तथा वेद्यते—अनुभूयत इति वेदनीय, सात सुख तद्रूपतया वेद्यते यत्तत्तथा, दीर्घत्व प्राकृतत्वात्, इतरद्—एतद्विपरीतम् आह च—
महुलित्तनिसियकरवालधार जीहाए जारिस लिहण।
तारिसय सुहदुहउप्पायग मुणह॥
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

४ (क) स्थानाङ्ग ८।४८८
(ख) प्रज्ञापना २३।३

५ (क) स्थानाङ्ग ८।४८८
(ख) असायावेदणिज्जे ण भते! कम्मे कतिविधे पण्णत्ते? गोयमा! अट्ठविधे पन्नत्ते त जहा-अमणुण्णा सद्दा, जाव कायदुहया।
—प्रज्ञापना २३।३।१५

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन[1] और प्रज्ञापना[2] मे अन्तर्मुहूर्त की बताई है। भगवती[3] मे दो समय की कही गई है। इन दोनो कथनो मे कोई विरोध नही समझना चाहिए, क्योकि मुहूर्त के अन्दर का समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने मे कोई विसगति नही है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र[4] और कर्मग्रन्थो मे बारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है, जो साम्परायिक आस्रव की अपेक्षा से है और भगवती मे जो दो समय कही गई है वह ईर्या-पथ आस्रव की अपेक्षा से है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र तीस कोटाकोटि सागर की है।

मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा मे मूढता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मो मे यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा है तो मोहनीय कर्म राजा है।[5] वह आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध-स्वरूप—को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारो से ग्रस्त होता है। यह कर्म स्व-पर-विवेक मे तथा स्वरूपरमण मे बाधा समुपस्थित करता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नही रहता, वह हिताहित के विवेक से विहीन हो जाता है। वैसे ही मोह कर्म के

---

१ उदही सरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया॥ —उत्तरा० ३३।१९-२०

२ प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

३ वेदणिज्ज जह दो समया। —भगवती ६।३

४ (क) अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१९
(ख) वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति। —तत्त्वार्थभाष्य
(ग) जहन्ना ठिई वेअणीअस्स बारस मुहुत्ता।
—नवतत्त्व साहित्य सग्रह देवानन्द सूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण
(घ) जैनदर्शन पृ० ३५४ डा० मोहनलाल मेहता

५ अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन। —विनयचन्द चौवीसी

उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नही हो पाता, वह ससार के विकारो मे उलझ जाता है।[1]

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।[2] यहाँ दर्शन का अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मगुण हैं।[3] जैसे मदिरापान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता हैं। वह अनात्मीय पदार्थो को आत्मीय समझता है।[4] वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानता है।

दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का हैं[5]—(१) सम्यक्त्वमोहनीय—जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नही रोक सकता किन्तु उसमे चल, मलिन और अगाढ दोष उत्पन्न करता है। (२) मिथ्यात्वमोहनीय—जो कर्म तत्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न नही होने देता, और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है। (३) मिश्रमोहनीय—जो कर्म तत्त्व श्रद्धा मे दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। दर्शनमोहनीय के शुद्ध दलिक सम्यक्त्वमोहनीय, अशुद्ध दलिक मिथ्यात्वमोहनीय और शुद्धाशुद्ध दलिक सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय

---

१ (क) मज्ज व मोहणीय —प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १३

(ख) जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेण-विमूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥
—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ग) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

२ (क) मोहणिज्ज पि दुविह, दसणे चरणे तहा। —उत्तराध्ययन ३३।८

(ख) ठाणाङ्ग २।४।१०५

(ग) प्रज्ञापना २३।२

३ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२

४ यथा मद्यादिपानस्य, पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेत शखादि यद्वस्तु पीत पश्यति विभ्रमात्॥
तथा दर्शनमोहस्य, कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीय मनुते कुदृक्॥ —पचाध्यायी २।९८८-९-७

५ (क) सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे॥ —उत्तराध्ययन ३३।९

(ख) स्थानाङ्ग २।१८४

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन[1] और प्रज्ञापना[2] मे अन्तर्मुहूर्त की बताई है। भगवती[3] मे दो समय की कही गई है। इन दोनो कथनो मे कोई विरोध नही समझना चाहिए, क्योकि मुहूर्त के अन्दर का समय अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तर्मुहूर्त कहने मे कोई विसगति नही है। वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र[4] और कर्मग्रन्थो मे बारह मुहूर्त की प्रतिपादित की गई है, जो साम्परायिक आस्रव की अपेक्षा से है और भगवती मे जो दो समय कही गई है वह ईर्या-पथ आस्रव की अपेक्षा से है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र तीस कोटाकोटि सागर की है।

मोहनीय कर्म

जो कर्म आत्मा मे मूढता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मो मे यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। अन्य सात कर्म प्रजा है तो मोहनीय कर्म राजा है।[5] वह आत्मा के वीतराग भाव—शुद्ध-स्वरूप—को विकृत करता है, जिससे आत्मा रागद्वेष आदि विकारो से ग्रस्त होता है। यह कर्म स्व-पर-विवेक मे तथा स्वरूपरमण मे बाधा समुपस्थित करता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गई है। जैसे मदिरापान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नही रहता, वह हिताहित के विवेक से विहीन हो जाता है। वैसे ही मोह कर्म के

---

१ उदही सरिसनामाण तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥
आवरणिज्जाण दुण्ह पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया ॥ —उत्तरा० ३३।१९-२०

२ प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

३ वेदणिज्ज जह दो समया। —भगवती ६।३

४ (क) अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१९
(ख) वेदनीयप्रकृतेरपरा द्वादशमुहूर्ता स्थितिरिति। —तत्त्वार्थभाष्य
(ग) जहन्ना ठिई वेअणीअस्स बारस मुहुत्ता।
—नवतत्त्व साहित्य सग्रह देवानन्द सूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण
(घ) जैनदर्शन पृ० ३५४ डा० मोहनलाल मेहता

५ अष्ट कर्म नो राजवी हो, मोह प्रथम क्षय कीन। —विनयचन्द चौवीसी

उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नही हो पाता, वह ससार के विकारो मे उलझ जाता है।[1]

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय।[2] यहाँ दर्शन का अर्थ तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मगुण हैं।[3] जैसे मदिरापान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता हैं। वह अनात्मीय पदार्थो को आत्मीय समझता है।[4] वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानता है।

दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है[5]—(१) सम्यक्त्वमोहनीय—जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नही रोक सकता किन्तु उसमे चल, मलिन और अगाढ दोष उत्पन्न करता हैं। (२) मिथ्यात्वमोहनीय—जो कर्म तत्त्व मे श्रद्धा उत्पन्न नही होने देता, और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है। (३) मिश्रमोहनीय—जो कर्म तत्त्व श्रद्धा मे दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। दर्शनमोहनीय के शुद्ध दलिक सम्यक्त्वमोहनीय, अशुद्ध दलिक मिथ्यात्वमोहनीय और शुद्धाशुद्ध दलिक सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय

---

१ (क) मज्ज व मोहणीय —प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा १३

(ख) जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेण-विमूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥
—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ग) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २१

२ (क) मोहणिज्ज पि दुविह, दसणे चरणे तहा। —उत्तराध्ययन ३३।८

(ख) ठाणाङ्ग २।४।१०५

(ग) प्रज्ञापना २३।२

३ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२

४ यथा मद्यादिपानस्य, पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेत शखादि यद्वस्तु पीत पश्यति विभ्रमात्॥
तथा दर्शनमोहस्य, कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीय मनुते कुदृक्॥ —पचाध्यायी २।९८-९-७

५ (क) सम्मत्त चेव मिच्छत्त, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दसणे॥ —उत्तराध्ययन ३३।९

(ख) स्थानाङ्ग २।१८४

है।[1] इनमे मिथ्यात्वमोहनीय सर्वघाती है, सम्यक्मोहनीय देशघाती है,[2] और मिश्रमोहनीय जात्यन्तर सर्वघाती है।

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्रमोह है। यह कर्म आत्मा के चारित्र गुण को उत्पन्न नही होने देता।[3]

चारित्र मोहनीय के भी दो भेद है—(१) कपाय मोहनीय (२) नोकपाय मोहनीय।[4] कपाय मोहनीय के सोलह भेद है और नो-कपाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद हैं।[5]

कषाय मोहनीय—कपाय शब्द कष और आय से बना है। कप—ससार और आय—लाभ, जिससे ससार अर्थात् भवभ्रमण की अभिवृद्धि हो वह कषाय है।[6] क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप मे वह चार प्रकार का है। ये चार भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण

---

१ प्रथम कर्मग्रन्थ, गा० १४-१६

२ (क) केवलणाणावरण, दसणछक्क कपायवारसय।
मच्छ च सव्वघादी, सम्मामिच्छ अबघम्हि॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ३६

(ख) केवलणाणावरण दसणछक्क च मोहवारसग।
ता सव्वघाइस ना भवति मिच्छत्तवीसइम॥
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका मे उद्धत

३ एव जीवस्य चारित्र गुणोऽस्त्येक प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म, तत्स्याच्चारित्रमोहनम्॥ —पचाध्यायी २।१६

४ (क) चरित्तमोहण कम्म, दुविह त वियाहिय।
कसायमोहणिज्ज तु नोकसाय तहेव य॥ —उत्तराध्ययन ३।१।१०

(ख) प्रज्ञापना २३।२

५ (क) सोलसविहभेएण, कम्म तु कसायज।
सत्तविह नवविह वा, कम्म च नोकसायज॥ —उत्तरा० ३३।११

(ख) प्रज्ञापना २३।२

(ग) स्थानाङ्ग ६।७००,

(घ) समवायाग--१६

६ कम्म कसो भवो वा, कसमातो सिं कसाया तो।
कसमाययति व जतो गमयति कस कसायत्ति॥
—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पृ० ११६
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२२७

और सज्वलन, यो चार-चार प्रकार के है। इस प्रकार सोलह भेद कषाय-मोहनीय के हैं। इसके उदय से प्राणी मे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का विघातक है।[1]

अप्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के प्रभाव से देशविरति रूप श्रावक धर्म की प्राप्ति नही होती।[2] प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के उदय से सर्वविरति रूप श्रमणधर्म की प्राप्ति नही होती।[3] सज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररूप उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त नही कर सकता।[4] गोम्मटसार मे भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।[5]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी कषाय की चार माह की और सज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[6] गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे स्थिति के स्थान पर वासना या प्रतिशोध की भावना का वर्णन है।[7]

---

१ (क) अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते। पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

(ख) अनन्तायनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्याक्रोधाद्येषु नियोजिता॥

२ (क) स्वल्पमपि नोत्सहेद् येषा प्रत्याख्यानमिहोदयात्।
अप्रत्याख्यानसज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता॥

(ख) अप्रत्याख्यानकषायोदयाद्विरतिर्न भवति— —तत्त्वार्थभाष्य ८।१०

३ (क) सर्वसावद्यविरति प्रत्याख्यानमुदाहृतम्।
तदावरणसज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता॥

(ख) प्रत्याख्यानावरणकषायोदयाद्विरताविरतर्भवत्युत्तमचारित्र लाभस्तु न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

४ (क) सज्वलनकषायोदयाद्यथाख्यातचारित्रलाभो न भवति। —तत्त्वार्थसूत्र ८।१० भाष्य

५ सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादति वा कषाया चउ सोल असखलोगमिदा॥ —गोम्मटसार, जीवकाण्ड २८३

६ जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनर अमरा।
सम्माणुसव्वविरई अहखायचरित्तघायकरा॥ —प्रथम कर्मग्रन्थ गा० १८

७ अतो मुहुत्तपक्ख छम्मास सखणत भव।
सजलणमादियाण वासणकालो दु वोद्धव्वो॥ —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड

नोकषाय मोहनीय—जिनका उदय कषायो के साथ होता है या जो कषायो को उत्तेजित करते है, वे नोकषाय है।[1] इन्हे अकषाय भी कहते हैं।[2] नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य कषाय का अभाव नही, किन्तु ईषत्कषाय है।[3] नोकषाय के नौ भेद हैं—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक, (६) जुगुप्सा[4], (७) स्त्री वेद, (८) पुरुष वेद, (९) नपुसक वेद। उत्तराध्ययन मे जो सात भेद कहे है वे तीनो वेदो को सामान्य एक वेद मानकर कहे हैं।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियो मे से सज्वलन कषाय चतुष्क और नोकषाय ये देशघाती हैं, और शेष बारह प्रकृति सर्वघाती हैं।[5]

मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागर की है।[6]

आयुष् कर्म

जीवो के जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का आलिगन करता है।[7]

इस कर्म की तुलना कारागृह से की गई है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय तक कारागृह मे डाल देता है,

---

१ कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।
हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

२ तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।९-१०

३ ईषदर्थे नञ प्रयोगादीषत्कषायोऽकषाय इति। —सर्वार्थसिद्धि ८।९

४ यदुदयादात्मदोषसवरण परदोषाविष्करण सा जुगुप्सा। —आचार्य पूज्यपाद

५ (क) स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका
(ख) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड ३९

६ (क) उदहीसरिसनामाण, सत्तरि कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥ —उत्तरा० ३३।२१
(ख) सप्ततिर्मोहनीयस्य। —तत्त्वार्थ ८।१६

७ (क) यद्भावाभावयोर्जीवितमरण तदायु॥२॥ यस्य भावात् आत्मन जीवित भवति यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद्भवधारणमायुरित्युच्यते।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक-८।१०-२

(ख) प्रज्ञापना २३।१

अपराधी के चाहने पर भी अवधि के पूर्ण हुए विना वह मुक्त नही हो सकता। वैसे ही आयुष्कर्म के कारण जीव देह से मुक्त नही हो सकता।[1]

आयुष्कम का कार्य सुख-दुख देना नही, किन्तु नियत अवधि तक किसी एक भव मे रोके रखना है।[2]

आयुष्कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियाँ है—(१) नरकायु (२) तिर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु, (४) देवायु।[3] आयु दो रूपो मे उपलब्ध होती हैं—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। वाह्य निमित्तो से आयु का कम होना अपवर्तन है। किसी भी कारण से आयु का कम न होना अनपवर्तन है।[4] मगर आयु कम हो जाने का अभिप्राय यह नही कि आयु कर्म का कुछ भाग विना भोगे ही नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि आयु कर्म के जो प्रदेश धीरे-धीरे वहुत समय मे भोगे जाने वाले थे, वे सव अल्पकाल मे—अन्तर्मुहूर्त मे ही भोग लिये जाते हैं। लोकव्यवहार मे इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं। पर स्मरण रखना चाहिए कि कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यच मे ही अपवर्तन आयुष्य होता है, देव, नरक, भोगभूमिज मनुष्य, तिर्यच और तीर्थंकरादि मे नही होता।

---

१ (क) पडपडिहारासि मज्जहडचित्तकुलाल भडगारीण।
जह एएसि भावा कम्माणि वि जाण तह भावा॥
—नवतत्त्व साहित्य सग्रह अव० वृत्यादिसमेत, नवतत्त्वप्रकरणम् ७४

(ख) जीवस्य अवट्ठाण करेदि आऊ हडिव्व णर। —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड ११

(ग) सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिस। —प्रथम कर्मग्रन्थ २३

२ दुक्ख न देइ आउ नवि य सुह देइ चउसुवि गईसु।
दुक्खसुहाणाहार धरेइ देहट्ठिय जीय॥
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

३ (क) नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। —तत्त्वार्थसूत्र ८।११

(ख) गोयमा! आउयस्स ण कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव चउविहे अणुभावे पन्नत्ते—त जहा-नेरइयाउते, तिरियाउते, मणुयाउते, देवाउए।
—प्रज्ञापना २३।१

(ग) नेरइयतिरिक्खाउ, मणुस्साउ तहेव य।
देवाउय चउत्थ तु, आउ कम्म चउव्विह॥ —उत्तराध्ययन ३३।१२

४ तत्त्वार्थसूत्र २।५२, प० सुखलाल जी का विवेचन, पृ० ११२-११६ तक।

आयु कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की हैं।[1] भगवती मे उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम वर्ष कही है।[2] इसमे पूर्वभव मे आयु बध के पश्चात् और अगले भव मे जन्म-ग्रहण के पूर्व का अवाधा काल सम्मिलित मानना चाहिए।

नाम कर्म

जिस कम से जीव गति आदि पर्यायो के अनुभव करने के लिए बाध्य हो वह नाम कर्म है।[3] अथवा जिस कर्म से जीव मे गति आदि के भेद उत्पन्न हो, देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हो, वह नाम कर्म है।[4]

प्रस्तुत कर्म की तुलना चित्रकार से की गई है। जिस प्रकार एक चतुर चित्रकार अपनी कल्पना से मानव, पशु, पक्षी, आदि नाना प्रकार के चित्र चित्रित करता है, ऐसे ही नामकर्म भी नारक, तियञ्च, मानव और देवो के शरीर आदि की रचना करता है। इस प्रकार यह कर्म शरीर, अङ्गोपाङ्ग, इन्द्रिय, आकृति, शरीर-गठन, यश, अपयश आदि का निर्माता है।[5]

---

१ तेत्तीस सागरोवमा, उक्कोसेण वियाहिया।
ठिइ उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥ —उत्तराध्ययन ३३।२२

२ आउग उक्को, तेत्तीस सायरोवमाणि पुव्वकोडितिभागब्महियाणि।
—भगवती ६।३

३ (क) नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवयणति जीवमिति नाम।
—प्रज्ञापना २३।१।२८८, टीका

(ख) विचित्रपर्यायैर्नमयति—परिणमयति यज्जीव तन्नाम।
—ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

४ गदिआदि जीवभेद देहादी पोग्गलाण भेद च।
गदियतरपरिणमन करेदि णाम अणेयविह॥ —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड १२

५ (क) जह चित्तयदो निउणो अणेगरूवाइ कुणइ रूवाइ।
सोहणमसोहणाइ, चोक्खमचोक्खेहि वण्णेहि॥
तह नामपि हु कम्म अणेगरूवाइ कुणइ जीवस्स।
सोहणमसोहणाइ इट्ठाणिट्ठाइ लोयस्स॥
—स्थानाङ्ग २।४।१०५ टीका

(ख) नवतत्त्व साहित्य सग्रह, अवचूर्णि वृत्यादिसमेत।
—नवतत्त्व प्रकरणम् ७४

नाम कर्म के भी मुख्य दो भेद है—शुभ और अशुभ।[1] अशुभ नाम पापरूप है और शुभ नाम पुण्यरूप है।

नाम कर्म की मध्यम रूप से बयालीस उत्तर-प्रकृतियाँ भी होती हैं।[2] वे इस प्रकार हैं —

(१) गतिनाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता का निमित्त कर्म। इसके चार उपभेद हैं—(क) नरक गतिनाम, (ख) तिर्यञ्च गतिनाम, (ग) मनुष्य गतिनाम (घ) देवगति नाम।

(२) जातिनाम—एकेन्द्रियत्व से लेकर पचेन्द्रियत्व तक का अनुभव करने वाला कर्म। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) एकेन्द्रिय जातिनाम, (ख) द्वीन्द्रिय जातिनाम, (ग) त्रीन्द्रिय जातिनाम, (घ) चतुरिन्द्रिय जातिनाम, (ङ) पचेन्द्रिय जातिनाम।

(३) शरीरनाम—औदारिक आदि शरीर का निर्माण करने वाला कर्म। इसके पाँच उपभेद हैं—(क) औदारिक शरीरनाम, (ख) वैक्रिय शरीरनाम, (ग) आहारक शरीरनाम, (घ) तैजस शरीरनाम, (ङ) कार्मण शरीरनाम।

(४) शरीर-अगोपाङ्गनाम—शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवो का निमित्तभूत कर्म। इसके तीन उपभेद हैं—(क) औदारिक-शरीर अगोपाङ्ग नाम। (ख) वैक्रिय-शरीर अगोपाङ्ग नाम, (ग) आहारक-शरीर अगोपाङ्ग नाम। तैजस् और कार्मणशरीर के अवयव नही होते।

(५) शरीरबन्धननाम—पूर्व मे ग्रहण किये हुए और वर्तमान मे ग्रहण किये जाने वाले शरीरपुद्गलो के परस्पर सम्वन्ध का निमित्तभूत कर्म। इसके पाँच उपभेद है—(क) औदारिकशरीरबन्धननाम, (ख) वैक्रिय-शरीरबन्धननाम, (ग) आहारकशरीरबन्धननाम, (घ) तैजसशरीरबन्धन-नाम, (ङ) कार्मणशरीरबन्धननाम।

---

१ नाम कम्म तु दुविह सुहमसुह च आहिय। —उत्तरा० ३३।१३

२ (क) समवायाङ्ग, सम० ४२,

(ख) प्रज्ञापना २३।२-२९३

(ग) गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसस्थानसहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतय प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशासि सेतराणि तीर्थकृत्त्व च।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।१२

शरीरवन्धननाम कर्म के कर्मग्रन्थ मे विस्तार की विवक्षा से पन्द्रह भेद भी किये है —

(१) औदारिक-औदारिकवन्धननाम।
(२) औदारिक-तैजसवन्धननाम।
(३) औदारिक-कार्मणवन्धननाम।
(४) वैक्रिय-वैक्रियवन्धननाम।
(५) वैक्रिय-तैजसवन्धननाम।
(६) वैक्रिय-कार्मणवन्धननाम।
(७) आहारक-आहारकबन्धननाम।
(८) आहारक-तैजसवन्धननाम।
(९) आहारक-कार्मणबन्धननाम।
(१०) औदारिक-तैजस कार्मणवन्धननाम।
(११) वैक्रिय-तैजस-कार्मणबन्धननाम।
(१२) आहारक-तैजस-कार्मणबन्धननाम।
(१३) तैजस-तैजस-बन्धननाम।
(१४) तैजस-कार्मणवन्धननाम।
(१५) कार्मण-कार्मणबन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीनो के पुद्गलो का परस्पर वन्ध नही होता, अतएव यहाँ उनके वन्धन की गणना नही की गई है।

(६) शरीरसघातननाम—शरीर के द्वारा पूर्वगृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था करने वाला कर्म। इसके भी पाँच भेद हैं—(क) औदारिक-शरीरसघातननाम, (ख) वैक्रिय-शरीरसघातननाम, (ग) आहारक-शरीरसघातननाम, (घ) तंजस शरीरसघातननाम, (ङ) कार्मण-शरीरसघातननाम।

(७) सहनननाम—जिसके उदय से अस्थिवन्ध की विशिष्ट रचना हो। इसके छ भेद हैं—(क) वज्रऋषभनाराचसहनननाम, (ख) ऋषभ-नाराचसहनननाम, (ग) नाराच-सहनननाम, (घ) अर्घनाराचसहनन-नाम (ङ) कीलिका-सहनननाम (च) सेवार्तसहनननाम।

(८) सस्थाननाम—शरीर की विविध आकृतियो का जिसके उदय

से निर्माण हो। इसके भी छ भेद है—(१) समचतुरस्र सस्थान, (२) न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान, (३) सादिसस्थान नाम, (४) वामन सस्थान नाम, (५) कुब्ज सस्थान नाम, (६) हुण्ड सस्थान नाम।

(९) वर्णनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे रग का निर्माण होता है। इसके भी पाँच भेद है—(क) कृष्णवर्ण नाम, (ख) नीलवर्ण नाम, (ग) लोहितवर्ण नाम, (घ) हारिद्रवर्ण नाम (ड) श्वेतवर्ण नाम।

(१०) गन्धनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे गन्ध उत्पन्न होती है। इसके दो भेद है—(क) सुरभि-गन्ध नाम, (ख) दुरभि-गन्ध नाम।

(११) रसनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे रस उत्पन्न होता है। इसके पाँच भेद है—(क) तिक्त-रस नाम, (ख) कटु-रस नाम (ग) कषाय-रस नाम, (घ) आम्ल-रस नाम (ड) मधुर-रस नाम।

(१२) स्पर्शनाम—इस कर्म के उदय से शरीर मे स्निग्ध, रुक्ष आदि स्पर्श की उत्पत्ति होती है। इसके आठ भेद हैं—(क) कर्कश स्पर्श नाम, (ख) मृदु स्पर्श नाम, (ग) गुरु स्पर्श नाम, (घ) लघु स्पर्श नाम, (ड) स्निग्ध स्पर्श नाम, (च) रुक्ष स्पर्श नाम, (छ) शीत स्पर्श नाम, (ज) उष्ण स्पर्श नाम।

(१३) अगुरुलघुनाम—जिसके उदय से शरीर अत्यन्त गुरु वा अत्यन्त लघु परिमाण को न पाकर अगुरुलघु रूप मे परिणत होता है।

(१४) उपघातनाम—इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवो से क्लेश पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा, चोरदन्त, रसौली आदि।

(१५) परघातनाम—इस कर्म के उदय से जीव अपने दर्शन और वाणी से ही प्रतिपक्षी और प्रतिवादी को पराजित कर देता है अथवा जिसके उदय से जीव दूसरे का घात करने मे समर्थ हो।

(१६) आनुपूर्वीनाम—जन्मान्तर के लिए जाते हुए जीव को आकाश-प्रदेश की श्रेणी के अनुसार नियत स्थान तक गमन कराने वाला कर्म। इसके भी चार भेद हैं—(क) नरक-आनुपूर्वीनाम, (ख) तिर्यंच-आनुपूर्वीनाम (ग) मनुष्य-आनुपूर्वीनाम, (घ) देव-आनुपूर्वीनाम।

(१७) उच्छ्वासनाम—इसके उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है।

(१८) आतपनाम—इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर मे से उष्ण प्रकाश निकलता है।[1]

(१९) उद्योतनाम—इसके उदय से शरीर शीतप्रकाशमय होता है।[2]

(२०) विहायोगतिनाम—इसके उदय से जीव की अच्छी व बुरी गति (चाल) होती है। इसके भी दो भेद हैं—(क) प्रशस्त-विहायोगति नाम, (ख) अप्रशस्त-विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।

(२१) त्रसनाम—जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।

(२२) स्थावरनाम—जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति न होकर स्थिरता प्राप्त होती है।

(२३) सूक्ष्मनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को अप्रतिघाति सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो।

(२४) बादरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव को प्रतिघाति स्थूल शरीर की उपलब्धि हो।

(२५) पर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण करे।

(२६) अपर्याप्तनाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके।

(२७) साधारण शरीरनाम—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवो को एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।

(२८) प्रत्येक शरीरनाम—जिस कर्म के उदय से जीवो को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो।

(२९) स्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से हड्डी, दाँत, माँस आदि स्थिर यथास्थान रहे।

(३०) अस्थिर नाम—जिस कर्म के उदय से हड्डी, माँस, शरीर के अङ्गोपाङ्ग आदि अस्थिर रहे।

---

१ प्रस्तुत कर्म का उदय सूर्य-मण्डल के एकेन्द्रिय जीवो मे होता है। उनका शरीर शीत होता है पर प्रकाश उष्ण होता है।

२ देव के उत्तर वैक्रिय शरीर मे से, व लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर से तथा चाँद, नक्षत्र, तारागणो से निकलने वाला शीतप्रकाश।

(३१) शुभनाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग प्रशस्त या सुन्दर हो।

(३२) अशुभनाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग अशुभ या असुन्दर हो।

(३३) सुभगनाम—जिस कर्म के उदय से किसी भी प्रकार का उपकार न करने पर भी और सम्बन्ध न होने पर भी जीव सब के मन को प्रिय लगे। अर्थात्—सौभाग्यशाली होवे।

(३४) दुर्भगनाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर और सम्बन्ध होने पर भी अप्रिय लगे।

(३५) सुस्वरनाम—जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता के हृदय मे प्रीति उत्पन्न करे।

(३६) दु स्वरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर अप्रीति-कारी हो।

(३७) आदेयनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन वहुमान्य हो।

(३८) अनादेयनाम—जिस कर्म के उदय से युक्तिपूर्ण वचन भी अमान्य हो।

(३९) यश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से ससार मे यश और कीर्ति प्राप्त हो।

(४०) अयश कीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से अपयश और अप-कीर्ति प्राप्त हो।

(४१) निर्माणनाम—जिस कर्म के उदय से शरीर के अग-प्रत्यग यथास्थान हो।

(४२) तीर्थंकरनाम—जिस कर्म के उदय से धर्मतीर्थ की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त हो।

प्रज्ञापना[1] व गोम्मटसार[2] मे नाम कर्म के तिरानवे भेदो का कथन किया गया है और कर्मविपाक मे वधन नाम के पन्द्रह भेद मान कर एक सौ

---

१ प्रज्ञापना २३।२।२९३

२ गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) २२

तीन[1] भेदो का वर्णन है। जो नाम कर्म की बंधने योग्य ६७ प्रकृतियाँ मानी गई है उनमे वर्ण चतुष्क की गणना पुण्य और पाप मे करने की अपेक्षा से जाननी चाहिए। अन्यत्र इकहत्तर प्रकृतियो का उल्लेख है जिनमे शुभ नाम कर्म की सैंतीस प्रकृतियाँ मानी है[2] और अशुभ नाम कर्म की चौंतीस[3] मानी हैं। भेदो की यह विविध सख्याएँ सक्षेप विस्तार की दृष्टि से ही हैं। इनमे कोई तात्त्विक भेद नही है।

नाम कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति, बीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[4]

गोत्र कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव की उत्पत्ति उच्च या नीच, पूज्य या अपूज्य गोत्र-कुल-वश आदि मे हो वह गोत्र कर्म है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो जिस कर्म के प्रभाव से जीव उच्चावच कहलाता है वह गोत्रकर्म है।[5]

आचार्य उमास्वाति के शब्दो मे—उच्चगोत्रकर्म देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य प्रभृति-विपयक उत्कर्ष का निर्वर्तक या सम्पादक है, और इससे विपरीत नीचगोत्रकर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्यवन्धक, दास आदि का निर्वर्तक है।[6]

---

१ कर्मविपाक प० सुखलाल जी हिन्दी अनुवाद पृ० ५८।१०५

२ सत्तत्तीस नामस्स, पयईओ पुन्नमाह (हु) ता य इमो।
—नवतत्त्वसाहित्य सग्रह नवतत्त्वप्रकरणम् ७ भाष्य ३७

३ मोहछ्वीसा एसा, एसा पुण होई नाम चउतीसा।
—नवतत्त्व साहित्य सग्रह नवतत्त्व प्रकरण ८ भाष्य ४६

४ (क) उदहीसरिसनामाण, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहन्निया॥ —उत्तरा० ३३।२३

(ख) नामगोत्रयोर्विशति।
नामगोत्रयोरष्टौ॥ —तत्त्वार्थ सूत्र अ० ८।१७-२०

५ यद्वा कर्मणोऽपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् गोत्र।
—प्रज्ञापना २३।१।२८८ टीका

६ उच्चैर्गोत्र देशजातिकुलस्थानमानसत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्। विपरीत नीचैर्गोत्र चण्डालमुष्टिकव्याधमत्स्यबन्धदास्यादिनिर्वर्तकम्॥
—तत्त्वार्थ सूत्र ८।१३ भाष्य

इस कर्म के मुख्य दो भेद है—(१) उच्च गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणी लोकप्रतिष्ठित कुल आदि मे जन्म ग्रहण करता है। (२) नीचगोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एव असस्कारी कुल मे होता है।[1]

उच्च गोत्र कर्म के भी आठ भेद है[2] —(क) जाति उच्च गोत्र, (ख) कुल उच्च गोत्र, (ग) वल उच्चगोत्र, (घ) रूप उच्चगोत्र, (ङ) तप उच्चगोत्र, (च) श्रुत उच्चगोत्र, (छ) लाभ उच्चगोत्र, (ज) ऐश्वर्य उच्चगोत्र। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है। ध्यान रखना चाहिए कि मातृपक्ष को जाति और पितृपक्ष को कुल कहा जाता है।

नीच गोत्र कर्म के भी आठ भेद है[3]—(क) जातिनीचगोत्र-मातृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण, (ख) कुलनीच गोत्र-पितृपक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण, (ग) वलनीच गोत्र—वलविहीनता का कारण, (घ) रूपनीचगोत्र—रूपविहीनता का कारण, (ङ) तपनीच गोत्र—तप-विहीनता का कारण, (च) श्रुत-नीचगोत्र—श्रुतविहीनता का कारण, (छ) लाभनीचगोत्र—लाभविहीनता का कारण, (ज) ऐश्वर्य-नीचगोत्र—ऐश्वर्य-विहीनता का कारण।

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गई है। कुम्हार अनेक प्रकार के घडो का निर्माण करता है। उनमे से कितने ही घडे ऐसे होते है जिन्हे लोग कलश वनाकर अक्षत, चन्दन आदि से चर्चित करते हैं, और कितने ही ऐसे होते है जो मदिरा रखने के कार्य मे आते हैं और इस कारण निम्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव श्लाघ्य एव अश्लाघ्य कुल मे उत्पन्न होता है[4] वह गोत्र कर्म कहलाता है।

गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम की है।

मुख्य रूप से नाम और गोत्र कर्म से शारीरिक व मानसिक वैविध्य

---

१ गोय कम्म तु दुविह, उच्च नीय च आहिय। —उत्तराध्ययन ३३।१४

२ उच्च अट्ठविह होइ, एव नीय पि आहिय। —उत्तरा० ३३।१४

३ प्रज्ञापना—२३।१।२९२, २३।२।२९३

४ जह कुमारो भडाइ कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स।
इय गोय कुणइ जिय, लोए पुज्जेयरानत्थ॥ —ठाणाङ्ग २।४।१०५ टीका

होता है। नाम कर्म सक्षेप मे शुभ और अशुभ शरीर का कारण है और गोत्र कर्म से शारीरिक उच्चत्व एव नीचत्व की उपलब्धि होती है। शुभ शरीर से सुख की उपलब्धि होती है और अशुभ शरीर से दुख की। इसी तरह उच्चत्व से सुख मिलता है और नीचत्व से दुख। प्रश्न है—शुभ शरीर और उच्च शरीर मे तथा अशुभ शरीर या नीच शरीर मे क्या अन्तर है ? जिससे नाम और गोत्र इन दो कर्मो की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करनी पडी ? जब अकेले नाम कर्म से सम्पूर्ण शारीरिक वैविध्य का निर्माण हो सकता है, जिसमे शुभत्व, अशुभत्व, उच्चत्व, नीचत्व, सुरूपत्व, कुरूपत्व प्रभृति सभी शारीरिक सद्‌गुण और दुर्गुणो का समावेश होता है तो गोत्र कर्म को पृथक् मानने से क्या लाभ ?

उत्तर है—नामकर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के उन शारीरिक गुणो से है जिसका सम्बन्ध किसी कुल विशेष या वश विशेष से नही है किन्तु गोत्र कर्म का सम्बन्ध उसके उन शारीरिक गुणो से है जो उसके कुल या वश से सम्बद्ध हैं और वे गुण उसके अपने माता पिता के द्वारा उसमे आए हैं।

दूसरा प्रश्न है—माता-पिता के माध्यम से सन्तान के जीवन मे जो श्रेष्ठता व कनिष्ठता आई, सद्‌गुण और दुर्गुण आए उसके लिए उस व्यक्ति का कर्म किस प्रकार उत्तरदायी हो सकता है ?

उत्तर मे निवेदन है कि अमुक जीव का अमुक स्थान पर, अमुक रूप मे उत्पन्न होना उसके अमुक प्रकार के कर्म पर ही अवलवित है। जीव जब अपने कर्म के अनुसार अमुक अवस्था को प्राप्त करता है तो वह उस समय की परिस्थिति, अपनी शक्ति व स्थिति के अनुसार अमुक गुणो को ही ग्रहण करता है। उनमे कुछ गुण ऐसे होते है जिनका सीधा सम्बन्ध माता-पिता या वश-परम्परा से होता है। इस तरह माता-पिता के माध्यम से आने वाले शारीरिक श्रेष्ठ व कनिष्ठ गुणो के लिए सन्तान के कर्म प्रत्यक्ष रूप से नही अपितु परोक्ष रूप से अवश्य ही उत्तरदायी हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वश-परम्परा के सद्‌गुण या दुर्गुण सभी व्यक्तियो मे समान रूप से नही होते। इसका मुख्य कारण व्यक्ति का अपना कर्म है। जिसका कर्म जितना अधिक शुभ होगा उसका गोत्र कर्म उतना ही अधिक उच्च होगा। जिसका कर्म जितना अधिक अशुभ होगा उसका गोत्र कर्म उतना ही अधिक नीच होगा।

नाम कर्म की पहचान मनुष्य, देव आदि गति, पचेन्द्रिय आदि जाति, औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर प्रभृति शारीरिक लक्षणो से होती है उसी प्रकार गोत्रकर्म को भी हम शारीरिक लक्षणो से पहचान सकते हैं ?

उत्तर है—नही, क्योकि किसी भी रूप, किसी भी रग, किसी भी धर्म, किसी भी जाति, किसी भी वर्ण वाला व्यक्ति उच्च गोत्र वाला भी हो सकता है और नीच गोत्र वाला भी हो सकता है। किसी भी रूप रग विशेष, वर्ण या जाति विशेष को देखकर निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि इस रग-रूप वाला या वर्ण-जाति वाला ही उच्च गोत्र का होता है और शेष नीच गोत्र के होते है। रग और रूप का सम्बन्ध नाम कर्म से है। वर्ण, जाति और धर्म का सम्बन्ध सामाजिक, साम्प्रदायिक व शास्त्रीय व्यवस्थाओ तथा मान्यताओ से है। देश-काल के अनुसार कही किसी को उच्च समझा जाता है तो कही नीच समझा जाता है। उच्च-नीच का सम्बन्ध सर्वदा और सर्वत्र एक जैसा नही होता। इसलिए यह मानना अधिक तर्कसगत है कि उच्च-नीच गोत्र का सम्बन्ध किसी वर्ण और जाति से न होकर वश-कुल अर्थात् माता-पिता से है। जो किसी भी समाज, जाति, वर्ण, रग या देश के हो सकते है। नामकर्म की भाँति गोत्रकर्म का सम्बन्ध भी शरीर से है।

प्रश्न हो सकता है कि गोत्रकर्म का सम्बन्ध शरीर से है तो वे कौन से लक्षण हैं जिन्हे निहार कर यह ज्ञात हो सके कि यह व्यक्ति उच्चगोत्र वाला है और यह नीचगोत्र वाला है।

उत्तर है—वश से आई हुई शरीर सम्बन्धी स्वस्थता, सुरूपता, सस्कार सम्पन्नता आदि उच्च गोत्र के लक्षण है, अस्वस्थता, कुरूपता, सस्कारहीनता आदि नीच गोत्र के लक्षण हैं। जैसे शुभ नाम कर्म के उदय से शारीरिक शुभत्व, और अशुभ नाम कर्म के उदय से अशुभत्व प्राप्त होता है वैसे ही उच्च गोत्र कर्म के उदय से शारीरिक उत्कृष्टता (कुलीनता) और नीच गोत्र कर्म के उदय से शारीरिक निकृष्टता प्राप्त होती है। नाम और गोत्र कर्मो मे मुख्य रूप से यही अन्तर है। नाम कर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के निजी शारीरिक गुणो से है और गोत्रकर्म का सम्बन्ध वश से आगत शारीरिक गुणो से है।

अन्तराय कर्म

जिस कर्म के उदय से देने-लेने मे तथा एक वार या अनेक वार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने मे अवरोध उपस्थित हो वह अन्तराय कर्म है।[१]

इस कर्म की तुलना राजा के भण्डारी से की गई है। राजा का भण्डारी राजा के द्वारा आदेश देने पर भी दान देने मे आनाकानी करता है, विघ्न डालता है वैसे ही यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे बाधा उपस्थित करता है।[२]

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियाँ है—

(१) **दान-अन्तरायकर्म**—इस कर्म के उदय से जीव दान नही दे सकता।

(२) **लाभ-अन्तरायकर्म**—इस कर्म के उदय से उदार दाता की उपस्थिति मे भी दान-लाभ प्राप्त नही हो सकता, अथवा पर्याप्त सामग्री के रहने पर भी जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो।

(३) **भोग-अन्तराय कर्म**—जो वस्तु एक वार भोगी जाय वह भोग है जैसे खाद्य पेय आदि। इस कर्म के उदय से भोग्य पदार्थ सामने होने पर भी भोगे नही जा सकते। जैसे पेट की खरावी के कारण सरस भोजन तैयार होने पर भी खाया नही जा सकता।

(४) **उपभोग-अन्तराय कर्म**—जो वस्तु वार-वार भोगी जा सके वह उपभोग है। जैसे भवन, वस्त्र, आभूषण आदि। इस कर्म के उदय से उपभोग्य पदार्थ होने पर भी भोगे नही जा सकते।

(५) **वीर्य-अन्तराय कर्म**—जिसके उदय से सामर्थ्य प्रकट नही किया जा सके और जिसके प्रभाव से जीव के उत्थान कर्म, वल, वीर्य और पुरुषार्थ-तथा पराक्रम क्षीण होते हैं।

यह अन्तराय कर्म दो प्रकार का है—

(१) **प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय कर्म**—जिसके उदय से प्राप्त वस्तु का विनाश होता है।

---

१ पचाध्यायी २।१००७

२ ठाणाग २।४।१०५ टीका

(२) पिहित आगामिपथ अन्तराय कर्म—भविष्य मे प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का अवरोधक।[1]

अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[2]

जैसे तुबा स्वभावत जल की सतह पर तैरता है उसी प्रकार जीव स्वभावत ऊर्ध्व गतिशील है पर मृत्तिकालिप्त तुबा जैसे जल मे नीचे जाता है वैसे ही कर्मों से बद्ध आत्मा की भी अधोगति होती है। वह भी नीचे जाती है।[3]

अन्तराय कर्म के सम्बन्ध मे एक मान्यता यह प्रचलित है कि किसी भी वस्तु की प्राप्ति मे बाह्य विघ्न उपस्थित होना, जिससे वस्तु की प्राप्ति न होना अन्तराय कर्म है। प्रश्न यह है कि क्या अन्तराय कर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थो की अप्राप्ति से है? कर्मग्रन्थ की टीका मे अन्तराय का अर्थ विघ्न किया है। जिससे दानादि लब्धियाँ विशेष रूप से विनष्ट की जाती हैं उसे विघ्न या अन्तराय कहते हैं। लब्धि का अर्थ सामर्थ्य विशेष है। जिस कर्म से दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्यरूप शक्तियो का नाश होता है वह अन्तराय कर्म है। जैसे ज्ञानावरणादि घाती कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणो का घात करते हैं वैसे ही अन्तराय कर्म भी आत्मा के वीर्यरूपी मूल गुण का घात करता है। आत्मा मे असीम सामर्थ्य है किन्तु अन्तराय कर्म के उदय से वह शक्ति कुण्ठित हो जाती है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य से सम्बन्धित पदार्थ बाह्य हैं, और उससे सम्बन्धित दानादि कर्म आन्तरिक है।

देय वस्तु के रहते हुए भी और उपयुक्त अवसर प्राप्त होने पर भी देने की भावना न होना दानान्तराय कर्म के उदय का फल है। प्रस्तुत कर्म के उदय से व्यक्ति के अन्तर्मानस मे ही देने की भावना उद्बुद्ध नही होती। आन्तरिक भावना के अभाव मे बाह्य पदार्थ का दान न करना और आन्तरिक इच्छा होने पर बाह्य वस्तु का दान करना असद्भाव व सद्भाव का ही फल है। हम कई बार यह भी अनुभव करते हैं कि आन्तरिक इच्छा न होते हुए भी बाह्य पदार्थ दिया जाता है और कई बार उत्कृष्ट आन्तरिक

---

१ स्थानाङ्ग २।४।१०५
२ उत्तराध्ययन ३३।१६
३ ज्ञाता सूत्र

इच्छा होते हुए भी नही दिया जाता, अत दानान्तराय कर्म के उदय क्षयोपशम का निर्णय बाह्य पदार्थों के आधार पर नही हो सकता। यह तो परिस्थितियो पर निर्भर है। परिस्थितियो का सम्बन्ध स्वय के दानान्तराय कर्म से नही होता। दानान्तराय कर्म का सम्बन्ध अपनी भावनाओ से है किन्तु बाह्य पदार्थ या बाह्य परिस्थितियो से नही। बाह्य परिस्थितियाँ कर्मो के उदय-क्षयोपशम का निमित्त हो सकती है पर उपादान तो आन्तरिक ही होता है।

वस्तु विद्यमान हो, अवसर भी अनुकूल हो तथापि जिसके उदय से सप्राप्त करने की भावना ही उद्‌बुद्ध न हो वह लाभान्तराय है। प्राप्ति की इच्छा पैदा ही न होने देने का कार्य लाभान्तराय का है। भावना होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होना या न होना अन्यान्य परिस्थितियो पर अवलम्बित है। देय वस्तु भी विद्यमान हो, दाता की भावना भी देने की हो, और लेने वाले की भी इच्छा हो तथापि अन्यान्य परिस्थितियो की प्रतिकूलता से अभीष्ट वस्तु सप्राप्त न होना। लाभान्तराय कर्म का कार्य प्राप्तकर्त्ता की आन्तरिक भावना का निरोध करना है न कि प्राप्य वस्तु की प्राप्ति मे बाधक बनना। बाह्य वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति का सम्बन्ध कर्म से प्रत्यक्ष नही है। कर्म का उदय-क्षयोपशम होने पर भी अनिवार्य रूप से बाह्य वस्तु की उपलब्धि-अनुपलब्धि नही होती। परिस्थितियो की अनुकूलता-प्रतिकूलता से उपलब्धि, अनुपलब्धि मे परिवर्तन हो सकता है। लाभान्तराय कर्म का उदय न होने पर भी प्राप्ति क्रिया मे विघ्न आ सकता है और उदय होने पर भी प्राप्ति क्रिया मे बाधा नही आ सकती। वैसे ही भोगान्तराय और उपभोगान्तराय का सम्बन्ध आन्तरिक सम्मर्थ्य से है, बाह्य पदार्थो से नही। इसी तरह वीर्यान्तिराय के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। तो इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तराय कर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थो की उपलब्धि-अनुपलब्धि से नही अपितु आन्तरिक शक्तियो के हनन से है।

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का मूल आधार तन्निमित्तक कषायो की तीव्रता और मन्दता है। कषायो की तीव्रता जिस प्राणी मे जितनी अधिक होगी उतना ही अशुभ कर्म प्रबल होगा और कषायो की मन्दता जिस प्राणी मे जितनी अधिक होगी उसके पुण्य कर्म उतने ही प्रबल होगें।

कर्मों के प्रदेश

प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ से जितने कर्म-प्रदेशो का सग्रह करता है, वे प्रदेश नाना प्रकार के कर्मो मे विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। आठ कर्मो मे आयु कर्म को सबसे कम हिस्सा प्राप्त होता है। नाम कर्म को व गोत्र कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। नाम और गोत्र दोनो का हिस्सा बराबर होता है। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनो कर्मो को प्राप्त होता है। इन तीनो का हिस्सा समान रहता है। उसमे अधिक भाग मोहनीय कर्म को मिलता है। सबसे अधिक भाग वेद-नीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशो का पुन उत्तर-प्रकृतियो मे विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बँधे हुए कर्म के प्रदेशो की न्यूनता व अधिकता का यही मूल आधार है।

कर्मबन्ध

पूर्व मे यह बताया जा चुका है कि इस ससार मे ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करता है और कपाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है, अत वह कर्मयोग्य पुद्गलो को सर्व दिशाओ से ग्रहण करता है। आगमो मे स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहो दिशाओ से कर्म ग्रहण करते है, व्याघात होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओ से ग्रहण करते है, किन्तु शेप जीव नियम से सर्व दिशाओ से पुद्गल ग्रहण करते है।[1] किन्तु क्षेत्र के सम्बन्ध मे यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र मे वह स्थित है उसी क्षेत्र मे स्थित कर्म योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है। अन्यत्र स्थित पुद्गलो को नही।[2] यह

---

१ (क) सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएमेसु सव्व सव्वेण बद्धग॥ —उत्तराध्ययन ३३।१८

(ख) भगवती शतक १७ उद्दे० ४

२ (क) गेण्हति तज्जोग चिय रेणु पुरिसो जहा कयब्भगो।
एगक्खेत्तोगाढ जीवो सव्वप्पएसेहिं॥
—विशेपावश्यक भाष्य गा० १९४१ पृ० ११७ द्वि० भा०

(ख) एगपएसोगाढ सव्वपएसेहि कम्मुणो जोग।
बधइ जहुत्तहेउ साइयमणाइय वावि॥ —पचसग्रह—२८४

इच्छा होते हुए भी नही दिया जाता, अत दानान्तराय कर्म के उदय क्षयोपशम का निर्णय बाह्य पदार्थों के आधार पर नही हो सकता। यह तो परिस्थितियो पर निर्भर है। परिस्थितियो का सम्बन्ध स्वय के दानान्तराय कर्म से नही होता। दानान्तराय कर्म का सम्बन्ध अपनी भावनाओ से है किन्तु बाह्य पदार्थ या बाह्य परिस्थितियो से नही। बाह्य परिस्थितियाँ कर्मो के उदय-क्षयोपशम का निमित्त हो सकती हैं पर उपादान तो आन्तरिक ही होता है।

वस्तु विद्यमान हो, अवसर भी अनुकूल हो तथापि जिसके उदय से सप्राप्त करने की भावना ही उद्‌बुद्ध न हो वह लाभान्तराय है। प्राप्ति की इच्छा पैदा ही न होने देने का कार्य लाभान्तराय का है। भावना होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होना या न होना अन्यान्य परिस्थितियो पर अवलम्बित है। देय वस्तु भी विद्यमान हो, दाता की भावना भी देने की हो, और लेने वाले की भी इच्छा हो तथापि अन्यान्य परिस्थितियो की प्रतिकूलता से अभीष्ट वस्तु सप्राप्त न होना। लाभान्तराय कर्म का कार्य प्राप्तकर्त्ता की आन्तरिक भावना का निरोध करना है न कि प्राप्य वस्तु की प्राप्ति मे बाधक बनना। बाह्य वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति का सम्बन्ध कर्म से प्रत्यक्ष नही है। कर्म का उदय-क्षयोपशम होने पर भी अनिवार्य रूप से बाह्य वस्तु की उपलब्धि-अनुपलब्धि नही होती। परिस्थितियो की अनुकूलता-प्रतिकूलता से उपलब्धि, अनुपलब्धि मे परिवर्तन हो सकता है। लाभान्तराय कर्म का उदय न होने पर भी प्राप्ति क्रिया मे विघ्न आ सकता है और उदय होने पर भी प्राप्ति क्रिया मे बाधा नही आ सकती। वैसे ही भोगान्तराय और उपभोगान्तराय का सम्बन्ध आन्तरिक सम्मर्थ्य से है, बाह्य पदार्थों से नही। इसी तरह वीर्यान्तिराय के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। तो इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तराय कर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों की उपलब्धि-अनुपलब्धि से नही अपितु आन्तरिक शक्तियो के हनन से है।

कर्मफल की तीव्रता-मन्दता

कर्मफल की तीव्रता और मन्दता का मूल आधार तन्निमित्तक कषायो की तीव्रता और मन्दता है। कषायो की तीव्रता जिस प्राणी मे जितनी अधिक होगी उतना ही अशुभ कर्म प्रबल होगा और कषायो की मन्दता जिस प्राणी मे जितनी अधिक होगी उसके पुण्य कर्म उतने ही प्रबल होगे।

कर्मों के प्रदेश

प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओ से जितने कर्म-प्रदेशो का सग्रह करता है, वे प्रदेश नाना प्रकार के कर्मो मे विभक्त होकर आत्मा के साथ वद्ध हो जाते है। आठ कर्मो मे आयु कर्म को सवसे कम हिस्सा प्राप्त होता है। नाम कर्म को व गोत्र कर्म को उससे कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। नाम और गोत्र दोनो का हिस्सा बरावर होता है। उससे कुछ अधिक भाग ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीनो कर्मो को प्राप्त होता है। इन तीनो का हिस्सा समान रहता है। उससे अधिक भाग मोहनीय कर्म को मिलता है। सवसे अधिक भाग वेदनीय कर्म को मिलता है। इन प्रदेशो का पुन उत्तर-प्रकृतियो मे विभाजन होता है। प्रत्येक प्रकार के बँधे हुए कर्म के प्रदेशो की न्यूनता व अधिकता का यही मूल आधार है।

कर्मबन्ध

पूर्व मे यह वताया जा चुका है कि इस ससार मे ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करता है और कषाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है, अत वह कर्मयोग्य पुद्गलो को सर्व दिशाओ से ग्रहण करता है। आगमो मे स्पष्ट निर्देश है कि एकेन्द्रिय जीव व्याघात न होने पर छहो दिशाओ से कर्म ग्रहण करते हैं, व्याघात होने पर कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच दिशाओ से ग्रहण करते है, किन्तु शेष जीव नियम से सर्व दिशाओ से पुद्गल ग्रहण करते हैं।[1] किन्तु क्षेत्र के सम्बन्ध मे यह मर्यादा है कि जिस क्षेत्र मे वह स्थित है उसी क्षेत्र मे स्थित कर्म योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है। अन्यत्र स्थित पुद्गलो को नही।[2] यह

---

१ (क) सव्वजीवाण कम्म तु, सगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्व सव्वेण वद्धग॥ —उत्तराध्ययन ३२।१८

(ख) भगवती शतक १७ उद्दे० ४

२ (क) गेण्हति तज्जोग चिय रेणु पुरिसो जहा कयब्भगो।
एगक्खेत्तोगाढ जीवो सव्वप्पएसेहिं॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा० १९४१ पृ० ११७ द्वि० भा०

(ख) एगपएसोगाढ सव्वपएसेहि कम्मुणो जोग।
वधइ जहुत्तहेउ साइयमणाइय वावि॥ —पचसग्रह—२८४

भी विस्मरण नही होना चाहिये कि जितनी योगो की चचलता तरतमता होगी उसी के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे जीव कर्मपुद्‌गलो ग्रहण करेगा। योगो की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओ की सख्या कम होगी। आगमिक भाषा मे इसे ही प्रदेश-बध कहते है। दूसरे श मे कहा जाय तो आत्मा के असख्यात प्रदेश होते हैं, उन असख्य प्रदेशो एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशो का बन्ध होना प्रदेश-वन्ध है अर्थात् जीव के प्रदेशो और कर्म-पुद्‌गलो के प्रदेशो का परस्पर बद्ध होजा प्रदेश-बन्ध हैं।[1]

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन्! क्या जीव अ पुद्‌गल अन्योन्य—एक-दूसरे से वद्ध, एक दूसरे से स्पृष्ट, एक-दूसरे अवगाढ, एक-दूसरे मे स्नेह-प्रतिवद्ध हैं और एक-दूसरे मे एकमेक होव रहते हैं?

उत्तर मे महावीर ने कहा—हे गौतम! हाँ, रहते हैं।

हे भगवन्! ऐसा किस हेतु से कहते है?

हे गौतम! जैसे एक ह्रद हो, जल से पूण, जल से किनारे तक भ हुआ, जल से लवालब, जल से ऊपरा उठा हुआ और भरे हुए घडे की तर स्थित। अब यदि कोई पुरुष उस ह्रद मे एक वडी, सौ आस्रव-द्वार वाल सौ छिद्र वाली नाव छोडे तो हे गौतम! वह नाव उन आस्रव-द्वारो—छि द्वारा भरती-भरती जल से पूर्ण ऊपर तक भरी हुई, वढते हुए जल से ढँक हुई होकर, भरे घडे की तरह होगी या नही?

हाँ भगवन्! होगी।

हे गौतम! उसी हेतु से मैं कहता हूँ कि जीव और पुद्‌गल परस्प वद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ और स्नेह-प्रतिवद्ध हैं और परस्पर एकमेक होक रहते हैं।[2]

यही आत्म-प्रदेशो और कर्म-पुद्‌गलो का सम्वन्ध प्रदेशवन्ध है।

---

१ (क) प्रदेशा कर्मपुद्‌गला जीवप्रदेशेष्वोतप्रोता, तद्रूप कर्म प्रदेश कम।
—भगवती १।४।४० वृत्ति

(ख) प्रदेशो दलसचय।

(ग) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह अव० वृत्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरण गा० ७१ की वृत्ति

(घ) नवतत्त्वसाहित्यसग्रह देवानन्दसूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरण अ० ८

२ भगवती १।६

योगो की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किये गये कर्म-परमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख-दुख का अनुभव कराना आदि विभिन्न प्रकृतियो के रूप मे परिणत होते है। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल एकरूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमे नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। इसे आगम की भाषा मे प्रकृति-बन्ध कहते हैं।[1]

प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ये दोनो योगो की प्रवृत्ति मे होते हैं।[2] केवल योगो की प्रवृत्ति से जो बन्ध होता है वह सूखी दीवार पर हवा के झौके के साथ आने वाली रेती के समान है। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थान मे कषायाभाव के कारण कर्म का बन्धन इसी प्रकार का होता है। कषायरहित प्रवृत्ति से होने वाला कर्मबन्ध निर्बल अस्थायी और नाममात्र का होता है, इससे ससार नही बढता।

योगो के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है उससे अमुक समय तक आत्मा से पृथक् न होने की कालिक मर्यादा पुद्गलो मे निर्मित होती है। यह काल मर्यादा ही आगम की भाषा मे स्थितिबन्ध है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म-पुद्गलो की राशि कितने काल तक आत्म-प्रदेशो मे रहेगी, उसकी मर्यादा स्थितिबन्ध है।[3]

जीव के द्वारा ग्रहण की हुई शुभाशुभ कर्मो की प्रकृतियो का तीव्र, मन्द आदि विपाक अनुभागबन्ध है। कर्म के शुभ या अशुभ फल की तीव्रता या मन्दता रस हैं। उदय मे आने पर कर्म का अनुभव तीव्र या मन्द कैसा होगा, यह प्रकृति प्रभृति की तरह कर्मबन्ध के समय ही नियत हो जाता है। इसे अनुभागबन्ध कहते है।[4]

---

१ प्रकृति स्वभाव प्रोक्त।

२ (क) जोगा पयडिपएस। —पचम कर्मग्रन्थ, गा० ९६

(ख) ठाणाङ्ग २।४।९६ टीका

३ स्थिति कालावधारणम्।

४ (क) अनुभाग तेषामेव कर्मप्रदेशाना सवेद्यमानताविषयो रस तद्रूपकर्मोऽनुभाग-कर्म। —भगवती १।४।४० वृत्ति

(ख) अनुभागो रसो ज्ञेय।

(ग) विपाकोऽनुभाव। —तत्त्वार्थ० ८।२२

जिन कर्मो का आत्मा ने बन्ध कर लिया है वे अवश्य ही उदय मे आते हैं, और जब उदय मे आते हैं तब उनका फल भोगना पडता है। किन्तु अनुकूल निमित्त कारण न हो तो वहुत-से कर्म—प्रदेशो से ही उदय मे आकर—फल दिये विना ही पृथक् हो जाते हैं। जब तक फल देने का समय नही आता तव तक बद्ध कर्मों के फल की अनुभूति नही होती। कर्मो के उदय मे आने पर ही उनके फल का अनुभव होता है। बन्ध और उदय के बीच का काल अबाधा काल कहलाता है। बँधे हुए कर्म यदि शुभ होते हैं तो उन कर्मों का विपाक सुखमय होता है। बँधे हुए कर्म यदि अशुभ होते हैं तो उदय मे आने पर उन कर्मो का विपाक दु खमय होता है।

उदय मे आने पर कर्म अपनी मूलप्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते है। ज्ञानावरणीय कर्म अपने अनुभाव—फल देने की शक्ति के अनुसार ज्ञान का आच्छादन करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन को आवृत करता है। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपनी प्रकृति के अनुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करते हैं। उनकी मूल प्रकृति मे उलट-फेर नही होता।

पर उत्तर-प्रकृतियो के सम्बन्ध मे यह नियम पूर्णत लागू नही होता। एक कर्म की उत्तर-प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर-प्रकृति के रूप मे परिवर्तित हो सकती है। जैसे मतिज्ञानावरणकर्म श्रुतज्ञानावरणकर्म के रूप मे परिणत होता है। फिर उसका फल भी श्रुतज्ञानावरण के रूप मे ही होगा। किन्तु उत्तर-प्रकृतियो मे भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी है जो सजातीय होने पर भी परस्पर सक्रमण नही करती, जैसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय के रूप मे और चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय के रूप मे सक्रमण नही करता। इसी प्रकार सम्यक्त्ववेदनीय और मिथ्यात्ववेदनीय उत्तर-प्रकृतियो का भी सक्रमण नही होता। आयुष्य की उत्तर-प्रकृतियो का भी परस्पर सक्रमण नही होता। जैसे नारक आयुष्य तिर्यच आयुष्य के रूप मे या अन्य आयुष्य के रूप मे नही बदल सकता। इसी प्रकार अन्य आयुष्य भी।[1]

प्रकृति-सक्रमण की तरह बन्धनकालीन रस मे भी परिवर्तन हो सकता

---

१ (क) उत्तरप्रकृतिपु सर्वासु मूलप्रकृत्यभिन्नासु न तु मूलप्रकृतिषु सक्रमो विद्यते, उत्तरप्रकृतिपु च दर्शनचारित्रमोहनीययो सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्यायुष्कस्य च ।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।२२ भाष्य

है। मन्दरस वाला कर्म बाद मे तीव्ररस वाले कर्म के रूप मे बदल सकता है और तीव्ररस, मन्दरस के रूप मे हो सकता है।

गणधर गौतम ने महावीर से पूछा—भगवन्! अन्य यूथिक इस प्रकार कहते है कि 'सब जीव एवभूत-वेदना (जैसा कर्म बांधा है वैसे ही) भोगते है—यह किस प्रकार है? महावीर ने कहा—गौतम! अन्य यूथिक जो इस प्रकार कहते है वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ कि कई जीव एवभूत-वेदना भोगते है और कई अन्-एवभूत-वेदना भी भोगते है। जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते है वे एवभूत-वेदना भोगते हैं और जो जीव किए हुए कर्मो से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं, वे अन्-एवभूत-वेदना भोगते हैं।'[1]

स्थानाङ्ग मे चतुर्भङ्गी है—(१) एक कर्म शुभ है और उसका विपाक भी शुभ है, (२) एक कर्म शुभ है किन्तु उसका विपाक अशुभ है, (३) एक कर्म अशुभ है और उसका विपाक शुभ है, (४) एक कर्म अशुभ है और उसका विपाक भी अशुभ है।[2]

(ख) अनुभवो द्विधा पवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासा मूलप्रकृतिना स्वमुखेनैवानुभव। उत्तरप्रकृतीना तुल्यजातीयाना परमुखेनापि भवति। आयुदशन-चारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुमनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दशनमोहमुखेन।

—तत्त्वार्थ ८।२२ सर्वार्थसिद्धि

(ग) तत्त्वार्थसूत्र प० सुखलाल जी हिन्दी द्वि० स० पृ० २९३

मोत्तूण आउय खलु, दसणमोह चरित्तमोह च।
सेसाण पयडीण, उत्तरविहिसकमो भज्जो॥

—विशेषावश्यक भाष्य गा० १९३८

१ भगवती ५।५

२ (क) स्थानाङ्ग ४।४।३१२

(ख) स्थानाङ्ग की तरह बौद्ध साहित्य मे भी उल्लेख है—

(१) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो कृष्ण होते हैं और कृष्ण-विपाकी होते है।

(२) कितने ही कर्म ऐसे होते हैं जो शुक्ल होते हैं और शुक्ल विपाकी होते है।

(३) कितने ही कर्म कृष्ण-शुक्ल मिश्र होते हैं और वैसे ही विपाक वाले होते है।

(४) कितने ही कर्म अकृष्ण-शुक्ल होते है और अकृष्ण-शुक्ल विपाकी होते हैं।

—अगुत्तरनिकाय ४।२३२-२३३

जिज्ञासा हो सकती है कि इसका मूल कारण क्या है ? जैन कर्म-साहित्य समाधान करता है कि कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मुख्य रूप से उन्हे ग्यारह भेदो मे विभक्त कर सकते हैं[१]—(१) बन्ध, (२) सत्ता, (३) उद्वर्तन-उत्कर्ष, (४) अपवर्तन-अपकर्ष, (५) सक्रमण, (६) उदय, (७) उदीरणा, (८) उपशमन, (९) निधत्ति (१०) निकाचित और (११) अबाधा-काल।

(१) बन्ध—आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओ का सम्बन्ध होना, क्षीर-नीरवत् एकमेक हो जाना बन्ध है[२]। बन्ध के चार प्रकार है। इनका वर्णन पूर्व किया जा चुका है।

(२) सत्ता—आबद्ध कर्म अपना फल प्रदान कर जब तक आत्मा से पृथक् नही हो जाते तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं, इसे जैन दार्शनिको ने सत्ता कहा है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो बन्ध होने और

---

१ (क) द्रव्यसग्रह टीका गा० ३३
(ख) आत्म-मीमासा—प० दलसुख मालवणिया, पृ० १२८
(ग) जैनदर्शन
(घ) श्री अमर भारती वर्ष १

२ (क) आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्ध।—तत्त्वार्थसूत्र १।४ सर्वार्थसिद्धि
(ख) बधश्च—जीवकर्मणो सश्लेष —उत्तराध्ययन २८।२४ नेमिचन्द्रीय टीका
(ग) बधन बन्ध सकपायत्वात् जीव कर्मणो-योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते य स बन्ध इति भाव। —स्थानाङ्ग १।४।६ टीका
(घ) सकपायतया जीव कर्मयोग्यास्तु पुद्गलान्।
यदादत्ते स बन्ध स्याज्जीवास्वातन्त्र्यकारणम्॥
—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह, सप्ततत्त्वप्रकरण गा० १३३
(ङ) बज्झदि कम्म जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो,
कम्मादपदेसाणा अण्णोण्णपवेसण इदरो।
—द्रव्यसग्रह—२।३२, नमिचन्द्र सि० चक्रवर्ती
(च) द्रव्यत। बन्धो निगडादिभिर्भावत कर्म्मणा। —ठाणाङ्ग १।४।६ टीका
(छ) ननु बन्धो जीवकर्म्मणो सयोगोऽभिप्रेत।
(ज) मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन क्षीरनीरवद्वह्न्यय पिण्डवद्वान्योन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बध।
—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह वृत्त्यादिसमेत नवतत्त्वप्रकरणम् गाथा ७१ की प्राकृत अवचूरि

फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा मे विद्यमान रहते है, वह सत्ता है। उस समय कर्मो का अस्तित्व रहता है, पर वे फल प्रदान नही करते।

(३) **उद्वर्तन-उत्कर्ष**—आत्मा के साथ आवद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग-वन्ध तत्कालीन परिणामो मे प्रवहमान कषाय की तीव्र एव मन्द-धारा के अनुरूप होता है। उसके पश्चात् की स्थिति-विशेष अथवा भाव-विशेष के कारण उस स्थिति एव रस मे वृद्धि होना उद्वर्तन-उत्कर्ष है।

(४) **अपवर्तन-अपकर्ष**—पूर्ववद्ध कर्म की स्थिति एव अनुभाग को कालान्तर मे नूतन कर्म-बन्ध करते समय न्यून कर देना अपवर्तन-अपकर्ष है। इस प्रकार उद्वर्तन-उत्कर्ष से विपरीत अपवर्तन-अपकर्ष है।

उद्वर्तन और अपवर्तन की प्रस्तुत विचारधारा यह प्रतिपादित करती है कि आबद्ध कर्म की स्थिति और इसका अनुभाग एकान्तत नियत नही है, उसमे अध्यवसायो की प्रवलता से परिवर्तन भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का वध करके शुभ कार्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसका असर पूर्ववद्ध अशुभ कर्मो पर पडता है जिससे उस लम्बी कालमर्यादा और विपाक-शक्ति मे न्यूनता हो जाती है। इसी प्रकार पूर्व श्रेष्ठ कार्य करके पश्चात् निकृष्ट कार्य करने से पूर्ववद्ध पुण्य कर्म की स्थिति एव अनुभाग मे मन्दता आ जाती है। साराश यह है कि ससार को घटाने-बढाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायो पर विशेष आधृत है।

(५) **सक्रमण**—एक प्रकार के कर्म परमाणुओ की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्म-परमाणुओ की स्थिति आदि के रूप मे परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को सक्रमण कहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए कुछ निश्चित मर्यादाएँ हैं, जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। सक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति-सक्रमण, (२) स्थिति-सक्रमण, (३) अनुभाव-सक्रमण, (४) प्रदेश-सक्रमण।[१]

(६) **उदय**—कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाय तो फलोदय है और फल को दिये बिना ही नष्ट हो जाय तो प्रदेशोदय है।

---

१ स्थानाङ्ग ४।२१६

(७) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) **उपशमन**—कर्मो के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हे अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमे उदय अथवा उदीरणा सम्भव नही किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और सक्रमण की सभावना हो वह उपशमन है। जैसे अगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर सके। वैसे ही उपशमन-क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना जिससे वह अपना फल नही दे सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय मे आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते है।

(९) **निधत्ति**—जिसमे कर्मो का उदय और सक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की सभावना हो वह निधत्ति है।[1] यह भी चार प्रकार[2] का है। (१) प्रकृति-निधत्त (२) स्थिति-निधत्त (३) अनुभाव-निधत्त (४) प्रदेश-निधत्त।

(१०) **निकाचित**—जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण एव उदीरणा इन चारो अवस्थाओ का अभाव हो वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप मे कर्म बाँधा है प्राय उसी रूप मे भोगे बिना उसकी निर्जरा नहीं होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से चार प्रकार का है।[3]

(११) **अबाधाकाल**—कर्म बँधने के पश्चात् अमुक समय तक किसी प्रकार फल न देने की अवस्था का नाम अबाध-अवस्था है। अबाधा-काल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधा काल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय

---

१ कर्म प्रकृति गा० २

२ स्थानाग ४।२।९६

३ स्थानाग ४।२९६

की स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है तो अवाधाकाल तीम सौ (तीन हजार) वर्ष का है। भगवती मे अष्टकर्म प्रकृतियो का अवाधा काल बताया है[1] और प्रज्ञापना[2] मे अष्टकर्म प्रकृतियो की उत्तर-प्रकृतियो का भी अवाधाकाल उल्लिखित है, विशेप जिज्ञासुओ को मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

जैन कर्म साहित्य मे कर्मों की इन अवस्थाओ एव प्रक्रियाओ का जैसा विश्लेषण है वैसा अन्य दार्शनिको के साहित्य मे दृग्गोचर नही होता। हाँ, योगदर्शन मे नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवापगमन के रूप मे कर्म की त्रिविध दशा का उल्लेख किया है। नियतिविपाकी कर्म का अर्थ है—जो नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाता है। अनियत-विपाकी कर्म का अर्थ है जो कर्म विना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाते है और आवापगमन का अर्थ है एक कर्म का दूसरे मे मिल जाना। योग्यदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओ की तुलना क्रमश निकाचित, प्रदेशोदय और सक्रमण के साथ की जाती है।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है—वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन। परलोक जीवन किस जीव का कैसा होता है इसका मुख्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं[3] पुनर्जन्म कर्म-सगी जीवो के होता है।[4] अतीत कर्मो का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्वन्ध है।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव मे ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी-वडी गति की शक्ति उत्पन्न करते है[5] इसी से जीव नए जन्म-स्थान मे जा उत्पन्न होता है।

भगवान महावीर ने कहा—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुन-

---

१ भगवती २।३

२ प्रज्ञापना २३।२।२१-२९

३ आचाराग १।२।६

४ भगवती २।५

५ स्थानाङ्ग ९।४०

(७) **उदीरणा**—नियत समय से पूर्व कर्म का उदय मे आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत यह नियम है कि जिस कर्म का उदय होता है उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

(८) **उपशमन**—कर्मो के विद्यमान रहते हुए भी उदय मे आने के लिए उन्हे अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था जिसमे उदय अथवा उदीरणा सम्भव नही किन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और सक्रमण की सभावना हो वह उपशमन है। जैसे अगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना जिससे वह अपना कार्य न कर सके। वैसे ही उपशमन-क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना जिससे वह अपना फल नही दे सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय मे आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते है।

(९) **निधत्ति**—जिसमे कर्मो का उदय और सक्रमण न हो सके किन्तु उद्वर्तन-अपवर्तन की सभावना हो वह निधत्ति है।[१] यह भी चार प्रकार[२] का है। (१) प्रकृति-निधत्त (२) स्थिति-निधत्त (३) अनुभाव-निधत्त (४) प्रदेश-निधत्त।

(१०) **निकाचित**—जिसमे उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण एव उदीरणा इन चारो अवस्थाओ का अभाव हो वह निकाचित है। अर्थात् आत्मा ने जिस रूप मे कर्म बाँधा है प्राय उसी रूप मे भोगे बिना उसकी निर्जरा नही होती। वह भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से चार प्रकार का है।[3]

(११) **अबाधाकाल**—कर्म बँधने के पश्चात् अमुक समय तक किसी प्रकार फल न देने की अवस्था का नाम अबाध-अवस्था है। अबाधा-काल को जानने का प्रकार यह है कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधा काल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय

---

१ कर्म प्रकृति गा० २

२ स्थानाग ४।२९६

३ स्थानाग ४।२९६

की स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है तो अवाधाकाल तीम मौ (तीन हजार) वर्ष का है। भगवती मे अष्टकर्म प्रकृतियो का अवाधा काल बताया है[1] और प्रज्ञापना[2] मे अष्टकर्म प्रकृतियो की उत्तर-प्रकृतियो का भी अवाधाकाल उल्लिखित है, विशेप जिज्ञासुओ को मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

जैन कर्म साहित्य मे कर्मों की इन अवस्थाओ एव प्रक्रियाओ का जैसा विश्लेषण है वैसा अन्य दार्शनिको के साहित्य मे दृग्गोचर नही होता। हाँ, योगदर्शन मे नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवायगमन के रूप मे कर्म की त्रिविध दशा का उल्लेख किया है। नियतिविपाकी कर्म का अर्थ है—जो नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाता है। अनियत-विपाकी कर्म का अर्थ है जो कर्म विना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाते है और आवायगमन का अर्थ है एक कर्म का दूसरे मे मिल जाना। योग्यदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओ की तुलना क्रमश निकाचित, प्रदेशोदय और सक्रमण के साथ की जाती है।

कर्म और पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का अर्थ है—वर्तमान जीवन के पश्चात् का परलोक जीवन। परलोक जीवन किस जीव का कैसा होता है इसका मुख्य आधार उसका पूर्वकृत कर्म है। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते है[3] पुनर्जन्म कर्म-सगी जीवो के होता है।[4] अतीत कर्मो का फल हमारा वर्तमान जीवन है और वर्तमान कर्मों का फल हमारा भावी जीवन है। कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य सम्वन्ध है।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव मे ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी-वडी गति की शक्ति उत्पन्न करते है[5] इसी से जीव नए जन्म-स्थान मे जा उत्पन्न होता है।

भगवान महावीर ने कहा—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुन-

---

१ भगवती २।३
२ प्रज्ञापना २३।२।२१-२६
३ आचाराग १।२।६
४ भगवती २।५
५ स्थानाङ्ग ६।४०

जन्म के मूल को पोषण करने वाले है ।[1] गीता मे कहा गया—जैसे फटे हुए कपडे को छोडकर मनुष्य नया कपडा पहनता है वैसे ही पुराने शरीर को छोडकर प्राणी मृत्यु के पश्चात् नए शरीर को धारणा करता है ।[2] यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है ।[3] तथागत बुद्ध ने अपने पैर मे चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे को पूर्वजन्म मे किये हुए प्राणी-वध का विपाक कहा ।[4]

नवजात शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं । उसका मूलकारण पूर्वजन्म की स्मृति है ।[5] जन्म लेते ही बच्चा माँ का स्तन-पान करने लगता है, यह पूर्वजन्म मे किये हुए आहार के अभ्यास से ही होता हैं ।[6] जैसे एक युवक का शरीर बालक शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद मे होने वाली अवस्था है ।[7] नवोत्पन्न शिशु मे जो सुख-दु ख का अनुभव होता है वह भी पूर्वअनुभवयुक्त होता है । जीवन के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति जो भय है वह भी पूर्वबद्ध सस्कारो का परिणाम है । यदि पहले के जन्म मे उसका अनुभव नही होता तो सद्यजात प्राणी मे ऐसी वृत्तियाँ प्राप्त नही हो सकती थी । इस प्रकार अनेक युक्तियाँ देकर भारतीय चिन्तको ने पुनर्जन्म सिद्ध किया है ।

कर्म की सत्ता स्वीकार करने पर उसके फलरूप परलोक या पुनर्जन्म की सत्ता भी स्वीकार करनी पडती है । जिन कर्मों का फल वर्तमान भव मे प्राप्त नही होता उन कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म मानना आवश्यक है । पुनर्जन्म और पूर्वभव न माना जायेगा तो कृतकर्म का निर्हेतुक विनाश और अकृतकर्म का भोग मानना पडेगा । ऐसी स्थिति मे कर्म-व्यवस्था दूषित हो जायेगी । इन दोषो के परिहार हेतु ही कर्मवादियो ने पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार की है ।

---

१ दशवैकालिक ८।३९

२ गीता २।२२

३ गीता ८।२६

४ इत एकनवतिकल्पे शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ॥

५ न्यायसूत्र ३।१।११

६ न्यायसूत्र ३।१।१२

७ बाल सरीर देह तरपुव्व इदिया इमत्ताओ ।
जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहित्ति ॥ —विशेषावश्यक भाष्य

पाश्चात्य दार्शनिक भी इस सम्बन्ध मे मौन नही रहे है। प्राचीन दार्शनिक प्लेटो ने कहा—'आत्मा सदा अपने लिए नये-नये वस्त्र बुनती है तथा आत्मा मे एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी।[१]

आधुनिक दार्शनिक शोपनहार के शब्दो मे पुनर्जन्म निसदिग्ध तत्त्व है। जैसे—"मैने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे मे पहले-पहल सुनता है उसे भी वह स्पष्ट रूपेण प्रतीत हो जाता है।[२]

जैन कर्म साहित्य मे समस्त ससारी जीवो का समावेश चार गतियो मे किया गया है। मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव। वर्तमान जीवन का आयुष्य पूर्ण होने पर जीव अपने गति नाम कर्म के अनुसार इन चार गतियो मे से किसी एक गति मे उत्पन्न होता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहलाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है। अन्तर-काल मे स्थूल शरीर नही होता है। स्थूल शरीर रहित आत्मा गति करती है। उस गति का नाम 'अन्तराल गति' है। वह ऋजु और वक्र के रूप मे दो प्रकार की है। मृत्यु-स्थान से यदि जन्म लेने का स्थान सरल रेखा मे होता है तो वहाँ पर आत्मा की गति ऋजु होती है। यदि वह विषम रेखा मे होता है तो गति वक्र होती है। ऋजु गति मे केवल एक समय लगता है। उसमे आत्मा को किञ्चित् मात्र भी नूतन प्रयास नही करना पडता क्योकि जब वह पहले का शरीर छोडता है तब उसे पहले के शरीर का वेग प्राप्त होता है, वह तो धनुष से छूटे हुए बाण के समान सीधे ही नये जन्म-स्थान पर पहुँच जाता है। वक्रगति मे घुमाव करना पडता है। उसके लिए अन्य प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जहाँ पर घुमाव का स्थान आता है वहाँ पर पूर्व देह-जनित वेग मन्द हो जाता है और उसके पास जो सूक्ष्म कार्मण शरीर है उससे वह जीव नया प्रयत्न करता है। एक घुमाव वाली वक्र गति मे दो समय लगते हैं। दो घुमाव वाली मे तीन समय

---

१ The soul always weaves her garment a-new—"The soul has a natural strength which will hold out and be born many times

२ I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the first time

और तीन घुमाव वाली मे चार समय लगते हैं। इसका मूल कारण लोक सस्थान है। सामान्य रूप से लोक ऊर्ध्व, अध, तिर्यग्—इन तीन भागो मे और जीवोत्पत्ति की दृष्टि से त्रस-नाडी और स्थावर नाडी, इन भागो मे विभक्त है।

द्विसामयिक गति इस प्रकार होती है—ऊर्ध्वलोक की पूर्व दिशा से, अधोलोक की पश्चिम दिशा मे उत्पन्न होने वाले जीव की गति एक वक्रा द्विसामयिकी होती है। प्रथम समय मे समश्रेणी से जीव गमन करता हुआ अधोलोक मे जाता है और दूसरे समय मे तिर्यग्वर्ती अपने उत्पत्ति-क्षेत्र मे पहुँच जाता है।

त्रिसामयिक गति इस प्रकार होती है—ऊर्ध्व दिशावर्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्ती वायव्य कोण मे उत्पन्न होने वाले जीव की गति द्विवक्रा त्रिसामयिकी होती है। प्रथम समय मे जीव समश्रेणी से गति करता हुआ नीचे जाता है, द्वितीय समय मे तिरछा चलकर पश्चिम दिशा मे और तृतीय समय मे तिरछा चलकर वायव्य कोण मे अपने जन्म-स्थान पर पहुँचता है।

चतु सामयिकी गति इस प्रकार होती है—स्थावर-नाडी गत अधोलोक की विदिशा के इस पार से उस पार की स्थावर नाडी गत ऊर्ध्वलोक की दिशा मे पैदा होने वाले जीव की 'त्रिवक्रा चतु सामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्ती विदिशा से दिशा मे पहुँचने मे, दूसरा समय त्रस-नाडी मे प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रस-नाडी से निकलकर उस पार स्थावर नाडी-गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुँचने में लगता है। आत्मा यह गति सूक्ष्म शरीर से करती है और फिर स्थूल शरीर में प्रवेश नही करती किन्तु स्थूल शरीर का स्वय निर्माण करती है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार जब जीव एक शरीर को छोडकर अन्य शरीर धारण करने वाला होता है, तब आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने स्थान पर पहुँचा देता है। आनुपूर्वी नाम कर्म के लिए 'नासा-रज्जु' अर्थात् 'नाथ' का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार एक बैल को इधर-उधर ले जाने के लिए 'नाथ' की सहायता अपेक्षित होती है उसी प्रकार जीव को एक गति से दूसरी गति में पहुँचने के लिए आनुपूर्वी नाम कर्म की सहायता की आवश्यकता रहती है। ऋजुगति के लिए आनपर्वी की आवश्यकता नही होती किन्तु

वक्रगति के लिए उसकी आवश्यकता होती है। गत्यन्तर के समय जीव के साथ तेजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं। औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर का निर्माण वहाँ पर पहुँचने के पश्चात् होता है।

प्रश्न यह है कि अन्तराल गति में स्थूल शरीर नही होता और स्थूल शरीर के अभाव में आँख, कान आदि इन्द्रियाँ भी नही होती, ऐसी स्थिति में जीव का जीवत्व किस प्रकार रहेगा ? कम से कम एक इन्द्रिय तो ज्ञान-मात्रा के लिए आवश्यक है। जिसमें एक भी इन्द्रिय नही वह प्राणी किस प्रकार ?

इस प्रश्न का समाधान भगवती मे अनेकान्त दृष्टि से किया गया है—

गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! एक जन्म से दूसरे जन्म मे व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय होता है।

समाधान करते हुए भगवान ने कहा—गौतम ! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा से जीव अन्-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।

साराश यह है कि अन्तराल गति मे त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियाँ नही होती हैं किन्तु ज्ञानेन्द्रिय होती हैं जिससे उसे स्व-सवेदन का अनुभव होता है।

कर्म-बधन से मुक्ति का उपाय

भारतीय कर्म साहित्य मे जैसे कर्मबध और उसके कारणो का विस्तार से निरूपण है उसी प्रकार उन कर्मों से मुक्त होने का साधन भी प्रतिपादित किया गया है। आत्मा नित नये कर्मो का बन्धन करता है, पुराने कर्मों को भोग कर नष्ट करता है। ऐसा कोई समय नही है जिस समय वह कर्म नही बाँधता हो। तब प्रश्न हो सकता है कि वह कर्मों से मुक्त कैसे होगा ? उत्तर है—तप और साधना से। जैसे खान मे सोना और मिट्टी दोनो एकमेक होते हैं, किन्तु ताप आदि के द्वारा जैसे उन्हे अलग-अलग कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्मों को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से पृथक् किया जाता है। जैनदर्शन ने एकान्त रूप से न्याय-वैशेषिक, साख्य, वेदान्त, महायान (बौद्ध) की तरह ज्ञान को प्रमुखता नही दी है और न एकान्त रूप से मीमासकदर्शन की तरह क्रिया-काण्ड पर ही बल दिया है। किन्तु ज्ञान

और क्रिया इन दोनो के समन्वय को ही मोक्ष-मार्ग माना है।[1] चारित्रयुक्त अल्पज्ञान भी मोक्ष का हेतु है और विराट् ज्ञान भी, यदि चारित्र रहित है तो मोक्ष का कारण नही है।[2] आचार्य भद्रबाहु के शब्दो मे चारित्रहीन श्रुतवेत्ता चन्दन का भार ढोने वाले गधे के समान है।[3] साराश यह है कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का हेतु है। जहाँ ये दोनो सम्यक् होते हैं वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है। अत आचार्यों ने तीनो को मोक्ष का मार्ग कहा है।[4] आगमो मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष-मार्ग रूप मे स्वीकार किया है।[5] किन्तु यह शाब्दिक अन्तर है, वास्तविक नही। कही पर दर्शन को ज्ञान के अन्तर्गत गिनकर ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का कारण बताया है, और कही पर तप को चारित्र मे गर्भित कर ज्ञान, दर्शन, और चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।

बद्ध कर्मो से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम साधक सवर की साधना से नवीन कर्मो के आगमन को रोकता है।[6] आचार्य श्री हेमचन्द्र के शब्दो

---

१ सुयनाणम्मि वि जीवो, वट्टन्तो सो न पाउणइ मोक्ख।
जो तव-सजममइए, जोगे न चएइ वोढु जे॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा० ६४

२ अप्पपि सुयमहीय, पगासय होइ चरणजुत्तस्स।
एक्कोऽवि जह पईवो, सचक्खुयस्स पयासेइ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गा० ६६

३ जहा खरो चन्दणभारवाही,
भारस्सभागी न हु चदणस्स।
एव खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सुग्गईए। —आवश्यक निर्युक्ति गा० १००

४ (क) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग। —तत्त्वार्थसूत्र १।१
(ख) नाण पयासय सोहओ तवो, सजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हपि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ॥
—आवश्यक निर्युक्ति गा १०३

५ नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं॥
नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइ॥
—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २-३

६ शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रव। आस्रवनिरोधलक्षण सवर।
—तत्त्वार्थ० १।४ सर्वार्थसिद्धि

मे—"जिस तरह चौराहे पर स्थित वहु-द्वार वाले गृह मे द्वार वन्द न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से वही चिपक जाती है, और यदि द्वार वन्द हो तो रज प्रविष्ट नही होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।"

"जिस तरह तालाव मे सर्वद्वारो से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारो को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता है।"

"जिस तरह नौका मे छिद्रो से जल प्रवेश पाता है और छिद्रो को रोक देने पर थोडा भी जल प्रविष्ट नही होता, वैसे ही योगादि आस्रवो को सर्वत अवरुद्ध कर देने पर सवृत जीव के प्रदेशो मे कर्मद्रव्य का प्रवेश नही होता।[1]

इस प्रकार साधक सवर से आगन्तुक कर्मो को रोकने के साथ-साथ निर्जरा की साधना से पूर्वसचित कर्मो को क्षय करता है।[2] कर्मो का एक देश से आत्मा से छूटना निर्जरा है[3] और जब सम्पूर्ण कर्मो को सर्वतोभावेन

---

१ यथा चतुष्पथस्थस्य, बहुद्वारस्य वेश्मन।
अनावृतेषु द्वारेषु, रज प्रविशति ध्रुवम्॥
प्रविष्ट स्नेहयोगाच्च, तन्मयत्वेन वध्यते।
न विशेन्न च वध्येत, द्वारेषु स्थगितेषु च॥
यथा वा सरसि क्वापि, सर्वद्वारैर्विशेज्जलम्।
तेषु तु प्रतिरुद्धेषु प्रविशेन्न मनागपि॥
यथा वा यानपात्रस्य, मध्ये रन्ध्रैर्विशेज्जलम्।
कृते रन्ध्रपिधाने तु, न स्तोकमपि तद्विशेत्॥
योगादिष्वास्रवद्वारेष्वेव रुद्धेषु सर्वत।
कर्मद्रव्यप्रवेशो न, जीवे सवरशालिनि॥

—नवतत्त्वसाहित्यसग्रह श्री हेमचन्द्र सूरिकृत सप्ततत्त्वप्रकरणम् ११८-१२२

२ नाणेण जाणई भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई॥

—उत्तरा० २८।३५

३ एकदेशकर्मसक्षयलक्षणा निर्जरा।

—तत्त्वार्थ १।४ सर्वार्थसिद्धि

नष्ट कर देता है तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है[1] जब आत्मा एक बार पूर्ण रूप से कर्मो से विमुक्त हो जाता है तो फिर वह कभी कर्म-बद्ध नही होता। क्योकि उस अवस्था मे कर्म-बन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के जल जाने पर उससे पुन अकुर की उत्पत्ति नही होती वैसे ही कर्म रूपी बीज के सम्पूर्ण जल जाने पर ससार रूपी अकुर की उत्पत्ति नही होती।[2] इससे स्पष्ट है कि जो आत्मा कर्मों से बँधा हो, वह एक दिन उनसे मुक्त भी हो सकता है।

अपूर्व देन

कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीयदर्शन की और विशेष रूप से जैन-दर्शन की विश्व को एक अपूर्व और अलौकिक देन है। इस सिद्धान्त ने मानव को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थति मे दीपक को लौ की तरह नही अपितु ध्रुव की तरह अटल रहने की प्रेरणा दी है। जन-जन के मन मे से श्वानवृत्ति को हटाकर सिंहवृत्ति जागृत की है। कर्मवाद की महत्ता के सम्बन्ध मे एतदर्थं ही डाक्टर मेक्समूलर ने कहा है—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पडता है, वह मेरे पूर्वजन्म के कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-सरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे

---

१ (क) कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष। —तत्त्वार्थ० १०।३
(ख) मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान-हृदय ग्रन्थिनाशो, मोक्ष इति स्मृत ॥ —शिवगीता १३—३२

२ दग्धे बीजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाकुर।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति ।

कितनी ही शका क्यो न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य-जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है।"[1]

जो सत्य के अन्वेषी सुधी और धैर्यवान् पाठक है उन्हे यह सत्य-तथ्य अनुभव हुए विना नही रहेगा कि भारतीयदर्शन का कर्मवाद सिद्धान्त अद्-भुत, अनन्य और अपराजेय है। इस वैज्ञानिक युग मे भी यह एक चिरन्तन ज्योति के रूप मे मानव-मात्र के पथ को आलोकित कर सकता है।

---

१ दर्शन और चिन्तन, द्वि० खण्ड पृ० २१६।

ंचम प

[जैनदर्शन और विश्वदर्शन]

- विश्वदर्शन एक अनुचिन्तन
- जैनदर्शन और बौद्धदर्शन
- जैनदर्शन और साख्यदर्शन
- जैनदर्शन और वेदा॰
- जैनदर्शन की विश्व को देन

□ विश्वदर्शन : एक अनुचिन्तन

- भारतीयदर्शन
- वैदिकदर्शन
- चार्वाकदर्शन
- जैनदर्शन
- बौद्धदर्शन
- सांख्य और योगदर्शन
- न्याय और वैशेषिकदर्शन
- मीमांसा और वेदान्त दर्शन
- यूनानीदर्शन
- अरबीदर्शन
- सूफीसम्प्रदाय
- यूरोपीयदर्शन
- भारतीयदर्शन में नया युग

भारतीयदर्शन

भारतीयदर्शन की विचारधारा मूल रूप मे एक होने पर भी विकास की दृष्टि से उसको दो भागो मे विभक्त किया गया है—वैदिक विचारधारा और अवैदिक विचारधारा। दूसरे शब्दो मे कहे तो पोथीवादी विचारधारा और अनुभववादी विचारधारा। वैदिक-परम्परा वेदो को अपौरुषेय और ईश्वरवाणी मानती है, साथ ही वेद को अनादि भी स्वीकार करती है—यह पोथीवादी विचारधारा है। दूसरी अनुभववादी विचारधारा है। जैनदर्शन के जिन और बौद्धदर्शन के बुद्ध ने जो स्वय अनुभव किया, उस अनुभूति की अभिव्यक्ति ही जैनदर्शन और बौद्धदर्शन है। चार्वाकदर्शन भी प्रत्यक्ष अनुभव को महत्त्व देता है। इस प्रकार ये अनुभववादी दर्शन हैं। प्रश्न यह है कि जैनदर्शन मे सर्वज्ञ को महत्त्व दिया गया है। सर्वज्ञ की वाणी प्रमाण-भूत मानी गई है, अत वैदिकदर्शन के समान जैनदर्शन भी पोथीवादी दर्शन है ?

उत्तर मे निवेदन है कि जैन-परम्परा यह मानती है कि प्रत्येक तीर्थ-कर अपने अनुभव (आत्मानुभव) के आधार पर ही उपदेश देते है। यही कारण है कि भगवान पार्श्व और महावीर के शासन मे अन्तर है। इस आधार से कहा जा सकता है कि जैनदर्शन पोथीवादी नही किन्तु अनुभव-वादी दर्शन है। वेददर्शन, उपनिषद्दर्शन और गीतादर्शन, ये पोथीवादी दर्शन हैं और चार्वाकदर्शन, बौद्धदर्शन और जैनदर्शन ये अनुभववादी दर्शन हैं। पाश्चात्य दार्शनिको ने भारतीयदर्शन का विभाजन दूसरे प्रकार से भी किया है। आस्तिकदर्शन और नास्तिकदर्शन। आस्तिकदर्शन मे वेद से सम्बन्धित उपनिषद् और गीता के साथ ही साख्य और योग, वैशे-षिक और न्यायदर्शन एव पूर्व-मीमासा और उत्तर-मीमासा दर्शनो का समावेश किया गया है। नास्तिकदर्शनो मे चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शनो का समावेश किया है। इसी क्रम को दत्तचटर्जी, यदुनाथ सिन्हा, सुरेन्द्र नाथ गुप्त आदि आधुनिक भारतीय दर्शन लेखको ने भी अपनाया है।

वैदिकदर्शन

भारतीयदर्शन का प्रारम्भ वैदिक युग से माना जाता है। वेदो मे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। वेदकालीन दर्शन का तात्पर्य है, भारत का वह दर्शन जिसमे मानवो का मन और मस्तिष्क जगत् के रहस्यो का पता लगाना चाहता था कि वस्तुत जगत् का मूल क्या है? ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद मे दर्शन की अपेक्षा जिज्ञासा अधिक है। उस युग का मानव यह जानना चाहता था कि सूर्य, चन्द्र, आकाश, जल और पृथ्वी आदि क्या है? जैमिनि ऋषि के अनुसार वेद—मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागो मे विभक्त है। मन्त्रो का सग्रह सहिता है। ऋक्, यजु, साम और अथर्वन् की अपनी-अपनी सहितायें है जो अनेक शाखाओ और उपशाखाओ मे विभक्त हैं। इन सहिताओ मे देवताओ की प्रार्थनाएँ ही मुख्य रूप से की गई हैं। इस विभाग मे आत्मा की जिज्ञासा का अभाव है। विशेष रूप से प्रकृति-दर्शन ही उपलब्ध होता है।

वेदो के पश्चात् उपनिषद् युग आता है। इस युग मे मानव वहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाता है। वैदिककाल मे विश्व के मूल कारण की अन्वेषणा भौतिक वस्तुओ से प्रारम्भ हुई थी। वह उपनिषद् काल मे आत्मा और ब्रह्म तक पहुँच गई। यह सत्य है कि वैदिक युग का वहु-देववादी दर्शन उपनिषद् मे आकर एकत्ववादी हो गया। यह एकत्व ब्रह्म मे पहुँचकर पर्यवसन्न हो गया। उपनिषदो मे काव्यात्मक शैली मे आत्मा, ब्रह्म, माया, पुनर्जन्म आदि, आध्यात्मिक भावो का विश्लेषण सुन्दर रूप से किया गया है। उपनिषदो की सख्या के सम्वन्ध मे विद्वानो मे एक मत नही है। आचार्य शकर ने जिन ग्यारह उपनिपदो पर भाष्य लिखे है, वे प्राचीनतम माने जाते है। यो उपनिषदो की सख्या एक सौ आठ है। उपनिषद्दर्शन के अन्त में महाकाव्य काल आता है। उस युग का सवसे श्रेष्ठ ग्रन्थ गीता है। गीता मे ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग का सुन्दर समन्वय है। गीता मे अनासक्ति योग का जो वर्णन है, वह वहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक है।

चार्वाकदर्शन

भारतीयदर्शनो मे चार्वाकदर्शन एकान्त रूप से भौतिकवादी दर्शन है। इस दर्शन का लक्ष्य भौतिक सुख है। वह भूत और भविष्य की घोर उपेक्षा कर केवल वर्तमान को महत्त्व देता है। यही कारण है कि वह केवल

प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त वह सभी का निषेध करता है। उसका यह वज्र आघोप है कि 'जब तक जीओ सुख पूर्वक जीओ, ऋण करके भी घी पीओ, जब शरीर भस्म हो जायेगा तब कोई भी चीज नही बचेगी जो पुन जन्म धारण कर सके।'[1] वह आत्मा नामक तत्त्व को नही मानता है। आत्मा चार भूतो के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। चार भूतो का सयोग ही जीवन है और चार भूतो का बिखर जाना ही मृत्यु है। भूतो का सम्यक् प्रकार से उपयोग करना, खूब आनन्द लूटना यही इस दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य है।

जैनदर्शन

जैनदर्शन का प्रमुख उद्देश्य है—आत्मा दुख से मुक्त होकर अनन्त सुख की ओर बढे। जीव और पुद्गल इन दोनो का सम्बन्ध अनन्त काल से चला आ रहा है। पुद्गलो के बाह्य सयोग से ही जीव विविध प्रकार के कष्टो का अनुभव करता है। जीव और पुद्गल का जब तक सम्बन्ध विच्छेद नही होगा, तब तक आध्यात्मिक सुख सम्भव नही है। जीव और पुद्गल दोनो पृथक् कैसे हो सकते है? इसके लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मार्ग प्रस्तुत किया है। अहिंसा और अनेकान्त जैनदर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। विचार मे अनेकान्त और व्यवहार मे अहिंसा आने से जीवन सुखी और शान्त होता है। आत्मवाद, कर्मवाद, नयवाद, निक्षेपवाद, प्रमाणवाद, सप्तभगी, अनेकान्तवाद आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन पर पूर्व अध्यायो मे विस्तृत रूप मे विश्लेषण किया गया है।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन के प्रणेता महात्मा बुद्ध है। इस दर्शन मे मुख्य चार तत्त्व हैं जिन्हे आर्यसत्य कहा जाता है—(१) दुख, (२) समुदय, (३) मार्ग और (४) निरोध। प्रथम आर्यसत्य दुख है। बौद्धदर्शन का प्रमुख उद्देश्य इस दुख से मुक्त होना है। ससारावस्था मे पाँच स्कन्ध हैं, और ये ही दुख के प्रमुख कारण हैं। वे पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं—(१) विज्ञान,

---

१ यावत् जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुत ॥

(२) वेदना, (३) सज्ञा, (४) सस्कार और (५) रूप।[1] जब ये पाँचो स्कन्ध समाप्त हो जाते है, तव दुःख स्वतः समाप्त हो जाता है। दूसरा आर्यसत्य समुदय है। इसका तात्पर्य है, आत्मा मे राग-द्वेष की भावना का उत्पन्न होना। इस विराट् विश्व मे 'यह मेरा है, यह तेरा है।' यह जो राग-द्वेषमय भावो की अभिव्यजना है, वही समुदय है।[2] तृतीय आर्यसत्य है—मार्ग। मार्ग का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि ससार मे जितने भी घट, पट आदि पदार्थ हैं, वे सभी क्षणिक हैं। जो प्रथम क्षण मे थे, वे द्वितीय क्षण मे नही है। किन्तु मिथ्या वासना के कारण यह वही है ऐसा आभास होने लगता है। इसके विपरीत जितने भी पदार्थ हैं, वे क्षणिक हैं, ऐसा सस्कार उत्पन्न हो जाना मार्ग है। चतुर्थ आर्यसत्य निरोध है। सर्व प्रकार के दुःखो से मुक्ति मिलने का नाम निरोध है।[3]

इस प्रकार बौद्धदर्शन का मूलाधार दुःख ही है। ससारी जीव को स्कन्ध रूप दुःख से पृथक् करना, बौद्ध दर्शन के आविर्भाव का समुद्देश्य है।

साख्य और योगदर्शन

भारतीयदर्शनो मे साख्य और योग ये दोनो दर्शन एक-दूसरे के पूरक है। साख्यदर्शन मे कपिल के पच्चीस तत्त्वो पर अत्यन्त सुन्दर विश्लेषण किया गया है। साख्यदर्शन का सृष्टि-विज्ञान भी वहुत ही प्रसिद्ध है। गीता मे जो सृष्टि का विश्लेषण है, उसका मूल आधार भी साख्यदर्शन ही है। वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण को प्रमाण मानता है, किन्तु प्रमाण-मीमासा मे विशेष महत्त्वपूर्ण कोई बात नही कहता। परन्तु उसमे कार्य-कारणवाद का विश्लेषण बडे विस्तार के साथ किया गया है। मूल मे साख्यदर्शन परिणामवादी है। परिणामवाद के अनुसार कारण स्वय ही कार्य रूप मे परिणत हो जाता है। योगदर्शन मनोवैज्ञानिक पद्धति से चित्त की वृत्तियो का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत

---

१ दुःख ससारिणः स्कन्धास्ते च पच प्रकीर्तिताः।
विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कारो, रूपमेव च ॥

२ समुदेति यतो लोके, रागादीना गणोऽखिलः।
आत्माऽऽत्मीय भावाख्य समुदय स उदाहृतः ॥
—षट्दर्शन समुच्चय, बौद्धदर्शन

३ क्षणिकाः सर्वसस्काराः, इत्येव वासना मता।
स मार्ग इह विज्ञेयो, निरोधो मोक्ष उच्यते ॥

करता है। पतञ्जलि के पूर्व भी भारत मे योग-विद्या थी। किन्तु पतञ्जलि के योग-सूत्र मे तथा व्यास-भाष्य मे जो विश्लेपण उपलब्ध होता है वैसा विश्लेषण पूर्व के ग्रन्थो मे नही मिलता। चित्त की वृत्तियो का निरोध किस प्रकार किया जाय, निरोध करते समय क्या-क्या विघ्न आ सकते है, उन विघ्नो को किस प्रकार दूर किया जाय आदि का सुन्दर विश्लेषण है। पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि योग के ये आठ अग बताये हैं। इन्ही का विस्तार के साथ योगदर्शन मे वर्णन है। प्रमाण का वर्णन योगदर्शन मे वहुत ही सक्षेप मे है।

न्याय और वैशेषिकदर्शन

गौतम ऋषि ने प्रमाण और प्रमेय का न्याय-सूत्र मे मुख्य रूप से वर्णन किया हैं। प्रमाण-शास्त्र, ईश्वरवाद और सृष्टि-कर्तृत्ववाद, ये न्यायदर्शन की विशेषता है। गौतम के न्यायसूत्र पर भाष्य, वार्तिक और टीकाएँ विपुल मात्रा मे लिखी गई हैं।

कणाद ऋषि ने वैशेषिकदर्शन मे सप्त पदार्थो का विस्तार के साथ विश्लेषण कर पदार्थ विद्या को भारतीयदर्शन मे एक गौरव-मय स्थान प्रदान किया है। प्रमाण के सम्वन्ध मे जितना विश्लेषण वैशेषिक दर्शनकार ने किया है, उतना प्रमेय के सम्वन्ध मे नही। वैशेषिकदर्शन मे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सात पदार्थो का विश्लेषण है। न्याय और वैशेषिक दोनो दर्शनो मे अपवर्ग और मोक्ष को माना गया है। इन पदार्थ और प्रमेयो के ज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है और आत्मा मुक्त हो जाता है।

मीमासा और वेदान्तदर्शन

मीमासादर्शन और वेदान्तदर्शन ये दोनो दर्शन वेदो से सम्वन्धित हैं। वेदो के कर्म-काण्ड का निरूपण मीमासादर्शन मे और वेदो के ज्ञान-काण्ड का निरूपण वेदान्त-दर्शन मे मिलता है। जैमिनि ने मीमासासूत्र की रचना की और वादरायण ने वेदान्तसूत्र की। मीमासादर्शन का मूल आधार वेद विहित कर्म, यज्ञ एव याग है। वेदान्तदर्शन का मूल आधार ब्रह्म और माया है। ब्रह्म के साथ जहाँ तक माया का सम्बन्ध है, वहाँ तक ससार है। ब्रह्म के अतिरिक्त इस ससार मे जो कुछ भी है, वह मिथ्या है।[1] वेदान्त के तीन सिद्धान्त हैं—

१ ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या।

(१) ब्रह्म की सत्यता,
(२) जगत् का मिथ्यात्व, और
(३) नानात्व का निषेध कर एकत्व की सिद्धि।

वेदान्तदर्शन की यो तो अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ हैं। किन्तु आचार्य शकर के पश्चात वह अद्वैत वेदान्त के नाम से अधिक विश्रुत हुआ।

भारत के ये नवदर्शन अपने-अपने मन्तव्य अपने-अपने ढग से प्रतिपादन करते हुए भी सभी एक बात मे सहमत हैं कि जीवन मे दु ख कैसे दूर हो। चार्वाकदर्शन भी दु ख मुक्ति की बात से इन्कार नही कर सकता। भारतीय दर्शन का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त आत्मा है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी दर्शनो ने आत्मा को माना है और आत्म-तत्त्व की अपनी-अपनी दृष्टि से सिद्धि भी की है। आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध मे मतभेद नही है, हाँ आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे अवश्य ही विचार-भेद रहा है। भारतीयदर्शन का तीसरा मुख्य सिद्धान्त कमवाद का है। चार्वाक को छोडकर सभी दर्शनो ने कमवाद और परलोक को माना है। इस तरह भारतीयदर्शन मे समन्वय मिलता है।

यूनानीदर्शन

यूनानीदर्शन भी विश्व का एक प्रचीन दर्शन है। भारत मे जिस युग मे उपनिषदो की रचना हो रही थी, उस समय यूनान के विचारक भी जीवन और जगत् के गभीर रहस्यो को जानने का प्रयास कर रहे थे। इतिहासकार यूनानीदर्शन का प्रारभ ई० पू० ७०० से ४०० तक मानते है। इसका तात्पर्य यह है—जिस समय भारत मे भगवान महावीर अहिंसा और अनेकान्त का प्रसार कर रहे थे, बुद्ध करुणा का उपदेश दे रहे थे और वैदिक ऋषि ब्रह्म और माया की चर्चा मे उलझे हुए थे, उस समय यूनानीदर्शन अपने शैशवकाल मे था। यूनानीदर्शन का काल महावीर से प्रारभ होता है किन्तु भगवान पार्श्व के पूर्व वह नही जाता। यूनानी दार्शनिको की जिज्ञासा का मूल लक्ष्य था—उस सत्य-तथ्य की अन्वेपणा करना जिससे विश्व की सभी वस्तुएँ निर्मित हुई हैं। ग्रीक दार्शनिको ने केवल कल्पना के कमनीय गगन मे विहरण नहीं किया अपितु उनके कदम व्यवहार की भूमि पर जम कर गिरे हैं। उस समय उनके सामने मुख्य तीन प्रश्न थे—यह

विश्व क्या है ? कैसे है ? और क्यो है ? इसका मूल तत्त्व क्या है और कहाँ है ? उपनिषद् के दार्शनिको मे भी जो इससे एक सदी पूर्व था उसमे भी इन्ही विचारो के दर्शन होते है। विश्व का उपादान क्या है ? जिस एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है, वह क्या है ? वैदिक ऋषियो मे से किसी ने जल को, किसी ने अग्नि को, किसी ने वायु को, किसी ने आकाश को और किसी ने आत्मा और ब्रह्म को इस विश्व का मूल कहा है। इस प्रकार जो प्रश्न प्राकृतिक वस्तुओ से उद्भूत हुआ था, उसका अन्त आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म और ईश्वर मे जाकर परिसमाप्त हुआ।

यूनानीदर्शन मे प्रथम दार्शनिक थेल था, जो भौतिकवादी था, उसके मन मे यह प्रश्न उद्भूत हुआ कि विश्व का मूल क्या है ? उसने जल को ही मूल तत्त्व कहा। यूनानीदर्शन मे प्रमुख रूप से दो परम्पराएँ है—सुकरात से पूर्व और सुकरात से उत्तर। सुकरात से पूर्व यूनान मे चार महान् दार्शनिक थे—भौतिकवादी थेल, बुद्धिवादी पीथागोरस, परिवर्तनवादी हेराक्लित और सोफीवाद। भौतिकवादी थेल के पश्चात् बुद्धिवादी पीथागोरस आता है, जो महान् दार्शनिक के साथ बहुत बडा गणितज्ञ भी था। उसे आत्मा की अमरता पर, कर्मो के फल पर और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास था। 'पीथागोरस' भारत मे भी आया था और जैनधर्म के सिद्धान्तो से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। परिवर्तनवादी हेराक्लित महावीर और बुद्ध के समय हुए थे। उनका यह मानना था कि जीवन परिवर्तनशील है और जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। एक ही व्यक्ति उसी दिन मे दो बार नदी मे स्नान नही सकता, चूँकि दूसरे क्षण मे नदी दूसरी हो जाती है। "पूर्व क्षण मे जो थी वह दूसरे क्षण मे नही रह सकती" एतदर्थ हेराक्लित कहता था कि एक ही समय मे नदी मे दो बार डुबकी नही लगा सकते। हेराक्लित प्रस्तुत परिवर्तनवाद और क्षणिकवाद भारत मे बुद्ध के क्षणिकवाद से [illegible]ता-जुलता है। जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त गुण और एक-एक गुण [illegible]नन्तानन्त पर्याय मानता है। प्रत्येक पर्याय एक समय से अधिक स्थिर [illegible] रह सकती। जैन दृष्टि से हेराक्लित का परिवर्तनवाद पर्यायदृष्टि से [illegible] खाता है।

सोफी सन्त एक प्रकार से घुमक्कड और परिव्राजक थे, साथ ही

दार्शनिक भी। उनका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त था कि सत्य के दो भेद हैं—रूढि और वास्तविक। "रूढिसत्य की अपेक्षा वास्तविकसत्य श्रेष्ठ है। उसे प्राप्त करना ही एक मात्र मानव-जीवन का लक्ष्य है।" भारतवर्ष मे वेदान्त ने सत्ता के व्यावहारिकसत्ता और पारमार्थिकसत्ता, ये दो भेद किये हैं। बुद्ध ने सत्य के सवृतिसत्य और परमार्थसत्य, ये दो भेद किये हैं। जैनदर्शन ने व्यवहारनय और निश्चयनय ये दो भेद किये हैं। सोफी सन्त के विचारो मे भगवान् महावीर एव तथागत बुद्ध के विचारो मे अत्यधिक समानता है।

यूनानीदर्शन मे सोफी सन्तो के पश्चात् एक नवीन परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के करने वाले तीन महान् व्यक्ति थे—यथार्थवादी सुकरात, बुद्धिवादी अफलातून (प्लेटो) और वस्तुवादी अरस्तू। सुकरात ने यूनान मे सर्वप्रथम यह उद्घोषणा की कि विज्ञान ही धर्म है अर्थात् जो कुछ भी विचार है वही आचार है। भगवान महावीर ने पाँच आचारो का वर्णन किया है उसमे एक ज्ञानाचार भी है। भगवान महावीर ने पच्चीससौ वर्ष पूर्व भारत मे जो वात कही वही बात ईसा से तीन शताब्दी पूर्व सुकरात ने यूनान मे कही। स्वय सुकरात ने कोई ग्रन्थ नही लिखा। उसके उपदेशो को उसके शिष्य प्लेटो ने बाद मे लिपिवद्ध किया था। यह परम्परा भारत मे वहुत ही प्राचीन काल से रही है। भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे गणधरो ने सूत्र रूप मे रचना की। बुद्ध ने जो कुछ कहा, उसे आनन्द ने त्रिपिटक का रूप प्रदान किया। सुकरात का शिष्य प्लेटो, सुकरात से मिलने के पूर्व ही साहित्य, सगीत और चित्रकला मे निष्णात था। सुकरात के सम्पर्क मे आने के पश्चात् उसका ध्यान दर्शन की ओर गया। उसका यह अभिमत था, कि जब तक राज्य के शासनसूत्र दार्शनिको के हाथो मे नही आयेंगे तव तक समाज और राष्ट्र से अन्याय और अनीति दूर नही हो सकेगी। इसी विचार के आधार पर प्लेटो ने युटोपिया की कल्पना की। जिसका तात्पर्य था, दार्शनिको का राज्य। यही उसका प्रजातत्र था। प्लेटो का शिष्य अरस्तू था। वह सुकरात की तरह यथार्थ-वादी नही था और न प्लेटो के समान बुद्धिवादी ही, किन्तु वह वस्तुवादी था। अरस्तू प्लेटो का शिष्य था और विश्व-विजेता सिकन्दर का गुरु था। वह दार्शनिक कम किन्तु वैज्ञानिक अधिक था। वह महान लेखक था उसने इतने अधिक ग्रन्थ लिखे कि उसके पूर्व के सारे ग्रन्थ भी उसकी तुलना मे

कम है। अरस्तू के पश्चात् यूनानीदर्शन को गति शिथिल हो गई, उसमे नया विचार और नया दर्शन नही रहा, जो कुछ भी है वह पिष्ट-पेषण है।

अरवीदर्शन

हजरत मुहम्मद के जन्म से पहले अरव मे तीन देवियां उपास्य के स्थान पर आसीन थी—लात, लज्जा और मनात, और वहाँ पर तीन धर्म भी पनप रहे थे। मूसा के भक्त यहूदी, और ईसा के भक्त ईसाई अपना प्रचार कर रहे थे। ये दोनो धर्म वहाँ पर वाहर से आए थे। अरवो का पुराना धर्म था—मक्का नगर मे विभिन्न देवो की मूर्तियाँ स्थापित कर उनकी अर्चना करना। इस प्रकार अरव मे न एक धर्म था और न राष्ट्रीयता ही थी। अरब लोगो का जीवन आर्थिक दृष्टि से भी वहुत ही साधारण था। यहूदी लोग घोडे और ऊँट के लिए प्रसिद्ध थे। वहाँ पर खजूर, सेव, नास-पाती आदि फल अधिक मात्रा मे होते थे। वे उन्हे ऊँट और घोडो पर लाद कर अदन के बन्दरगाह पर पहुँचाते थे। उनका सम्वन्ध व्यापार की दृष्टि से वाहर के देशो के साथ भी था।

हजरत मुहम्मद ने कुरान का निर्माण किया। उसकी भाषा अत्यन्त सरल थी जिसे निरक्षर व्यक्ति भी अच्छी तरह समझ सकता था।

जब इस्लामिक दुनिया अरब से वाहर निकलने लगी, तव उन लोगो को यह अनुभव होने लगा कि उनके विचारो मे और अन्य लोगो के विचारो मे विषमता है। जब ये विचार उनके मस्तिष्क मे आए तब अरवी धर्म मे अन्य नवीन सम्प्रदायो का जन्म हुआ—मोतजला सम्प्रदाय, करामी सम्प्रदाय और अशअरी सम्प्रदाय। मोतजला सम्प्रदाय के पहले जितने भी अरबी विचार हैं, उनमे तर्क को कही भी अवकाश नही है। केवल श्रद्धा की ही प्रमुखता है। इसलिए उन्हे दर्शन की अपेक्षा धर्म कहना अधिक तर्क सगत है। विश्वासवादी अरबी धर्म मे मोतजला सम्प्रदाय ने तर्क प्रविष्ट किया। मोतजला इस्लाम का सर्वप्रथम सम्प्रदाय है, जिसने अपने विचार दर्शन के प्रकाश मे व्यक्त किये। उनके दार्शनिक विचार के मूल विन्दु ये हैं—

(१) जीव कर्म करने मे स्वतत्र है। जीव को परतत्र मानने पर उसके बुरे कर्मों का दण्ड देना अन्याय है।

(२) इस्लाम का विश्वास था कि ईश्वर के अतिरिक्त कोई सर्व-

शक्ति नही है। मोतजलो का तर्क था—दुनिया मे केवल भलाई ही नही बुराई भी देखी जाती है। पर खुदा शुभ का स्रोत है, बुराई का नही। शुभ का स्रोत होने से खुदा नरक आदि की दारुण यातनाएँ नही दे सकता।

(३) अन्य मुसलमानो के समान मोतजला सम्प्रदाय वाले ससार को ईश्वर निर्मित मानते थे। वे उसे अभाव से भाव मे आया हुआ मानते थे। वे इस सम्बन्ध मे अरस्तू के जगत् आदिवाद के सिद्धान्त के विरोधी थे।

(४) मोतजला कुरान को सादि मानते थे, वे कट्टर मुसलमानो की भाँति उसे अनादि नही मानते थे।

(५) मोतजला ग्रन्थ के उतने पक्षपाती नही थे तथापि उन्होने ग्रन्थ (कुरान) और बुद्धि मे समन्वय किया। किन्तु उन्होने कितने ही पुराने विचारो को नही माना।

सूफी सम्प्रदाय

सूफी शब्द—सोफी शब्द—यूनानी भाषा का है। आठवी सदी मे जब यूनानीदर्शन का अनुवाद अरबी भाषा मे होने लगा उस समय सोफ या सोफी शब्द भी दर्शन के अर्थ मे अरबी परम्परा मे व्यवहृत होने लगा। उसके पश्चात् वर्णमाला के दोष से सोफी से सूफी हो गया। सर्वप्रथम सूफी की उपाधि अबू हाशिम को प्राप्त हुई जिसका देहान्त ७७० ईस्वी के आसपास हुआ था। जिस समय पैगम्बर होते हैं, उस समय के जो विशिष्ट धर्मात्मा होते है वे सहावा (साथी) कहलाते है। पैगम्बर के पश्चात् भी उन व्यक्तियो को इसी नाम से स्मरण किया गया है। मुसलमान साहित्यकारो ने सूफी शब्द को अनेक अर्थो मे व्यवहृत किया है वे कहते हैं कि सूफी वे हैं जिन्होने सर्वस्व त्याग कर ईश्वर को अपनाया है। दूसरे शब्दो मे कहे तो जिनका जीवन-मरण केवल ईश्वर पर आधृत है। एक अन्य लेखक ने सूफी की परिभाषा लिखी है, जिस व्यक्ति को न दूसरा कोई पसन्द करे और न वह किसी को पसन्द करे।

सूफी पथ के सन्त वे लोग होते थे, जिनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय होता था। इस्लामिक सूफीवाद नवीन अफलातूनी रहस्यवादीदर्शन तथा भारतीय योग-दर्शन का सम्मिश्रण है। ऐसा लगता है कि सूफी लोगो ने जब अरब छोडकर बाहर अन्यान्य देशो मे परिभ्रमण करना प्रारम्भ किया तो उन पर अन्य धर्म व विचारो का भी प्रभाव पडा। सूफीदर्शन के अनु-

सार इन्सान खुदा का ही एक अश है। खुदा मे ही लीन होना इन्सान के जीवन का लक्ष्य है। आचार्य शकर का अद्वैतवाद और सूफियो का अद्वैतवाद काफी मिलता-जुलता है। भारतीय योग के समान सूफी सम्प्रदाय मे कुछ साधनाएं थी, एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर ध्यान साधना करना, जप करना, इष्टदेव मे पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाना, जिसे वे समाधि कहा करते थे। वस्तुत सूफी सम्प्रदाय धार्मिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक था।[1]

सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत प्रेमाख्यान की रचना की इसमे उन्होने आध्यात्मिक प्रेम की वहुत ही सुन्दर व्याख्या की है।

यूरोपीयदर्शन

भारतीय और यूनानीदर्शन के समान यूरोपीयदर्शन मे तत्त्व की मीमासा उतनी नही है जितनी प्रमाण-मीमासा है। एतदर्थ उसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान और तर्कशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त है। कुछ चिन्तको ने तत्त्व पर भी लिखा है पर तर्क और विज्ञान की अपेक्षा अल्पमात्रा मे लिखा गया है। अरबीदर्शन के समान ईसाईदर्शन भी पहले एक सम्प्रदाय-विशेष था, दर्शन नही। यहूदी और ईसाई परस्पर अपनी श्रेष्ठता व ज्येष्ठता प्रमाणित करने के लिए सघर्ष करते रहे। चर्च धर्मस्थान की जगह सघर्ष के केन्द्र हो चुके थे। धर्म की इस प्रकार दयनीय अवस्था देखकर कुछ विचारको ने अपने स्वर बुलन्द किये। उन्होने धर्म की छाया मे पलते हुए अन्धविश्वासो का घोर विरोध किया। श्रद्धा के स्थान पर तर्क को महत्त्व दिया। यही से यूरोपीयदर्शन प्रारम्भ होता है। यूरोपीयदर्शन को चार युगो मे विभक्त कर सकते हैं—(१) विज्ञानवाद, (२) सन्देहवाद, (३) भौतिकवाद, (४) मार्क्सवाद।

पन्द्रहवी सदी के विचार-स्वातत्र्य ने और सोलहवी सदी के भौगोलिक एव खगोलिक नित्य नूतन वैज्ञानिक आविष्कारो ने यूरोप की चिन्तन शक्ति को बढाया। सत्तरहवी सदी मे यूरोप के विचारको ने यह अनुभव किया कि उन्हे दर्शनशास्त्र पर भी चिन्तन करना चाहिए। उस युग मे विचारको की विचारधारा दो प्रकार की थी। कितने ही विचारको का यह अभिमत था कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या प्रयोग ही ज्ञान का एक मात्र आधार है। वे उस समय प्रयोगवादी के नाम से प्रसिद्ध थे। बेकन, हाब्स, लॉक, बर्कले

---

१ विश्वदर्शन की रूपरेखा पृ० ६३ विजयमुनि

शक्ति नही है। मोतजलो का तर्क था—दुनिया मे केवल भलाई ही नही बुराई भी देखी जाती है। पर खुदा शुभ का स्रोत है, बुराई का नही। शुभ का स्रोत होने से खुदा नरक आदि की दारुण यातनाएं नही दे सकता।

(३) अन्य मुसलमानो के समान मोतजला सम्प्रदाय वाले ससार को ईश्वर निर्मित मानते थे। वे उसे अभाव से भाव मे आया हुआ मानते थे। वे इस सम्बन्ध मे अरस्तू के जगत् आदिवाद के सिद्धान्त के विरोधी थे।

(४) मोतजला कुरान को सादि मानने थे, वे कट्टर मुसलमानो की भाँति उमे अनादि नही मानते थे।

(५) मोतजला ग्रन्थ के उतने पक्षपाती नही थे तथापि उन्होने ग्रन्थ (कुरान) और बुद्धि मे समन्वय किया। किन्तु उन्होने कितने ही पुराने विचारो को नही माना।

सूफी सम्प्रदाय

सूफी शब्द—सोफी शब्द—यूनानी भाषा का है। आठवी सदी मे जब यूनानीदर्शन का अनुवाद अरबी भाषा मे होने लगा उस समय सोफ या सोफी शब्द भी दर्शन के अर्थ मे अरबी परम्परा मे व्यवहृत होने लगा। उसके पश्चात् वर्णमाला के दोष से सोफी से सूफी हो गया। सर्वप्रथम सूफी की उपाधि अबू हाशिम को प्राप्त हुई जिसका देहान्त ७७० ईस्वी के आसपास हुआ था। जिस समय पैगम्बर होते है, उस समय के जो विशिष्ट धर्मात्मा होते हैं वे सहावा (साथी) कहलाते है। पैगम्बर के पश्चात् भी उन व्यक्तियो को इसी नाम से स्मरण किया गया है। मुसलमान साहित्यकारो ने सूफी शब्द को अनेक अर्थो मे व्यवहृत किया है वे कहते है कि सूफी वे है जिन्होने सर्वस्व त्याग कर ईश्वर को अपनाया है। दूसरे शब्दो मे कहे तो जिनका जीवन-मरण केवल ईश्वर पर आधृत है। एक अन्य लेखक ने सूफी की परिभाषा लिखी है, जिस व्यक्ति को न दूसरा कोई पसन्द करे और न वह किसी को पसन्द करे।

सूफी पथ के सन्त वे लोग होते थे, जिनका सम्पूर्ण जीवन साधनामय होता था। इस्लामिक सूफीवाद नवीन अफलातूनी रहस्यवादीदर्शन तथा भारतीय योग-दर्शन का सम्मिश्रण है। ऐसा लगता है कि सूफी लोगो ने जब अरब छोडकर बाहर अन्यान्य देशो मे परिभ्रमण करना प्रारम्भ किया तो उन पर अन्य धर्म व विचारो का भी प्रभाव पडा। सूफीदर्शन के अनु-

सार इन्सान खुदा का ही एक अश है। खुदा मे ही लीन होना इन्सान के जीवन का लक्ष्य है। आचार्य शकर का अद्वैतवाद और सूफियो का अद्वैतवाद काफी मिलता-जुलता है। भारतीय योग के समान सूफी सम्प्रदाय मे कुछ साधनाएँ थी, एकान्त-शान्त स्थान पर बैठकर ध्यान साधना करना, जप करना, इष्टदेव मे पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाना, जिसे वे समाधि कहा करते थे। वस्तुत सूफी सम्प्रदाय धार्मिक की अपेक्षा दार्शनिक अधिक था।[1]

सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत प्रेमाख्यान की रचना की इसमे उन्होने आध्यात्मिक प्रेम की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है।

यूरोपीयदर्शन

भारतीय और यूनानीदर्शन के समान यूरोपीयदर्शन मे तत्त्व की मीमासा उतनी नही है जितनी प्रमाण-मीमासा है। एतदर्थ उसे दर्शन की अपेक्षा विज्ञान और तर्कशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त है। कुछ चिन्तको ने तत्त्व पर भी लिखा है पर तर्क और विज्ञान की अपेक्षा अल्पमात्रा मे लिखा गया है। अरबीदर्शन के समान ईसाईदर्शन भी पहले एक सम्प्रदाय-विशेष था, दर्शन नही। यहूदी और ईसाई परस्पर अपनी श्रेष्ठता व ज्येष्ठता प्रमाणित करने के लिए सघर्ष करते रहे। चर्च धर्मस्थान की जगह सघर्ष के केन्द्र हो चुके थे। धर्म की इस प्रकार दयनीय अवस्था देखकर कुछ विचारको ने अपने स्वर बुलन्द किये। उन्होने धर्म की छाया मे पलते हुए अन्धविश्वासो का घोर विरोध किया। श्रद्धा के स्थान पर तर्क को महत्त्व दिया। यही से यूरोपीयदर्शन प्रारम्भ होता है। यूरोपीयदर्शन को चार युगो मे विभक्त कर सकते हैं—(१) विज्ञानवाद, (२) सन्देहवाद, (३) भौतिकवाद, (४) मार्क्सवाद।

पन्द्रहवी सदी के विचार-स्वातत्र्य ने और सोलहवी सदी के भौगोलिक एव खगोलिक नित्य नूतन वैज्ञानिक आविष्कारो ने यूरोप की चिन्तन शक्ति को बढाया। सत्तरहवी सदी मे यूरोप के विचारको ने यह अनुभव किया कि उन्हे दर्शनशास्त्र पर भी चिन्तन करना चाहिए। उस युग मे विचारको की विचारधारा दो प्रकार की थी। कितने ही विचारको का यह अभिमत था कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या प्रयोग ही ज्ञान का एक मात्र आधार है। वे उस समय प्रयोगवादी के नाम से प्रसिद्ध थे। बेकन, हाब्स, लॉक, बर्कले

---

१ विश्वदर्शन की रूपरेखा पृ० ६३ विजयमुनि

और ह्यूम आदि प्रयोगवादी दार्शनिक थे। द्वितीय विचारक यह मानते थे कि ज्ञान इन्द्रिय या प्रयोगगम्य नही किन्तु बुद्धिगम्य है। डेकार्ट, स्पिनोजा प्रभृति बुद्धिवादी दार्शनिक थे।

स्पिनोजा यूरोप का प्रथम दार्शनिक है जिसने वहाँ की जनता को मध्यकालीन लोकोत्तरवाद और धर्म-रूढिवाद को छोडने की प्रबल प्रेरणा दी तथा बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद का प्रबल समर्थन किया। स्पिनोजा की विचार-क्रान्ति से यूरोप का दर्शन प्रारम्भ होता है।

डेकार्ट चिन्तनशील प्रकृति का व्यक्ति था। उसे उस समय की स्थिति से सन्तोष नही था। इसी असन्तोष से उसका सन्देहवाद प्रकट हुआ। डेकार्ट दर्शन का जन्म सन्देह से मानता था। उसका अभिमत था कि मैं विश्व की प्रत्येक वस्तु को सदिग्ध समझ सकता हूँ किन्तु अपने सम्बन्ध मे सन्देह नही कर सकता, चूँकि मैं विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ। इसे सत्य मानने का कारण यही है कि यह स्पष्ट और असदिग्ध है। सन्देह करने वाला, सन्देह करने वाली वस्तु से भिन्न कहाँ हैं ? डेकार्ट के पश्चात् बर्कले, डेविड, ह्यूम, और काण्ट की दार्शनिक विचारधारा आती है। यूरोप के दार्शनिक क्षेत्र मे काण्ट का वही स्थान है जो भारतीय दार्शनिको मे अद्वैतवादी शकर का है। काण्ट के दर्शन मे बुद्धिवाद की चरम सीमा और तर्कवाद का तीखापन दोनो हैं। काण्ट के तर्कवाद के आधार पर ही बर्कले और ह्यूम ने भी अपनी विचार-धाराओ की व्याख्या की है।

सन् १८१८ मे यूरोप मे एक महान् क्रान्तिकारी विचारक कार्ल-मार्क्स हुआ। उसने जेना के विश्वविद्यालय मे 'देवोक्रितु और एपिकुरु' के प्राकृतिक-दर्शन पर शोध-प्रबन्ध लिखा और विश्वविद्यालय ने उसे पी-एच० डी० की उपाधि से अलकृत किया। वह प्रथम हेगेल के दर्शन से प्रभावित था। सामाजिक और राजनीतिक विचार उसके अत्यन्त उग्र थे। अत जर्मनी का कोई भी विश्वविद्यालय उसे अपने यहाँ पर अध्यापक रखने के लिए प्रस्तुत नही था। उग्र विचारो के कारण पत्रकारिता मे भी वह पनप नही सका। वह जीवन के प्रारम्भिक काल से ही दार्शनिक था किन्तु उसको जितनी ख्याति राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति मे मिली उतनी ख्याति दार्शनिक क्षेत्र मे प्राप्त नही हो सकी। प्रश्न है कि मार्क्स ने यूरोप को ऐसी कौन सी नवीन देन दी ? उत्तर है—मार्क्स के पूर्व यूरोप के दार्शनिक भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर बहुत-कुछ लिख चुके थे किन्तु द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद पर नही। पर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर प्रकाश डाला। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त इतना अधिक व्यापक हुआ कि आज यूरोपीयदर्शन मार्क्सवादीदर्शन के नाम से विश्रुत है।

वीसवी सदी मे विज्ञान ने अभूतपूर्व प्रगति की। विज्ञान के आविष्कारो से मानव ने नभ, थल और जल इन तीनो पर अधिकार कर लिया है। वह चन्द्रलोक, मगललोक और शुक्रलोक की अन्वेषणा मे अहर्निश लगा हुआ है। वह धर्म और दर्शन को भूलकर विज्ञान की गोद मे सुख-शान्ति के मधुर स्वप्न निहारने का प्रयास कर रहा है। किन्तु वह स्वप्न ही है, यथार्थ नही। यदि विज्ञान के साथ धर्म और दर्शन का मधुर समन्वय नही होगा तो विज्ञान का दानव मानव को निगल जायेगा। विगत विश्वयुद्ध मे विज्ञान ने नागासाकी और हिरोशिमा की जो दयनीय स्थिति की, वह किससे छिपी है ? बर्ट्रेण्ड रसेल जो एक अग्रेज लार्ड, विज्ञान तथा गणित के महान् विचारक था। उसका मन्तव्य है कि इस विश्व का मूल न अकेली प्रकृति है और न अकेला विज्ञान ही है। इसलिए दार्शनिको को अपने विचार सान्ख्य-भाषा मे अभिव्यक्त करना चाहिए, जिससे कि उसकी गिनती रात मे भी हो सके और दिन मे भी। रसेल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद, अनुभयवादी अद्वैतवाद और द्वैतवादी वस्तुवाद कहा है। रसेल का मानना था कि दर्शन विज्ञान का अनुयायी हो सकता है किन्तु वह विज्ञान का स्थान ग्रहण करने का अधिकारी नही है। इससे यह स्पष्ट है कि रसेल महोदय दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक विशेष रूप से थे। वे विज्ञानवाद को उद्धत रूप मे देखना नही चाहते थे। अमेरिका के महान् दार्शनिक विलियम जेम्स, जेम्स एलन और स्वीट मार्डेन के नाम विशेप रूप से लिए जा सकते है, जिन्होने अद्यतन युग की विचारधारा को अद्यतन परिप्रेक्ष्य मे अवलोकन करने का प्रयास किया है।[१]

भारतीयदर्शन में नया युग

वेदान्तदर्शन का चरम विकास मध्व के युग मे हुआ। उसके पश्चात् भक्त सम्प्रदायो ने जन्म लिया जिससे भारतीयदर्शन कर्मयोगी और ज्ञानयोगी न रहकर भक्तिवादीदर्शन हो गया। मुस्लिम शासको के निरन्तर

---

१ प्रस्तुत प्रकरण के लेखन में 'विश्वदर्शन की रूपरेखा' पुस्तक का आधार लिया गया है।

और ह्यूम आदि प्रयोगवादी दार्शनिक थे। द्वितीय विचारक यह मानते कि ज्ञान इन्द्रिय या प्रयोगगम्य नही किन्तु बुद्धिगम्य है। डेकार्ट, स्पिनोज प्रभृति बुद्धिवादी दार्शनिक थे।

स्पिनोजा यूरोप का प्रथम दार्शनिक है जिसने वहाँ की जनता क मध्यकालीन लोकोत्तरवाद और धर्म-रूढिवाद को छोडने की प्रबल प्रेरणा तथा बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद का प्रबल समर्थन किया। स्पिनोजा व विचार-क्रान्ति से यूरोप का दर्शन प्रारम्भ होता है।

डेकार्ट चिन्तनशील प्रकृति का व्यक्ति था। उसे उस समय की स्थि से सन्तोष नही था। इसी असन्तोष से उसका सन्देहवाद प्रकट हुआ। डेका दर्शन का जन्म सन्देह से मानता था। उसका अभिमत था कि मैं विश्व व प्रत्येक वस्तु को सदिग्ध समझ सकता हूँ किन्तु अपने सम्बन्ध मे सन्देह न कर सकता, चूंकि मैं विचार करता हूँ, इसलिए मैं हूँ। इसे सत्य मानने व कारण यही है कि यह स्पष्ट और असदिग्ध है। सन्देह करने वाला, सन्दे करने वाली वस्तु से भिन्न कहाँ हैं? डेकार्ट के पश्चात् बर्कले, डेविड, ह्यूम और काण्ट की दार्शनिक विचारधारा आती है। यूरोप के दार्शनिक क्षेत्र काण्ट का वही स्थान है जो भारतीय दार्शनिको मे अद्वैतवादी शकर का है काण्ट के दर्शन मे बुद्धिवाद की चरम सीमा और तर्कवाद का तीखापन दोन हैं। काण्ट के तर्कवाद के आधार पर ही बर्कले और ह्यूम ने भी अपन विचार-धाराओ की व्याख्या की है।

सन् १८१८ मे यूरोप मे एक महान् क्रान्तिकारी विचारक कार्ल-मार्क्स हुआ। उसने जेना के विश्वविद्यालय मे 'देवोक्रितु और एपिकुरु' के प्राकृ-तिक-दर्शन पर शोध-प्रबन्ध लिखा और विश्वविद्यालय ने उसे पी-एच डी० की उपाधि से अलकृत किया। वह प्रथम हेगेल के दर्शन से प्रभावि था। सामाजिक और राजनीतिक विचार उसके अत्यन्त उग्र थे। अत जर्मनी का कोई भी विश्वविद्यालय उसे अपने यहाँ पर अध्यापक रखने के लि प्रस्तुत नही था। उग्र विचारो के कारण पत्रकारिता मे भी वह पनप नही सका। वह जीवन के प्रारम्भिक काल से ही दार्शनिक था किन्तु उसको जितनी ख्याति राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति मे मिली उतनी ख्याति दार्शनिक क्षेत्र मे प्राप्त नही हो सकी। प्रश्न है कि मार्क्स ने यूरोप को ऐसी कौन सी नवीन देन दी? उत्तर है—मार्क्स के पूर्व यूरोप के दार्शनिक भौतिकवाद और विज्ञानवाद पर बहुत-कुछ लिख चुके थे किन्तु द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद पर नही। पर मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर प्रकाश डाला। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त इतना अधिक व्यापक हुआ कि आज यूरोपीयदर्शन मार्क्सवादीदर्शन के नाम से विश्रुत है।

बीसवी सदी मे विज्ञान ने अभूतपूर्व प्रगति की। विज्ञान के आविष्कारो से मानव ने नभ, थल और जल इन तीनो पर अधिकार कर लिया है। वह चन्द्रलोक, मगललोक और शुक्रलोक की अन्वेपणा मे अहर्निश लगा हुआ है। वह धर्म और दर्शन को भूलकर विज्ञान की गोद मे सुख-शान्ति के मधुर स्वप्न निहारने का प्रयास कर रहा है। किन्तु वह स्वप्न ही है, यथार्थ नही। यदि विज्ञान के साथ धर्म और दर्शन का मधुर समन्वय नही होगा तो विज्ञान का दानव मानव को निगल जायेगा। विगत विश्वयुद्ध मे विज्ञान ने नागासाकी और हिरोशिमा की जो दयनीय स्थिति की, वह किससे छिपी है ? बर्ट्रेण्ड रसेल जो एक अंग्रेज लार्ड, विज्ञान तथा गणित के महान् विचारक था। उसका मन्तव्य है कि इस विश्व का मूल न अकेली प्रकृति है और न अकेला विज्ञान ही है। इसलिए दार्शनिको को अपने विचार सान्ख्य-भापा मे अभिव्यक्त करना चाहिए, जिससे कि उसकी गिनती रात मे भी हो सके और दिन मे भी। रसेल ने अपने दर्शन को तार्किक परमाणुवाद, अनुभयवादी अद्वैतवाद और द्वैतवादी वस्तुवाद कहा है। रसेल का मानना था कि दर्शन विज्ञान का अनुयायी हो सकता है किन्तु वह विज्ञान का स्थान ग्रहण करने का अधिकारी नही है। इससे यह स्पष्ट है कि रसेल महोदय दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक विशेष रूप से थे। वे विज्ञानवाद को उद्धत रूप मे देखना नही चाहते थे। अमेरिका के महान् दार्शनिक विलियम जेम्स, जेम्स एलन और स्वीट मार्डेन के नाम विशेप रूप से लिए जा सकते है, जिन्होने अद्यतन युग की विचारधारा को अद्यतन परिप्रेक्ष्य मे अवलोकन करने का प्रयास किया है।[1]

भारतीयदर्शन में नया युग

वेदान्तदर्शन का चरम विकास मध्व के युग मे हुआ। उसके पश्चात् भक्त सम्प्रदायो ने जन्म लिया जिससे भारतीयदर्शन कर्मयोगी और ज्ञानयोगी न रहकर भक्तिवादीदर्शन हो गया। मुस्लिम शासको के निरन्तर

---

१ प्रस्तुत प्रकरण के लेखन में 'विश्वदर्शन की रूपरेखा' पुस्तक का आधार लिया गया है।

प्रहारो से हमारे दर्शन मे नया मोड आया। सन्त कवीर ने चौदहवी शताब्दी मे सगुण पूजा का विरोध कर निर्गुण उपासना को महत्त्व दिया। इसका प्रभाव जैन-परम्परा पर भी गिरा और वीर लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा के विरोध मे स्वर वुलन्द किया। उसी के परिणामस्वरूप स्थानकवासी हैं। सौराष्ट्र के स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया जिसके फलस्वरूप आर्यसमाज सस्था का प्रादुर्भाव हुआ। साथ ही बगाल मे ब्रह्म-समाज और प्रार्थनासमाज ने क्रान्ति की। स्वामी विवेकानन्द ने व्यावहारिक दर्शन को प्रस्तुत किया। ईसाइयो ने जब हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना की तो डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने विश्वदर्शन का समन्वय प्रस्तुत किया। तिलक ने गीता के कर्मयोग की व्याख्या की। अरविन्द ने अतिमानव के सिद्धान्त को रखकर भारतीय निराशावाद के स्थान पर आशावाद का सचार किया। महात्मा गाधी ने राजनीति मे धर्म और दर्शन को प्रयुक्त कर जन-जन के मन मे अहिंसा और भारतीयदर्शन की प्रतिष्ठा की। यूरोप मे वीरजी राघवजी गाधी ने जैनदर्शन को नवीन रूप से प्रस्तुत किया। भारत मे प० सुखलालजी, प० दलसुख भाई मालवणिया प्रभृति विद्वानो ने जैनदर्शन को शोधप्रधान व तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया, जिस पर हम अगले प्रकरण मे चिन्तन करेंगे।

जैन और बौद्धदर्शन मे समानता

जैन और बौद्ध ये दोनो दर्शन श्रमण सस्कृति के अनुयायी है। दोनो वैदिक क्रिया-काण्ड के विरोधी हैं। दोनो ने अहिंसा को महत्त्व दिया। यद्यपि अन्य दर्शनो ने भी अहिंसा को स्वीकार किया किन्तु तथागत बुद्ध और महावीर ने यज्ञ-विहित हिंसा का निषेध कर अहिंसा को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया। भगवान महावीर ने अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या की और प्राणिमात्र की हिंसा को त्याज्य बताया। वैदिकदर्शन ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णो को जन्म से माना किन्तु जैन और बौद्धदर्शन ने कर्म से माना। दोनो दर्शनो का यह वज्र आघोष रहा कि मानव जाति एक है और कोई ऊँच और कोई नीच नही है। मानव अपने कृत्यो से ही उच्च और नीच होता है। मीमासक आदि दर्शनो ने वेद को अपौरुषेय माना है किन्तु जैन और बौद्धदर्शन ने वेद को पौरुषेय माना है। दोनो ही दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानते है। नैयायिक-वैशेषिक-दर्शन का यह अभिमत है कि सृष्टि का निर्माता ईश्वर है जो नित्य है, व्यापक है और सर्वज्ञ है। दोनो ही दर्शनो ने प्रबल प्रमाणो से यह सिद्ध किया है कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता नही है। यह ससार अनादि काल से चला आ रहा है। दोनो ही दर्शनो का परलोक मे विश्वास है और शुभ और अशुभ कर्मो का फल जीव को प्राप्त होता है।

तत्त्व व्यवस्था

तत्त्व की दृष्टि से भी जैन और बौद्धदर्शन मे कुछ बातो मे समानता है। सत् वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। जो पर्यायदृष्टि से प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और जिसमे उत्पाद और विनाश होता रहता है तथा द्रव्यदृष्टि से जो नित्य है, ध्रुव है। जैनदर्शन ने पदार्थ को सत् माना है और उस सत् के विषय मे किसी भी प्रकार का विवाद नही है किन्तु बौद्धदर्शन मे सत् की व्याख्या को लेकर बौद्ध दार्शनिको मे मुख्य रूप से चार भेद पाए जाते है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और

माध्यमिक। वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता मानते हैं और उसका प्रत्यक्ष भी मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता मानकर भी उसे प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते हैं। योगाचार के अनुसार ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और माध्यमिको के अनुसार शून्य की ही प्रतिष्ठा है।[1]

स्मरण रखना चाहिए कि अन्य दार्शनिको ने 'शून्य' शब्द का अर्थ अभाव किया है किन्तु माध्यमिकदर्शन ने शून्य का अर्थ अभाव नही माना है। किसी पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय—इन चार कोटियो का प्रयोग सम्भव है, किन्तु परमार्थ-तत्त्व का विवेचन इन चार कोटियो से नही किया जा सकता, अत अनिर्वचनीय होने से परमार्थ शब्द को शून्य शब्द से कहा गया है।[2]

जैनदर्शन ने जीव और अजीव मुख्य रूप से ये दो तत्त्व माने हैं। बौद्धदर्शन ने स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के भेद से दो तत्त्व मानकर भी यथार्थ मे स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् कहा है और सामान्य लक्षण को मिथ्या कहा है। वस्तु मे दो प्रकार का तत्त्व है—असाधारण और साधारण। प्रत्येक मानव अपनी-अपनी विशेषता को लिए हुए है, यह असाधारण तत्त्व है। सब मनुष्यो मे मनुष्यत्व नामक एक साधारण धर्म की कल्पना की जाती है, एतदर्थ मनुष्यत्व मनुष्यो का साधारण धर्म है। बौद्धदर्शन के अभिमतानुसार वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। वस्तु वह है जो अर्थक्रिया करे—'अर्थक्रियासामर्थ्य लक्षणत्वाद् वस्तुन'। घट की अर्थक्रिया जल धारण करना है, पट की अर्थक्रिया आच्छादन करना है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्र अर्थक्रिया होती है। यह अर्थक्रिया स्वलक्षण मे बनती है, सामान्य मे नही।

---

१ मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिल शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासा विवर्तोऽखिल।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिक
प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर च सकल वैभाषिको भाषते॥

२ न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु॥

—माध्यमिक कारिका १।७

आत्म-व्यवस्था

जैनदर्शन ने आत्मा को चैतन्य मानकर अनादि अनन्त माना है। आत्मा का स्वभाव अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य है। ससार अवस्था मे इन गुणो का पूर्ण विकास नही हो पाता किन्तु कर्म नष्ट होने पर वे पूर्ण रूप से प्रकट होते है।

बौद्धदर्शन ने आत्मा को स्वतन्त्र द्रव्य नही माना है। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धो के समुदाय का नाम आत्मा है। आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नही। प्रत्येक आत्मा नामरूपात्मक है। यहाँ पर रूप से तात्पर्य शरीर के भौतिक भाग से है और नाम से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियो से है। वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान —ये नाम के भेद हैं। इन पाँच स्कन्धो की परम्परा निरन्तर चलती रहती है, अत आत्मा के अभाव मे भी जन्म, मरण और परलोक की व्यवस्था वन जाती है।

निर्वाण-मोक्ष

जैनदर्शन ने ससार का कारण आस्रव और वन्ध को माना है तथा मोक्ष का कारण सवर और निर्जरा को। बौद्धदर्शन मे इन्हे चार आर्य सत्य कहा गया है। दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग—ये चार आर्यसत्य है। ससार दु ख रूप है। दु ख का कारण तृष्णा—समुदय है। दु खो के नाश का नाम निरोध या निर्वाण है और उस निरोध के उपाय का नाम मार्ग है।[1] दोनो दर्शनो ने निर्वाण को माना है। जैनदर्शन के अनुसार कर्मो के नाश होने पर आत्मा की विशुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण या मोक्ष है। मोक्ष मे आत्मा अनन्तकाल तक अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य सम्पन्न रहता है। बौद्धदर्शन मे निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे विवाद है। हीनयान के अनुसार निर्वाण मे क्लेशावरण का अभाव होता है किन्तु महायान मे ज्ञेयावरण का भी अभाव माना गया है। एक दु खाभाव रूप है तो दूसरा आनन्द रूप है। भदन्त नागसेन ने कहा—निर्वाण के पश्चात् व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। निर्वाण का अर्थ बुझ जाना है।

निर्वाण का मार्ग

जैनदर्शन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है। बौद्धदर्शन ने अष्टाङ्ग मार्ग या मध्यम मार्ग को निरोध

---

१ सौदरानन्द १६।२८, २६

का मार्ग कहा है। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि —ये मार्ग के आठ अग है, अत अष्टाङ्ग मार्ग के नाम से विश्रुत हैं और दूसरे शब्दो मे इसे मध्यम मार्ग भी कहते है।

प्रमाणवाद

जैनदर्शन ने यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा है, बौद्धदर्शन ने अविसंवादी तथा अज्ञात अर्थ को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है।[1] जैनदर्शन ने प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के ये दो भेद किये। वास्तविक प्रत्यक्ष उसे माना है जो बिना इन्द्रिय की सहायता के आत्मा से होता है। अवधि, मन पर्यव, और केवलज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष है। पाँच इन्द्रिय, मन से उत्पन्न ज्ञान लोक-व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष हैं। प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष रूप से होता है।

बौद्धदर्शन के अभिमतानुसार कल्पना से रहित और अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है।[2] वस्तु मे नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि की योजना करना 'कल्पना' है। प्रत्यक्ष कल्पना से रहित निर्विकल्पक होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष के चार भेद किये गये है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। बौद्धदर्शन ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं।

जैनदर्शन ने आप्त के वचन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम-प्रमाण कहा है और अर्थ को शब्द का वाच्य स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध-दर्शन शब्द और अर्थ मे सर्प और नकुल सदृश वैर मानता है। उसका मन्तव्य है कि शब्द और अर्थ मे किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से शब्द अर्थ का प्रतिपादन न करके अन्यापोह अर्थात्—अन्य के निषेध को कहता है। 'गो' शब्द गाय को न कहकर अगोव्यावृत्ति अर्थात् गाय से भिन्न अन्य सब पदार्थों के निषेध को कहता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन के अनुसार शब्द का वाच्य अर्थ न होकर अन्यापोह होता है।

---

१ प्रमाणमविसवादि ज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशा वा।

२ कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्षम्।

नित्यानित्यवाद

जैनदर्शन पदार्थ को कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य मानता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। किन्तु बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट हो रहा है। पदार्थ स्वभाव से ही विनाशशील है। 'सर्व क्षणिक सत्वात्' प्रस्तुत अनुमान से सभी पदार्थों मे क्षणिकत्व की सिद्धि की जाती है। बौद्धदर्शन का कथन कि नित्य पदार्थ मे न तो युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रम से ही। अत क्षणिक पदार्थ मे ही अर्थ-क्रियाकारित्व रूप सत् की व्यवस्था होती है। सत् होने से ही सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन ने सर्वथा क्षणिकवाद को माना।

इस प्रकार जैनदर्शन और बौद्धदर्शन मे अनेक दृष्टियो से सादृश्य और विसादृश्य दोनो है। उन सभी पहलुओ पर चिन्तन किया जाय तो एक स्वतत्र ग्रन्थ ही बन जाय। अत यहाँ पर सक्षेप मे कुछ बातो पर ही चिन्तन किया गया है।

जैनदर्शन और सांख्यदर्शन

दार्शनिक क्षेत्र मे जैन और साख्यदर्शन का स्थान गौरवपूर्ण रहा है। सक्षेप मे हम यहाँ दोनो दर्शनो के सम्बन्ध मे चिन्तन करेगे।

जैनदर्शन के सम्बन्ध मे पूर्व पृष्ठो मे विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। जैनदर्शन प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित है। इसके आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव हैं।[1] साख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि हैं। ये कपिल मुनि भगवान् ऋषभदेव के शिष्य मरीचि परिव्राजक के शिष्य कपिल मुनि हैं या अन्य ? मूर्धन्य विद्वान् इस सम्बन्ध मे कोई भी स्पष्ट निर्णय नही कर सके हैं। हमारी दृष्टि से ये कपिल मुनि अन्य है। साख्यदर्शन वैदिक-दर्शन नही, अपितु श्रमणदर्शन है। इसीलिए वैदिको ने समय-समय पर इसे अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। आचार्य शकर ने स्पष्ट कहा है कि यह कपिल का साख्यदर्शन वेद-विरुद्ध है और वेदानुसारी जो मनु का कथन है, उसके भी विरुद्ध है, अर्थात् यह श्रुति और स्मृति दोनो से विरुद्ध है। अत यह विचारणीय नही है।

पद्मपुराण मे भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि नैयायिकदर्शन, वैशेषिक-दर्शन और पतञ्जलि का योगदर्शन ये श्रुति विरुद्ध होने से अग्राह्य हैं। हम देखते हैं कि ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी मे न्यायसूत्र की रचना हुई है और इसी समय के आस-पास वैशेषिक सूत्र भी रचा गया है। पतञ्जलि ने योगदर्शन की रचना भी इसी समय की है। इन सभी रचनाओ पर श्रमण-दर्शनो का स्पष्ट प्रभाव है। वे जितनी श्रमण-दर्शन से प्रभावित हुई, उतनी वेद-दर्शन से नही हुई। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध और आजीवक गोशालक आदि श्रमण-सस्कृति के तेजस्वी व्यक्तियो ने वैदिक कर्मकाण्ड का तर्क-पुरस्सर विरोध किया। वैदिकदर्शन वाले उनके तर्कों का खण्डन नही कर सके। वे उस तत्त्व मीमासा से प्रभावित हो गये। उनकी सात्त्विक पद्धति, और सात्त्विक प्रतिपादन शैली पर मुग्ध हो गये।

---

१ वर्तमान अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से—लेखक

यह पाँच-सात शताब्दी का काल एक तरह से श्रमणो की जागृति का काल हैं, इस काल मे जो भी ग्रन्थ लिखे गये है वे जितने श्रमण-दर्शन मे प्रभावित हैं, उतने वेदो से नही।

हम पतञ्जलि के योगदर्शन को देखे, उसमे केवली, शुक्ल ध्यान, ज्ञानावरणीय कर्म, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, चरम देह, सोपक्रम, निरुपक्रम, सवितर्क, सविचार आदि अनेक शब्द जैन साहित्य के मिलेगे, जो शब्द वैदिक साहित्य मे कही पर भी नही है।

जो विज्ञ यह समझते है कि साख्यदर्शन बहुत ही प्राचीन है और साख्यदर्शन के आधार पर ही जैनदर्शन विकसित हुआ है, उनका यह समझना सत्य-तथ्य युक्त नही है। वर्तमान मे जो जैन-आगम उपलब्ध हैं, वे जितने प्राचीन है उतना प्राचीन साख्यसूत्र नही है। साख्यदर्शन से जैनदर्शन को अर्वाचीन मानने का मूल कारण हमारी दृष्टि से यह रहा है कि जिन विद्वानो ने यह लिखा है, उन्होने जैन-आगमो का गहराई से अध्ययन नही किया। सभव है जैन-आगम उनके हाथो मे भी नही पहुँचे हो। आगम के बाद के रचित तत्त्वार्थसूत्र आदि उनके हाथो मे पहुँचे हो और उसी के आधार से उन्होने यह निर्णय लिया हो ?

जैनदर्शन द्वैतवादी है, उसने मुख्य रूप से दो तत्त्व माने है—जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व, चेतन तत्त्व और अचेतन तत्त्व। साख्यदर्शन ने भी प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व माने है। जैसे जैनदर्शन द्वैतवादी है, वैसे ही साख्यदर्शन भी। द्वैतवादी होने पर भी दोनो के चिन्तन मे अत्यधिक मौलिक अन्तर है। साख्यदर्शन का मन्तव्य है कि प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास हुआ है। जो भी यह विराट् विश्व दिखलाई दे रहा है उसका विकास प्रकृति से हुआ है। प्रकृति मूल है, प्रकृति की विकृति सृष्टि है, ससार है।

जैनदर्शन ने अचेतन तत्त्व को माना है। अचेतन तत्त्व का जो उसने सूक्ष्म विश्लेषण किया है, वह किसी भी भारतीय दर्शन से प्रभावित नही है यह साधिकार कहा जा सकता है।

जैनदर्शन ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अचेतन तत्त्व के ये पाँच प्रकार माने हैं। किसी भी भारतीय और पाश्चात्यदर्शन ने धर्म, अधर्म को स्वीकार नही किया है, जो सम्पूर्ण विश्व की गति और स्थिति मे सहायक है और न किसी दर्शन ने इसका खण्डन ही किया है। धर्म, अधर्म

को पुण्य और पाप के रूप मे अन्य दर्शनो ने माना है किन्तु धर्म और अधर्म ये अचेतन तत्त्व के दो रूप है और गति व स्थिति के माध्यम हैं। इस रूप मे किसी ने भी स्वीकार नही किया है। जैनदर्शन की ओ अचेतन तत्त्व की व्याख्या है वह बहुत ही व्यापक, वैज्ञानिक व मौलिक है। वह अन्य किसी भी दर्शन का ऋणी नही है।

साख्यदर्शन ने प्रकृति की विकृति को जगत् कहा है। उसका प्रकृति की विकृति का जो प्रतिपादन है, वह सारा वर्णन जैनदर्शन के पुद्गल वर्णन मे आजाता है। जिस पुद्गल का पूर्व अध्याय मे विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। साख्यदर्शन की प्रकृति का मुख्य भाग आकाश और पुद्गल इन दो तत्त्वो मे समाहित हो जाता है।[1]

साख्यदर्शन की दृष्टि से पुरुष की सत्ता स्वयसिद्ध है। कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नही कर सकता। पुरुष स्वय प्रकाश्य है। उसे प्रकाशित करने या वतलाने के लिए अन्य किसी की आवश्यकता नही है। पुरुष—इन्द्रिय, शरीर और मन से भिन्न व स्वतन्त्र है। वह चैतन्य रूप है, चैतन्य उसका गुण नही, स्वभाव है। वह जैनदर्शन से अपनी मान्यता पृथक् रखता है। जैनदर्शन आत्मा को आनन्दमय मानता है। आनन्द आत्मा का गुण है, पर साख्यदर्शन आनन्द को प्रकृति का गुण मानता है, अत वह कहता है कि पुरुष आनन्दमय नही है। जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति है, पुरुष तो उसकी लीला देखता हुआ सर्वथा साक्षी है। उसमे किसी भी प्रकार का विकार नही होता, वह कूटस्थ नित्य है। जैनदृष्टि से जीव देह-परिमित है, सकोच विस्तारशील है और द्रव्य-दृष्टि से परिणामी-नित्य है। साख्यदर्शन प्रत्येक शरीर मे जीव भिन्न-भिन्न मानता है और अनन्त मानता है। वेदान्त ने आत्मा को एक माना है, पर साख्य कहता है, आत्मा एक नही अनन्त है। पुरुष की अनेकता सिद्ध करने के लिए वह कहता है—विभिन्न व्यक्तियो के जन्म-मरण मे, ज्ञान और क्रिया मे बहुत अन्तर होता है। यदि आत्मा एक ही होता तो एक व्यक्ति के जन्म लेने पर सभी पुरुषो का जन्म हो जाता। एक पुरुष के मरने पर सभी पुरुष

---

१ (क) मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ, दर्शन और जैनदर्शन—ले० मुनि श्री नथमल जी पृ० १२५
(ख) सत्य की खोज, अनेकान्त के आलोक मे—मुनि नथमल जी

मर जाते। एक के अंधे और बहरे होने पर सभी अंधे और बहरे हो जाते। इसलिए आत्मा एक नही किन्तु अनेक है। दूसरी बात जीवो मे एक ही समय मे एक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नही होती। कोई पुरुष करुण-क्रन्दन कर रहा है तो दूसरा मुस्करा रहा है। कोई आराम से सो रहा है तो कोई कठोर श्रम कर रहा है। कोई खेलने मे आनन्द की अनुभूति कर रहा है तो कोई पढने मे। इस प्रकार का यह अन्तर यह स्पष्ट सूचित करता है कि आत्माएँ अनेक हैं जो अपनी-अपनी इच्छानुसार अनेक क्रियाएं करती है। जैनदर्शन ने भी आत्मा एक नही, किन्तु अनन्त मानी है। इस प्रकार उसमे समानता है।

जैनदृष्टि से प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील और ध्रौव्य दोनो है। उसमे पर्यायदृष्टि से परिवर्तन होता है, उत्पत्ति और विनाश होता है, किन्तु द्रव्य दृष्टि से वह तीनो कालो मे नित्य रहता है, उसमे कोई परिवर्तन नही होता।

जैनदर्शन मे जिसे पर्याय कहा गया है उसे सांख्यदर्शन मे 'असत्' या कार्य कहा गया है। जैनदर्शन मे ध्रौव्य के लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है तो सांख्यदर्शन मे 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। सांख्यदृष्टि से प्रत्येक जड तत्त्व कार्य रूप से असत् है, और कारण रूप से सत् है। जैसे एक घडा टूट जाने पर भी कारण रूप से सत् है। घट का कारण रूप घट की आकृति के रहने पर भी रहता है और न रहने पर भी। इस तरह वस्तु के कार्यरूप मे उत्पाद विनाश और कारण रूप मे ध्रौव्य स्पष्ट है। सांख्यदृष्टि से समस्त परिणामी जड जगत् के सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन मूल तत्त्व है इन्हें त्रिगुण भी कहा है। जैन धर्म मे 'गुण' ध्रौव्य है। समस्त परिणामी जगत् त्रैगुण्य रूप मे ध्रुव है। उनमे परिवर्तन नही होता, जिनमे परिवर्तन होता है वे पर्याय अर्थात् कार्य, अनन्त है, समस्त उत्पाद और विनाश उसी का रूप है। सत्त्व, रजस्, तमस् को सांख्यदर्शन ने सुख-दुःख और मोहात्मक कहा है। जैनाचार्य समन्तभद्र ने वस्तु की त्रयात्मकता इस रूप मे भी मानी है।

जैनदर्शन ने जीव को चेतन, कर्ता और भोक्ता कहा है। चेतना जीव का असाधारण लक्षण है, वह ज्ञान और दर्शन के रूप मे प्रकट होती है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, जो ज्ञान है वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है। जब आत्मा सामान्य रूप से वस्तु को ग्रहण करता है, तब

दर्शन होता है और विशेष रूप से ग्रहण करने पर ज्ञान होता है। यह ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वभाव है। इसे पृथक् मानने पर आत्मा चेतन नही जड हो जायेगा।

आत्मा कर्ता भी है। 'मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं करता हूँ,' ऐसी प्रतीति प्रत्येक व्यक्ति को होती है, यह आत्मा का कर्तृत्व अनुभवसिद्ध है। उसे सुख-दु ख आदि की अनुभूति भी होती है, यह अनुभूति चेतन का ही स्वभाव है, अत आत्मा सुख-दु ख का भोक्ता भी है।

साख्यदर्शन मे आत्मा को नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध और नित्य मुक्त माना है। नित्य शुद्ध से तात्पर्य है—सुख-दु ख आदि का भोग, या राग-द्वेष आदि की अनुभूति मे भी आत्मा मे किसी भी प्रकार का अन्तर, विकार या दोष नही आता। जैसे गुलाव का फूल स्फटिकमणि के सन्निकट रखने पर स्फटिकमणि मे गुलाब की प्रतिच्छाया गिरने से वह गुलाबी प्रतीत होती है पर वह गुलाबी नही है। वैसे ही आत्मा मणि के समान है। प्रकृति के योग से बुद्धि आदि के द्वारा सुख-दु ख की अनुभूति होती है। बुद्धि स्वभाव से जड है, उसमे किसी भी प्रकार की सामर्थ्य नही है। चेतन की छाया से उसमे सामर्थ्य आती है, बुद्धि के भोग को ही आत्मा समझता है। यहाँ यह प्रश्न चिन्तनीय है कि साख्यदर्शन मे प्रकृति की समस्त सृष्टि रचना 'परार्थ' मानी गई है। साख्यदृष्टि से 'पर' आत्मा मानी गई है। यह समस्त ससार आत्मा के लिए है। यदि वस्तुत भोग बुद्धि से है, तो प्रकृति की यह सृष्टि-रचना परार्थ कैसे होगी ? बुद्धि तो प्रकृति का ही रूप है। यदि बुद्धि के लिए ही यह सृष्टि रचना है तो वह स्वार्थ है, परार्थ कहाँ ? बुद्धि मे स्वय मे कोई सामर्थ्य नही है। चेतन की छाया को प्राप्त करके ही वह सामर्थ्ययुक्त होती है। इस प्रकार चेतन बुद्धि के उपयोग मे आने का एकमात्र साधन है। जबकि आत्मा साध्य और बुद्धि साधन है। मध्यकाल के आचार्यों ने आत्मा को विकार से बचाने के लिए जो आत्मा साध्य था उसे साधन बना दिया और जो प्रकृति साधन थी उसे साध्य बना दिया। सत्य तथ्य यह है कि जो यह शीर्षासन किया गया, वह उचित नही है। अनुभूति आत्मा को ही होती है।

आत्मा जैसे भोक्ता है वैसे ही कर्ता भी है। साख्यदर्शन मे आत्मा के लिए जो अकर्ता शब्द आया है, उसने विचारको मे भ्रम पैदा किया है।

इसलिए ऐसा माना जाता है कि आत्मा भोक्ता है कर्ता नही। जब आत्मा भोक्ता है तो वह कर्ता क्यो नही है? भोक्ता मे ही कर्ता अन्तर्निविष्ट है भोग का कर्ता ही भोक्ता है।

साधारण रूप से किसी भी क्रिया के करने मे अन्य निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र होना कर्तृत्व है। वह कर्तृत्व दो प्रकार का है—(१) अधिष्ठान कर्तृत्व और (२) उपादान कर्तृत्व। साख्यदर्शन मे अधिष्ठाता भी कर्ता है और उपादान भी। तथ्य यह है कि किसी भी अर्थ को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रकृति से जगत् बनता है, मिट्टी से घडा बनता है और सोने से हार होता है। यहाँ पर प्रकृति, मिट्टी और सोना, जगत्, घडा और हार के उपादान हैं, कर्ता है। साराश यह है कि साख्यदर्शन मे जहाँ कही पर भी प्रकृति को कर्ता बताया गया है, वहाँ उसके उपादान रूप अर्थ का प्रतिपादन कर्तृत्व से ही अभिप्राय है। आत्मा किसी प्रकृति की भाँति किसी कार्य का उपादान नही है। अत उसे अकर्ता कहा है। उपादान वही तत्त्व हो सकता है जो परिणामी हो, किन्तु साख्यदर्शन मे आत्मा वैसा नही है। जब उपादान के अर्थ मे 'कर्तृ' पद का प्रयोग होता है, तब प्रकृति कर्ता और आत्मा अकर्ता होता है। इसी दृष्टि से साख्य सप्तति की जयमगला व्याख्या मे पुरुष को अकर्ता कहा है। गुणो से अतिरिक्त पुरुष अप्रसवधर्मी होने से अकर्ता है।[१] गुण प्रसवधर्मी है, अत वह कर्ता है। यहाँ पर 'कर्तृ' पद उपादान की भावना से परिणामी अर्थ को व्यक्त करता है। वाचस्पति मिश्र ने भी अकर्तृत्व भाव की यही व्याख्या की है।[२]

दूसरी ओर कर्तृत्व का प्रयोग अधिष्ठातृत्व की भावना को व्यक्त करने के लिए भी किया जाता है। जैसे एक चेतन के सान्निध्य मे किसी वस्तु का परिणाम होता है तो सार यह है कि चेतन के सान्निध्य के अभाव मे उसमे परिणाम नही हो सकता। अपनी सन्निधि के कारण वह चेतन उस परिणाम का साक्षी है। साख्य मे उसे अधिष्ठाता कहा है, वह उस परिणाम का कर्ता भी है। पर वह परिणति क्रिया का आधार नही है। उस क्रिया

---

१ "निर्गुणस्य पुरुषस्याप्रसवधर्मित्वादकर्तृत्वम्।"

—साख्य सप्तति, जयमगला व्याख्या

२ अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्ता।

—वाचस्पति मिश्र

का आधार वही अचेतन तत्त्व है जो परिणत हो रहा है। जैसे–
इन्द्रिय का विषय के साथ सम्पर्क होता है तब इन्द्रिय मे विषय का
विम्ब गिरता है और इन्द्रिय विषयाकार हो जाती है। इन्द्रिय क
विषयाकार परिणाम है। बुद्धि का इन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्प
अत विषय इन्द्रिय से बुद्धि तक पहुँचता है और बुद्धि विषयाकार हो
है। परिणाम की यह परम्परा यहाँ पर समाप्त हो जाती है कि
सारा कार्य चेतन आत्मा की सन्निधि के विना सम्भव नही है। अत
प्रक्रिया का कर्ता या अधिष्ठाता चेतन आत्मा है। बुद्धि उस वि
आत्मा को समर्पित कर अपना कार्य पूर्ण कर लेती है। उस विष
आत्मा अनुभव करता है यह उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। जब
उस विषय का अनुभव करता है, तब उसका विषयाकार परिणाम
होता। परिणाम परम्परा अचेतन बुद्धि तक ही है। वस्तुत यह
प्रतिपादन का ही एक प्रकार है। चेतन का कर्तृत्व परिणाम पर
नही है किन्तु अचेतन मे कर्तृत्व का जो कथन किया गया है, वह
परिणाम पर आधृत है। साख्यदर्शन मे जहाँ कही पर भी चेतन को अ
कहा है, वह अचेतन के परिणाम या उपादान रूप कर्तृत्व का निषे
किन्तु चेतन के अधिष्ठातृ रूप या साक्षिरूप कर्तृत्व का नही। अत स
दर्शन मे आत्मा के साथ 'अकर्ता' का प्रयोग किया है, उससे भ्रा
पडने की आवश्यकता नही है। चेतनस्वरूप आत्मा साख्य दृष्टि से
और भोक्ता दोनो है।[1]

जैनदर्शन और साख्यदर्शन दोनो मे अनेक दृष्टियो से समानत
है। विस्तार भय से उन सभी समान विन्दुओ पर चिन्तन नही किय
कुछ बातो पर ही सक्षेप मे प्रकाश डाला है।

---

१ राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रन्थ पृ० ३३५-३४३

जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन

भारतवर्ष मे दार्शनिक विचारधारा का जितना विकास हुआ है उतना अन्यत्र नही हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्मस्थली है। यहाँ विभिन्न दर्शनो के विभिन्न विचार विना किसी भी प्रतिवन्ध और नियत्रण के फूलते-फलते रहे हैं और जन-जन के मन को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे हैं। उन दर्शनो मे दो दर्शन है—जैनदर्शन और वेदान्तदर्शन। मक्षेप मे उनका परिचय निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्व

जैनदर्शन ने विश्व की रचना धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव इन छह द्रव्यो से मानी है। षट् द्रव्यो मे केवल जीव चेतन है और शेष पाँच जड हैं। पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है और शेष पाँच अमूर्त्त है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य व्यापक हैं, जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य अव्यापक हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये व्यक्तिश एक है और काल, जीव और पुद्गल ये तीन व्यक्तिश अनन्त है। पूर्व पृष्ठो मे षट् द्रव्य के सम्वन्ध मे विस्तार से निरुपण किया गया है।

वेदान्तदर्शन ने विश्व (जगत्) को असत्य और व्रह्म को सत्य कहा है। आचार्य शकर ने कहा—'जो सदा समरूप रहता है, वह सत्य है। विश्व के प्रत्येक पदार्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अत वे सत्य नही है। व्रह्म भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनो कालो मे और जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो दशाओ मे समरूप रहता है, इसलिए वह सत्य है।'

सत्य त्रिकालाबाधित है, अत उसकी पारमार्थिक सत्ता है। असत्य व्यावहारिक और प्रातिभासिक रूप से दो प्रकार का है। व्यावहारिक असत्य वह है—नाम-रूपात्मक वस्तुओ की सत्ता जो व्यवहारकाल मे सत्य होने पर भी व्रह्मानुभव के द्वारा बाधित हो जाती है। अत व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही है। प्रातिभासिक असत्य वह है, जैसे रज्जु को साँप मानना और शुक्ति को रजत अनुभव करना आदि प्रतीतिकाल मे

सत्य प्रतिभासित होने पर भी उसके पश्चात् जो सही ज्ञान होता है, उससे वह बाधित हो जाता है। अत प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही है, किन्तु आकाश-कुसुम के समान निराश्रय नही है। अत पूर्ण रूप से असत्य भी नही हैं।

वेदान्त के अभिमतानुसार आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति ये दो अज्ञान की शक्तियाँ हैं। आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि पैदा करती है, अत वह ससार का कारण है। प्रस्तुत शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर मानव मे 'मैं कर्ता हूँ, मै भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ' प्रभृति विविध भावनाएँ समुत्पन्न होती है। तम प्रधान शक्ति विशेष से और अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश पैदा हुआ। आकाश से पवन, पवन से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी पैदा हुई है।

इस प्रकार इन सूक्ष्म भूतो से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूत पैदा हुए। सूक्ष्म शरीर के श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच वायु, बुद्धि—अन्त करण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति और मन —अन्त करण की सकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति ये सत्तरह अवयव होते हैं।

तीन प्रकार के कोश है। ज्ञानेन्द्रियसहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है। यह कोश ज्ञान-शक्तिमान् है, कर्ता है और यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रियसहित मन मनोमय कोश है। यह कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह कारण है अर्थात् साधन है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच वायु प्राणमय कोश है। यह कोश क्रिया-शक्तिमान् है, वह कार्य है। इन तीनो कोशो का सम्मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

प्रमाणवाद

इस विराट् विश्व के अनन्त रहस्यो को जानने के लिए जैनदर्शन के आचार्यों ने अनेकान्तदृष्टि की सस्थापना की। उन्होने स्पष्ट रूप से कि द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है। एकान्तदृष्टि से वह नही जाना सकता है और न परखा ही जा सकता है। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ हैं। उन सभी दृष्टियो के सकल रूप को प्रमाण कहा गया और विकल रूप नय के नाम से पहचाना जाता है। जैनदृष्टि से नय प्रमाण की चर्चा पूर्व पृष्ठो मे विस्तार मे कर चुके हैं।

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओ के सही ज्ञान के लिए वेदान्त ने (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम, और (५) अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने है।

प्रमाण का वर्गीकरण जैन और वेदान्तदर्शन मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है किन्तु गहराई से देखे तो उतना भिन्न नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण को जैन और वेदान्तदर्शन दोनो ने स्वीकार किया है।

जैनदर्शन ने परोक्ष प्रमाण के—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच विभाग किये है। वेदान्त ने अप्रत्यक्ष प्रमाण शब्द का प्रयोग न कर सीधा ही अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति का प्रयोग किया है। अनुमान, आगम को वेदान्त ने स्वतत्र प्रमाण माना है तो जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण का विभाग माना है। वेदान्त ने जिसे उपमान कहा है, उसे जैनदर्शन ने प्रत्यभिज्ञा कहा है। वेदान्त मे जो अर्थापत्ति प्रमाण है, उसका अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए, जिस अर्थ के विना उसकी सिद्धि न हो उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति यदि निश्चित नही है तो वह प्रमाण नही। यदि दृष्ट और अदृष्ट की व्याप्ति निश्चित है, तो उसका जैन अनुमान प्रमाण के अर्थ के साथ कोई भेद नही है।

आदर्शवादी-यथार्थवादी

जैनदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक ये दो सत्ताएँ हैं। चेतन और अचेतन ये दोनो पारमार्थिक सत्य है। इनकी वास्तविक सत्ता है। जैनदर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को मानता है। अत वह यथार्थवादी है। जैनदर्शन के अनुसार चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन मानना मिथ्यादर्शन है। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानना सम्यक्दर्शन है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक—ये तीन सत्ताएँ है। वेदान्तदृष्टि से ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। ब्रह्म से पृथक् जगत् की वास्तविक सत्ता को वह नही मानता। ब्रह्म एक है और जो विश्व मे नानात्व दिखाई दे रहा है, वह वास्तविक नही है। ब्रह्म से भिन्न जगत् को वास्तविक न मानने के कारण वह आदर्शवादी है। उसका स्पष्ट मत है कि चेतन या ब्रह्म से अलग

सत्य प्रतिभासित होने पर भी उसके पश्चात् जो सही ज्ञान होता है, उससे वह बाधित हो जाता है। अत प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही है, किन्तु आकाश-कुमुम के समान निराश्रय नही है। अत पूर्ण रूप से असत्य भी नही हैं।

वेदान्त के अभिमतानुसार आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति ये दो अज्ञान की शक्तियाँ हैं। आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि पैदा करती है, अत वह ससार का कारण है। प्रस्तुत शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर मानव मे 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूं, मैं दु खी हूँ' प्रभृति विविध भावनाएँ समुत्पन्न होती है। तम प्रधान शक्ति विशेष से और अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश पैदा हुआ। आकाश से पवन, पवन से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी पैदा हुई है।

इस प्रकार इन सूक्ष्म भूतो से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूत पैदा हुए। सूक्ष्म शरीर के श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच वायु, बुद्धि—अन्त करण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति और मन —अन्त करण की सकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति ये सत्तरह अवयव होते हैं।

तीन प्रकार के कोश है। ज्ञानेन्द्रियसहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है। यह कोश ज्ञान-शक्तिमान् है, कर्ता है और यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रियसहित मन मनोमय कोश है। यह कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह कारण है अर्थात् साधन है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच वायु प्राणमय कोश है। यह कोश क्रिया-शक्तिमान् है, वह कार्य है। इन तीनो कोशो का सम्मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

प्रमाणवाद

इस विराट् विश्व के अनन्त रहस्यो को जानने के लिए जैनदर्शन के मर्मज्ञ आचार्यो ने अनेकान्तदृष्टि की सस्थापना की। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा कि द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है। एकान्तदृष्टि से वह नही जाना सकता है और न परखा ही जा सकता है। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ अपेक्षित हैं। उन सभी दृष्टियो के सकल रूप को प्रमाण कहा गया है और विकल रूप नय के नाम से पहचाना जाता है। जैनदृष्टि मे नय और प्रमाण की चर्चा पूर्व पृष्ठो मे विस्तार से कर चुके हैं।

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओ के सही ज्ञान के लिए वेदान्त ने (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम, और (५) अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने है।

प्रमाण का वर्गीकरण जैन और वेदान्तदर्शन मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है किन्तु गहराई से देखे तो उतना भिन्न नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण को जैन और वेदान्तदर्शन दोनो ने स्वीकार किया है।

जैनदर्शन ने परोक्ष प्रमाण के—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पॉच विभाग किये हैं। वेदान्त ने अप्रत्यक्ष प्रमाण शब्द का प्रयोग न कर सीधा ही अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति का प्रयोग किया है। अनुमान, आगम को वेदान्त ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है तो जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण का विभाग माना है। वेदान्त ने जिसे उपमान कहा है, उसे जैनदर्शन ने प्रत्यभिज्ञा कहा है। वेदान्त मे जो अर्थापत्ति प्रमाण है, उसका अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए, जिस अर्थ के बिना उसकी सिद्धि न हो उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति यदि निश्चित नही है तो वह प्रमाण नही। यदि दृष्ट और अदृष्ट की व्याप्ति निश्चित है, तो उसका जैन अनुमान प्रमाण के अर्थ के साथ कोई भेद नही है।

आदर्शवादी-यथार्थवादी

जैनदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक ये दो सत्ताएं हैं। चेतन और अचेतन ये दोनो पारमार्थिक सत्य है। इनकी वास्तविक सत्ता है। जैनदर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को मानता है। अत वह यथार्थवादी है। जैनदर्शन के अनुसार चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन मानना मिथ्यादर्शन है। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानना सम्यक्दर्शन है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक—ये तीन सत्ताएँ है। वेदान्तदृष्टि से ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। ब्रह्म से पृथक् जगत् की वास्तविक सत्ता को वह नही मानता। ब्रह्म एक है और जो विश्व मे नानात्व दिखाई दे रहा है, वह वास्तविक नही है। ब्रह्म से भिन्न जगत् को वास्तविक न मानने के कारण वह आदर्शवादी है। उसका स्पष्ट मत है कि चेतन या ब्रह्म से अलग

सत्य प्रतिभासित होने पर भी उसके पश्चात् जो सही ज्ञान होता है, उससे वह वाधित हो जाता है। अत प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नही है, किन्तु आकाश-कुमुम के समान निराश्रय नही है। अत पूर्ण रूप से असत्य भी नही हैं।

वेदान्त के अभिमतानुसार आवरण शक्ति और विक्षेपशक्ति ये दो अज्ञान की शक्तियाँ है। आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि पैदा करती है, अत वह ससार का कारण है। प्रस्तुत शक्ति के प्रभाव से प्रभावित होकर मानव मे 'मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूं, मैं दु खी हूँ' प्रभृति विविध भावनाएँ समुत्पन्न होती है। तम प्रधान शक्ति विशेष से और अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश पैदा हुआ। आकाश से पवन, पवन से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी पैदा हुई है।

इस प्रकार इन सूक्ष्म भूतो से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूत पैदा हुए। सूक्ष्म शरीर के श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच वायु, बुद्धि—अन्त करण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति और मन —अन्त करण की सकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति ये सत्तरह अवयव होते हैं।

तीन प्रकार के कोश है। ज्ञानेन्द्रियसहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है। यह कोश ज्ञान-शक्तिमान् है, कर्ता है और यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रियसहित मन मनोमय कोश है। यह कोश इच्छाशक्ति रूप है। वह कारण है अर्थात् साधन है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच वायु प्राणमय कोश है। यह कोश क्रिया-शक्तिमान् है, वह कार्य है। इन तीनो कोशो का सम्मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

प्रमाणवाद

इस विराट् विश्व के अनन्त रहस्यो को जानने के लिए जैनदर्शन के मर्मज्ञ आचार्यो ने अनेकान्तदृष्टि की सस्थापना की। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा कि द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है। एकान्तदृष्टि से वह नही जाना सकता है और न परखा ही जा सकता है। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ अपेक्षित हैं। उन सभी दृष्टियो के सकल रूप को प्रमाण कहा गया है और विकल रूप नय के नाम से पहचाना जाता है। जैनदृष्टि से नय और प्रमाण की चर्चा पूर्व पृष्ठो मे विस्तार से कर चुके हैं।

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओ के सही ज्ञान के लिए वेदान्त ने (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) आगम, और (५) अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण माने है।

प्रमाण का वर्गीकरण जैन और वेदान्तदर्शन मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है किन्तु गहराई से देखे तो उतना भिन्न नही है। प्रत्यक्ष प्रमाण को जैन और वेदान्तदर्शन दोनो ने स्वीकार किया है।

जैनदर्शन ने परोक्ष प्रमाण के—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच विभाग किये हैं। वेदान्त ने अप्रत्यक्ष प्रमाण शब्द का प्रयोग न कर सीधा ही अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति का प्रयोग किया है। अनुमान, आगम को वेदान्त ने स्वतत्र प्रमाण माना है तो जैनदर्शन ने उसे परोक्ष प्रमाण का विभाग माना है। वेदान्त ने जिसे उपमान कहा है, उसे जैनदर्शन ने प्रत्यभिज्ञा कहा है। वेदान्त मे जो अर्थापत्ति प्रमाण है, उसका अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए, जिस अर्थ के विना उसकी सिद्धि न हो उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति यदि निश्चित नही है तो वह प्रमाण नही। यदि दृष्ट और अदृष्ट की व्याप्ति निश्चित है, तो उसका जैन अनुमान प्रमाण के अर्थ के साथ कोई भेद नही है।

आदर्शवादी-यथार्थवादी

जैनदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक ये दो सत्ताएँ है। चेतन और अचेतन ये दोनो पारमार्थिक सत्य है। इनकी वास्तविक सत्ता है। जैनदर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को मानता है। अत वह यथार्थवादी है। जैनदर्शन के अनुसार चेतन को अचेतन, अचेतन को चेतन मानना मिथ्यादर्शन है। जो जैसा है, उसे वैसा ही मानना सम्यक्दर्शन है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार (१) पारमार्थिक, (२) व्यावहारिक, (३) प्रातिभासिक—ये तीन सत्ताएँ है। वेदान्तदृष्टि से ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। ब्रह्म से पृथक् जगत् की वास्तविक सत्ता को वह नही मानता। ब्रह्म एक है और जो विश्व मे नानात्व दिखाई दे रहा है, वह वास्तविक नही है। ब्रह्म से भिन्न जगत् को वास्तविक न मानने के कारण वह आदर्शवादी है। उसका स्पष्ट मत है कि चेतन या ब्रह्म से अलग

अचेतन की सत्ता मानना मिथ्यादर्शन है। ब्रह्म को ही पारमार्थिक मानना सम्यग्दर्शन है।

द्वैतवादी-अद्वैतवादी

जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। वह आत्मा की सर्वतन्त्र स्व सत्ता को स्वीकार करता है। आत्मवादी दार्शनिको ने आत्मा का प्र पादन विभिन्न रूपो से किया है। वेदान्त ने उपनिषदो के आधार आत्मा की व्याख्या की है। उसका यह मानना है कि मूल मे आत्मा ए और वह ब्रह्म के नाम से जाना व पहचाना जाता है। वही चैतन्य पारमार्थिक सत्ता है। जो विराट् विश्व मे चेतन, अचेतन दृष्टिगोचर रहा है, वह सारा उसी मूल आत्मा का प्रपच है, यह 'चैतन्याद्वैतवाद नाम से प्रसिद्ध है। इसके ठीक विपरीत जडाद्वैतवादी मानते हैं कि चे की वास्तविक सत्ता नही है, वास्तविक सत्ता भूत की है। जडाद्वैतव का मानना है कि भूत से चेतन उत्पन्न हुआ है तो चैतन्याद्वैतवादी क है कि चेतन से भूत उत्पन्न हुआ है। दोनो परस्पर विरोधी है।

जैनदर्शन मानता है कि आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, चेतना वास्तविक सत्ता है। जितना चेतन वास्तविक है उतना ही अचेतन वास्तविक है। इसलिए वह चैतन्याद्वैतवादी और जडाद्वैतवादी दोनो मध्य मे है। उसके चिन्तन की धारा दोनो ओर प्रवाहित है। भारत दर्शन तीन धाराओ मे बँटा हुआ है—जडाद्वैतवाद, आत्माद्वैतवाद अ द्वैतवाद।

जैनदर्शन ने द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है और वेदान्त ने अद्वै वाद का। जैनदर्शन द्वैतवादी है तो वेदान्तदर्शन अद्वैतवादी है। अद्वै वाद को भी अनेकान्त की दृष्टि से इस प्रकार घटाया जा सकता है। ज —वेदान्त एकत्व को पारमार्थिक मानता है और नानात्व को व्यावहारि मानता है वैसे ही जैनदर्शन द्रव्यत्व को पारमार्थिक और पर्यायत्व व्यावहारिक मानता है।

चेतन द्रव्य है, वह शाश्वत है, पारमार्थिक है, मनुष्य, तिर्यंच आ उसकी पर्याय है। पर्याय उत्पन्न और विलीन दोनो होती है। वह व्याव हारिक है।

जो दृष्टि पारमार्थिक सत्ता को जानती है उसे निश्चयनय कहते और जो दृष्टि व्यावहारिक सत्ता को जानती है उसे व्यवहारनय कहते है

निश्चयनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन ये दो मूल तत्त्व है। वह नय पर्याय और विस्तार को मौलिक नही मानता। वेदान्तदर्शन प्रपच को व्यावहारिक या प्रातिभासिक मानता ह। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदान्तदर्शन के समान जैनदर्शन विस्तार अर्थात् पर्याय को मिथ्या या असत् नही मानता है। वह उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य इन तीनो को सत् कहता है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत है। वे अनेक है और उनकी व्याख्या व्यवहारनय से की जाती है। ध्रौव्य शाश्वत है, एक है और उसकी व्याख्या निश्चयनय से की जाती है। उत्पाद-विनाश से अलग ध्रौव्य कभी नही मिल सकता, और ध्रौव्य से अलग उत्पाद-विनाश नही मिल सकता। एतदर्थ उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य ये तीनो सत् के अपरिहार्य अश है। वेदान्तदर्शन की दृष्टि से भी मूल से अलग विस्तार नही है।

वेदान्तदर्शन ने विस्तार को मिथ्या और असत् कहा है, उसे जैन दर्शन ने अनित्य कहा है। अनित्य जो सत् का ही एक अश है।

जैनदर्शन के द्रव्य और पर्याय को सर्वथा एक नही मानने से और विश्व के मूल मे चेतन और अचेतन का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानने से वह द्वैतवादी है। जीव और परमाणु व्यक्ति रूप से अनन्त है, इसलिए वह बहुत्ववादी भी है। वेदान्त ने भेदात्मक विश्व को मिथ्या कहा और बौद्ध-दर्शन ने अभेदात्मक विश्व को मिथ्या कहा, किन्तु जैनदर्शन ने अनेकान्त दृष्टि से भेदात्मक और अभेदात्मक दोनो ही रूप को सत्य कहा है।

साधना का मार्ग

जैनदर्शन मे साधना के तीन साधन बताये गये हे—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन तीनो की पूर्णता ही मोक्ष है।

(वेदान्त की दृष्टि से जीव मे तीन अज्ञान-शक्तियाँ है। प्रथम अज्ञान-शक्ति के कारण जीव प्रपच को पारमार्थिक मानता है। जब ज्ञान से पहली अज्ञान-शक्ति नष्ट होती है, तब दूसरी अज्ञान-शक्ति के कारण वह प्रपच को व्यावहारिक मानता है, जव उसे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब दूसरी अज्ञान-शक्ति भी क्षीण होती है। तीसरी अज्ञान-शक्ति के कारण प्रपच को वह प्रातिभासिक मानता है। वन्ध-मोक्ष के साथ वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है।)

वेदान्त की दृष्टि से भी साधना के तीन साधन है—

१ श्रवण, २ मनन, ३ निदिध्यासन।

वेदान्त ने ज्ञानमार्ग को महत्त्व दिया है तो जैनदर्शन ने ज्ञान और क्रिया दोनो को महत्त्व दिया है। ज्ञान के अभाव की क्रिया और क्रिया के अभाव का ज्ञान अपूर्ण है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन और वेदान्तदर्शन मे काफी समानता है।[1]

---

१ (क) देखिए—अतीत का अनावरण—मुनि नथमलजी
(ख) जैनदर्शन, मनन और मीमासा—मुनि नथमल जी

जैनदर्शन की विश्व को देन

भारतीय दर्शनो मे जैनदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। जैन-दर्शन मे श्रद्धा और मेधा का समान रूप से विकास हुआ है । मानव-जीवन के विकास मे श्रद्धा को मेधा की आवश्यकता है तदनुसार मेधा को श्रद्धा की आवश्यकता है। अन्य दर्शनो के समान जैनदर्शन मे भी श्रद्धा और मेधा का स्वतन्त्र रूप से भी विकास हुआ है किन्तु वे एक दूसरे के अनुगत रही है । जैन-परम्परा एक ओर धर्म है तो दूसरी ओर दर्शन है। जैन-दर्शन मे जितना महत्त्व श्रद्धा को मिला है उतना ही महत्त्व तर्क को भी मिला है । यही कारण है कि जब हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते है तो जैन-परम्परा धर्म दिखलाई देती है और तर्क की दृष्टि से देखने पर दर्शन ।

जैनदर्शन को दो विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—आचार-पक्ष और विचार-पक्ष । जैन-परम्परा का जितना भी आचार-पक्ष है, उसका मूलाधार अहिंसा है और विचार-पक्ष का मूलाधार अनेकान्त है ।

अहिंसा का निरूपण जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मो मे भी मिलता है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा का जितना सूक्ष्म विश्लेषण जैन धर्म मे किया गया है, उतना विश्व के किसी भी धर्म मे नही है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय प्रभृति किसी भी प्राणी की मन, वचन और काय से हिंसा न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना जैनधर्म की अपनी अनुपम विशेषता है । अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। विश्व की जितनी भी आत्माएँ हैं उनमे तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नही है। वे सभी समान हैं । प्रत्येक प्राणी को सुख-दु ख का अनुभव होता है। जीवन-मरण की प्रतीति होती है। सभी जीव जीना चाहते है, कोई भी जीव मरने की इच्छा नही करता । जिस प्रकार हमे जीवन प्रिय है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी को जीवन प्रिय है और मरण अप्रिय है। सुख प्रिय है, दु ख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है, प्रतिकूलता अप्रिय है, स्वतन्त्रता प्रिय है, परतन्त्रता अप्रिय है, लाभ प्रिय है, हानि अप्रिय है। अत हमारा परम कर्तव्य है कि

मन, वचन और काय से हम किसी को भी कष्ट न दे। मन, वचन और काय से किसी भी प्राणी को कष्ट न देना पूर्ण अहिंसा है। आचार का यह महत्त्वपूर्ण विकास जैनधर्म की अपनी अमूल्य देन है।

अहिंसा को केन्द्र मानकर सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हुआ है। इसका यही तात्पर्य है कि सभी व्रतो का मूल आधार अहिंसा ही है। अहिंसक व्यक्ति असत्य भाषण नही कर सकता। अहिंसक व्यक्ति चोरी नही कर सकता, अब्रह्मचर्य का सेवन नही कर सकता और परिग्रह भी नही कर सकता। परिग्रह आत्म-विकास का बाधक तत्त्व है। जहाँ पर परिग्रह है, वहाँ पर आत्म-पतन है। परिग्रह की अभिवृद्धि से जन-जीवन मे विषमता उत्पन्न होती है। इसलिए अहिंसक व्यक्ति अपरिग्रही होता है।

अहिंसा किसी भौतिक तत्त्व का नाम नही है, वह मानव-मन की एक वृत्ति है, भावना है, विचार है। मानव-मन की क्रूरवृत्ति हिंसा है और कोमलवृत्ति अहिंसा है। अहिसा मानव-मन का अमृत है और हिंसा विष है। अहिंसा जीवन है तो हिंसा मरण है। अहिंसा त्याग है तो हिंसा भोग है, अहिंसा जगमगाता प्रकाश है तो हिंसा घोर अन्धेरा है।

जैसे आचार मे अहिंसा को प्रधानता दी गई वैसे ही विचार मे अनेकान्त-दृष्टि को प्रमुखता दी गई। अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु मे अनन्त धर्म होते हैं उनमे से किसी एक धर्म का ही आग्रह न रखकर अपेक्षा-दृष्टि से सभी धर्मों को समझना। अनेकान्तदृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है, वह स्याद्वाद है। अनेकान्त दृष्टि है और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति है। अनेकान्त और स्याद्वाद मे सबसे बडा अन्तर यही है कि अनेकान्त विचार-प्रधान होता है तो स्याद्वाद भाषा प्रधान होता है। जब तक दृष्टि विचार रूप है तब तक वह अनेकान्त है और जब दृष्टि वाणी का परिधान पहनती है तब वह स्याद्वाद बन जाती है। विचार के क्षेत्र मे अनेकान्त इतना व्यापक है कि विश्व के समग्र दर्शनो का इसमे समावेश हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद को विश्व का गुरु कहा है। वे लिखते है कि 'इस अनेकान्त के बिना लोक का व्यवहार चल नही सकता। मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ जो जन-जन के जीवन को आलोकित करने वाला गुरु है। अनेकान्तवाद केवल तर्क का सिद्धान्त नही अपितु

अनुभवमूलक सिद्धान्त है। एतदर्थ ही आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्तवाद के सम्वन्ध मे कहा है कि 'कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय मे मति होती है, उसी विषय मे वह अपनी युक्ति लगाता है किन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्तिसिद्ध होती है।'

श्रमण भगवान महावीर के युग मे अनेक दार्शनिक-परम्पराएँ थी। कोई परम्परा नित्यवाद पर वल दे रही थी तो दूसरी परम्परा अनित्यवाद को। कोई परम्परा अन्तिम तत्त्व को ही स्वीकार करती थी तो दूसरी परम्परा उसका निषेध करती थी। कोई परम्परा ससार की विभिन्नता का कारण जडतत्त्व को मानती थी तो दूसरी परम्परा आत्मतत्त्व को। इस प्रकार परस्पर विरोधी वाद अपने मण्डन मे और दूसरे के खण्डन मे लगे हुए थे।

भगवान महावीर ने देखा कि इस विरोध का मूल मिथ्या आग्रह है। वस्तु मे अनन्त धर्म है। उन अनन्त धर्मो मे से कोई किसी पर वल दे रहा है, कोई किसी पर। गहराई से चिन्तन करने पर परिज्ञात होगा कि जिन धर्मो का हम निषेध कर रहे हैं, वे सारे धर्म वस्तु मे विद्यमान है। वस्तु-स्वभाव ही इस प्रकार का है कि उसका अनेक दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। किसी एक धर्म का प्रतिपादन किसी एक अपेक्षा-विशेष से होता है। अत उसे अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहते हैं। दार्शनिक क्षेत्र मे भगवान महावीर की यह महान देन है।

अनेक धर्मात्मक वस्तु के निरूपण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक हैं। 'स्यात्' का अर्थ है किसी अपेक्षा-विशेष से, किसी एक धर्म की दृष्टि से कथन करना। वस्तु के अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म का विचार उसी दृष्टि से किया जाता है। दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस तरह वस्तु के धर्मभेद से ही दृष्टिभेद उत्पन्न होता है। इस अपेक्षावाद या सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जीवन के उलझे हुए प्रश्नो को सुलझाने की एक विशेष पद्धति है। उसमे न अर्धसत्य को स्थान है और न सशयवाद को ही। पर खेद है कि भारत के मूर्धन्य मनीषी-गण भी स्याद्वाद के सही स्वरूप को न समझ सके। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शकर[1], भूतपूर्व राष्ट्रपति

---

१ शाङ्कर भाष्य २।२।३३

डाक्टर एस० राधाकृष्णन् सुप्रसिद्ध साख्यदर्शन के विद्वान् प्रो० महलोनोबिस प्रभृति विद्वानो ने स्याद्वाद को अर्द्धसत्य और सशयवाद की सज्ञा दी है। उन्ही विद्वानो का अनुसरण अन्य अनेक साहित्यकारो ने किया है। कुछ समय पूर्व प्रकाशित 'गान्धी युग पुराण'' के द्वितीय खण्ड मे सेठ गोविन्ददास तथा डा० ओमप्रकाश ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे स्याद्वाद को सशयवाद के रूप मे उल्लेख किया है। ग्रन्थ की भूमिका मे डॉक्टर कविवर रामधारीसिंह दिनकर ने भी उसी बात की पुष्टि की है। विद्वान् स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझ सके, इसी दृष्टि से ये पक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

जीवन का व्यवहार विधि-निषेध के युगल पार्श्वो के मध्य मे से होकर चलता है। दार्शनिक शब्दावली मे इसे 'सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य आदि कहा गया है। व्यवहार मे विधि-निषेध का क्रम चलता रहता है। प्रश्न है—विरोधी युगलो का एक ही पदार्थ मे कैसे प्ररूपण किया जाय ? जिस पदार्थ मे जिस सत्ता का ग्रहण किया जाता है क्या उसी पदार्थ मे प्रतिषेध भी हो सकता है ? स्वीकार और निषेध, अस्तित्व और नास्तित्व, अपने मे एक कठिन समस्या है, यही से सशय का प्रारभ होता है। भगवान महावीर ने 'स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति' के आधार से प्रस्तुत समस्या को सुलझाया है। सापेक्ष या निरपेक्ष उभय स्वरूपात्मक वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करना ही यथार्थ दृष्टि है। किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक निषेध और आत्यन्तिक विधान नही होता। जिस अपेक्षा से वह है उस अपेक्षा से वह पूर्ण है, जिस अपेक्षा से नही है उस अपेक्षा से वह नही है।

हरएक पदार्थ मे अनन्त धर्मो की सत्ता है और उस स्वभाव मे एक दूसरे स्वभाव की प्रतिरोधिनी नही है। एतदर्थ ही विरोधी युगलो का सहअस्तित्व सहजरूप से सभाव्य है। पानी जीवन भी है और डूबने वालो के लिए सहारक भी है। अग्नि जीवन प्रदान करने वाला तत्त्व भी है और उग्र रूप धारण करने पर नाश भी करता है। ऊनी वस्त्र सर्दी मे उपयोगी है और गर्मी मे निरुपयोगी है। गरिष्ठ भोजन स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वास्थ्यप्रद है पर रुग्ण व्यक्ति के लिए हानिकर है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा से आबद्ध है।

प्रत्येक पदार्थ मे विरोधी युगल का युगपत् अस्तित्व है। उसी से व्यक्ति चक्कर मे पड जाता है, क्योकि व्यक्ति का चिन्तन हमेशा निरपेक्ष

होकर चलता है, जब कि उसका हर एक व्यवहार अपेक्षा के साथ बंधा हुआ है। जिस समय पदार्थ के अस्तित्व की विवक्षा की जाती है उस समय उसी पदार्थ के इतर पक्षो का नास्तित्व भी तो अभिवाच्य नही होता। केवल मुख्य और गौण की ही प्रश्न होता है।

भगवान महावीर ने कहा है कि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ मे उत्पाद और व्यय होता है और साथ ही वह ध्रुव भी रहता है जिससे वह सत् असत् मे नही बदलता।

सत्य अनुभूतिगम्य है। अनुभूति एकाशग्राही और सर्वाशग्राही उभय-रूप होती है किन्तु अभिव्यक्ति सर्वाशग्राही नही एकाशग्राही होती है। वह सदा एक अश ही प्रस्तुत करती है। ज्ञान की अनन्त पर्याय है। व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उन्हे अधिकृत करता है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है। अनुभूति की पूर्णता और अधिकता होने पर भी वह एक अश को ही प्रस्तुत करती है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियो को एक साथ व्यक्त नही कर सकता। जितनी वह व्यक्त करता है उतनी सुनने वाला ग्रहण नही कर पाता, जितना ग्रहण होता है वह अपेक्षा के साथ सयुक्त होकर होता है, अत सत्य सदा अपेक्षा के साथ बँधा हुआ है।

भगवान महावीर ने सापेक्षवाद के रूप मे स्याद्वाद का प्ररूपण किया। विज्ञान के क्षेत्र मे अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के रूप मे उसका विस्तार किया। स्याद्वाद का मुख्य विपय जड और चेतन रहा है जबकि आइन्स्टीन ने उसमे आकाश और काल की योजना कर उसे विशेष आधुनिक शैली मे प्रस्तुत किया है। दोनो मे अद्‌भुत सामजस्य है।

जिन विद्वानो ने स्याद्वाद को सशयवाद और अर्धसत्य कहा है उनका सापेक्षवाद के सम्बन्ध मे यह मन्तव्य नही है। आश्चर्य की बात है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद के विवेचन मे शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त और कोई मौलिक अन्तर नही होते हुए भी उन्होने इन दोनो के सम्बन्ध मे विभिन्न मत किस आधार पर अभिव्यक्त किया है।

प्रश्न सहज ही पैदा होता है कि विज्ञो द्वारा यह भूल किस प्रकार हुई ? इसके अनेक कारण हैं। स्याद्वाद शब्द 'स्याद् और वाद' इन दो शब्दो के मिलने से बना है। 'स्याद्' पद अव्यय है। इसके अनेक अर्थ है—सभावना, विधान, प्रश्न, कथचित्, अपेक्षा-विशेप, दृष्टि-विशेष, किसी एक धर्म की

विवक्षा आदि किन्तु विज्ञो ने केवल इसके सभावनात्मक अर्थ पर ही ध्यान दिया है और उसी दृष्टि से उन्होने स्याद्वाद को सशयवाद कहा है।

आचार्य शकर के समय शास्त्रार्थ की परम्परा थी और उसमे एक-दूसरे का खण्डन-मण्डन प्रमुख रूप से चलता था। स्याद्वाद का उपहास करने की दृष्टि से उन्होने उसे सशयवाद के रूप मे उपस्थित किया, जो सर्वथा अनुचित था।

यद्यपि भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन् प्रो० महलोनोवीस, डा० रामधारी सिंह दिनकर, डा० गोविन्ददास आदि परिहास की परम्परा से वहुत ही दूर है, तथापि आचार्य शकर के द्वारा कथित सभावनात्मक अर्थ से किञ्चित् मात्र भी दूर नही हट पाये हैं। शब्दो के हेरफेर के साथ अपने ग्रन्थो मे व लेखो मे वही वात दुहराते रहे हैं। खेद है कि हम अपनी दृष्टि से किसी भी विषय के अन्तस्तल तक नही पहुँचते और पुरानी लकीर के ही फकीर वने हुए हैं। विद्वानो को चाहिए कि प्राचीन त्रुटियो को न दुहराकर स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझे।

यहाँ पर एक वात का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, वह यह है कि एक प्रसिद्ध जैनाचार्य से किसी जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि 'जैनदर्शन' क्या है ? उत्तर मे उन्होने कहा—'मिच्छा दसणसमुहो" मिथ्यादर्शन का समूह। ससार मे जितनी भी दृष्टियाँ है उन्हे मिला दीजिए जैनदर्शन वन जायेगा। इसके कारण और जैनदर्शन की सर्वग्राहीदृष्टि के कारण अनेक पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञो ने जैनदर्शन पर यह आरोप लगाया है कि जैनदर्शन की मौलिक देन कुछ भी नही है। इधर-उधर से लेकर इस दर्शन की स्थापना की गई है ? पर उत्तर मे निवेदन है कि जैनदर्शन ने मिथ्या-दृष्टियो को ले-लेकर जैनदर्शन का निर्माण नही किया है किन्तु जैनदर्शन की अनेकात्मकता ने सभी दर्शनो के विचारो को एकत्र होने का सुअवसर प्रदान किया। सवका सम्यकीकरण कर दिया और सवके लिए उसने अपना द्वार खोल दिया। सभी को आकर्षण हुआ और वे एकत्रित हो गये। उन्हें इकट्ठे हुए देखकर लोगो को यह भ्रम हो गया कि सभी दर्शनो का एक पुलिन्दा वन गया है। यह उसकी योग्यता है। कोई भी दृष्टि आकर उसमे रह सकती है, समा सकती है। जैसे समुद्र मे आकर सारी सरिताएँ मिल जाती हैं वैसे ही सारी दृष्टियाँ जैनदर्शन में आकर मिल जाती हैं। वे

पृथक्-पृथक् सरिताएं है। सरिताओ मे समुद्र नही है। सरिताएँ समुद्र मे हैं। ये विभक्त दृष्टियां हैं उनमे जैनदर्शन नही है।

जैनदर्शन की सर्वग्राही दृष्टि ने अन्य सभी दृष्टियो को एकत्र होने का अवसर दिया और सर्वसमन्वय का मच प्रस्तुत किया यह जैनदर्शन की विश्व को मौलिक देन है।

जैनदर्शन की और भी अनेक विशेपताएँ है। हम तत्त्व को ले। सामान्य रूप से तत्त्व के चार पक्ष होते है। प्रथम पक्ष तत्त्व को सत् मानता है। इस पक्ष का समर्थक साख्यदर्शन है। द्वितीय पक्ष तत्त्व को असत् मानता है। बौद्धदर्शन मे शून्यवाद की जो शाखा है वह इस पक्ष का समर्थन करती है। शून्यवाद का यह अभिमत है कि तत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है, तथापि उसका लगाव निपेध की ओर विशेप-रूप से है अत उसे असत्वादी कह सकते है। तृतीयपक्ष सत् और असत् दोनो को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। सत् असत् से बिल्कुल भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है, इसी प्रकार असत् भी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। न्याय-वैशेपिक-दर्शन इस पक्ष का समर्थन करता है। चतुर्थपक्ष अनुभयवाद को महत्त्व देता है। इस पक्ष का मन्तव्य है कि तत्त्व अनिर्वचनीय है, वह न सत् है और न असत् है। वेदान्त की माया को इस कोटि मे रख सकते हैं। जैन-दर्शन इन चारो प्रकार के एकान्तवादी पक्षो को अपूर्ण मानता है। उसका यह स्पष्ट आघोष है कि वस्तु न एकान्त रूप से सत् है, न एकान्त रूप से असत् है, न एकान्त रूप से सत् और असत् है, न एकान्त रूप से सत् और असत् दोनो से अनिर्वचनीय है।

जैनदर्शन ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छह द्रव्य माने हैं। धर्म, अधर्म की मान्यता जैनदर्शन की अपनी मौलिक है। किसी भी दर्शन ने गति और स्थिति के लिए भिन्न द्रव्य नही माना है। वैशेषिक दर्शन ने उत्क्षेपण आदि को द्रव्य न मानकर कर्म माना है। जैन-दर्शन ने गति के लिए धर्मास्तिकाय और स्थिति के लिए अधर्मास्तिकाय स्वतन्त्र द्रव्य माना है। जैनदर्शन की आकाश विपयक मान्यता भी अन्य दर्शनो से विशेषता लिए हुए है। अन्य दर्शनो ने लोकाकाश तो अवश्य माना है पर किसी भी दर्शन ने अलोकाकाश नही माना है। अलोकाकाश की मान्यता जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। पुद्गल द्रव्य की मान्यता भी विलक्षणता लिये हुए है। वैशेषिक आदि पृथ्वी आदि द्रव्यो के पृथक्-पृथक

परमाणु मानते है किन्तु जैनदर्शन पुद्गल के भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणु नही मानता। प्रत्येक परमाणु मे स्पर्श, रस, गन्ध, और रूप रहता है। स्पर्श के परमाणु रूप आदि के परमाणु से अलग नही है। इसी प्रकार रूप के परमाणु स्पर्श आदि के परमाणु से अलग नही है। परमाणु की पृथक्-पृथक् जाति नही किन्तु एक जाति है। पृथ्वी का परमाणु पानी के रूप मे वदल सकता है और पानी का परमाणु अग्नि मे परिणत हो सकता है। साथ ही जैनदर्शन ने शब्द को भी पौद्गलिक माना है। जीव के सम्वन्ध मे भी जैनदर्शन की अपनी विशेष मान्यता है कि वह ससारी आत्मा को स्वदेह परिमाण मानता है। जैनदर्शन के अतिरिक्त किसी भी अन्य दर्शन ने आत्मा को स्वदेह-परिमाण नही माना है।

ज्ञानवाद के सम्वन्व मे भी जैनदर्शन की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनो ने केवल इन्द्रिय-ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है किन्तु जैनदर्शन ने आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। जो ज्ञान इन्द्रियो की सहायता से न होकर सीधा आत्मा से होता है वही ज्ञान वस्तुत प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-ज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है किन्तु निश्चयदृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान परोक्ष ही है। इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है और अवधि, मन पर्यय और केवल को प्रत्यक्ष कहा है।

जैन तार्किको ने प्रामाण्य की समस्या का उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दृष्टि से जो समाधान किया है वह भी अन्य दर्शनो से अलग हैं। जैनदर्शन मे प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत मानी है जव कि ज्ञप्ति स्वत और परत दोनो प्रकार की है। अभ्यास-दशा मे ज्ञप्ति स्वत होती है और अनभ्यास दशा मे परत होती है। प्रमाण और फल के सम्वन्ध मे भी जैन दृष्टिकोण पृथक् है। प्रमाण फल से कथचित् भिन्न है, कथचित् अभिन्न है।

नय भी जनदर्शन की अपनी विशिष्ट देन है। नय का आविष्कार करके जैन दर्शनिको ने सम्यक् एकान्त की सिद्धि करने का सफल प्रयास किया है।

कर्मवाद भी जैनदर्शन की अपनी विशिष्ट देन है। कर्मवाद पर जैन दार्शनिक आचार्यो ने विपुल साहित्य का सृजन किया है। कर्म-सिद्धान्त का इतना व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण विवेचन हमे अन्यत्र देखने को नही मिलता है।

इस प्रकार जैनदर्शन की अनेको विशेपताएँ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने उन सभी मौलिक विशेपताओ पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। किसी की आलोचना-प्रत्यालोचना करने का हमारा लक्ष्य नही है किन्तु सत्य-तथ्य को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना ही हमारा उद्देश्य है। ●

रि ष्ट

- शब्दकोष
- शब्दानुक्रमणिका
- सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
- जैन दार्शनिक साहित्य व साहित्यकार
- मत-सम्मत [भगवान महावीर एक अनुशीलन]

शब्दकोष

अकर्म भूमि—असि-मषि, आदि कर्मो से रहित भूमि अकर्मभूमि है।

अकामनिर्जरा—कारागृह मे रोके जाने पर या अन्य प्रकार से बन्धनबद्ध होने पर भूख-प्यास को सहन करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, पृथ्वी पर सोना, शरीर मे मल को धारण करना, और सन्ताप आदि सहा जाता है। इसका नाम अकाम है। इस प्रकार अकाम से—अनिच्छापूर्वक उपर्युक्त दुख के सहने से जो कर्म निजरा हुआ करती है उसका नाम अकाम निर्जरा है।

अगुरुलघु—गुरुता और लघुता के न होने का नाम अगुरलघु या अगुरु-लघुक है।

अगुरुलघु गुण—जीवादिक द्रव्यो की स्वरूप प्रतिष्ठा का कारण जो अगुरुलघु नामक स्वभाव है उसके प्रतिसमय सम्भव जो छह स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है उनका नाम अगुरुलघु गुण है जो सख्या मे अनन्त है।

अचक्षुदर्शन—चक्षुरिन्द्रिय के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियो और मन के द्वारा होने वाले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते है।

अजीव—जिसमे चेतना न पायी जाय वह अजीव है।

अज्ञान—मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान को भी अज्ञान कहा जाता है तथा ज्ञानावरण कर्म के उदय से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने को भी अज्ञान कहते है।

अणु—जो प्रदेश मात्र मे होने वाली स्पर्शादि पर्यायो के उत्पन्न करने मे समर्थ है, ऐसे उन आगम निर्दिष्ट पुद्गल के अविभागी अशो को अणु कहा जाता है।

अत्यन्ताभाव—जिसका त्रिकाल मे भी सद्भाव सभव न हो, उसके अभाव को अत्यन्ताभाव कहते है। जैसे खरगोश के सिर पर सीगो का अभाव।

अद्धासमय—काल को अथवा काल के अविभागी अश को अद्धा समय कहते है।

अधर्म—जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि न हो, ऐसे कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र रूप आत्म-परिणाम को अधर्म कहते हैं।

अधर्मद्रव्य—जो स्वय ठहरे हुए जीव और पुद्गल द्रव्यो के ठहरने मे सहायक होता है, वह अधर्म द्रव्य है।

अधिगम—जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते है, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं।

अधोलोक—पुरुपाकार लोक मे नीचे का भाग, जो वेत्रासन सदृश है उसे अधोलोक कहते हैं।

अध्रुवबन्ध—जिस बन्ध की आगामी काल मे कभी व्युच्छिति होगी, ऐसे भव्य जीवो के कर्मबध को अध्रुवबन्ध कहते है ।

अध्रुवबन्धिनी—बन्ध कारणो का सद्भाव होने पर भी जिन प्रकृतियो का कदाचित् बन्ध होता है, कदाचित् नही भी होता है, उन्हे अध्रुवबन्धिनी कहते हैं ।

अध्रुवोदय—उदय-व्युच्छिति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्री के निमित्त से जिनका उदय पुन सभव है, ऐसी साता वेदनीयादि प्रकृतियो को अध्रुवोदय कहते हैं।

अनन्त—आय-रहित और निरन्तर व्यय-सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते है । अथवा जो राशि एक मात्र केवलज्ञान को ही विषय हो वह अनन्त है ।

अनन्तवीर्य—वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होती है, उसे अनन्तवीय कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी—जिसका उदय होने पर सम्यग्दशन उत्पन्न नहीं होता है और यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है, उसका नाम अनन्तानुबन्धी है ।

अनन्त भवो की परम्परा को चालू रखने वाली कषायो को अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है ।

अनपवर्तनीय—आयु कर्म की जितनी स्थिति बांधी गई है उतनी ही स्थिति का वेदन करना व अपने काल की अवधि के पूर्व उसका विघात नही होना, इसका नाम उसकी अनपवर्तनीयता है । अभिप्राय यह है, अनपवतनीय आयु वह कही जाती है जिसका विघात पूव जन्म मे बांधी गई स्थिति के पूव किसी भी प्रकार से न हो सके ।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कम के उदय से जो तत्त्वो का अश्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे अनभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं ।

अनाकारोपयोग—दर्शनोपयोग ।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सभी मत-मतान्तर अच्छे है, इस प्रकार की बुद्धि से सबके समान मानने को अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं ।

अनिकाचित—निकाचित से विपरीत अर्थात् जिन कम प्रदेशाग्रो का उत्कर्षण अपकषण, सक्रमण या उदीरणा की जा सके, उन्हे अनिकाचित कहते हैं ।

अनेकान्त—एक वस्तु मे मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व, नास्तित्व, आदि परस्पर विरोधी धर्मो के प्रतिपादन को अनेकान्त कहते है ।

अन्तरायकर्म—जो कर्म दाता और देय आदि के बीच मे आता है—दान देने मे रुकावट डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।

अन्त्य सूक्ष्म—परमाणुगत सूक्ष्मता को अन्त्य सूक्ष्म कहते है ।

अन्त्य स्थूल—जगद्व्यापी महास्कन्धगत स्थूलता को अन्त्य स्थूल कहते है ।

अपकर्षण—कर्म-प्रदेशो की स्थितियो के हीन करने का नाम अपकर्षण है ।

अपवर्तना—सर्वत्र बन्धाबन्ध मे—जो स्थिति और अनुभाग की अपवतना होती है—उन्हे कम किया जाता है, इसका नाम अपवतना या अपकर्षण है।

अपवर्तना सक्रमण—जिसके द्वारा कर्मों की प्रचुर स्थिति और अनुभाग को कम किया जाय उसे अपवतनासक्रम कहते है।

अपवर्त्य—जो आयु उपघात के कारणभूत विष—शस्त्रादिरूप बाह्य निमित्त के मिलने पर हानि को प्राप्त हो सकती है, वह अपवर्त्य आयु कहलाती है।

अप्रतिपाति—जो अवधिज्ञान बिजली के प्रकाश के समान विनश्वर नही है किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहने वाला है, उसे अप्रतिपाती अवधि कहते हैं।

अप्रत्याख्यान कषाय—जिनके उदय से व्रत का अभाव होता है उन्हे अप्रत्याख्यान कषाय कहते है।

अबाधाकाल—बँधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नही पहुँचाता—उदय मे नही आता है—उतना समय उसका अबाधाकाल कहलाता है।

अभिगृहीत—दूसरे के उपदेश से ग्रहण किये गये मिथ्यात्व को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते है।

अरूपी—जो पाँच द्रव्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है उन्हे अरूपी कहते हैं।

अर्थनय—जो नय अर्थ और व्यजन पर्यायो के साथ विविध लिंग, सख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के भेद से अभिन्न वर्तमान मात्र वस्तु को विषय किया करते है उन्हे अर्थनय कहते हैं।

अर्थावग्रह—व्यजनावग्रह के अन्तिम समय मे गृहीत शब्दादि अर्थ के अवग्रह का नाम अर्थावग्रह है। दूसरे शब्दो मे अप्राप्त पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह कहते है।

अर्धमागधी भाषा—जो भाषा आधे मगध देश मे बोली जाती थी अथवा जो अठारह देशी भाषाओ मे नियत थी, उसका नाम अर्धमागधी है।

अलोक—लोक के बाहर सब ओर जितना भी अनन्त आकाश है वह सब अलोकाकाश कहलाता है।

अवग्रह—पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियो का योग्य देश मे सयोग होने के अनन्तर उसका सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है उसे अवग्रह कहते है।

अवस्थित (द्रव्य)—धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव, ये समान रूप से असख्यात प्रदेशी है तथा अलोकाकाश और पुद्गल अनन्त प्रदेशी है, यह जो उनके प्रदेशो का नियत प्रमाण है उसका चूँकि वे द्रव्य कभी अतिक्रमण नही करते है एतदर्थ वे अवस्थित कहे जाते है।

अवाय-अपाय—भापादि-विशेष के ज्ञान से यथार्थ रूप मे जानना, इसका नाम अवाय है। कही-कही पर इसका उल्लेख अपाय शब्द से भी हुआ है।

अविग्रहगति—विग्रह का अथ रुकावट या कुटिलता होता है तदनुसार जीव की जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड से रहित होती है उसे अविग्रहगति कहते हैं अर्थात् एक समय वाली ऋजुगति या इपुगति का नाम अविग्रहगति है।

अविपाक निर्जरा—जिस कर्म का उदयकाल अभी प्राप्त नही हुआ है, उसे तपश्चरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेप के सामर्थ्य से वलपूवक उदयावली मे प्रवेश कराके आम्रादि फलो के पाक के समान वेदन करने को अविपाक निर्जरा कहते ह।

असातावेदनीय—जिस कर्म का वेदन-अनुभवन परिताप के साथ किया जाता है उसे असातावेदनीय कहते है।

अस्तिकाय—जिनका गुणो और अनेक प्रकार की पर्यायो के साथ अस्ति-स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

आकाश—जो सब जीवो को तथा शेप—धर्म, अधर्म और काल एव पुद्गलो को भी स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

आगम—पूर्वापरविरोधादि दोपो से रहित शुद्ध आप्त के वचन को आगम कहते है।

आबाधाकाल—कम रूप से वन्ध को प्राप्त हुआ द्रव्य जितने समय तक उदय या उदीरणा को प्राप्त नही होता उतने काल का नाम अवाधा या आबाधा काल है।

आभिग्रहिक—यही दशन (सम्प्रदाय) ठीक है अन्य कोई भी दर्शन ठीक नही है, इस प्रकार के कदाग्रह से निर्मित मिथ्यात्व का नाम आभिग्रहिक है।

आभिनिबोधिक—अभिमुख और नियमित पदार्थ के इन्द्रिय और मन के द्वारा जानने को आभिनिवोधिक ज्ञान कहते है। यह मतिज्ञान का नामान्तर है।

इन्द्रिय—परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और इन्द्र के लिङ्ग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि मे निमित्त होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं।

ईर्यापथक्रिया—ईर्या का अर्थ योग है। एक मात्र उस योग के द्वारा जो कम आता है वह ईर्यापथकर्म है। उस ईर्यापथकर्म की कारणभूत क्रिया को ईर्यापथक्रिया कहते हैं।

ईश्वर—जिसने कृतकृत्य होकर निराकुल सुख के कारणभूत केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट विभूति को प्राप्त कर लिया है उस परमात्मा को ईश्वर कहते हैं।

ईहा—अवग्रह से जाने गये पदार्थ के विशेप जानने की इच्छा को ईहा कहते ह। ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमासा ये ईहा के नामान्तर है।

उच्चगोत्र—जिसके उदय से लोकपूजित कुल मे जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते है। जिसके उदय से जीव उत्तम जाति, कुल, वल, रूप, तप, ऐश्वर्य और श्रुत आदि

के द्वारा जगत् मे पूजा व आदर-सत्कारादि को प्राप्त हो उसे उच्च गोत्र जानना चाहिए।

उदीरणा—अधिक स्थिति व अनुभाग को लिए हुए जो कम स्थित हैं, उनकी उस स्थिति व अनुभाग को हीन करके फल देने के उन्मुख करना, उदीरणा है।

उदीर्ण—फल देने रूप अवस्था मे परिणत कर्म-पुद्गल स्कन्ध को उदीण कहते है।

उद्वर्तन—स्थिति व अनुभाग की वृद्धि करने को उद्वर्तन या उद्वर्तना कहते है।

उद्वर्तनाकरण—उदयावलि से बाह्य स्थिति और अनुभाग के वृद्धिगत करने को उद्वतनाकरण कहते हैं।

उपकरणेन्द्रिय—जिसके द्वारा निवृत्ति इन्द्रिय का उपकार किया जाता है उसे उपकरण इन्द्रिय कहते हैं।

निवृत्ति का सद्भाव होने पर भी जिसके कुण्ठित या दूपित होने पर इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण न कर सके उसे उपकरणेन्द्रिय कहते है। जिस प्रकार तलवार या फरसा आदि की धार यदि भोथरी नही है तो वह काष्ठादि के विदारण मे समथ रहती है, इसी प्रकार यदि उपकरण इन्द्रिय कुण्ठित नही है तो वह नियत अथ को ग्रहण मे समर्थ रहती है।

उपयोग—बाह्य और आभ्यन्तर कारण के वश जो चेतनता का अनुसरण करने वाला परिणाम (ज्ञान-दर्शन) उत्पन्न होता है उसे उपयोग कहा जाता है।

उपशम—आत्मा मे कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति के प्रकट न होने को को उपशम कहते हैं।

ऋजुसूत्रनय—तीनो कालो के पूर्वापर विपयो को छोडकर जो केवल वर्तमान कालभावी विपय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। अतीत पदार्थो के नष्ट हो जाने से, तथा अनागत पदार्थों के उत्पन्न न होने से ये दोनो ही व्यवहार के योग्य नही है। इसलिए यह नय वर्तमान एक समय-मात्र को विपय करता है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञान—प्रत्यक्ष और स्मृति के निमित्त से जो सकलनात्मक (जोड रूप) ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है। जो प्रत्यभिज्ञान 'यह वही है' इस प्रकार से पूव व उत्तर दशाओ मे व्याप्त रहने वाले एकत्व (अभेद) को विपय करता है वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।

एवम्भूतनय—जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो, उसका उसी प्रकार से निश्चय कराने वाले नय को एवम्भूतनय कहते हैं।

औदयिक भाव—कर्म के उदय से उत्पन्न भाव औदयिक भाव कहे जाते हैं।

औदारिक शरीर—उदार का अथ स्थूल होता है, उदार मे जो होता है अथवा जिसका प्रयोजन उदार या स्थूल है वह औदारिक शरीर कहलाता है। दूसरे शब्दो मे

उदार का अर्थ स्थूल द्रव्य होता है, उस स्थूल द्रव्य से जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते है।

कर्म—अजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान सूक्ष्म व स्थूल आदि अनन्त पुद्गलो से परिपूर्ण लोक मे जो कर्मरूप परिणत होने योग्य नियत पुद्गल जीवपरिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञान-दर्शन के घातक (ज्ञानावरण-दर्शनावरण) तथा सुख-दु ख, शुभ-अशुभ आयु, नाम, उच्च व नीच गोत्र और अन्तराय रूप पुद्गलो को कर्म कहा जाता है।

कषाय—कर्म अथवा ससार को कष कहा जाता है। इस प्रकार के कष अर्थात् कर्म या ससार को जो प्राप्त कराया करते हैं उनका नाम कषाय है।

कार्मण शरीर—जो सब शरीरो की उत्पत्ति का बीजभूत शरीर है—उनका कारण है—उसे कार्मण शरीर कहते है। अथवा कर्म के विकारभूत या कर्मरूप शरीर का नाम कार्मण है।

काल—जो पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, एव आठ स्पर्शो से रहित और छह प्रकार की हानि-वृद्धि स्वरूप अगुरुलघु गुण से सयुक्त होकर वर्तना—स्वय परिणमते हुए द्रव्यो के परिणमन सहकारिता—लक्षण वाला है उसे काल कहते हैं।

केवलज्ञान—जो ज्ञान केवल—मतिज्ञानादि से रहित, परिपूर्ण, असाधारण, अन्य की अपेक्षा से रहित, विशुद्ध, समस्त पदार्थो का प्रकाशक और अलोक के साथ समस्त लोक का ज्ञाता है, उसे केवलज्ञान कहा जाता है।

केवलदर्शन—आवरण का पूर्णतया क्षय हो जाने पर जो बिना किसी अन्य की सहायता के समस्त मूर्त-अमूर्त द्रव्यो को सामान्य से जानता है वह केवलदर्शन है।

क्षय—कर्मो की आत्यन्तिक निवृत्ति को—सर्वथा अभाव को—क्षय कहते हैं।

छद्मस्थ—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का नाम छद्म है। इस छद्म मे जो स्थित रहते है उन्हे छद्मस्थ कहते हैं।

जिन—जिन्होने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे जिन है।

तप—जो आठ प्रकार के कर्मरूप गाँठ को सन्तप्त करता है, उसे नष्ट करता है, वह तप है।

तैजस शरीर—समस्त प्राणियो के आहार का पाचक जो उष्णतारूप तेज है उसके विकार को तैजस शरीर कहते है।

त्रसनाम—जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादि जीवो मे जन्म होता है वह त्रस नाम कर्म है।

दर्शन—आप्त, आगम और पदार्थो मे जो रुचि होती है उसे दर्शन कहते है। रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, और दर्शन ये समानार्थक है।

दिक्—परमाणु प्रमाण से विभक्त आकाश के प्रदेशो की श्रेणी को दिक् या दिशा कहते हैं।

दृष्टिवाद—जिस श्रुत मे सव भावो (पदार्थो) की प्ररूपणा की जाती है। वह दृष्टिवाद है।

देशघातिस्पर्द्धक—अपने ज्ञानादि गुणो के मतिज्ञानादि रूप देश का जो घात करते है वे देशघाती है।

द्रव्य—जो अपने स्वभाव को न छोडता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सम्बद्ध रहकर गुण और पर्याय से सहित होता है उसे द्रव्य कहते है। अथवा जो गुणो का आश्रय होता है वह द्रव्य है।

द्रव्य निक्षेप—जो भावी परिणाम विशेप (पर्याय) की प्राप्ति के प्रति अभिमुख हो—वह द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्यार्थिकनय—जिसका प्रयोजन द्रव्य है। अर्थात् जो द्रव्य (सामान्य) को विपय करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते है। दूसरे शब्दो मे, जो विविध पर्यायो को वतमान मे प्राप्त करता है, भविष्य मे प्राप्त करेगा और जिसने भूतकाल मे उन्हे प्राप्त किया है उसका नाम द्रव्य है। इस द्रव्य को विपय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय है।

द्वेष—क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा और भय ये द्वेप रूप है।

धर्मद्रव्य—जो पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, और आठ प्रकार के स्पश रहित होता हुआ, जीव व पुद्‌गलो के गमनागमन का कारण एव लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशो वाला है, उसे धर्म द्रव्य कहते है।

धारणा—अवाय से जाने हुए पदार्थ के कालान्तर मे नही भूलने का जो कारण है उसे धारणा कहते है। धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा, और प्रतिष्ठा ये धारणा के समानार्थक है।

ध्रुवोदय—जिन प्रकृतियो का उदय उदित रहने के काल तक नष्ट नही होता उन्हें ध्रुवोदय प्रकृतियाँ कहते है।

ध्रौव्य—अनादि पारिणामिक स्वभाव की अपेक्षा व्यय और उत्पाद सम्भव न होने से जो द्रव्य की स्थिरता है उसका नाम ध्रौव्य है।

नय—प्रमाण से परिगृहीत वस्तु के एक देश मे जो वस्तु का निश्चय होता है वह नय कहलाता है।

नरक—असातावेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त हुई शीत व उष्ण आदि की वेदना से जो नरो को—जीवो को—शब्द कराते हैं—रुलाते है वे नरक कहलाते है। अथवा जो पाप करने वाले प्राणियो को अतिशय दु ख को प्राप्त कराते है उन्हे नरक कहा जाता है।

नाम निक्षेप—नाम के अनुसार वस्तु मे गुण न होने पर भी व्यवहार के लिए जो पुरुप के प्रयत्न से नामकरण किया जाता है, वह नाम निक्षेप है।

निकाचित—कम क जिस प्रदेश पिण्ड का न अपकपण हो सकता है, न अन्य प्रकृति रूप सक्रमण हो सकता है और न उदय हो सकता है उसे निकाचित कहा जाता है।

निक्षेप—लक्षण और विधान (भेद) पूवक विस्तार से जीवादि तत्त्वो के जानने के लिए जो न्यास-नाम स्थापनादि के भेद से विरचना या निक्षेप किया जाता है, उसे निक्षेप कहते है। अर्थात् द्रव्याथिक व पर्यायाथिक इन दोनो नयो का विषयभूत जो तत्त्वार्थ के ज्ञान का हेतु है वह निक्षेप ह। उसका प्रयोजन प्रस्तुत की व्याख्या करके सशय को दूर करना है।

निगोद—जीवो के आश्रय विशेपो का नाम निगोद है।

निद्रा—मद, खेद व थकावट को दूर करने के लिए जो शयन किया जाता है उसे निद्रा कहते है।

निधत्त—जो कम का प्रदेश पिण्ड न तो उदय मे दिया जा सके और न अन्य प्रकृतियो मे सक्रान्त भी किया जा सके उसे निधत्त या निधत्ति कहा जाता है। अर्थात् उद्वर्तना और अपवर्तना करणो को छोडकर शेष करणो के अयोग्य रूप से जो कम को व्यवस्थापित किया जाता है उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

नियतिवाद—जो जिस समय मे, जिससे जैसे और जिसके नियम से होता है वह उस समय, उसी के द्वारा, उसी प्रकार से और उसके होगा ही, इस प्रकार के कथन को नियतिवाद कहते है।

निर्जरा—बँधे हुए कर्मो के प्रदेश पिण्ड के गलने का नाम निजरा है।

निर्वाण—परतन्त्रता की निवृत्ति अथवा शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि को निर्वाण कहते है।

निश्चयनय—शुद्ध द्रय के निरूपण करने वाले नय को निश्चय नय या शुद्ध नय कहते हैं।

नीच गोत्र—जिस कर्म के उदय से लोकनिन्दित कुलो मे जन्म हो उसे नीच गोत्र कहते है।

नैगमनय—जो अभी उत्पन्न नही हुआ है—भविष्य मे उत्पन्न होने वाला है—ऐसे पदाथ को जो सकल्प मात्र से ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते हैं।

नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष—लिंग के विना—इन्द्रिय आदि की सहायता न लेकर—जीव के जो स्वयमेव अवधि आदि रूप ज्ञान होता है उसे नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है।

न्यास—जीवादि पदार्थों के जानने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते है।

पर्यायार्थिकनय—जिस नय का प्रयोजन पर्याय है अर्थात् जो पर्याय को विषय करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

पल्योपम—एक योजन विस्तीर्ण व गहरे गड्ढे को एक दिन के उत्पन्न बालक के बालाग्रकोटियो से भरकर सौ-सौ वर्ष मे एक-एक बालाग्र के निकालने मे जो काल लगता है, उतने काल से एक पल्योपम होता है।

पाप—जो शुभ से रक्षा करता है—उत्तम कार्य मे प्रवृत्त नही होने देता, वह पाप है।

पिण्ड प्रकृति—बहुत प्रकृतियो के समूह रूप प्रकृतियाँ पिण्ड प्रकृतियाँ कहालाती है।

पुण्य—शुभ पुद्गल कर्म का नाम पुण्य है।

पुद्गल—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और अणु ये रूपी—रूप, रस, गन्ध व स्पर्श वाले द्रव्य—पुद्गल कहलाते है।

पुद्गल —तीनो लोको मे स्थित समस्त पुद्गलो को औदारिकादि शरीर रूप से ग्रहण कर लेने का नाम पुद्गल परावर्त है। अर्थात् जव ससार के मध्यगत समस्त पुद्गल औदारिकादि, वैक्रियिक, तैजस, भाषा, आनपान, मन और कर्म इन सात के रूप मे आत्मसात करके परिणमा लिये जाते है तब पुद्गल परावर्त पूरा होता है।

लेश्या—कषाय से अनुरजित जीव की मन-वचन-काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। शरीर के रग को द्रव्य लेश्या कहते है। द्रव्य लेश्या जीवन पर्यन्त एक रहती है और भाव लेश्या भावो के अनुसार परिवर्तन होती रहती है।

व्याप्ति—परस्पर मे सहचर नियम को व्याप्ति कहते है। वह इस प्रकार है यहाँ पर जिसके होने पर जो होवे और जिसके न होने पर जो नही होवे।

शुभनाम—जिस कर्म के उदय से अगोपाङ्ग नाम कर्मोदयजनित अगो और उपाङ्गो के शुभ (रमणीय) पना होता है वह शुभनाम कर्म है। अग और उपागो के अशुभता को उत्पन्न करने वाला अशुभनाम कर्म है।

सक्रमण—जीव के परिणामो के वश से कर्म प्रकृति का बदल कर अन्य प्रकृति रूप होना सक्रमण है।

सज्ञा—क्षुद्र प्राणी से लेकर मनुष्य व देव तक सभी ससारी जीवो मे आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चार के प्रति जो तृष्णा पायी जाती है उसे सज्ञा कहते हैं।

सज्ञी—मन के सद्भाव के कारण जिन जीवो मे शिक्षा ग्रहण करने व विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति है वे सज्ञी कहलाते है। यद्यपि चीटी आदि क्षुद्र जन्तुओ मे भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति के प्रति गमन और अनिष्ट पदार्थों से हटने की बुद्धि देखी जाती है पर उपरोक्त लक्षण के अभाव मे वे सज्ञी नही कहे जा सकते।

सघात—पृथग्भूत हुए पदार्थों के एक रूप हो जाने को सघात कहते है।

सवर—नवीन कर्मों का न आना सवर है।

सहनन—जिसके उदय से अस्थियो का बन्धन विशेष होता है, वह सहनन है।

सत्—उत्पाद-व्यय-ध्रुव इन तीनो की युगपत् प्रवृत्ति सत् है।

समिति—चलने-फिरने, बोलने-चालने मे, आहार ग्रहण करने मे, वस्तुओ को उठाने-धरने मे और मलमूत्र निक्षेपण करने मे विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करते हुए जीवो की रक्षा करना समिति है।

सूक्ष्म---जो स्वय किसी द्वारा बाधित न हो और न दूसरे को कोई बाधा पहुँचायें वे पदार्थ या जीव सूक्ष्म हैं और इनसे विपरीत स्थूल या बादर हैं। इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को स्थूल और इन्द्रिय अग्राह्य को सूक्ष्म कहना व्यवहार है, परमार्थ नही। सूक्ष्म और बादरपन मे न अवगाहना की हीनाधिकता कारण है, न प्रदेशो की, बल्कि नाम कर्म ही कारण है। सूक्ष्म स्कन्ध व जीव लोक मे सर्वत्र भरे हुए है पर स्थूल आधार के बिना न रहने के कारण त्रस नाली के यथायोग्य स्थानो मे ही पाये जाते है।

स्थापना निक्षेप---'यह वही है' इस प्रकार अन्य वस्तु मे बुद्धि के द्वारा अन्य का आरोपण करना स्थापना निक्षेप है।

स्थावर---पृथ्वी, अप आदि काय के एकेन्द्रिय जीव अपने स्थान पर स्थित रहने के कारण अथवा स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर कहलाते है। ये जीव सूक्ष्म और बादर दोनो प्रकार के होते है। सर्व लोक मे पाये जाते हैं।

स्याद्वाद---अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते है कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।

स्वाध्याय---अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय है।

शब्दानुक्रमणिका

(अ)

(ऊ)

(ऋ)

(ए)

(ऐ)

(औ)

(क)

(ख)

(ग)

(घ)

(च)

(छ)

(ज)

(ज)

(ज)

(त)

(त)

(त)

(प)

(भ)

(म)

(य)

(ल)

(श)

(ष)

(स)

(श्र)

(ह)

(क्ष)

□ □

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अन्ययोगव्यवच्छेदिद्वात्रिंशिका
अभिधर्मदीप और उनके टिप्पण
अभिधमकोश
अनुयोगद्वार
अध्यात्मसार
अगुत्तरनिकाय
अष्टक प्रकरण
अभिधान चिन्तामणि कोष
अनुयोगद्वार (पुण्यविजय जी)
अष्टशती
अष्टसहस्री
अन्ययोगव्यवच्छेदिका
अशोक के फूल—(डा हजारीप्रसाद द्विवेदी)
अमर भारती—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

आवश्यक निर्युक्ति
आत्ममीमासा—(प० दलसुख मालवणिया)
आचाराग निर्युक्ति
आगमसार
आगमयुग का जैन दर्शन—(प० दलसुख मालवणिया)
आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति
आप्त मीमामा
आचाराग
आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
आलाप पद्धति

ईशावास्योपनिषद्

उत्तराध्ययन सूत्र
उत्तराध्ययन एक परिशीलन
उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति
उववाई
उपायहृदय

ऋषभदेव एक परिशीलन
ऋग्वेद

ऐतरेय उपनिषद्
ऐन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स

कठोपनिषद्
कौषीतकी उपनिषद्
कौटिलीय अर्थशास्त्र
कोस्मोलोजी
केनोपनिषद्
कर्मग्रन्थ
कथावत्थु
कल्पसूत्र—(देवेन्द्र मुनि)

गीता
गणधरवाद—(प० दलसुख मालवणिया)
गोम्मटसार
गौतम सूत्र

चरक सहिता
चन्द्रप्रभचरित्रम्
चन्द्रप्रज्ञप्ति

छान्दोग्योपनिषद्

जैनदर्शन—(डा० मोहनलाल मेहता)
जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन—(प० दलसुख मालवणिया)
जैनधर्म और दर्शन—(डा० मोहनलाल मेहता)
जैनदर्शन मनन और मीमासा—(मुनि नथमल)
जैनदर्शन—(डा० महेन्द्रकुमार)
जीवाभिगम सूत्र
जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान
जैनधर्म मे तप स्वरूप और विश्लेषण—(श्री मरुधर केसरी जी म)
जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व
जैन सूत्राज—(डा० हर्मन जैकोबी)

जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व—(मुनि नथमल जी)

तत्त्वानुशासन
तत्त्वसंग्रहपंजिका
तर्कभाषा
तत्त्वार्थ—श्रुतसागरीया वृत्ति
तत्त्वार्थभाष्य टीका
तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वसंग्रह पंजिका
तैत्तिरीय उपनिषद्
तत्त्वसंग्रह
तत्त्वसंग्रह की बहिरर्थ परीक्षा
तेजोबिन्दु उपनिषद्
तन्दुलवेयालिय
तत्त्वार्थ राजवार्तिक
तर्कसंग्रह
तत्त्वार्थसूत्र—सर्वार्थसिद्धि
तत्त्वार्थसूत्र—राजवार्तिक
तत्त्वार्थसूत्र—श्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थसूत्र—पं० सुखलाल जी
तत्त्वार्थभाष्य—हरिभद्रीयावृत्ति
तैत्तिरीय आरण्यक
तत्त्वार्थसूत्र—सिद्धसेनीय टीका
तत्त्वार्थसार—(अमृतचन्द्र सूरि, गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला)

दीघनिकाय
दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, इन्ट्रोडक्सन
द्रव्य-गुण-पर्याय रास
द्रव्यसंग्रह
दर्शन और चिन्तन—(पं० सुखलाल जी)
द्वादशानुप्रेक्षा
दशवैकालिक निर्युक्ति
दशाश्रुतस्कंध
द्रव्यानुयोग तर्कणा
द्वात्रिंशिका—(अमितगति)

धर्म सग्रहणी, मलयगिरिवृत्ति
धर्माभ्युदयम्
धर्मसग्रह
धवला
धम्मपद
धर्म और दर्शन—(देवेन्द्र मुनि)
धर्म अने दशन—(देवेन्द्र मुनि)

नवतत्त्व प्रकरण मूल
नवतत्त्व विचार—(श्री भवसागर)
नवतत्त्व विचार सारोद्धार
नवतत्त्व प्रकरण—(श्री देवगुप्त सूरि)
नवतत्त्वसार प्रकरण—(आचलिक जयशेखर सूरि)
नवतत्त्वसार
नवतत्त्व भाष्य
नवतत्त्व बालावबोध—(हर्षवर्धनगणी)
,, ,, —(श्री पार्श्वचन्द्रगणी)
,, ,, —(कुलक)
नवतत्त्वरास—(श्री ऋषभदास)
,, —(श्री भवसागर)
,, —(श्री सौभाग्य सुन्दर)
नवतत्त्व जोड—(श्री विजयदान सूरि)
नवतत्त्व स्तवन—(श्री भाग्य विजय जी)
,, ,, —(श्री विवेक विजय जी)
नवतत्त्व चौपाई—(श्री कमलशेखर)
,, ,, —(श्री सौभाग्य सुन्दर)
,, ,, —(वर्धमान मुनि)
,, ,, —(लुपक मुनि)
न्यायमजरी
न्यायसूत्र
न्यायवार्तिक
न्यायावतार
निश्चयद्वात्रिंशिका
न्यायकारिकावली
नयचक्रसार

न्यायकोष
नन्दीसूत्र (पुण्य विजयजी म सम्पादित)
न्यायबिन्दु
न्यायभाष्य
न्यायावतार
नियमसार
न्यायविनिश्चय टीका
न्यायमजरी
नवतत्त्वसाहित्य सग्रह
न्यायोपदेश
नयरहस्य
नयर्कणिका
न्यायकुमुदचन्द्र
नयोपदेश
न्यायावतार टीका—(सिद्धर्षिगणी)

प्रवचनसार
पचास्तिकायसार
पातञ्जल योगदर्शन
प्रज्ञापना
प्रमाणवर्तिक
प्रज्ञापना वृत्ति
प्रश्नोपनिषद्
प्रशस्तपाद भाष्य
पचास्तिकाय
पचाध्यायी
पश्चिमी दर्शन (डा दीवानचन्द)
पचास्तिकाय वृत्ति
प्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति (आचाय नमि)
पचास्तिकाय—(अमृत चन्द्रसूरि)
" (जयसनेवृत्ति)
पिण्डनिर्युक्ति
पचाशक सटीक विवरण
परीक्षामुख
प्रमाणनयतत्त्वालोक

प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका
प्रमाणमीमासा
प्रमाण निर्णय
परमात्मप्रकाश
पचसग्रह
पचम कर्मग्रन्थ

फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी—ले वरनर हाईसवग फ्राम युक्लिड टू एडिंग्टन

ब्रह्मजाल सुत्त
ब्रह्मसिद्धि
बौद्धदर्शन और वेदान्त—(डा सी डी शर्मा)
बौद्धदर्शन—(बलदेव उपाध्याय)

भगवती
भारतीय तत्त्वविद्या—(प सुखलालजी)
भारतीय सस्कृति
भगवान महावीर एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि
भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण एक अनुचिन्तन—देवेन्द्र मुनि

मुनिद्वय अभिनन्दन ग्रन्थ
मज्झिमनिकाय
मीमासाश्लोकवार्तिक
माध्यमिक कारिका
मुण्डक उपानिषद्
मैत्रेयी उपनिपद्
माण्डुक्योपनिषद्
मूलाचारवृत्ति (वसुनन्दी)
मैत्रायणी आरण्यक
माठरकारिका
मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ
मिलिन्द प्रश्न
महाभारत

योगशास्त्र

युक्ति स्नह प्रपूरणी सिद्धान्त चन्द्रिका
योगदशन
योगदशन भाष्य
योगदशन तत्त्व वैशारदी
योगदशन भरस्वती टीका

लोक प्रकाश
लघीयस्त्रय

विश्वदशन की रूपरेखा—(प विजयमुनि)
वृहदारण्यक उपनिषद्
विशुद्धिमग्गो
वृहद्नयचक्र
विशेषावश्यक भाष्य
वेदान्त सूक्ति मजरी
वैशेषिकसूत्र
विज्ञान की रूपरेखा
वृहन्नवतत्त्व
विशेषावश्यक भाष्य
वृहत्कल्पभाष्य
विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति

सर्वदशनसग्रह
सिद्धिविनिश्चय टीका—(अकलक)
सप्ततत्त्व प्रकरण—(हेमचन्द्रसूरि)
समयसार
सन्मति प्रकरण टीका
स्याद्वाद रत्नाकर
सिद्धिविनिश्चय
सयुक्त निकाय
साख्यतत्त्व कौमुकी
साख्य सूत्र
स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग
स्वरूप और सबोधन
साख्यप्रवचन

सूत्रकृताङ्ग वृत्ति
सन्मति तर्क
साहित्य और सस्कृति (ले देवेन्द्रमुनि)
समाचारी शतक
स्थानाङ्ग
स्थानाङ्ग-अभयदेव वृत्ति
सर्वार्थसिद्धि
स्याद्वाद मजरी
सूत्रकृताङ्ग
सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति
साग्यकारिका

शतपथ ब्राह्मण
श्वेताश्वतरोपनिषद्
शब्दकल्पद्रुम कोश
शातसुधारस
शास्त्रदीपिका
शान्तिशतकम्
शिवगीता

षट्दर्शन समुच्चय
षट्खण्डागम

श्री भाष्य — (रामानुज)

हरिवशपुराण
हरिभद्रीयावश्यक टिप्पण

□

जैन दार्शनिक साहित्य व साहित्यकार[1]

(श्वेताम्बर)

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	प्रकाशित
उमास्वाति	वि० ३री शती	तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य	प्रकाशित
सिद्धसेन दिवाकर	वि० ५वी शती	न्यायावतार	"
		द्वात्रिंशिकाएँ	"
		सन्मति तर्क	"
मल्लवादि	वि० छठी शती	नयचक्र	"
		सन्मतितर्क टीका	"
हरिभद्र	वि० ८वी शती	अनेकान्त जयपताका (सटीक)	"
		अनेकान्तवाद प्रवेश	"
		षड्दर्शन समुच्चय	"
		शास्त्रवार्ता समुच्चय (सटीक)	"
		न्यायप्रवेश टीका	"
		धर्मसंग्रहणी	"
		लोकतत्त्व निर्णय	"
		अनेकान्त प्रघट्ट	जैन ग्रन्थ ग्रन्थकार मे
		तत्त्व तरङ्गिणी	"

१ जैनदर्शन—महेन्द्र कुमार के आधार से ।

		त्रिभगी सार	,,
		न्यायावतार वृत्ति	,,
		पञ्चलिङ्गी	,,
		द्विजवदन-चपेटा	,,
		परलोक-सिद्धि	,,
		वेदवाह्यता निराकरण	,,
		सर्वज्ञसिद्धि	,,
		स्याद्वाद कुचोपहार	,,
शाकटायन		स्त्रीमुक्ति प्रकरण	प्रकाशित
पाल्य कीर्ति	वि० ९वी शती	केवल मुक्ति प्रकरण	,,
सिद्धर्षि	वि० १०वी शती	न्यायावतार-टीका	,,
अभयदेव सूरि	वि० ११वी शती	सन्मति टीका	,,
जिनेश्वर सूरि	,, ,,	प्रभालक्ष्य सटीक	,,
शान्ति सूरि (पूर्णतल्लगच्छीय)	,, ,,	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	,,
मुनि चन्द्र सूरि	वि० १२वी शती	अनेकान्त जयपताका वृत्ति टिप्पण	प्रकाशित
वादिदेव सूरि	वि० १२वी शती	प्रमाणनय तत्त्वालोकालकार	,,
		स्याद्वाद रत्नाकर	,,
हेमचन्द्र	वि० १२वी शती	प्रमाण मीमासा	,,
		अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका	,,
देवसूरि	वि० ११६२	जीवानुशासन	,,
श्रीचन्द्र सूरि	वि० १२वी शती	न्याय प्रवेश हरिभद्र वृत्ति पजिका	,,

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	
देवभद्र सूरि	वि० १२वी शती	न्यायावतार टिप्पण	प्रकाशित
मलयगिरि	वि० १३वी शती	धर्मसग्रहणी टीका	"
चन्द्रसेन	वि० १३वी शती	उत्पादादि सिद्धि सटीक	"
आनन्द सूरि		सिद्धान्तार्णव	"
रामचन्द्र सूरि	वि० १३वी शती	व्यतिरेक द्वात्रिंशिका	अनुपलब्ध
मल्लवादि	" " "	धर्मोत्तर टिप्पणक	प्रकाशित
प्रद्युम्न सूरि	" " "	वादस्थल	प० दलसुख भाई के पास
जिनपति सूरि	" " "	प्रबोधवादस्थल	अप्रकाशित
रत्नप्रभ सूरि	" " "	स्याद्वाद रत्नावतारिका	"
देवप्रभ	" " "	प्रमाण प्रकाश	प्रकाशित
नरचन्द्र सूरि	" " "	न्यायकन्दली टीका	अप्रकाशित
अभय तिलक	वि० १४वी शती	पञ्चप्रस्थ न्यायतर्क व्याख्या	"
		तर्कन्याय सूत्र टीका	"
		न्यायालकार वृत्ति	"
मल्लिषेण	वि० १४वी शती	स्याद्वाद मजरी	"
सोम तिलक	वि० १३९२	पड् दर्शन टीका	प्रकाशित
राजशेखर	वि० १५वी शती	स्याद्वाद कलिका	अप्रकाशित
		रत्नाकरावतारिका पञ्जिका	"
		पड् दर्शन समुच्चय	प्रकाशित
		न्यायकन्दली पञ्जिका	"
ज्ञानचन्द्र	वि० १५वी शती	रत्नाकरावतारिका टिप्पण	अप्रकाशित
			प्रकाशित

जयसिंह सूरि	,, ,, ,,	न्यायसार दीपिका	०
मेरुतुङ्ग	,, ,, ,,	षड् दर्शन निर्णय	अप्रकाशित
गुणरत्न	वि० १५वी शती	षड् दर्शन समुच्चय की तर्करहस्य दीपिका	प्रकाशित
भुवन सुन्दर सूरि	,, ,, ,,	परब्रह्मोत्थापन	जैन ग्रन्थ ग्रन्थकार मे
		लघु-महाविद्याविडम्बन	,,
सत्यराज	वि० १६वी शती	जल्पमजरी	,,
साधुविजय	,, ,, ,,	वादविजय प्रकरण	,,
		हेतुदर्शन प्रकरण	,,
सिद्धान्तसार	वि० १६वी शती	दर्शन रत्नाकर	,,
दयारत्न	वि० १७वी शती	न्याय रत्नावली	,,
शुभ विजय	,, ,, ,,	तर्कभाषा वार्तिक	,,
		स्याद्वाद माला	प्रकाशित
भाव विजय	वि० १७वी शती	षड् त्रिंशत् जल्प विचार	अप्रकाशित
विनय निजय	,, ,, ,,	नयकर्णिका	प्रकाशित
		षड्त्रिंशत्जल्प सक्षेप	अप्रकाशित
यशोविजय	वि० १७वी शती	अष्टसहस्त्री विवरण, अनेकान्तव्यवस्था,	प्रकाशित
		ज्ञानबिन्दु (नव्यशैली मे)	,,
		जैनतर्कभाषा	,,
		देवधर्मपरीक्षा	,,
		द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका	,,
		धर्म परीक्षा	,,
		नयप्रदीप	,,

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	प्रकाशित
यशोविजय	वि० १७वी शती	नयोपदेश	,,
		नय रहस्य	,,
		न्यायखण्ड खाद्य (नव्य शैली)	,,
		न्यायालोक ,,	,,
		भाषा रहस्य	,,
		शास्त्रवार्तासमुच्चय टीका	,,
		उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धि टीका	,,
		ज्ञानार्णव	,,
		अनेकान्त प्रवेश	,,
		गुरुतत्त्व विनिश्चय	,,
		आत्मख्याति	जैन ग्रन्थ ग्रन्थकार मे
		तत्त्वालोक विवरण	,,
		त्रिसूत्र्यालोक	,,
		द्रव्यालोक विवरण	,,
		न्याय विन्दु	,,
		प्रमाण रहस्य	,,
		मगलवाद	,,
		वादमाला	,,
		वादमहार्णव	,,
		विधिवाद	,,
		वेदान्त निर्णय	,,

		सिद्धान्त तर्क परिष्कार	"
		सिद्धान्त मञ्जरी टीका	"
		स्याद्वाद मञ्जूषा (स्याद्वाद मजरी की टीका)	"
		द्रव्य पर्याय युक्ति	"
यशस्वत सागर	वि० १८वी शती	जैन सप्त पदार्थी	प्रकाशित
		प्रमाण वादार्थ	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार मे
		वादार्थ निरूपण	"
		स्याद्वाद मुक्तावली	प्रकाशित
भावप्रभसूरि	वि० १८वी शती	नयोपदेश टीका	प्रकाशित
मयाचन्द्र	वि० १९वी शती	ज्ञानक्रियावाद	जैन ग्रन्थ०
पद्मविजयगणि	वि० १९वी शती	तर्कसग्रह फक्किका	"
ऋद्धिसागर	वि० २०वी शती	निर्णय प्रभाकर	"

जैन दार्शनिक साहित्यकार व साहित्य

(दिगम्बर)

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	
उमास्वामि	वि० ३ री शती	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र	वि० ४-५ शती	आप्त मीमासा	प्रकाशित
		बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	"
		जीवसिद्धि	'
सिद्धसेन	वि० ४-५ वी शती	सन्मतितर्क	"
		द्वात्रिंशितिकाएँ	
देवनन्दि	वि० ६ वी शती	सार सग्रह	
श्रीदत्त	" " "	जल्पनिर्णय	
सुमति	" " "	सन्मतितर्क टीका	
		सुमति सप्तक	
पात्रकेसरी	वि० ६ वी शती	त्रिलक्षणक दर्शन	
		पात्र केसरी स्तोत्र	
अकलङ्कदेव	वि० ७ वी शती	लघीयस्त्रय (सोपज्ञवृत्ति सहित)	
		न्यायविनिश्चय	प्रकाशित
		प्रमाण सग्रह	"
		सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)	"
		तत्त्वार्थराजवार्तिक	"
		अष्टशती (आप्तमीमासा की वृत्ति)	"
			"

कुमारनन्दि	वि० ८ वी शती	वादन्याय	प्रकाशित
वादीभसिंह	वि० ८ वी शती	स्याद्वादसिद्धि	प्रकाशित
		नवपदार्थ निश्चय	
अनन्तवीर्य (वृद्ध)	वि० ९ वी शती	सिद्धिविनिश्चय टीका	"
विद्यानन्द		अष्ट सहस्री	"
		तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	प्रकाशित
		विद्यानन्द महोदय	
		युक्त्यनुशासनटीका	"
		आप्त परीक्षा	
		प्रमाणपरीक्षा	"
		पत्र परीक्षा	"
		सत्यशासन परीक्षा	
अनन्त कीर्ति	वि० १०वी शताब्दी	जीवसिद्धि टीका	
		वृहत्सर्वज्ञसिद्धि	०
		लघुसर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
देवसेन	९९० वि०	नयचक्र प्राकृत	"
		आलाप पद्धति	"
वसुनन्दि	वि० १०-११ शती	आप्तमीमासा वृत्ति	"
माणिक्यनन्दि	वि० ११वी शती	परीक्षा मुख	"
सोमदेव	"	स्याद्वादोपनिषद्	०
वादिराज सूरि	"	न्याय विनिश्चय विवरण	प्रकाशित
		प्रमाण निर्णय	"

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	प्रकाशित
माइल्लधवल	वि० ११वी शती	द्रव्यस्वभाव प्रकाश	प्रकाशित
प्रभाचन्द्र	वि० ११वी शती	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	"
		न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	"
		परमतझझामिल	"
अनन्तवीर्य	वि० १२वी शती	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखटीका)	"
भावसेन त्रैविध	वि० १२-१३वी शती	विश्वतत्त्वप्रकाश	
लघु समन्तभद्र	वि० १३वी शती	अष्टसहस्री टिप्पण	प्रकाशित
आशाधर	वि० १३वी शती	प्रमेय रत्नाकर	०
शान्तिषेण		प्रमेय रत्नसार	
जिनदेव		कारुण्य कलिका	
धर्मभूषण	वि० १५वी शती	न्यायदीपिका	"
अजितसेन		न्यायमणिदीपिका (प्रमेय रत्नमाला टीका)	प्रकाशित
विमलदास		सप्तभगितरगिणी	०
शुभचन्द्र		सशयवदन विदारण	प्रकाशित
		षड्दर्शनप्रमाण प्रमेय सग्रह	"
शुभचन्द्र देव		परीक्षामुख वृत्ति	०
शान्तिवर्णी		प्रमेयकण्ठिका (परीक्षामुखवृत्ति)	०
चारुकीर्ति पण्डिताचार्य		प्रमेयरत्नालकार	०
नरेन्द्रसेन		प्रमाणप्रमेय कलिका	०
सुखप्रकाश मुनि		न्यायदीपावलि टीका	०
अमृतानन्द मुनि		न्यायदीपावलिविवेक	०

खण्डनाकन्द		तत्त्वदीपिका	०
जगन्नाथ	वि० स०१७०३	केवलिभुक्तिनिराकरण	०
वज्रनन्दि		प्रमाणग्रन्थ	०
प्रवर कीर्ति		तत्त्वनिश्चय	०
अमरकीर्ति		समयपरीक्षा	०
नेमिचन्द्र		प्रवचन परीक्षा	०
मणिकण्ठ		न्यायरत्न	०
शुभप्रकाश		न्यायमकरन्द विवेचन	०
अज्ञातकर्तृक		षड्दर्शन	०
अज्ञातकर्तृक		श्लोकवार्तिकटिप्पणी	०
"		षड्दर्शनप्रपञ्च	०
"		प्रमेय रत्नमालालघुवृत्ति	०
"		अर्थव्यञ्जनपर्याय-विचार	०
"		स्वमतस्थापन	०
"		सृष्टिवाद परीक्षा	०
"		सप्तभङ्गी	०
"		षण्मततर्क	०
"		शब्दखण्डव्याख्यान	०
"		प्रमाणसिद्धि	०
"		प्रमाणपदार्थ	०
"		परमतखण्डन	०
"		न्यायामृत	०

ग्रन्थकार	समय (काल)	ग्रन्थ	प्रकाशित
"		नयसग्रह	०
"		नयलक्षण	०
"		न्यायप्रमाणभेदी	०
"		न्यायप्रदीपिका	०
"		प्रमाणनय प्रवन्ध	०
"		प्रमाणलक्षण	०
"		मतखण्डनवाद	०
"		विशेषवाद	०

नोट—० चिह्न वाली पुस्तकें विविध भण्डारों में उपलब्ध है।

मत-सम्मत

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' विद्वानो की दृष्टि मे

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थरत्न को पढकर मेरा मन मयूर नाच उठा। यह एक विशिष्ट कृति है। श्रमण सघीय एक विद्वान लेखक ने भगवान महावीर के दिव्य और भव्य जीवन की जो छवि प्रस्तुत की है वह अपूव हैं। प्रमाण पुरस्सर होने के कारण ग्रन्थ स्वत प्रामाणिक है, उपादेय है, उपयोगी है और महत्त्वपूर्ण है। मैं लेखक को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता हूँ कि वह इस प्रकार के उत्कृष्ट ग्रन्थ लिख कर जन-जन के मन मे धार्मिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक भावना उद्बुद्ध करता रहे।

आचार्य आनन्द ऋषि जी म०

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ को पढकर मेरे हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झन-झना उठे कि कितना सुन्दर, सरस और अद्भुत ग्रन्थ है यह। भगवान महावीर पर अन्य अनेक ग्रन्थ निकले है, पर यह उन सभी से अलग ही विशेषता लिए हुए है। लेखक का गहन गम्भीर अध्ययन, तुलनात्मक चिन्तन व शोध प्रधान दृष्टि सर्वत्र मुखर है। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वह ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखकर जैनधर्म, दर्शन और साहित्य की प्रभावना दिन दूनी रात चौगुनी करता रहे।

मालव केसरी प्रसिद्ध वक्ता सौभाग्यमल जी म०

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ का अवलोकन किया। मुनि श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ के निर्माण मे अत्यधिक परिश्रम किया है। जीवन के सभी प्रसगो पर विविध दृष्टियो से चिन्तन किया गया है जिससे ग्रन्थ विद्वद योग्य हो गया है। लेखन शैली प्राञ्जल और गवेषणापूर्ण है।

आचार्य हस्तीमल जी म०

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' जैसी अमर कृति को निहार कर मेरा मन आह्लादित हो गया।

गत शताब्दी मे अनेक आचार्यो, लेखको एव साहित्यकारो ने प्रभु महावीर के विराट् जीवन को इतिहास का, काव्य का एव स्तुतिगान का स्वरूप देना चाहा। हर कलाकार ने प्रभु महावीर की शब्द मूर्ति अपनी काव्यप्रतिभा की छैनी से काट-छाँट कर प्राण प्रतिष्ठित की, किन्तु साहित्याकाश मे जिस शब्दमूर्ति को आप प्रतिष्ठित कर पाये हो उसकी तुलना करना अभी कठिन है। आपकी कृति को मैं हिमालय का एक ऐसा तुगश्रृग मानता हूँ कि जिस शिखर पर आरूढ होकर कोई भी पाठक जैन

वाङ्मय द्वारा प्रमाणित सामग्री के साथ तीर्थंकर महावीर के विराट् जीवन के हर कौने को साफ झाँक सकता है और काव्य जैसा माधुय, इतिहास जैसा घटना क्रम, शोध पत्र जैसा तथ्य और उपन्यास जैसा कथ्य, नाटक जैसा मनोहर दृश्य सभी कुछ इस अकेली कृति म पा सकता है ।

आप सफलता के चरम विकास पर पहुचोगे, यही मेरी शुभ कामना है ।

मुनि सुशील कुमार

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' मैने आद्योपान्त पढा । ग्रन्थ अनुपम एव अद्वितीय है । लेखक ने गागर मे सागर भर दिया है । भाव, भाषा और शैली का त्रिवेणी सगम दशनीय है । लेखक ने इस मननीय ग्रन्थ को लिखकर एक महान अभाव की पूर्ति की है । यह भगवान महावीर के जीवन सम्बन्धी 'एनसाइक्लोपिडिया' है । जैसे 'साइक्लोपीडिया' मे से सब साहित्य उपलब्ध हो सकता है वैसे ही प्रस्तुत ग्रन्थ मे भी महावीर जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अनुवाद विविध भाषाओ मे होना चाहिए जिससे जन-जन तक ग्रन्थ पहुच सके ।

प्रवर्तक विनय ऋषि जी म०

पचीसवी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे अनेक विद्वानो ने भगवान महावीर के जीवन पर लिखा है, पर मैं साधिकार कह सकता हूँ कि उनमे यह सवश्रेष्ठ है । मुनि श्री अपने प्रयत्न मे पूर्ण सफल हुए है ।

मधुकर मुनि

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' एक अनुपम कृति है । सिद्धहस्त लेखक की उस महानिर्ग्रन्थ भगवान महावीर के प्रति अगाध निष्ठा की प्रतिष्ठा है । उसने भगवान महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थो का दोहन करके यह परमामृत अर्पित किया है ।

इस वप अहिंसा के अवतार भगवान महावीर पर लिखे गये प्रवन्धो मे यह सर्वोत्तम प्रवन्ध है ।

समाज के उदार-हृदय महानुभाव देश-विदेश के विश्वविद्यालयो मे तथा साव-जनिक पुस्तकालयो मे इस ग्रन्थराज की प्रतियाँ पहुँचाकर महामानव भगवान महावीर के निर्वाण शताब्दी समारोह को सफल बनाएँ ।

अनुयोग प्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल 'विमल'

साहित्य महारथी उदीयमान श्री देवेन्द्र मुनि की लोह लेखनी से लिखित 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ पढा । मुनि श्री का परिश्रम अकथनीय है । पुस्तक की साज-सज्जा भी अत्यन्त सुन्दर है —

लडी ज्यू मुक्ता की सरस रचना है वचन की।
पढेंगे जो कोई हृदय तस होगा मुदित जो।
कषायो की होली शमन होती तुरत ही।
वढेगी पुन्याई मुनिवर तुम्हारी सहज ही।

प्रवर्तक मरुधर केसरी मिश्रीमल जी

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थराज को पढकर हृदय आनन्द से झूम उठा। ग्रन्थ क्या है ? यदि मैं एक शब्द मे कहूँ तो कह सकती हूँ कि भगवान महावीर के जीवन पर लिखे गये आज तक के सभी जीवन चरित्रो मे यह सर्वश्रेष्ठ व सर्वज्येष्ठ ग्रन्थ है।

लेखक ने अनेक मिथ्या धारणाएँ जो महावीर जीवन के सम्बन्ध मे पनप रही थी उनका सप्रमाण निरसन किया है। ग्रन्थ की प्रत्येक पक्ति लेखक के विराट् अध्ययन, चिन्तन और शोध परक दृष्टि की प्रतीक है।

विद्वान लेखक की प्रकृष्ट-प्रतिभा व लेखन शैली ने मुझे मुग्ध कर दिया है।

विदुषी महासती उज्ज्वल कुमारी जी

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ बडा ही अद्भुत ग्रन्थ है। लेखक की बहुश्रुतता प्रत्येक पक्ति मे झलक रही है। ऐसे महान ग्रन्थ का घर-घर मे प्रचार हो, यही मेरी हार्दिक शुभ-भावना है।

विदुषी महासती प्रमोद सुधा जी

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ पढकर मुझे इतनी प्रसन्नता हुई कि उस प्रसन्नता को शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त नही किया जा सकता। मैंने यह ग्रन्थ यहाँ पर विराजित दिगम्बराचाय मुनि श्री देश भूषण जी, पण्डित प्रवर मुनि विद्यानन्द जी को भी दिखाया, उन्होंने इस शोध प्रधान तुलनात्मक दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थ को देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। महावीर के समग्र जीवन को समझने के लिए ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थ की आवश्यकता थी, आपने प्रस्तुत ग्रन्थ लिखकर उस कमी की पूर्ति की है, तदर्थ मेरा हार्दिक अभिनन्दन स्वीकार करें।

विदुषी महासती प्रीति सुधा जी

प्राचीनतम प्रामाणिक स्रोतो के आधार पर लिखे गये भगवान महावीर के जीवन चरित की अत्यन्त आवश्यकता थी उसकी पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा हुई, यह एक अत्यन्त प्रसन्नता की बात है। ग्रन्थ इतना सुन्दर व आकर्षक है कि शोध प्रबन्ध होते हुए भी उसमे उपन्यास की भाँति सरसता है। विश्लेषण अत्यन्त सुन्दर है।

विदुषी महासती शीलकुमारी जी

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर है, भाव-भाषा और शैली सभी दृष्टि से चित्ताकर्षक है।

विदुषी महासती कुसुमवती जी

महावीर-निर्वाण रजतशती के मगल वर्ष की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री बहुश्रुत, तपस्वी, कर्मठ, चिन्तन-प्रधान, अध्यवसायी और साहित्य प्रणेता है। भगवान महावीर के विषय मे उपलब्ध सम्पूर्ण जैन-बौद्ध-वैदिकधारा के विविध भाषाओ के वाड्मय का गहन आलोडन करके मुनिजी ने यह विशाल ग्रन्थ देश को भेंट किया है। महावीर विषयक अब तक लिखे गये ग्रन्थो मे यह सर्वांगीण तथा सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है।

भगवान महावीर के विषय मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, हिन्दी आदि भाषाओ मे विगत दो हजार वर्षो मे अनेक आचार्यो तथा भक्त कवियो ने बहुत कुछ लिखा है। श्री देवेन्द्र मुनिजी ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे उपलब्ध साहित्य का सन्तुलित मूल्याकन प्रस्तुत करते हुए महावीर के जीवन प्रवाह को एक क्रमिकता, मौलिक मानवीयता एव उदात्त गाभीर्य प्रदान किया है। निश्चय ही, मुनिजी का यह प्रयास गहरी साधना की फलश्रुति है। पर्याप्त धैर्य, विवेक, साहस और जागरूकता का प्रत्येक पृष्ठ पर दर्शन होता है। महावीर स्वामी के परम आध्यात्मिक वैभव का दर्शन, काव्य का विषय भले ही हो लेकिन उसकी झलक इतिहास के सन्दर्भो से खोज निकालना साधारण शिल्प नही है। मुनिजी इसमे अद्भुत रूप से सफल हुए है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे मुनिजी ने आगम-साक्ष्य तथा पुराण-साक्ष्य के आधार पर तथ्यो तक पहुँचने का प्रयास किया है, और कुछ ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जिनकी ओर सब शोधार्थियो का ध्यान जा सकता है। ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक घटना का तुलनात्मक अध्ययन लेखक के विशाल अध्ययन का द्योतक है।

शैली रोचक तथा सरस है। सन्दर्भ-प्रचुर होते हुए भी इस ग्रन्थ की भाषा मे एक सहज प्रवाह है, जिससे पाठक ऊबता नही है।

हमारी सिफारिश है कि यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय तथा महावीर-भक्त के निजी पुस्तकालय म पहुचना चाहिए।

श्रमण, नवम्बर, दिसम्बर १९७४
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान
वाराणसी—५

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ इस वर्ष की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। ग्रन्थ का सामग्री-पटल व्यापक है इसलिए उसकी परिधि मे भगवान महावीर के पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती सदर्भो का पूर्वग्रह-मुक्त सयोजन सभव हुआ है। ग्रन्थकार की दृष्टि उदार, सहिष्णु अनुसधानपरक, तलस्पर्शिनी और वस्तुनिष्ठ है, यही कारण है कि हम इसे साम्प्रदायिक न कहकर एक मननीय कृति कह रहे है। ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री दो खण्डो और एक परिशिष्ट मे आयोजित है। प्रथम खण्ड मे विद्वान लेखक ने भगवान महावीर के पूर्ववर्ती और समवर्ती सन्दर्भो की खोजबीन की

है, तथा 'भारतीय साहित्य मे भगवान महावीर' के अन्तर्गत समस्त उपलब्ध साहित्य का एक सटिप्पण पर्यवलोकन किया है। द्वितीय खण्ड सम्पूर्णत भगवान महावीर के जीवन-तथ्यो की विवेचना पर केन्द्रित है जिससे यह प्रतीति होती है कि भगवान का जीवन केवल सिद्धान्तो का आकलन नही था, वरन् सारे सिद्धान्त कई घटनाओ और प्रसगो मे प्रत्यक्ष हुए थे। कई मतभेदो के होते हुए भी लेखक की व्याख्याएँ स्पष्ट है और असहमति-सगम की डगर पर पाँव रखे हुए हैं। ग्रन्थ मे सर्वत्र तथ्यो का सरल, सरस और साहित्यिक प्रतिपादन हुआ है, जिससे लेखक के उदार चिन्तन की पुष्टि होती है। परिशिष्ट मे सामग्री जिस सिलसिले मे सयोजित है उससे ग्रन्थ की उपयोगिता समृद्ध हुई है। ग्रन्थ की साज-सज्जा अपूर्व, मुद्रण निर्दोष और मूल्य समुचित है।

डा० नेमीचन्द्र जैन, सम्पादक
तीर्थंकर, नवम्बर १९७४

भगवान महावीर के जीवन साहित्य और साधना से सम्बन्धित प्रकाशनो मे यह साफ-सुथरी समन्वयात्मक दृष्टि लिए एक उत्कृष्ट प्रकाशन है। इसके लेखन मे विद्वान लेखक की दृष्टि जीवनी लेखक के दायित्व तक सीमित न रहकर गूढ अन्वेषण और प्रमाणो पर टिकी है।

डा० नरेन्द्र भानावत
जिनवाणी, दिसम्बर १९७४

राष्ट्र इस वर्ष भगवान महावीर की २५वी निर्वाण शताब्दी मना रहा है। इस पावन वेला मे भगवान महावीर के विराट् व्यक्तित्व और जन कल्याणकारी कृतित्व का कीर्तिगान करने वाली अनेक रचनाएँ प्रकाशित हो रही है, वे अधिकतर जैन धर्मावलम्बियो के अनुशीलन हेतु, उन्ही को लक्ष्य कर लिखी गई हैं किन्तु प्रस्तुत समीक्ष्य पुस्तक श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री प्रणीत 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि कथ्य, प्रतिपाद्य और शैली विधान की सहजता और सुबोधता के कारण जैनेतर पाठक वर्ग का ज्ञानवर्द्धन करने मे भी यह पर्याप्त समर्थ है।

सुधी लेखक ने निर्वाण शताब्दी के इस महान ऐतिहासिक अवसर पर भगवान महावीर की अक्षय कीर्ति और अमर विभूति को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से यह जो आयोजन किया है, अपने इस उद्देश्य मे वह नि सन्देह सफल हुआ है।

आकाश-वाणी, जयपुर

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि लेखक ने दिगम्बर, श्वेताम्बर आचार्यो के ग्रन्थो के यत्र-तत्र प्रमाण भगवान महावीर के जीवन के सन्दर्भ मे उद्धृत किये हैं। कई स्थलो पर सुन्दर ढग मे समन्वय भी किया है। इतने प्रमाण और उद्धरण का अकित करना लेखक का विशाल अध्ययन सूचित करता है। लेखक इस परिश्रम के लिए धन्यवादार्ह है।

श्री अमर भारती, दिसम्बर १९७४

I have read major portions of your book I have nothing but regard for your careful study of the material collected It is one of the few studied works on Mahavira published during the last months

Dr. A.N. Upadhye
Mysore-6

ऐतिहासिक तथा शोधवृत्ति से लिखी गई यह पुस्तक न केवल भगवान महावीर के जीवन और सिद्धान्तो पर सविस्तार प्रकाश डालती है अपितु उन्हे गहराई से समझने के लिए और भी बहुत से ज्ञानवर्द्धक तथ्यो का समावेश करती है पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक ने इसे निष्पक्ष भाव से लिखने का प्रयत्न किया है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आम्नायो मे महावीर और उनके सिद्धान्तो के विषय मे कई बातो मे मतभेद है। लेखक ने एक इतिहासकार की भाँति दोनो मान्यताओ पर प्रकाश डाला है।

लेखक की भाषा और वर्णन शैली सुबोध एव सरस है। पुस्तक सामान्य तथा प्रबुद्ध दोनो वर्गो के पाठको के लिए उपयोगी है। सामान्य पाठक इसमे जहाँ बहुत कुछ जानकारी पायेंगे वहाँ प्रबुद्ध पाठको को इसके पठन-पाठन से सोचने-विचारने के लिए बहुत-सी सामग्री मिलेगी। वस्तुत यह मात्र जीवनी ही नही है बल्कि जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है यह महावीर विषयक एक अनुशीलन है, सूक्ष्म अध्ययन एव विवेचन है।

यशपाल जैन
जीवन साहित्य, जनवरी १९७५

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ को पढकर मेरा हृदय प्रसन्नता से झूम उठा। ग्रन्थ अनूठा है, भाव, भाषा, शैली, सभी दृष्टि से मन को मोहने वाला है। मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि सभी जैन व जैनेतर व्यक्ति इसका अध्ययन कर जीवन को चमकायेंगे।

मुनि श्री सन्तबालजी
महावीर नगर चिंचण महाराष्ट्र

पूज्य देवेन्द्र मुनिजी द्वारा लिखित 'भगवान महावीर एक अनुशीलन' ग्रन्थ देखा। भगवान महावीर का सुविस्तृत जीवन लिखने का यह एक सुन्दर अयाम है।

विविध ग्रन्थो मे वर्णित एक-एक घटना का तुलनात्मक अध्ययन लेखक की बहुश्रुतता को व्यक्त करता है। अब तक लिखे गए महावीर चरित्र के ग्रन्थो मे यह

सर्वश्रेष्ठ है । मुनिजी की लेखन शैली काव्यात्मक व रोचक है, महावीर के अन्तस्थल मे पहुँच कर महावीर की महत्ता को स्फुट करने मे समर्थ है ।

दलसुख मालवणिया
निदेशक
ला० द० भारतीय सस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदावाद

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' के अवलोकन से मैंने पाया कि मुनिजी की लेखन शैली मे न केवल परम्परा के तथ्यो को पकडने की पैनी दृष्टि है, अपितु उन तथ्यो को विभिन्न सन्दर्भों द्वारा जांच कर सुन्दर और सुवोध ढग से प्रस्तुत करने की क्षमता भी है ।

आपके इस ग्रन्थ को पढकर मुझे प्राचीन पण्डितो की कुशाग्र बुद्धि एव आधुनिक अनुसन्धानकर्मियो की वैज्ञानिक प्रणाली भी देखने को मिली ।

डा० प्रेमसुमन जैन एम० ए०
सिद्धान्त शास्त्री,
साहित्याचार्य, पी-एच० डी०

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' पुस्तक का पर्यालोचन करने पर कहा जा सकता है कि श्री देवेन्द्र मुनिजी जैन साहित्य के व्यासपीठ को अलकृत करने की स्थिति मे पहुँच रहे हैं ।

चार तीर्थंकरो पर जितना व्यवस्थित, अनुशीलनात्मक और शोधपूर्ण साहित्य उन्होने लिखा है वह उनकी विद्वत्ता तथा शोध-वृत्ति की श्रेष्ठतम छवि है । इसके अतिरिक्त साहित्य की प्रत्येक विधा को उन्होने स्पश किया है, और कुछ नया मौलिक चिन्तन दिया है ।

'भगवान महावीर एक अनुशीलन' २५वें महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष की सर्वोत्तम कृति मानी जा सकती है ।

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

१

भगवान महावीर पर, निकले ग्रन्थ अनेक ।
वहुत अनूठा आप मे, यह अनुशीलन एक ।।

२

उच्चस्तर पर आयोजित है उत्सव प्रभु का परिनिर्वाण ।
प्रभु की स्मृति मे कृतिजन करते कृति का कला पूर्ण निर्माण ।।

३

शास्त्री "मुनिदेवेन्द्र" लिखित कृति स्मृति दिलवाती प्रभुवर की ।
होती है सर्वत्र समादृत मुद्रित कृति उच्चस्तर की ।।

४

गुरु "पुष्कर" के योग्य शिष्य का शसनीय काम है सारा।
जिसने किया समुपकृत जग को कोष्ठ लेखनी के द्वारा।।

५

लेखक के गुरु, लेखक की कृति, लेखक है यश के भागी।
कृति-अध्येता महावीर के अगर बनेंगे अनुरागी।।

६

अभिनन्दन "चन्दन मुनि" करता लिख करके लघु सम्मति एक।
हुआ इसका स्पर्श बहुत ही आकर्षक इस कृति को देख।।

—चदन मुनि

'महावीर अनुशीलन' पढकर नही हर्ष का पार रहा।
एक एक पक्ति मे कितना, भरा पडा है सार अहा।।
तन भी सुन्दर मन भी सुन्दर, सचमुच अनुपम भव्य निखार।
करना ही होगा बेशक सबको यह, सत्य तथ्य स्वीकार।।
कितनी निष्ठा, कितने श्रम से लिखा गया यह शोध प्रबन्ध।
महावीर पर ग्रन्थ बहुत पर, ऐसे थोडे मौलिक ग्रन्थ।।
लेखक का अभिनन्दन करने, हृदय रहेगा कैसे मौन?
गुणियो का आदर नही करता, उससा कहो अभागा कौन?
कलम कलाधर मुनि देवेन्द्र शास्त्री का है अभिनन्दन।
अभिनन्दन है, अभिनन्दन है, 'कमल' पुन है अभिनन्दन।।

—मुनि महेन्द्र कुमार 'कमल'

१

भगवान महावीर अनुशीलन, पुस्तक बडी अनूठी है।
सरसरी निगाह से देखी हमने कोई बात नही झूठी है।।

२

"शास्त्री" श्री देवेन्द्र मुनि जी, कमनीय लेखक कहलाते।
साहित्योद्यान से सदा-सर्वदा, अपना हाथ बढाते।।

३

गहन गम्भीर है ज्ञान आपका शोधपूर्ण है ग्रन्थ पढा।
महावीर का आदर्श जीवन सचमुच ही है बढा-चढा।।

४

प्रथम खण्ड मे पूर्व काल की परम्परा को बतलाई।
"सहस्त्रमुखी" साधना जो, द्वितीय खण्ड मे सरसाई।।

५

परिशिष्ट जो भाग बना है, जिसमे भाव है बहुत गम्भीर।
व्यक्ति-गणधर परिचय दीना, सचमुच है शब्दो मे खीर ॥

६

पुष्कर गुरु ने ज्ञानामृत का, प्याला तुमको पिला दिया।
टीका सहित जो तुलना कीनी साहित्य सुमन को खिला दिया ॥

७

सन्मति सदुपदेश दिया है,
विविध सूत्रों का सार अहा!
शुद्ध-विमल वाणी का जिसमे,
निर्मल है आधार अहा ॥

—मुनि रमेश "शास्त्री"